भारतीय अर्थशास्त्र
एवं
आर्थिक विकास

लेखक

डा० जगदीश नारायण निगम

एम० ए०, पी एच० डी०, एल एल० बी० (चान्सलर्स गोल्ड मेडलिस्ट)
(Member, Indian Delegation to U. S. S. R.)
प्रवक्ता, अर्थशास्त्र विभाग, दयानन्द कालेज, कानपुर

तथा

पद्माकर अष्ठाना, एम० कॉम० (रिसर्च स्कालर)

प्रवक्ता, वाणिज्य विभाग, दयानन्द कालेज, कानपुर

किताब महल, इलाहाबाद
१९६१

प्रकाशक—किताब महल, ५६ ए, जीरो रोड, इलाहाबाद।
मुद्रक:—ईगल ऑफसेट प्रिंटर्स, १५ थार्नहिल रोड, इलाहाबाद।

विषय-सूची

खण्ड १—विषय प्रवेश

खण्ड ५—सहकारिता

खण्ड ६—श्रमिक समस्याएं, कल्याण एवं सुरक्षा

अध्याय १

भारतीय अर्थशास्त्र का अर्थ, विषय, क्षेत्र एवं अध्ययन का महत्व

(Meaning, Definition, Subject Matter, Scope and Importance of the Study of Indian Economics)

आधुनिक युग आर्थिक विकास का युग है। इस युग में केवल वही राष्ट्र उच्च स्थान प्राप्त कर सकते हैं जिनका पर्याप्त आर्थिक एवं औद्योगिक विकास हो चुका है। किसी देश की आर्थिक सम्पन्नता एवं विकास की योजनाओं के सफल निर्माण एवं कार्यान्वय के लिए उस देश की आर्थिक समस्याओं का वैज्ञानिक अध्ययन एवं विश्लेषण अत्यन्त आवश्यक है। भारतीय अर्थशास्त्र एक ऐसा ही अध्ययन है जिसके अन्तर्गत हम भारत की सामाजिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक परिस्थितियों एवं पृष्ठभूमि में उसकी विभिन्न समस्याओं का अध्ययन करते हैं जिनका देश के निवासियों के आर्थिक जीवन पर गहरा प्रभाव पड़ता है।

आज भारत स्वतंत्र है। राजनैतिक परतन्त्रता की शृङ्खलाओं से मुक्त होकर हमारा देश तेजी से उन्नति के पथ पर अग्रसर हो रहा है। स्वतंत्र भारत की सबसे जटिल समस्या उसकी आर्थिक विकास की समस्या है। आर्थिक एवं औद्योगिक विकास द्वारा ही वह देश अपने उत्पादन में निरन्तर वृद्धि करके एवं उसके उचित वितरण द्वारा देश वासियों के जीवन को सुखी व सम्पन्न बना कर एक कल्याणकारी राज्य की स्थापना की कल्पना के सुखद स्वप्न को साकार रूप दे सकता है। देश की आर्थिक उन्नति एवं विकास केवल देशवासियों के जीवन को उच्च स्तर प्रदान करके उनके जीवन को सुखी बनाने के लिए ही आवश्यक नहीं है वरन् देश की स्वतन्त्रता के लिए भी अत्यन्त आवश्यक है। वह स्वतन्त्रता जो वर्षों के कठोर परिश्रम तथा देश के महान् नेताओं के त्याग एवं बलिदान द्वारा प्राप्त की गई है, उसे स्थायी बनाने के लिए और जीवित रखने के लिए भी आर्थिक उन्नति अनिवार्य है। वास्तविकता तो यह है कि राजनैतिक पराधीनता राष्ट्र की उन भावनाओं पर कुठाराघात करती है जो किसी देश के विकास एवं उन्नति के लिए अत्यन्त मूल्यवान है। ऐसे राष्ट्रीय चरित्र का पराधीनता द्वारा विनाश होना स्वाभाविक ही है। (Foreign domination is a curse not

only because it involves political servitude but because it ruins national character) राजनैतिक स्वतन्त्रता उस समय तक कोई अर्थ नहीं रखती जब तक कि उसकी रक्षा एवं उसके पोषण के लिए आर्थिक स्वतन्त्रता न प्राप्त कर ली गई हो। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए हमें भारत जैसे महान् देश, जो कि अभी कुछ समय पूर्व विदेशी शासन से मुक्त हुआ है, के लिए अनेक आर्थिक समस्याओं का अध्ययन एवं उनके निवारण के लिए योजनाएँ बनानी हैं। हमारे देश में पंचवर्षीय योजनाओं का उदय इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए हुआ है। राष्ट्रीय योजना आयोग ने प्रधान मन्त्री जवाहरलाल नेहरू के निर्देशन में इस क्षेत्र में बहुमूल्य कदम उठाये हैं। प्रथम पंचवर्षीय योजना की सफलता के पश्चात् द्वितीय पंचवर्षीय योजना का कार्य प्रारम्भ हुआ और आशा की जाती है कि थोड़े ही समय के इस योजना के कार्यकाल में ही अनेक निर्धारित लक्ष्यों की पूर्ति हो जायेगी। इस प्रकार लगातार कई पंचवर्षीय योजनाओं की सफलता पर ही आधुनिक भारत की समृद्धि एवं सम्पन्नता निर्भर करती है। कोई भी योजना बनानी हो, चाहे वह देश के आर्थिक विकास की योजना हो अथवा किसी उद्योग की प्रतिस्थापना एवं विकास की योजना हो, प्रारम्भिक आवश्यकता इस बात की होती है कि इस योजना के कार्य से सम्बन्धित प्रश्नों एवं समस्याओं का भली प्रकार अध्ययन कर लिया जाय।

भारत के समक्ष अनेक आर्थिक एवं सामाजिक समस्याएँ हैं। इन समस्याओं के निवारण पर ही देश की उन्नति निर्भर करती है। इसके लिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि हम इन समस्याओं का विस्तृत एवं वैज्ञानिक रूप से अध्ययन करें। उनके हर पहलुओं का निरीक्षण एवं जाँच पड़ताल कर लें ताकि निर्धारित योजनाओं की सफलता प्राप्त हो। भारतीय अर्थशास्त्र इसी उद्देश्य की पूर्ति का एक साधन है। यह एक ऐसा अध्ययन है जिसके अन्तर्गत हम भारत की विभिन्न आर्थिक समस्याओं का अध्ययन करके उन्हें दूर करने के सुझाव प्रस्तुत कर सकते हैं।

अर्थशास्त्र के अध्ययन के विभिन्न रूप—अर्थशास्त्र एक लोकप्रिय विषय है। इसके अध्ययन के दो विभिन्न रूप हैं। प्रथम सैद्धान्तिक अर्थशास्त्र अथवा अर्थशास्त्र के सिद्धान्त। दूसरा व्यावहारिक अर्थशास्त्र। इन दोनों में बड़ा घनिष्ट सम्बन्ध है क्योंकि बिना व्यावहारिक उपयोग के आर्थिक सिद्धान्तों का महत्व सीमित है और साथ ही साथ व्यावहारिक अर्थशास्त्र से सम्बन्धित किसी योजना के निर्माण के लिए अर्थशास्त्र के सिद्धान्त भी अत्यन्त आवश्यक हैं। लार्ड कीन्स (Lord J M Keynes) के शब्दों में "The theory of economics does not furnish a body of settled conclusions immediately applicable to a policy. It is a method rather than a doctrine, an apparatus of the mind, a technique of thinking, which helps its possessor to draw correct conclusions"

अर्थात् अर्थशास्त्र के सिद्धान्त सुनिश्चित निष्कर्षों के रूप मे नहीं होते जिनका किसी नीति के निर्धारण में प्रयोग किया जा सके। यह एक रीति है न कि एक सिद्धान्त, मस्तिष्क का एक यन्त्र, विचार की एक ऐसी विधि जो विचारक को सही निष्कर्ष निकालने मे सहायक होती है। सैद्धान्तिक अर्थशास्त्र वह है जिसके अन्तर्गत हम अर्थशास्त्र के विभिन्न सिद्धान्तों का अध्ययन करते हैं और जिसका सम्बन्ध मनुष्य की विभिन्न आर्थिक क्रियाओं से होता है। मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है, उसकी अनेक आवश्यकताएँ होती हैं जिनकी पूर्ति के लिए वह अनेक प्रयत्न करता है। अर्थशास्त्र के अन्तर्गत हम मनुष्य की उन समस्त क्रियाओं का अध्ययन करते हैं, जो वह अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए करता है। मनुष्य के अनेक लक्ष्य हैं परन्तु उन लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए जो साधन उसके पास उपलब्ध हैं, वे सीमित हैं, अत उसके समक्ष निर्वाचन की समस्या उपस्थित होती है। अर्थात् किस प्रकार वह अपने सीमित साधनों द्वारा अपनी असीमित आवश्यकताओं की पूर्ति करे, जिससे उसको अधिकतम तृप्ति प्राप्त हो। यही अर्थशास्त्र की मुख्य समस्या है। सैद्धान्तिक अर्थशास्त्र उन समस्त सिद्धान्तों एवं समस्याओं से सम्बन्धित है जिनका सम्बन्ध अर्थशास्त्र के विभिन्न विभागों से है।

अर्थशास्त्र के अध्ययन का दूसरा रूप व्यावहारिक अर्थशास्त्र (Applied Economics) कहलाता है। अर्थशास्त्र के अध्ययन का यह रूप भी सैद्धान्तिक अर्थशास्त्र की तरह महत्वपूर्ण है। सत्य तो यह है कि अर्थशास्त्र की लोकप्रियता का मुख्य कारण उसका व्यावहारिक समस्याओं के अध्ययन से सम्बन्धित होना है। अर्थशास्त्र ही उन इने गिने सामाजिक शास्त्रों में से एक है जो मनुष्य को उस शास्त्र के आधारभूत एव मुख्य सिद्धान्तों से अवगत कराने में ही सन्तुष्ट नहीं होता बल्कि व्यावहारिक जीवन से सम्बन्धित विभिन्न समस्याओं के अध्ययन को भी अपना कर्त्तव्य समझता है जिनके सफल निवारण पर मानवीय हित एव कल्याण (Human Welfare) निर्भर करता है। अर्थशास्त्र एक सामाजिक शास्त्र है, अत मानव हित एव कल्याण इसका मुख्य ध्येय है जिसके लिए वह मनुष्य की विभिन्न साधारण एव दैनिक समस्याओं का अध्ययन करता है। प्रो० मार्शल (Dr Alfred Marshall) के शब्दों में "मनुष्य के दैनिक जीवन में उत्पन्न होने वाली विभिन्न समस्याओं का अध्ययन अर्थशास्त्र के अन्तर्गत किया जाता है।" (Economics is a study of mankind in the ordinary business of life) इस दृष्टि से "व्यावहारिक अर्थशास्त्र", "अर्थशास्त्र के सिद्धान्त" अथवा "सैद्धान्तिक अर्थशास्त्र" से भिन्न है। जहाँ एक तरफ सैद्धान्तिक अर्थशास्त्र मे आर्थिक सिद्धान्तों का अध्ययन होता है वहाँ दूसरी ओर व्यावहारिक अर्थशास्त्र (Applied Economics) में मानवीय जीवन से सम्बन्धित विभिन्न आर्थिक क्रियाओं से उत्पन्न होने वाली विभिन्न समस्याओं का अध्ययन होता है। जैसे उत्पादन में वृद्धि की समस्या, मुद्रा तथा बैंक से

सम्बन्धित समस्याएँ, खेती एव उद्योग सम्बन्धित समस्याएँ, आर्थिक नियोजन एव विकास की समस्या। अर्थशास्त्र के व्यावहारिक अथवा प्रयोगात्मक पहलू के अन्तर्गत हम किसी देश की आर्थिक स्थिति एव समस्याओं का अध्ययन करते हैं। इसी दृष्टिकोण से भारतीय आर्थिक समस्याओं एव स्थिति का विवेचनापूर्ण अध्ययन भारतीय अर्थशास्त्र के अन्तर्गत किया जाता है।

ग्रामीण अर्थशास्त्र एव कृषि अर्थशास्त्र (Rural Economics and Agricultural Economics)—अर्थशास्त्र जिसके अन्तर्गत मनुष्य की विभिन्न आर्थिक क्रियाओं का अध्ययन किया जाता है, उसका केवल एकमात्र उद्देश्य मानव जीवन को सुखी एव समृद्धिशाली बनाना है। सुविधा के लिए अर्थशास्त्र के अध्ययन के विषय को हम कई भागों म विभाजित कर सकते हैं। जैसे ग्रामीण अर्थशास्त्र एव कृषि अर्थशास्त्र, औद्योगिक अर्थशास्त्र आदि। ग्रामीण अर्थशास्त्र के अध्ययन का विषय वे समस्त समस्याएँ एव ग्राम्य जीवन सम्बन्धी परिस्थितियाँ हैं जिन पर ग्रामीण-जीवन की सम्पन्नता एव समृद्धि निर्भर करती है। भारत जैसे विशाल देश में जिसकी अधिकाश जनता ग्रामीण क्षेत्रों म निवास करती है, ग्रामीण अर्थशास्त्र का अध्ययन विशेष महत्व का है। इसके अन्तर्गत हम ग्राम निवासियो क कार्य एव उनके रहन सहन सम्बन्धी बातो का अध्ययन, उनके जीवन को सुखमय एव उपयोगी बनाने के उपाय निर्धारित करते हैं। इसी प्रकार कृषि अर्थशास्त्र क अन्तर्गत खेती सम्बन्धी कार्यों, कृषकों के समस्त पैदा होने वाली विभिन्न समस्याओं का अध्ययन किया जाता है। अर्थशास्त्र के इस भाग म कृषि सम्बन्धी समस्त बातों का अध्ययन किया जाता है। अर्थात् उन समस्त बातों पर विचार होता है जिनका सम्बन्ध या तो भूमि से है अथवा प्रकृति की विभिन्न स्वतन्त्र देना (Free Gifts of Nature) से है। इस प्रकार कृषि अर्थशास्त्र वास्तविक रूप से अर्थशास्त्र के मूल सिद्धान्तों का उपयोगी भाग है।

उपरोक्त दो प्रमुख विभाग अर्थशास्त्र क व्यावहारिक अध्ययन म सहायक होते हैं। भारतीय अर्थशास्त्र इन दोनो प्रकार के अध्ययनो स प्रभावित एव लाभान्वित होता है।

भारतीय अर्थशास्त्र के विभिन्न अर्थ (Various Interpretations of the term 'Indian Economics")—"भारतीय अर्थशास्त्र" एक ऐसा शब्द है जिसकी व्याख्या अनेक प्रकार से की जा सकती है। प्रारम्भ काल स ही भारतीय लेखकों एव अर्थशास्त्रियो क समक्ष यह एक विवादग्रस्त प्रश्न रहा है। यही कारण है कि 'भारतीय अर्थशास्त्र' के विभिन्न अर्थ लगाये गये हैं। विचार करने से यह ज्ञात होगा कि विभिन्न अर्थशास्त्रियो क पारस्परिक मतभेद विद्यार्थियो क मन म भ्रम उत्पन्न कर सकते हैं। साधारण तौर पर भारतीय अर्थशास्त्र शब्द का प्रयोग हम तीन प्रकार के अर्थों में करते हैं। यह तीन रूप निम्न हैं —

(१) "भारतीय अर्थशास्त्र" भारतीय आर्थिक विचारों के इतिहास के रूप में (Indian Economics as a History of Indian Economic Thought).

(२) अर्थशास्त्र के सिद्धान्तों का भारतीय आर्थिक समस्याओं पर आधारित अध्ययन के रूप में (Study of Economic Principles based upon instances from Indian Economic Life)

(३) भारतीय अर्थशास्त्र एक नवीन शास्त्र के रूप में (Indian Economics as a new science or subject of study)

(१) "भारतीय अर्थशास्त्र" भारतीय आर्थिक विचारों के इतिहास के रूप में—भारतीय अर्थशास्त्र के इस अर्थ के अन्तर्गत हम भारत में विभिन्न विचारकों की विचारधाराओं एवं उनके द्वारा प्रतिपादित आर्थिक सिद्धान्तों का अध्ययन करते हैं जैसे कौटिल्य के आर्थिक सिद्धान्त तथा अन्य प्राचीन अर्थशास्त्रियों द्वारा निर्मित एवं रचित आर्थिक नीति एवं पद्धतियों का अध्ययन। इसके अन्तर्गत समय-समय पर किये जाने वाले प्रयोगों का अध्ययन भारतीय आर्थिक विचारों के इतिहास के अध्ययन के विषय हो सकते हैं। जैसे अलाउद्दीन खिलजी, शेरशाह सूरी और अकबर महान् जैसे मुसलमान शासकों की मालगुजारी एवं वित्त सम्बन्धी नीति, अपने राजकोष को पूरा करने के उद्देश्य से कार्यान्वित मुहम्मद तुगलक की सांकेतिक मुद्रा (Token Currency) की नीति। इसके अतिरिक्त आधुनिक भारत की अनेक महान् विभूतियाँ जैसे न्यायाधीश रानाडे, दादाभाई नौरोजी, महात्मा गांधी, जे० सी० कुमारप्पा तथा विनोबा भावे द्वारा समय-समय पर देश की आर्थिक समस्याओं के लिए दिये गये सुझावों एवं नीतियों का अध्ययन इसमें किया जाता है। यही नहीं भारत जैसे महान् देश में समय समय पर होने वाली क्रान्तियों एवं चलाये गये आन्दोलनों का जिनका हमारे देश की आर्थिक परिस्थितियों एवं जीवन पर गहरी छाप पड़ी है, अध्ययन किया जाता है, जैसे श्रमिक संघ आन्दोलन (Trade Union Movement), सहकारिता आन्दोलन (Co-operative Movement), भूदान आन्दोलन (Bhoodan Movement)। यद्यपि इन सबका अध्ययन हम भारतीय अर्थशास्त्र में कर सकते हैं फिर भी भारतीय अर्थशास्त्र का यह अर्थ नहीं हो सकता। इसके निम्न कारण हैं —

(१) भारतीय अर्थशास्त्र के उपरोक्त विश्लेषण से इस बात का आभास होता है कि यह केवल एक ऐतिहासिक अध्ययन मात्र है। इस कारण यदि इसको भारतीय अर्थशास्त्र के स्थान पर भारतीय आर्थिक विचारों के इतिहास की संज्ञा दी जाये तो अधिक उपयुक्त होगा क्योंकि भारतीय अर्थशास्त्र केवल भूतकाल की समस्याओं का ही अध्ययन नहीं है। बल्कि यह एक ऐसा व्यापक अध्ययन है जिसका

उद्देश्य भूत के अनुभवों को दृष्टि में रखते हुए देश की वर्तमान आर्थिक स्थिति की पृष्ठभूमि में भविष्य के लिए एक सफल योजना का निर्माण करना है।

(२) भारतीय आर्थिक विचारों एवं प्रयोगों की ऐतिहासिक सामग्री इतनी अल्प मात्रा में है जिससे इस विषय के अध्ययन का क्षेत्र अति सीमित हो जाता है।

(३) विभिन्न ग्रन्थों एवं अर्थशास्त्रियों की रचनाओं में इन आर्थिक विचारों के फैले होने के कारण इनका कोई नियमित क्रमबद्ध विकास नहीं हुआ है जिसके फलस्वरूप इसका विधिवत् अध्ययन करना असम्भव है।

(२) अर्थशास्त्र के सिद्धान्तों का भारतीय आर्थिक समस्याओं पर आधारित अध्ययन के रूप में—अर्थशास्त्र के विद्यार्थी के लिए केवल अर्थशास्त्र का सैद्धान्तिक अध्ययन ही पर्याप्त एवं उपयोगी नहीं होगा। उसकी सफलता तो इस बात पर निर्भर करती है कि कहाँ तक वह अर्थशास्त्र के सिद्धान्तों को अपने व्यवहार में लाता है। इसी दृष्टि से भारतीय अर्थशास्त्र का एक और अर्थ लगाया जाता है जिसके अन्तर्गत अर्थशास्त्र के सिद्धान्तों का भारतीय आर्थिक जीवन के साथ निरूपण करना होता है परन्तु अर्थशास्त्र का यह अर्थ भी भ्रामक है। कारण यह है कि इसके अन्तर्गत केवल सैद्धान्तिक अध्ययन पर ही विशेष बल दिया जाता है।

(३) भारतीय अर्थशास्त्र एक नवीन शास्त्र के रूप में—इस दृष्टिकोण से भारतीय अर्थशास्त्र एक बिल्कुल नया विषय है जिसकी विषय सामग्री पश्चिमी अर्थशास्त्रियों द्वारा प्रतिपादित अर्थशास्त्र के मौलिक सिद्धान्तों एवं नियमों से पूर्णतया भिन्न है। इस विचारधारा का मूल कारण यह है कि जिन परिस्थितियों ने पश्चिमी अर्थशास्त्र के सिद्धान्तों को जन्म दिया है, वे भारत की स्थिति एवं भारत के आर्थिक जीवन से बिल्कुल मेल नहीं खातीं। इसलिए भारतीय आर्थिक समस्याओं के अध्ययन एवं उनके हल के लिए वे बिल्कुल अनुपयोगी सिद्ध होंगे। इसी कारण भारतीय अर्थशास्त्र एक बिल्कुल नवीन सिद्धान्तों का समूह है जिसका विकास भारतीय आर्थिक परिस्थिति एवं वातावरण में हुआ है। परन्तु यह विचारधारा उचित नहीं है क्योंकि अर्थशास्त्र जैसे सर्वदेशीय विज्ञान को भारतीय अर्थशास्त्र (Indian Economics) की संज्ञा देना ठीक उसी प्रकार अनुचित होगा जैसे कि रूसी भौतिक शास्त्र (Russian Physics), जर्मन अर्थशास्त्र (German Economics), भारतीय गणित (Indian Mathematics) इत्यादि।

भारतीय अर्थशास्त्र का वास्तविक अर्थ (Real Meaning of Indian Economics)—उपरोक्त विवेचन से यह विदित हो गया है कि भारतीय अर्थशास्त्र एक ऐसा विवादग्रस्त शब्द है जिसकी व्याख्या कई प्रकार से हो सकती है। इसलिए यह आवश्यक हो जाता है कि हम इस शब्द का वास्तविक अर्थ

समझ लें। यह एक ऐसा विषय है जिसके अन्तर्गत हम भारत की वर्तमान समय की विभिन्न आर्थिक समस्याओं का विश्लेषणात्मक अध्ययन करते हैं। ऐसे अध्ययन का केवल यही उद्देश्य होता है कि हम देश की आर्थिक स्थिति से भली प्रकार परिचित हो जायें जिसके आधार पर हम देश की भावी आर्थिक प्रवृत्तियों का सफलतापूर्वक अनुमान लगा सकते हैं। देश की आर्थिक स्थिति का ऐसा वस्तुगत (objective) अध्ययन देश की आर्थिक समृद्धि एवं विकास के लिए बनाई जाने वाली योजनाओं के हेतु पथप्रदर्शन का कार्य करेगा।

अतः भारतीय अर्थशास्त्र वह शास्त्र है जिसके अन्तर्गत हम भारत की विभिन्न आर्थिक समस्याओं का विस्तृत एवं वैज्ञानिक अध्ययन करते हैं और उन समस्याओं के निवारण के लिए सुझाव प्रस्तुत करते हैं। इसके लिए हम देश की भौगोलिक, सामाजिक एवं राजनैतिक दशाओं का भी अध्ययन करना पड़ता है और साथ ही उनका देशवासियों के आर्थिक जीवन पर क्या प्रभाव पड़ता है इसका भी ज्ञान प्राप्त करना अनिवार्य होता है क्योंकि आधुनिक युग में देश की आर्थिक स्थिति इन सामाजिक एवं राजनैतिक संस्थाओं से प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकती। भारत वासियों को इस सत्य का कटु अनुभव है। यद्यपि भारत आज एक स्वाधीन देश है और जिसे संसार का एक महान् प्रजातन्त्र देश कहलाये जाने का गौरव प्राप्त है फिर भी आज से कुछ वर्ष पूर्व तक यह दासता की जंजीरों में जकड़ा हुआ था और इस काल में हमारे देश का जो आर्थिक शोषण (economic exploitation) हुआ है उससे प्रत्येक देशवासी भलीभाँति परिचित है। एक विदेशी शासन के अधीन होने पर देश अपने आर्थिक लक्ष्य को नहीं प्राप्त कर सकता। स्वतन्त्र होने के पूर्व हमारे देश में अंग्रेजों का शासन था जिन्होंने सदैव हमारे देश को अपने आर्थिक लक्ष्यों की पूर्ति का केवल साधन मात्र ही समझा। परिणामस्वरूप हमारे देश का इतना आर्थिक पतन हो गया कि स्वतन्त्रता प्राप्त होने के लगभग १३ वर्ष पश्चात् भी देश की आर्थिक स्थिति गम्भीर ही बनी हुई है और आये दिन देशवासियों के सामने अनेक आर्थिक कठिनाइयाँ बनी ही रहती है। देश में अन्न की कमी, आवश्यक वस्तुओं का अपर्याप्त उत्पादन एवं देश के आर्थिक विकास सम्बन्धी अनेक समस्याएँ राष्ट्र के लिए चिन्ता का विषय बनी हुई हैं। भारतीय अर्थशास्त्र के विद्यार्थी के समक्ष यही और ऐसी ही अनेक आर्थिक समस्याएँ हैं जिनका वह भारत की भौगोलिक, सामाजिक एवं राजनैतिक पृष्ठभूमि में अध्ययन एवं विश्लेषण करता है जैसे देश की कृषि सम्बन्धी समस्याएँ, औद्योगिक विकास सम्बन्धी समस्याएँ, यातायात, व्यापार एवं वित्तीय समस्याएँ इत्यादि।

भारतीय अर्थशास्त्र का क्षेत्र (Scope of Indian Economics)—भारतीय अर्थशास्त्र एक ऐसा विषय है जिसके अध्ययन का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक है जैसा कि उपरोक्त परिभाषा से स्पष्ट है। भारतीय अर्थशास्त्र के अन्तर्गत हम भारत की

आर्थिक समस्याओं का अध्ययन करते हैं। यह केवल समस्याओं के विश्लेषणात्मक (analytical) अध्ययन तक ही सीमित नहीं वरन् समस्याओं के हल के सुझाव भी प्रस्तुत करती है। सारांश में भारतीय अर्थशास्त्र के क्षेत्र के अन्तर्गत निम्न बातों का वर्णनात्मक एवं आलोचनात्मक अध्ययन किया जाता है —

(१) प्राकृतिक दशा (Physical Conditions)—इसके अन्तर्गत हम भारत की प्राकृतिक स्थिति एवं उसकी बनावट तथा जलवायु का उसके आर्थिक जीवन पर पड़ने वाले प्रभाव का अध्ययन करते हैं।

(२) प्राकृतिक साधन (Natural Resources)—देश की आर्थिक स्थिति पर प्राकृतिक साधनों का गहरा प्रभाव पड़ता है। इसलिए हम यह भी देखना है कि हमारे देश में उपलब्ध होने वाले प्राकृतिक साधन क्या हैं। उसकी मिट्टी कैसी है? उसकी वनस्पति, खनिज पदार्थ एवं शक्ति के स्रोतों का उसके आर्थिक विकास के लिए किस प्रकार अधिकतम प्रयोग हो सकता है।

(३) सामाजिक पृष्ठभूमि (Social Background)—इसके अन्तर्गत हम भारत की विभिन्न आर्थिक, सामाजिक एवं धार्मिक जैसे जाति प्रथा, संयुक्त परिवार प्रणाली, उत्तराधिकार नियम एवं भारत की जनता, उसकी जनसंख्या, नागरीकरण (urbanisation) की समस्या तथा उसके व्यावसायिक अथवा जीवन निर्वाह की दशाओं का विस्तृत अध्ययन करते हैं।

(४) कृषि एवं औद्योगिक समस्याएँ (Agricultural and Industrial Problems)—इसके अन्तर्गत देश में उत्पन्न होने वाली विभिन्न फसलों, भूमि के पट्टा की प्रणालियां (Systems of Land Tenure), सिंचाई, कृषि मजदूर एवं खेती की उन्नति तथा अधिक खाद्य उत्पादन की समस्या, विभिन्न विशाल उद्योग, औद्योगिक वित्त एवं प्रबन्ध तथा देश के औद्योगीकरण सम्बन्धी समस्याओं का अध्ययन होता है।

(५) श्रम सम्बन्धी समस्याएँ (Labour Problems)—देश के औद्योगीकरण के साथ साथ औद्योगिक श्रम का महत्व भी बढ़ जाता है। इस कारण देश के औद्योगिक श्रम की कार्यक्षमता, श्रम कल्याण एवं आवास सम्बन्धी योजना, प्रशिक्षण, सामाजिक सुरक्षा, राष्ट्रीय वेतन नीति (National Wage Policy), औद्योगिक शान्ति (industrial peace) जैसी समस्याओं जिनका देश के उत्पादन पर गहरा प्रभाव पड़ता है, का भी अध्ययन किया जाता है।

(६) यातायात एवं संवादवाहन सम्बन्धी समस्याएँ (Problems of Transport and Communication)—इसके अन्तर्गत देश में उपलब्ध विभिन्न यातायात के साधन जैसे रेल परिवहन, सड़कों और जल एवं वायु पथ Waterways and Airways) सम्बन्धी समस्याएँ।

(७) व्यापार तथा वाणिज्य (Trade and Commerce)—अन्तर्देशीय व्यापार, विदेशी व्यापार, व्यापार सन्तुलन (Balance of Trade), शोधन शेष (Balance of Payment) सम्बन्धी विभिन्न समस्याओं का अध्ययन भी भारतीय अर्थशास्त्र के अध्ययन में सम्मिलित है।

(८) मुद्रा तथा वित्तीय समस्याएँ (Currency and Financial Problems)—इसके अन्तर्गत देश की बैंकिङ्ग व्यवस्था, वस्तुओं का मूल्य-स्तर (Price Structure), राजकीय वित्त (Public Finance) जैसी समस्याएँ आती हैं।

(९) राष्ट्रीय आय एवं आर्थिक नियोजन (National Income and Economic Planning)—स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् देश की आर्थिक समृद्धि के लिए राष्ट्रीय आयोजना आयोग (National Planning Commission) द्वारा निर्मित प्रथम, द्वितीय एवं आगामी पंचवर्षीय योजनाओं का विश्लेषणात्मक एवं आलोचनात्मक अध्ययन इसका मुख्य अंग है।

(१०) विभिन्न आन्दोलन (Various Movements)—देश में समय समय पर होने वाले विभिन्न आन्दोलनों का अध्ययन, जिनका हमारे आर्थिक जीवन पर प्रभाव पड़ा है अर्थशास्त्र के विद्यार्थी के लिए अनिवार्य है, जैसे सहकारिता आन्दोलन (Co operative Movement), श्रमिक संघ आन्दोलन (Trade Union Movement), भूदान आन्दोलन (Bhoodan Movement) इत्यादि।

भारतीय अर्थशास्त्र के अध्ययन का महत्व (Importance of the Study of Indian Economics)—भारतीय अर्थशास्त्र के अध्ययन का क्या महत्व है तथा अर्थशास्त्र के विद्यार्थियों को इससे क्या लाभ हो सकता है यह बात उपरोक्त विवेचन से स्वतः स्पष्ट है। जैसा कि हम ऊपर देख चुके हैं कि भारतीय अर्थशास्त्र एक ऐसा महत्वपूर्ण विषय है जिसके अध्ययन से हमें देश की आर्थिक स्थिति का सही अनुमान तथा देश की विभिन्न आर्थिक समस्याओं का पूर्ण ज्ञान होता है। वास्तविकता तो यह है कि यह शास्त्र हमारे समस्त देश के भूत, वर्तमान तथा भावी आर्थिक एवं सामाजिक विकास का स्पष्ट चित्र प्रस्तुत करता है। इसका यह अर्थ नहीं है कि भारतीय अर्थशास्त्र का महत्व केवल सैद्धान्तिक ही है वरन् यह एक ऐसा शास्त्र है जिसका अध्ययन व्यावहारिक दृष्टिकोण से भी अत्यन्त महत्वपूर्ण है। अतः भारतीय अर्थशास्त्र के अध्ययन का महत्व मुख्यतया निम्न बातों पर निर्भर है —

(१) व्यावहारिक महत्व—व्यावहारिक लाभ के कारण भारतीय अर्थशास्त्र अत्यन्त उपयोगी विषय माना जा सकता है। देश की विभिन्न आर्थिक क्रियाओं जैसे

कृषि उद्योग, व्यापार और वाणिज्य में लगे व्यक्तियों के लिए उनके व्यवसाय सम्बन्धी विभिन्न समस्याओं का वैज्ञानिक ज्ञान जिसे वह भारतीय अर्थशास्त्र के अध्ययन द्वारा प्राप्त कर सकता है, निःसन्देह उनके लिए अत्यन्त उपयोगी सिद्ध हो सकता है।

(२) **पथ प्रदर्शक के रूप में**—देश की आर्थिक स्थिति को भली भाँति समझने के लिए, उसकी वर्तमान स्थिति एवं प्रवृत्तियों की जानकारी के लिए भारतीय अर्थशास्त्र का अध्ययन आवश्यक है। आर्थिक प्रगति के कठिन मार्ग पर अग्रसर राष्ट्र के लिए इस शास्त्र के अध्ययन का महत्व उस पथ प्रदर्शक के समान है जो हमें इस बात की जानकारी कराता है कि वास्तव में हम प्रगति कर रहे हैं अथवा नहीं या किस सीमा तक हम अपने आर्थिक विकास के लक्ष्य को प्राप्त कर चुके हैं और कौन कौन सी बाधाएँ हमारे मार्ग में उपलब्ध हैं।

(३) **तुलनात्मक अध्ययन की दृष्टि से**—आधुनिक युग की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि सभी राष्ट्र एक दूसरे के काफी निकट आ गये हैं जिसके कारण किसी एक देश में होने वाली आर्थिक घटनाएँ दूसरे देश के आर्थिक जीवन को प्रभावित किये बिना नहीं रह सकतीं। इसी कारण यह जानना आवश्यक हो जाता है कि संसार के विभिन्न राष्ट्रों के मध्य हमारे देश का क्या स्थान है और किस प्रकार उन राष्ट्रों के अनुभवों से देश की आर्थिक स्थिति को सुधारने में सफलता मिल सकती है।

(४) **आर्थिक नियोजन के लिए महत्व**—देश के आर्थिक विकास के लिए बनाई जाने वाली योजनाएं उस समय तक सफल नहीं हो सकतीं जब तक कि वे राष्ट्र की आर्थिक स्थिति के पूर्ण ज्ञान पर आधारित न हों। देश के नियोजक (Planners) जिन पर योजना निर्माण का उत्तरदायित्व है उनके लिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि वे देश की आर्थिक दशाओं एवं समस्याओं से भली भांति परिचित हों। भारतीय अर्थशास्त्र देश की सही आर्थिक परिस्थिति तथा दशाओं का ज्ञान करा कर आर्थिक योजनाओं के निर्माण में सहायता देती है।

(५) **आर्थिक अज्ञानता दूर करने के लिए**—किसी राष्ट्र की उन्नति एवं समृद्धि के लिए सबसे बड़ी आवश्यकता इस बात की है उस देश के नागरिक उन योजनाओं को सफल बनाने में सक्रिय भाग लें। यह तभी सम्भव हो सकता है जब देश से आर्थिक अज्ञानता (economic ignorance) का उन्मूलन हो। प्रत्येक व्यक्ति देश की आर्थिक स्थिति एवं समस्याओं से भली भांति परिचित हो तथा उनके समाधान के लिए बनने वाली योजनाओं को भली भांति समझ सकें। ऐसा होने पर ही राष्ट्र के आर्थिक विकास के लिए आवश्यक जनमत तैयार हो सकता है। कुछ समय पूर्व तक हम विदेशी शासन के अधीन थे। देश का आर्थिक विकास करना उनका कार्य था। पर अब हम स्वतन्त्र हो गये हैं। अतः स्वतन्त्रता प्राप्ति

के पश्चात् अपने देश की आर्थिक समृद्धि का उत्तरदायित्व हमारे कन्धों पर है। इसलिए हमारा यह कर्तव्य है कि हम अपनी समस्याओं का भली-भाँति अध्ययन करके देश के आर्थिक विकास में पूर्ण सहयोग प्रदान करें।

प्रश्न

1. Clearly explain the meaning of the term 'Indian Economics'. Describe the importance of its study.

2. Write a short note on the scope of Indian Economics. *(Agra, 1957)*



अध्याय २

भारतीय अर्थ-व्यवस्था की मूल विशेषताएँ तथा भावी प्रवृत्तियाँ

(Basic Characteristics of Indian Economy and Future Trends)

भारत एक विशाल देश है जिसकी जनसंख्या चीन को छोड़ कर संसार में सबसे अधिक है। यह अवश्य है कि प्राचीन काल में हमारा देश अपने आर्थिक, सामाजिक एवं नैतिक विकास के कारण संसार में अन्य देशों की तुलना में सबसे उच्च स्थान प्राप्त कर चुका था। उस समय हमारा देश सोने की चिड़िया कहलाता था। देश में खाद्यान्न तथा अन्य आवश्यक वस्तुओं का अपार भंडार था चारों ओर दूध घी की नदियां बहा करती थीं और समस्त देशवासी सुख एवं शान्ति से अपना जीवन व्यतीत करते थे। परन्तु आज हमारा देश वह गौरवपूर्ण स्थान खो चुका है। आज भारत की स्थिति बड़ी दयनीय अवस्था में पहुँच चुकी है। एक लम्बे काल तक विदेशी शासकों के अधीन होने के कारण हमारे देश की आर्थिक एवं औद्योगिक प्रगति न हो सकी। वैसे तो हमारे देश में प्रकृति की विशेष कृपा से प्राकृतिक संसाधनों की कमी नहीं है। देश में विशाल वनसंपत्ति एवं जनशक्ति उपलब्ध है। संसार में सबसे उपजाऊ खेती योग्य भूमि भारत में ही प्राप्त है और भूमि के अन्दर अपार खनिज सम्पत्ति देशवासियों की सहायता के लिए प्राप्य है परन्तु दासता की शृङ्खलाओं में जकड़े होने के कारण भारतवासी प्रकृति की इन अपार देनों का समुचित उपयोग एवं विदोहन कर अपनी आर्थिक उन्नति करने में असमर्थ रहे। यही कारण है आज भारतवासियों का जीवन स्तर अन्य देशों की तुलना में निम्नतम है। कृषि प्रधान देश होते हुए भी खाद्यान्न की समस्या सदैव बनी रहती है। हम अपने औद्योगिक विकास के लिए दूसरे राष्ट्रों की सहायता लेनी पड़ती है। यदि हम भारत की आर्थिक एवं भौगोलिक स्थिति का भली भांति अध्ययन करें तो हमें उसके आर्थिक जीवन को प्रभावित करने वाले कुछ मूल लक्षणों का ज्ञान होगा।

भारतीय अर्थ व्यवस्था की निम्न विशेषताएँ जानने योग्य हैं जो इस प्रकार हैं —

मूल विशेषताएँ

(१) धनी देश की निर्धन जनता (A rich country inhabited by

poor people)—भारतीय अर्थ व्यवस्था की सबसे प्रमुख विशेषता यह है कि धनी देश होते हुए भी यहाँ की जनता निर्धन है। देश में प्राकृतिक साधन प्रचुर मात्रा में उपलब्ध हैं। देश में अपार वन-सम्पत्ति, श्रम शक्ति, जल शक्ति, पशु धन एवं खनिज पदार्थ होते हुए भी भारतवासियों का जीवन-स्तर सबसे निम्न है जिसका प्रमुख कारण यह है कि अभी इस प्रकार प्राकृतिक सम्पदा का आर्थिक विदोहन नहीं हो सका है, जिससे देश सम्पन्न तथा समृद्धिशाली हो सके।

(२) भारत एक अर्ध विकसित राष्ट्र है (India is an under-developed country)—देश के साधनों का अपर्याप्त विदोहन तथा समुचित विकास न होने के कारण भारत एक अर्ध विकसित राष्ट्र कहलाता है जो उसकी निर्धनता का मूल कारण है। आधुनिक युग में संसार के सब राष्ट्रों का बराबर आर्थिक विकास नहीं हो रहा है। कुछ राष्ट्र ऐसे हैं जो आर्थिक क्षेत्र में निरन्तर प्रगति के कारण बड़े-बड़े विशाल एवं समृद्धिशाली राष्ट्र बन गये हैं। परन्तु भारत की स्थिति अभी असन्तोषजनक है। एक अर्ध विकसित राष्ट्र के प्रमुख लक्षण इस प्रकार हैं—

(१) कृषि एवं औद्योगिक क्षेत्र में वैज्ञानिक एवं यान्त्रिक आविष्कार तथा ज्ञान का सीमित उपयोग,

(२) उत्पादन जीवन निर्वाह की सीमा तक ही होना,

(३) सकुचित बाज़ार,

(४) निर्माणकारी उद्योगों का अपेक्षाकृत गौण स्थान,

(५) आर्थिक विकास के लिए अनुपयुक्त वातावरण।

इस दृष्टि से देखा जाय तो भारत वास्तव में एक अर्ध विकसित राष्ट्र कहलायेगा जहाँ विभिन्न कारणों से देश की आर्थिक प्रगति नहीं हो रही है और देशवासियों का जीवन स्तर अब भी काफी नीचा है। हर्ष का विषय है कि राष्ट्रीय सरकार के अथक प्रयत्नों के फलस्वरूप भारत में सब आर्थिक एवं औद्योगिक विकास की अनेक योजनाएँ बनाई जा रही हैं और इस समय भारत में अनेक ऐसे कार्य हो रहे हैं जिनकी सफलता शीघ्र ही देश के लिए प्रयोग की जाने वाली सज्ञा—'अर्ध विकसित राष्ट्र' से मुक्ति प्रदान करायेगी और हमारा देश भी अन्य राष्ट्रों की तरह एक विकसित एवं समृद्धिशाली राष्ट्र बन जायगा।

(३) भारत एक कृषि प्रधान देश है (India is a predominantly agricultural country)—भारत की एक और प्रमुख विशेषता यह है कि देश की अधिकांश जनता अपने जीविकोपार्जन के लिए खेती पर आश्रित है जिसके कारण देश की अर्थव्यवस्था सतुलित नहीं कही जा सकती। सन् १९५१ की जनगणना के अनुसार देश की कुल जनसंख्या का लगभग ७०% भाग कृषि पर तथा शेष ३० प्रतिशत भाग कृषि से भिन्न व्यवसायों पर निर्भर करता है। इस कारण भारत के सगठित

उद्योग धधों में व्यापार, उद्योग तथा यातायात म बहुत कम जनसंख्या लगी होने क कारण भारत एक कृषि प्रधान देश कहलाता है। कृषि पर अत्यधिक भार होने के फलस्वरूप खेती भी अनेक समस्याओं से ग्रस्त है जिसके कारण भारतीय कृषि पिछड़ी हुई एवं दयनीय अवस्था म है। कृषि की सफलता तथा देश की आर्थिक दृढ़ता दोनों एक प्रकार से वर्षा पर निर्भर करती है। इसका कारण यह है कि मुख्यतया कृषि पर आश्रित अर्थ व्यवस्था उसी समय उन्नतिशाल एव सम्पन्न अवस्था म होगी जिस समय फसल अच्छी होने से कृषि के उत्पादन म वृद्धि हो। सिचाई के साधनों का पर्याप्त मात्रा म उपलब्ध न होने के फलस्वरूप भारत में कृषि वर्षा पर ही निर्भर रहती है। इसके अतिरिक्त जब अधिक व्यक्ति अपने जीविकोपार्जन के लिए भूमि पर निर्भर रहने लगते हैं तो खेतहर भूमि अनार्थिक जोतों म विभाजित हो जाती है जिससे कृषि उत्पादन कम हो जाता है।

(४) निरन्तर वृद्धिशील जनसंख्या वाला देश (A country with rapidly rising population)—भारत एक ऐसा देश है जहा न केवल ससार म चीन को छोड़ कर सबसे अधिक जनसंख्या पाई जाती है बल्कि एक विशेषता यह भी है कि यहा की जनसंख्या की निरतर वृद्धि होती जा रही है। सन् १६०१ ई० म जिस देश म लगभग २३ ५५ करोड़ जनसंख्या हो और जिसके सन्१६६१ तक ४१ करोड़* तक पहुच जाने का अनुमान हो उस देश म जनसंख्या की निरतर वृद्धि की समस्या एक जटिल समस्या होगी। देश की प्रति व्यक्ति निम्न आय तथा देशवासियों का जीवन-स्तर बहुत नीचा होना, अत्यधिक शिशु तथा मातृ मृत्यु दर, जीवन की छोटी अवधि, बढ़ती हुई बेकारी की समस्या, एव माल्थस द्वारा बताये गये कुछ प्राकृतिक अवरोधों की क्रिया शीलता जैसे बाढ़, अकाल एव महामारी इत्यादि इस बात के प्रमुख प्रमाण हैं कि भारत एक अति जनसंख्या वाला देश है। इसलिए यदि हम देश की राष्ट्रीय आय बढ़ाना है तो इस निरन्तर बढ़ती हुई जनसंख्या को सीमित रखने के उपाय ढूँढने होंगे और तभी देश की वास्तविक प्रगति भी हो सकेगी।

(५) अतिरेक जनशक्ति का देश (Land of surplus man power)—जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है कि भारत म तीव्र गति से जनसंख्या के बढ़ने के कारण सब व्यक्तियों के लिए उपयोगी कार्य उपलब्ध नहीं है। ग्रामीण क्षेत्रों म विभिन्न कुटीर उद्योगों के विनाश तथा कृषि भूमि पर निरन्तर बढ़ते भार के कारण भारी सख्या म लोग देश के बड़े बड़े नगरों एव विशाल औद्योगिक केन्द्रों म नौकरी की खोज के लिए उमड़ चले आते हैं। परन्तु देश का पर्याप्त औद्योगिक विकास न होने के कारण इन सभी के लिए रोजगार का अवसर प्राप्त होना असम्भव है। इस कारण भारी सख्या म लोग बेकार रहते हैं तथा देश की अधिकांश जन शक्ति का

*पाकिस्तान को छोड़ कर।

उपयोग नहीं हो पाता। एक ओर तो यह स्थिति है और दूसरी ओर देश में कुशल श्रमिकों का अभाव भी है। देश में स्थापित किये जाने वाले नये-नये उद्योग धंधों के लिए कुशल श्रम-शक्ति का अभाव बना रहता है जो बहुत सीमा तक देश की आर्थिक प्रगति में बाधक सिद्ध होता है।

(६) वैज्ञानिक एवं तांत्रिक क्षेत्र में पिछड़ा होना (Scientific and Technical Backwardness)—किसी देश की आर्थिक समृद्धि के लिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि उस देश में वैज्ञानिक अनुसंधान तथा तांत्रिक ज्ञान का समुचित प्रयोग हो। तांत्रिक विकास में पिछड़े होने के कारण हमारे उत्पादन के साधन एवं यंत्र अत्यन्त प्राचीन एवं अनुपयुक्त हैं जो बहुत हद तक हमारे आर्थिक विकास में मन्दगति होने के लिए उत्तरदायी हैं। वास्तव में हमारे देश का उस समय तक सम्पूर्ण आर्थिक विकास सम्भव नहीं जब तक कि वैज्ञानिक एवं तांत्रिक ज्ञान के विकसित क्षेत्र में अन्य देशों द्वारा किये गये अनुसंधान एवं अनुभवों का भारतीय उद्योगों में समावेश न हो।

(७) निर्धनता एवं अज्ञानता का देश (A Country of Poverty and Ignorance)—भारत के आर्थिक जीवन की एक और विशेषता यह है कि यहाँ की जनता निर्धनता एवं अज्ञानता की बेड़ियों में जकड़ी हुई है। देश में बेरोजगारी के कारण अधिकांश जनता अपने लिए आवश्यक जीविकोपार्जन में असमर्थ रहती है। एक निर्धन देश में जन-शक्ति का अनुपयोगी अवस्था में पड़ा रहना उसकी निर्धनता का एक प्रमुख कारण है। यही नहीं कि हमारे देशवासी केवल निर्धन हैं वरन् अशिक्षित होने के कारण अधिकांश जनता अज्ञानता के अंधकार में अपना जीवन व्यतीत करती है। देश की ८२·७% जनसंख्या ऐसी है जो भारत के विभिन्न ग्रामों में निवास करती है। खेती में लगे हुए ये सीधे सादे लोग सारी आयु अंध-विश्वास एवं अज्ञानता में समाप्त कर देते हैं। संसार के अनेक राष्ट्र शिक्षा के प्रचार एवं वैज्ञानिक प्रगति के कारण अपने देश की आर्थिक एवं सामाजिक स्थिति को सुधारने में न जाने कहाँ तक सफल हो चुके हैं। परन्तु भारत के ग्रामीण क्षेत्रों में जैसे इस नवीन युग का अभी प्रारम्भ ही नहीं हुआ है। संसार क्या अपने देश के ही विकसित एवं उन्नतिशील नगरों से अलग होने के कारण ग्राम-वासी अज्ञानता का जीवन व्यतीत करते हैं। इस लिए इस बात की महान् आवश्यकता है कि भारत के प्रत्येक गाँव में शिक्षा के प्रसार के हेतु स्कूल स्थापित किये जायें जो अज्ञानता को बाहर निकाल कर देशवासियों को सुखमय जीवन बिताने में सहायक हों।

(८) रीति-रिवाज में प्रसित तथा धार्मिक प्रवृत्ति वाले व्यक्तियों का देश (A Land of Custom-ridden & Religious minded People)—भारत में अति प्राचीन काल से देशवासियों के जीवन पर विभिन्न सामाजिक एवं धार्मिक

संस्थाओं की गहरी छाप पड़ती आई है। देश के आर्थिक जीवन पर इन सामाजिक एवं धार्मिक भावनाओं का इतना अमिट प्रभाव पड़ा है कि वे देश की अर्थ व्यवस्था का एक अभिन्न अंग बन चुकी हैं। इसी धार्मिक एवं सामाजिक वातावरण का यह प्रभाव है कि भारत आध्यात्मिक उन्नति की चरम सीमा तक पहुँचने के कारण भौतिक सम्पत्ति को घृणास्पद दृष्टि से देखता आया है। भारत के अनेक प्राचीन एवं धार्मिक ग्रन्थ देशवासियों को सादा जीवन तथा सन्तोष का पाठ पढ़ाते आये हैं। पश्चिमी राष्ट्रों ने आर्थिक क्षेत्र में जो प्रगति की है उसका मूल कारण यह है कि उनके जीवन में आर्थिक उन्नति को प्रथम स्थान दिया गया है। इसके अतिरिक्त हमारे देश में कुछ ऐसी प्रथाएँ एवं रीति रिवाज हैं जो किसी न किसी प्रकार भारत के आर्थिक जीवन को प्रभावित करते आये हैं। जैसे जाति प्रथा, संयुक्त कुटुम्ब प्रणाली, पर्दे की प्रथा, उत्तराधिकार नियम।

(९) विभिन्न अभावों का देश (A Land of Scarcities)—भारत जैसे देश की एक विशेषता यह भी है कि यहाँ पर अनेक ऐसी कमियाँ हैं जो उसके आर्थिक विकास में बाधा डालती हैं। जैसा कि सर्व विदित है कि आर्थिक विकास के लिए अनेक ऐसी बातों एवं सुविधाओं की आवश्यकता होती है जिनसे देश के औद्योगिक एवं आर्थिक समृद्धि में सहायता मिलती है जैसे कुशल श्रम शक्ति तथा प्राविधिक-ज्ञान (technical knowledge) की प्राप्ति, पूँजी की उपलब्धि, योग्य तथा निपुण साहसियों तथा समुचित बैंकिंग, साख सुविधाओं, यातायात एवं संवादवाहन के साधनों का उपलब्ध होना। परन्तु दुःख की बात है कि भारत में अभी तक इन सब बातों की कमी है जिसके कारण देश की आर्थिक प्रगति बढ़ने नहीं पाती।

(१०) विभिन्न जलवायु वाला देश (A Nation of Diverse Climates)—भारत के आर्थिक जीवन पर उसकी जलवायु का गहरा प्रभाव पड़ता है। भारत भी उन देशों में से एक है जहाँ विभिन्न प्रकार की जलवायु पाई जाती है। इसी कारण यदि भारत में उसके उत्तरी भाग में समशीतोष्ण जलवायु पाई जाती है तो दक्षिण में उष्ण जलवायु मिलती है। यही नहीं वर्षा का भी भारत में अत्यन्त असमान वितरण होता है जिसके कारण कुछ स्थान ऐसे हैं जहाँ पर वर्षा अत्यधिक होती है जैसे चेरापूँजी, परन्तु साथ ही कुछ ऐसे स्थान भी हैं जहाँ वर्षा बहुत कम मात्रा में होती है जैसे राजस्थान, उत्तरी पूर्वी मध्य प्रदेश तथा दक्षिणी पठार इत्यादि। विभिन्न प्रकार की जलवायु उपलब्ध होने के कारण हमारे देश में अनेक प्रकार की फसलें उत्पन्न की जाती हैं जिनसे देश के लिए आवश्यक विभिन्न पदार्थ तथा कच्चा माल प्राप्त होने में बड़ी सहायता मिलती है जिसके कारण भारतवर्ष प्राकृतिक साधनों की दृष्टि से एक धनी देश कहलाता है।

(११) नियोजित आर्थिक प्रगति वाला देश (A Country with Planned Economic Development)—वर्तमान समय में भारतीय अर्थ व्यवस्था का सबसे प्रमुख लक्षण यह है कि यहाँ देश की प्रगति के लिए आर्थिक नियोजन (Economic Planning) की सहायता ली जा रही है। वर्षों की बिगड़ी हुई अर्थ-व्यवस्था को सुधारने तथा आर्थिक जीवन म दृढ़ता लाने का आर्थिक नियोजन के अतिरिक्त और कोई उपाय हो ही क्या सकता है। जब देश की अधिकांश जनता निर्धन हो और साधनों का पर्याप्त मात्रा म विदोहन न हो रहा हो तो आर्थिक नियोजन द्वारा ही देश का सर्वाङ्गीण विकास हो सकता है। इसी कारण ससार के प्राय सभी विचारों के व्यक्ति आज इस तथ्य को स्वीकार करते हैं कि किसी भी देश की निर्धनता की समस्या और आर्थिक विकास की प्रगति को तीव्र करने के लिए किसी न किसी रूप में आर्थिक आयोजन अपनाना अत्यन्त आवश्यक है। भारत ऐसा ही एक उदाहरण है जहाँ भारी पैमाने पर आर्थिक नियोजन द्वारा देश क आर्थिक विकास का प्रयत्न किया जा रहा है।

देश के आर्थिक जीवन पर प्रभाव

उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट है कि भारतीय अर्थ व्यवस्था की अनेक ऐसी विशेषताएँ हैं जिनका अध्ययन देश की वास्तविक आर्थिक स्थिति समझने के लिए अनिवार्य है। इन मूल लक्षणों के अध्ययन का विशेष महत्व यह है कि इनका देश की राष्ट्रीय आय तथा विकास पर गहरा प्रभाव पड़ता है। उदाहरण के लिए भारत एक कृषि प्रधान देश होने के कारण यहाँ की अधिकांश जनता को कृषि द्वारा जीविका प्राप्त होती है। अति प्राचीन काल से अधिकांश जनता का खेती के व्यवसाय म लगे होने के कारण भारतवासियों में औद्योगिक चरित्र (industrial character) का विकास नहीं हो पाया—जो उसकी मदगति से औद्योगिक विकास होने का मुख्य कारण है। निरंतर बढ़ती हुई जनसख्या के कारण देश में जनशक्ति का आधिक्य है जिसके कारण श्रम पूर्ति भी अत्यधिक मात्रा में हो रही है। रोजगार के लिए श्रमिकों म पारस्परिक प्रतियोगिता होने के कारण मजदूरी की दर घटती जाने की प्रवृत्ति है। इसके फलस्वरूप मजदूरों म मोल भाव करने की शक्ति (bargaining power) कम है। इसी प्रकार जाति प्रथा, सयुक्त परिवार प्रणाली तथा धार्मिक भावनाओं द्वारा भी भारतवासियों का आर्थिक जीवन बहुत प्रभावित हुआ है। धर्म की प्रधानता होने के कारण भारत म भौतिक विकास की अपेक्षा नैतिक एव आत्मिक उन्नति को अधिक महत्वपूर्ण स्थान दिया गया है।

भावी प्रवृत्तियाँ (Future Trends)—देश की वर्तमान आर्थिक स्थिति चाहे जैसी भी हो परन्तु भविष्य अवश्य ही उज्ज्वल प्रतीत होता है। आर्थिक विकास के क्षेत्र म आने वाली अनेक बाधाओं को दूर कर भारतवासी अपने निरन्तर तथा अथक

परिश्रम से निश्चय ही भारत को एक समृद्धिशाली तथा सुविकसित राष्ट्र बनाने का सुखद स्वप्न देख रहे हैं। गौरव की बात यह है कि भारतवर्ष कई वर्षों की पराधीनता की शृंखलाओं से अब मुक्त हो गया है तथा राष्ट्रीय सरकार देश के आर्थिक विकास तथा समृद्धि के लिए प्रयत्नशील है। इस सम्बन्ध में सबसे हर्ष की बात यह है कि भारतवर्ष जिसे कुछ समय पूर्व तक एक अविकसित राष्ट्र कहा जाता था अब उसे अर्ध-विकसित राष्ट्र की संज्ञा दी जाती है। अविकसित आर्थिक अवस्था से अर्ध विकसित अवस्था (*from backward economy to under developed economy*) तक, वास्तव में, पहुँच कर भारत ने एक लम्बा रास्ता तय किया है। इस कारण भारत जैसे राष्ट्र का भविष्य निश्चय ही उज्ज्वल प्रतीत होता है। इस समय भारत में देश के आर्थिक विकास सम्बन्धी पंचवर्षीय योजनाओं के अन्तर्गत अनेक महत्वपूर्ण प्रयत्न किये जा रहे हैं जिनकी सफलता पर राष्ट्र का भविष्य निर्भर है।

प्रश्न

1 Describe the basic features of Indian economy and state to what extent these have been responsible for the slow growth of our national economy (*Agra, 1953, 1959*).

2. India has often been described as a rich country inhabited by poor people. Do you agree with this view ? Give full resaons for your answer (*Punjab, 1954, Rajputana, 1951*).



खण्ड २

प्राकृतिक संसाधन

१ भारत की भौगोलिक परिस्थिति एवं प्राकृतिक संसाधन

अध्याय ३

भारत की भौगोलिक परिस्थिति एवं प्राकृतिक संसाधन

भारत की भौगोलिक परिस्थितियां एवं प्राकृतिक साधनों से तात्पर्य देश के वातावरण, जलवायु, भूमि की रचना, शक्ति के साधन, खनिज-पदार्थ, वन-सम्पत्ति, पर्वत, तथा समुद्र तट इत्यादि से है। किसी भी देश का आर्थिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक विकास उस देश की भौगोलिक एवं प्राकृतिक परिस्थितियों पर निर्भर होता है। प्रकृति ने हमारे देश को प्रचुर उपहार प्रदान करने की महान् कृपा की है। हमारे देश में विभिन्न प्रकार की जलवायु और मिट्टी पाई जाती है। फलस्वरूप लगभग सभी कृषि पदार्थ भारतवर्ष में उत्पन्न होते हैं। संसार में संयुक्त राज्य अमेरिका और सोवियत रूस के पश्चात् भारत ही एक ऐसा देश है जो आत्म निर्भर आर्थिक व्यवस्था का निर्माण कर सकता है। प्राकृतिक साधनों की प्रचुरता एवं अनुकूल भौगोलिक परिस्थितियों के कारण ही भारत को अनादि काल से 'सोने की चिड़िया' तथा 'ब्रिटिश साम्राज्य का सर्व सुन्दर हीरा' जैसे सुन्दर शब्दों की संज्ञा प्रदान की गई है। आज भी भारत का गौरव उपरोक्त दृष्टिकोण से कम नहीं है।

भारतीय आर्थिक विकास का ठीक-ठीक रूप जानने से पूर्व यह आवश्यक है कि हम इस देश के प्राकृतिक साधनों एवं भौगोलिक परिस्थितियों के बारे में थोड़ा-सा ज्ञान कर लें। सर्व प्रथम हम भारत की प्राकृतिक परिस्थिति का अध्ययन करेंगे और तत्पश्चात् भारतीय वन, खनिज पदार्थ, शक्ति के साधन इत्यादि का विवेचन करेंगे।

अध्ययन की सुविधा के दृष्टिकोण से भारतीय भौगोलिक परिस्थिति को निम्न भागों में विभाजित किया जा सकता है :—

(१) भौगोलिक सीमा और स्थिति,
(२) भूमि की बनावट,
(३) जलवायु, तथा
(४) वनस्पति एवं पशु।

(१) भारत की भौगोलिक सीमा और स्थिति

भारतवर्ष भूमध्य रेखा के उत्तर में ८° अक्षांश से लेकर ३७° अक्षांश तक तथा

६६ २° से ६४° देशान्तर तक फैला हुआ है। देश की सीमा स्पष्ट और निश्चित है। इसके उत्तर में हिमालय पर्वत है जिसे समस्त ससार में सबसे ऊँचे होने का गौरव प्राप्त है और जो सदैव बर्फ से ढँका रहता है। देश के उत्तर-पूर्व तथा उत्तर-पश्चिम की ओर विशाल पहाड़ों की श्रेणियाँ शोभायमान हैं। देश का पश्चिमी, पूर्वी और दक्षिणी भाग समुद्रों से घिरा हुआ है। पूर्व में बगाल की खाड़ी है, पश्चिम की ओर अरब सागर है, और दक्षिण में हिन्द महासागर है। इस प्रकार भारत हिन्द महासागर के सिरहाने स्थित है।

भारत का क्षेत्रफल इस समय लगभग १२,६६,६४० वर्ग मील है। विभाजन से पूर्व समस्त भारत का क्षेत्रफल १५ लाख ८१ हजार वर्ग मील था। उत्तर से दक्षिण तक भारत की लम्बाई २ हजार मील है और पश्चिम से पूर्व तक १,७०० मील है। भारत का सामुद्रिक तट ४,१०० मील लम्बा है। यह अधिक कटा फटा नहीं है, प्रत्युत लगभग पूर्णतया सीधा है। भारतवर्ष के विस्तृत क्षेत्रफल तथा अनुकूल स्थिति के कारण इस देश की गणना ससार के विशालतम देशों के साथ की जाती है। इस देश का क्षेत्रफल रूस को छोड़ कर समस्त योरोप के क्षेत्रफल से कुछ कम है, और सयुक्त राज्य (U K) का बारह गुना है। भारत के क्षेत्रफल के सम्बन्ध में सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि इसका अधिकाश भाग मानव उपयोग के लिए सुलभ है जब कि ससार के बड़े-बड़े देशों का अधिकाश भाग अनुपयुक्त पड़ा रहता है। उदाहरणार्थ रूस और कनाडा में विस्तृत क्षेत्र निरन्तर हिमाच्छादित रहते हैं और आस्ट्रेलिया में बड़े बड़े रेगिस्तान हैं जो मानवीय उपयोग के दृष्टिकोण से निरर्थक हैं।

जनसख्या के दृष्टिकोण से भी भारत का ससार में एक महत्वपूर्ण स्थान है। ससार की जनसख्या का लगभग ⅕ भाग भारत में पाया जाता है। इसी विशाल क्षेत्रफल और विशाल जनसख्या को देखकर कुछ लोगों ने भारत को भू महाद्वीप अथवा उप महाद्वीप (Sub Continent) के नाम से विभूषित किया है।

भारत की भौगोलिक स्थिति अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के दृष्टिकोण से भी बहुत अच्छी है। हमारा देश पूर्वी भू मण्डल के ठीक मध्य में स्थित है। इसके एक ओर बर्मा, चीन, हिन्देशिया, जापान तथा दूसरी ओर योरुप और मध्य पूर्वी देश हैं जिनके साथ स्वतन्त्रतापूर्वक अच्छे व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित किये जा सकते हैं। भारत के पास स्वय अपने जहाजी बेड़े न होने के कारण भारत अभी तक अपनी भौगोलिक स्थिति का पूरा पूरा लाभ नहीं उठा पाया है। यदि यह अभाव भी दूर हो जाय (जैसी कि आशा की जाती है) तो शीघ्र ही भारत ससार का एक प्रमुख और अग्रगामी व्यापारिक देश बन जावेगा।

भारत के प्राकृतिक विभाग—प्राकृतिक विभाग से तात्पर्य उस भू-खण्ड से होता

है जिसमें भौतिक परिस्थितियाँ, जलवायु और प्राकृतिक वनस्पति में समानता होती है। इन तीन समानताओं के फलस्वरूप उस समस्त भू-खण्ड की कृषिकृत उपज, जीव-जन्तु, मनुष्यों की आर्थिक क्रियाएँ, जनसंख्या का घनत्व और रहन-सहन लगभग समान होता है। भारत के प्राकृतिक विभागों को निर्धारित करने में देशी और विदेशी दोनों ही विद्वानों ने अपने विचार व्यक्त किये हैं। सर्वमान्य धारणा डा० स्टॉम्प की मानी जाती है। उन्होंने भौतिक आकृति के आधार पर भारत के तीन मुख्य विभाग किये हैं—

(अ) हिमालय प्रदेश—इसके अन्तर्गत निम्न प्राकृतिक खंड माने गये हैं :—

(१) पूर्वी पहाड़ी प्रदेश,
(२) हिमालय प्रदेश,
(३) उप हिमालय प्रदेश,
(४) तिब्बत का पठार।

(ब) गंगा-सतलज का मैदान—इसमें निम्न प्राकृतिक खंड अवस्थित हैं :—

(५) पंजाब का मैदान,
(६) गंगा का ऊपरी मैदान,
(७) गंगा का मध्य मैदान,
(८) गंगा का निचला मैदान,
(९) ब्रह्मपुत्र की घाटी।

(स) दक्षिण का पठार—इसमें निम्न खंड सम्मिलित किये गये हैं :—

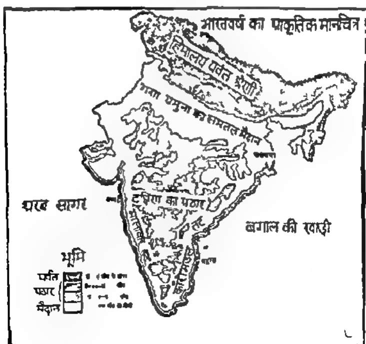
(१०) कच्छ, सौराष्ट्र प्रदेश,
(११) पश्चिमी तटीय प्रदेश,
(१२) तामिलनाड प्रदेश अथवा कर्नाटक,
(१३) कलिंग प्रदेश,
(१४) दक्षिणी दक्कन,
(१५) दक्षिण का लावा प्रदेश,
(१६) उत्तरी-पूर्वी दक्कन,
(१७) थार मरुस्थल,
(१८) मलावा, बुन्देलखंड और छोटा नागपुर का पठार,
(१९) राजस्थान का पठार।

डा० रामनाथ दुबे ने भारत को निम्नलिखित चार विभागों में विभाजित किया है :—

(१) हिमालय प्रदेश,
(२) गंगा-सतलज का मैदान;

(३) दक्षिणी पठार तथा
(४) तटीय प्रदेश ।

(१) हिमालय प्रदेश—विशाल हिमालय पर्वत माला उत्तर में पामीर से प्रारम्भ होती है और सिंधु से ब्रह्मपुत्र तक फैली हुई है। हिमालय पर्वत को तीन भागों में विभाजित किया जाता है—(१) भीतरी हिमालय जिसमें प्रधान श्रेणी स्थित है, (२) बाहरी हिमालय और (३) शिवालिक पहाड़। हिमालय पर्वत संसार का सबसे नवीन पहाड़ है। नवीन होने के कारण ही इसे संसार की उच्चतम चोटी 'एवरेस्ट' प्राप्त है। इसके अतिरिक्त इसमें अनेक उच्चतम चोटियाँ हैं जो संसार में अपना सानी नहीं रखतीं। उदाहरणार्थ एवरेस्ट, २६,१४१ फीट, कंचनचंगा २७,८१५ फीट तथा धौलागिरि २६,८२६ फीट ऊँची हैं। हिमालय के कारण भारतीय चीन एशिया के अन्य जलवायु क्षेत्रों से भिन्न हो गया है। तिब्बत से ठंडी उत्तरी हवाओं को यहाँ न आने देने के कारण तथा भारत में मानसून को रोक रखने के कारण हिमालय एक जलवायु सम्बन्धी अवरोध है। वास्तव में इस पर्वत के कारण हमारे देश की जलवायु हमारे देश में ही बनती है। ऊँचे दर्रों के कारण हिमालय व्यावसायिक तथा सामाजिक अवरोध भी बना रहा है। भारत में जितने भी आक्रमण बाहर से हुए हैं उनमें से कोई भी इन ऊँचे दर्रों से नहीं हुआ।



चित्र १—भारतवर्ष का प्राकृतिक मानचित्र

हिमालय पर्वत से देश को अनेक लाभ हैं जैसे—

(१) अरब सागर तथा बंगाल की खाड़ी से आने वाले मानसून को रोक कर यह पर्वत जल वृष्टि प्रदान करता है जो भारत जैसे कृषि प्रधान देश के लिए जीवन सजीवनी है।

(२) तिब्बत की ओर से आने वाली ठंडी हवाओं को रोक लेता है जिससे भारत को कोई हानि नहीं होती।

(३) देश की लगभग सभी महत्वपूर्ण नदियाँ हिमालय पर्वत से ही निकलती हैं।

(४) हिमालय पर्वत से अनेक जल प्रपातों को जल मिलता है जिससे विद्युत शक्ति का निर्माण होता है।

(५) हिमालय पर्वत के दक्षिण में विशाल जंगल हैं जो हमको प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष रूप से अनेक लाभ पहुँचाते हैं।

(६) हिमालय पर्वत के ही कारण देश में विभिन्न प्रकार की जलवायु पाई जाती है जिसके फलस्वरूप हमारे देश में अनेक प्रकार के खाद्य एवं पेय पदार्थ उत्पन्न किये जाते हैं।

(७) विशाल एवं अभेद्य होने के कारण यह देश को बाहरी आक्रमणों से सुरक्षित रखता है।

(८) पर्वतों पर अनेक स्वास्थ्यवर्धक स्थान हैं।

(९) पर्वतों पर बहुमूल्य पदार्थ एवं जड़ी-बूटियाँ पाई जाती हैं जो विभिन्न असाध्य रोगों के निवारण में सहायक होती हैं।

(१०) इसकी गोद में बहुमूल्य खनिज पदार्थ तथा विशाल चरागाह भी पाये हैं जो हमारे पशु धन को भोजन प्रदान करते हैं।

(२) गंगा-सतलज का मैदान—गंगा, सिंधु तथा ब्रह्मपुत्र नदियों से घिरा हुआ यह भाग पूर्व-पश्चिम में लगभग १५०० मील लम्बा और उत्तर दक्षिण में १५० मील चौड़ा है। यह विशाल मैदान संसार के सबसे उपजाऊ समतल मैदानों में से है और यहाँ सबसे अधिक जनसंख्या का घनत्व पाया जाता है। सिंचाई सम्बन्धी पर्याप्त सुविधाएँ उपलब्ध होने के कारण यह भाग आर्थिक दृष्टि से भारत के लिए बहुत ही महत्वपूर्ण है। इसमें बहुत से बड़े-बड़े मैदान सम्मिलित हैं जिनमें कई नदियाँ बहती हैं और दोमट मिट्टी लाकर मैदान को उर्वरा बना देती हैं।

गंगा-सतलज का मैदान दक्षिण में विन्ध्याचल पर्वत से लेकर उत्तर पर्वत श्रेणियों तक तथा पूर्व में बंगाल की खाड़ी से लेकर पश्चिम में पाकिस्तान की सीमा तक फैला हुआ है। इस भाग के पश्चिम में व्यास तथा सतलज नदियाँ बहती हैं और अरब सागर में जाकर गिरती हैं। नदियों का एक दूसरा पुंज जिनमें गंगा और यमुना प्रमुख हैं, उत्तर प्रदेश, बिहार और बंगाल से होकर गुजरता है। इन सब में गंगा

सबसे महत्वपूर्ण नदी है। अतः इस मैदान को गंगा के मैदान के नाम से ही पुकारा जाता है।

बड़ी बड़ी नदियां और उपजाऊ भूमि के कारण प्रारम्भ से ही यह भाग आर्य सभ्यता की खान और धर्म तथा साम्राज्यों की जन्म भूमि रहा है। आज भी इस भाग की गणना संसार के सबसे महत्वपूर्ण कृषि सम्बन्धी भागों में की जाती है।

(३) **दक्षिणी पठार**—दक्षिणी पठार भारत का प्राचीनतम भाग है जो अनेक छोटे-छोटे पठारों में विभाजित है। यह पठार समुद्र की सतह से लगभग २ हजार फीट की ऊँचाई पर है। इनका विभाजन रेखा नीची पहाड़ियां द्वारा बनी है। दक्षिणी पठार का स्वरूप त्रिकोण के समान है। विन्ध्याचल पर्वत इस त्रिकोण का आधार, कुमारी अंतरीप इसका सिरा तथा पूर्वी और पश्चिमी घाटी इसकी भुजाएँ हैं। यह देश का सबसे निचला भाग है। इसमें अनेक घाटियां हैं जिनमें बहुत सी नदियाँ बहती हैं। ये नदियां बहुत तेजी से बहती हैं। इनमें झरने हैं तथा इनकी तलहटी पथरीली है अतः इनमें जहाज नहीं चल सकते। इस भाग के पूर्व में महानदी, गोदावरी, कृष्णा, तथा कावेरी नदियाँ और पश्चिम की ओर नर्वदा और ताप्ती नदियां बहती हैं। ये नदियां न तो सिंचाई के उपयुक्त हैं और न व्यापारिक मार्ग के रूप में उपयुक्त हो सकती हैं।

इस भाग में अनेक प्रकार की मिट्टी पाई जाती है। वर्षा थोड़ी और अनिश्चित होती है जिससे समस्त प्रदेश में अकाल का भय बना रहता है। यहां पर बहुत से जंगल पाये जाते हैं जिनमें बहुमूल्य वस्तुएँ प्राप्त होती हैं। दक्षिणी प्रदेश में बागान उद्योग (चाय काफी, रबड़) अपेक्षाकृत अच्छा है। इस प्रदेश ने भारत के आर्थिक विकास में अच्छा योग दिया है।

(४) **तटीय प्रदेश**—दक्षिणी पठार चारों ओर से निचले मैदानों द्वारा घिरा हुआ है। पठार की कड़ी चट्टानों के सामने मैदान हो गये हैं। बंगाल की खाड़ी तथा दक्षिणी पठार के बीच का प्रदेश 'पूर्वी तट' कहलाता है। अरब सागर तथा दक्षिणी पठार के बीच का प्रदेश *'पश्चिमी तट' कहलाता है। पश्चिमी तट की अपेक्षा पूर्वी तट अधिक* विस्तृत है।

पूर्वी तटीय प्रदेश को जिसके पूरा भाग को "कारोमण्डल तट" और दक्षिणी भाग को 'पायन घाट" कहते हैं—दो भागों में विभाजित कर सकते हैं—निचला भाग और ऊपरी भाग। निचले भाग में अधिकतर नदियों के डेल्टे हैं जो पूर्ण रूप से कछार हैं परन्तु ऊपरी भाग अंशतः कछार अवशिष्ट मैदान है जो कि उभरे हुए भू भाग के क्षयीकरण द्वारा बने हैं। पश्चिमी तटीय मैदान, जिनको 'मलाबार तट' भी कहते हैं, मलाबार तट से आरम्भ होकर दक्षिण से उत्तर तक सारे अरब सागर के किनारे

फैला हुआ है। यह मैदान उत्तर में थर और राजस्थान के रेगिस्तानों से मिल जाते हैं। बालू, मिट्टी के विशाल समूह जो कि पुराने नदी-मार्गों के सूख जाने के कारण तथा समुद्रों के हट जाने के कारण बन गये हैं, यहाँ की विशेषताएँ हैं। पश्चिमी तट नारियल के पेड़, कपास और मसालों के लिए प्रसिद्ध है। सबसे उत्तम रुई—भड़ौंच की रुई—इसी प्रदेश में पैदा होती है। पूर्वी तट की सबसे महत्वपूर्ण उपज चावल है। यहाँ कपास और गन्ने ही उत्पन्न होते हैं।

(२) भूमि की बनावट

प्रत्येक देश की आर्थिक व्यवस्था में उस देश की भूमि की बनावट का एक महत्वपूर्ण स्थान होता है। दूसरे शब्दों में प्रत्येक देश का आर्थिक विकास वहाँ की भूमि की बनावट पर निर्भर होता है। हमारा देश कृषि प्रधान होने के कारण और कृषि का मिट्टी पर निर्भर रहने के कारण, भारतीय मिट्टियों का अध्ययन हमारे लिए बहुत आवश्यक हो जाता है। भारतवर्ष में अनेक प्रकार की मिट्टियाँ पाई जाती हैं जो काफी अच्छी और उर्वरा भी होती हैं किन्तु यह अधिकतर सूखी होती हैं और पर्याप्त मात्रा में पानी मिलने पर ही यह अच्छी उपज देती हैं।

भारतीय मिट्टी का विभाजन विभिन्न संस्थाओं द्वारा विभिन्न प्रकार से किया गया है। Indian Agricultural Research Institute, Delhi, ने भारत की मिट्टी को निम्न वर्गों में विभाजित किया है :—

(१) कछार,
(२) बड़े कछार,
(३) परिवर्तित चट्टानों पर की लाल मिट्टी,
(४) लाल-कड़ी मिट्टी,
(५) काली मिट्टी,
(६) गहरी काली मिट्टी,
(७) ट्रैप चट्टानों पर की हल्की मिट्टी, तथा
(८) गहरी काली कछार की मिट्टी।

Indian Council of Agricultural Research ने भारतीय मिट्टियों का वर्गीकरण इस प्रकार किया है :—

(१) लाल मिट्टी,
(२) लैटेराइट,
(३) कपास की काली मिट्टी,
(४) कछार मिट्टी,
(५) पहाड़ी और वन प्रदेशों की मिट्टी,

(६) क्षारयुक्त मिट्टी, और

(७) दलदली मिट्टी।

भूमि का वर्गीकरण आज का नहीं बहुत पुराना है। ऋग्वेद में भूमि को उसके गुण तथा किस्मों के अनुसार तीन भागों में विभक्त किया गया है—अर्तना (अनुपजाऊ), अपनास्वती (उपजाऊ) तथा उर्वरा (अति उपजाऊ)। इसी प्रकार किसानों को भी उन्होंने हल रखने के अनुसार—अहिली (बिना हल का), सुहली (सुन्दर हल रखने वाला) तथा दुरहली (दोषपूर्ण हल)—में विभक्त किया है।

यद्यपि हमारे देश में नाना प्रकार की मिट्टियाँ पाई जाती हैं परन्तु फिर भी उनको अध्ययन की दृष्टि से चार मुख्य भागों में वर्गीकृत किया जा सकता है:—

(१) नदियों द्वारा लाई गई मिट्टी या दोमट मिट्टी,

(२) लाल मिट्टी,

(३) काली मिट्टी,

(४) रवादार मिट्टी।

(१) **दोमट मिट्टी** (Alluvial Soil)—यह मिट्टी अधिकतर नदियों द्वारा लाई जाती है। अतः इसको नदियों द्वारा लाई गई मिट्टी, गगवार, दोमट अथवा दुमट आदि नामों से पुकारा जाता है। इस मिट्टी का भारतीय कृषि अर्थ व्यवस्था में विशेष महत्व है। भारत में यह सबसे अधिक उपजाऊ मिट्टी है। इसकी बनावट तथा इसके लक्षण प्राय बदलते रहते हैं। देश के उत्तरी भागों में यह मिट्टी शुष्क और छेददार होती है, बंगाल में यह नम और घनी होती है, दक्षिण भारत में यह बहुत घनी और गीली होती है। वास्तव में यह चिकनी मिट्टी की भाँति और रंग में काली होती है। यह मिट्टी रबी और खरीफ दोनों ही फसलों के लिए काफी उपयुक्त है। यह पंजाब, उत्तर प्रदेश, राजस्थान, पश्चिमी बंगाल, आसाम और गुजरात तथा मद्रास और दक्षिण पेनिनसुला के कुछ भागों में भी मिलती है। संक्षेप में इस मिट्टी वाले प्रदेश का क्षेत्रफल ३ लाख वर्ग मील है।

(२) **लाल मिट्टी** (Red or Crystalline Soil)—लाल या पीली मिट्टी उन चट्टानों की विशेषताएँ हैं जिनमें लोहे के अंश प्रचुर मात्रा में विद्यमान होते हैं। साधारण रूप से ऊँचे तापमान की दशाओं में लोहा गल कर सारी मिट्टी में समान रूप से फैल जाता है और मिट्टी को लाल या पीला कर देता है। अतः ये मिट्टियाँ उष्ण कटिबन्ध में आमतौर से पाई जाती हैं। भारत में यह मिट्टी ताप्ती के दक्षिण में विशेष रूप से पाई जाती है। थोड़ी मात्रा में ताप्ती के ऊपर तथा आसाम में भी पाई जाती है। ढालू स्थानों और पहाड़ी प्रदेशों पर पाई जानेवाली लाल मिट्टी हल्की और छिद्रपूर्ण होती है और बहुधा अनुपजाऊ होती है। मैदान में यह मिट्टी अधिक मोटी और शुष्क होती है। अतः अच्छी फसल उगाने के योग्य होती है।

(३) काली मिट्टी (Black Soil)—धातुओं के अधिक मिश्रित हो जाने के कारण इस मिट्टी का रंग काला हो गया। इस मिट्टी में नाइट्रोजन, फासफोरिक एसिड की मात्रा कम होती है और पोटास तथा चूने की मात्रा अधिक होती है। यह मिट्टी कपास की खेती के लिए बहुत उपयुक्त होती है। इसलिए इसे 'काली कपास वाली मिट्टी' तथा 'रैगर' मिट्टी भी कहते हैं। यह मिट्टी बहुत घनी होती है और चिकनाहट भी बहुत होती है। इसमें वनस्पति को पालने की इतनी अधिक शक्ति है कि हजारों वर्ष से बिना किसी खाद का उपयोग किये इस पर खेती की जा रही है। केमिकल्स की मात्रा अधिक होने के कारण यह उपजाऊ भी बहुत होती है। कपास की पैदावार के अतिरिक्त इसमें गेहूँ और मोटे अनाज भी पैदा किये जा सकते हैं। साधारणतया इस पर रबी की फसलें सफलतापूर्वक होती हैं।

इस मिट्टी का मुख्य क्षेत्र पश्चिम में बम्बई से पूर्व में अमरकंटक तक, तथा उत्तर में गूना से दक्षिण में बेलगाँव तक फैला है। यह क्षेत्रफल लगभग २ लाख वर्ग मील है।

(४) रवादार मिट्टी (Laterite Soil)—यह मिट्टी प्रायः उन प्रदेशों में मिलती है जो ऊसर हैं। इसकी ऊपरी सतह कँकरीली होती है। यह भौतिक और रसायन तत्वों में एक-सी नहीं होती। इसमें फासफोरिक एसिड की बहुत कमी होती है। यह एसिड बहुत महत्वपूर्ण खाद है। यह मिट्टी विशेष रूप से दक्कन, मध्य प्रदेश, पूर्वी और पश्चिमी घाटों के पास पाई जाती है। विभिन्न स्थानों पर यह विभिन्न प्रकार की होती है। यह पहाड़ी प्रदेशों में अनुपजाऊ होती है किन्तु मैदानों में जहाँ इसका रंग कुछ भूरा सा होता है, काफी उपजाऊ होती है। औसतन यह मिट्टी खेती के उपयुक्त नहीं होती।

भूमि क्षरण (Soil Erosion)

भूमि-क्षरण भारतीय कृषि के लिए बहुत बड़ा अभिशाप है। इसके द्वारा भारत को कितनी हानि हो रही है इस पर पूरा पूरा ध्यान न दिया जाना ही भारतीय कृषि की गम्भीर समस्या है। प्रति वर्ष हजारों टन अच्छी मिट्टी बह कर समुद्र में चली जाती है। भारतीय वर्षा की प्रकृति ही कुछ ऐसी है जिसके कारण छोटी-बड़ी नदियों में बाढ़ आ जाती है और उनके साथ देश के एक भाग की मिट्टी दूसरे भाग में और अन्तत: समुद्र में चली जाती है। वर्षा के जल अथवा वायु द्वारा भूमि के महीन कणों के हटाये जाने को ही 'भूमि क्षरण अथवा मिट्टी का कटाव' कहते हैं। भूमि क्षरण से भूमि की उर्वरा शक्ति नष्ट हो जाती है और भूमि ऊसर बन जाती है। हमारे देश की हजारों एकड़ भूमि क्षरण के कारण बेकार हो गई है। बिहार के विशाल भू भाग तथा उत्तर प्रदेश में यमुना और चम्बल नदियों के दोनों ओर बहुत से बड़े-बड़े भू भाग खेती के लिए अनुपयुक्त हो गये हैं।

भूमि-क्षरण के प्रकार

भारतवर्ष में भूमि क्षरण तीन प्रकार से होता है—

(१) तल क्षरण अथवा एक-सा कटाव (Sheet Erosion),

(२) अन्तः क्षरण अथवा कछार वाला कटाव (Gully Erosion),

(३) वायु क्षरण अथवा हवा द्वारा कटाव (Wind Erosion)।

(१) **तल क्षरण**—मिट्टी के ऊपरी कण मुलायम, ढीले और उपजाऊ होते हैं, अतः वर्षा का जल इन्हें अपने साथ बहा ले जाता है। इस प्रकार के कटाव को एक-सा कटाव अथवा तल क्षरण कहते हैं। इससे भूमि की उर्वरा शक्ति नष्ट हो जाती है और देश को अत्यधिक हानि उठानी पड़ती है।

(२) **अन्तः क्षरण**—जब वर्षा मूसलाधार होती है तब वह जल नदी और नालों के रूप में बहने लगता है, जिसका बहाव मिट्टी को बुरी तरह से काट देता है। इस प्रकार गहरे गड्ढे और रास्ते बन जाते हैं जिन्हें कछार अथवा बीहड़ कहते हैं। ये कछार खेती के लिए अनुपयोगी होते हैं।

(३) **वायु क्षरण**—जब वायु का वेग बहुत तीव्र होता है तब वह अपने साथ भूमि की ऊपरी सतह के मुलायम और उपजाऊ कणों को अपने साथ बहा ले जाता है। यह प्रायः सूखे प्रदेशों में होता है जैसे राजस्थान और पूर्वी पंजाब।

भूमि क्षरण के कारण (Causes of Soil Erosion)

भूमि क्षरण के प्रमुख कारण निम्नलिखित हैं —

(१) **वनों का विनाश**—प्रायः भूमि क्षरण वनों के विनाश के कारण होता है। भारत में वनों का विनाश बड़ी क्रूरता के साथ किया गया है। वृक्षों और पौधों तथा घास की जड़ों में जल के प्रभाव को रोकने की शक्ति होती है, जिससे भूमि का कटाव नहीं होता। परन्तु भारतीय लोग इस तथ्य को नहीं समझ पाते हैं।

(२) **वनस्पति का नष्ट करना**—वनस्पति के नष्ट हो जाने से भूमि रेगिस्तानी बन जाती है। हवा का एक झोंका आते ही रेतीली मिट्टी हवा के साथ उड़ने लगती है और शनैः शनैः भूमि की ऊपरी सतह, जो कि अधिक उपजाऊ होती है, उड़ जाती है।

(३) **निरन्तर खेती**—एक ही स्थान पर निरन्तर अनेक वर्षों तक खेती होते रहने के कारण भूमि की उर्वरा शक्ति कम हो जाती है। यदि कृत्रिम साधनों जैसे खाद इत्यादि के द्वारा भूमि की उत्पादकता को प्रतिस्थापित नहीं किया जाता है तो भूमि का क्षरण हो जाता है।

(४) **स्थान परिवर्ती खेती**—देश के कुछ प्रदेशों जैसे असम, बिहार, उड़ीसा और मध्य प्रदेश के आदिवासी एक निश्चित स्थान पर खेती नहीं करते। वे लोग कभी एक स्थान पर, कभी दूसरे स्थान पर और कभी तीसरे स्थान पर खेती करते हैं। इस प्रकार वे

जंगलों को नष्ट करके खेती के लिए स्थान बनाते रहते हैं। जंगलों को जला कर साफ करने की क्रिया को असम में 'झूमिंग क्रिया' कहते हैं।

(५) अनियंत्रित चराई—बिहार, उड़ीसा, मध्य प्रदेश, पंजाब तथा उत्तर प्रदेश के कुछ भागों में पशुओं द्वारा जंगलों की अत्यधिक अनियंत्रित चराई होती है। सरकार के द्वारा इस पर कोई नियंत्रण न होने के कारण स्थिति दिन प्रति दिन बिगड़ती जा रही है।

भूमि-क्षरण की हानियाँ

भूमि-क्षरण से होनेवाली प्रमुख हानियाँ निम्नलिखित हैं —

(१) भूमि की उत्पादन-शक्ति का ह्रास—भूमि की ऊपरी सतह के उड़ जाने अथवा कट जाने से भूमि की उत्पादन शक्ति कम हो जाती है।

(२) भूमि से पौधों की खुराक एक बड़ी मात्रा में बह जाती है—भूमि की ऊपरी सतह के शक्तिहीन हो जाने के कारण, नीचे की सतह वाली भूमि भी कमजोर होने लगती है और वह ठीक से पानी को सोख नहीं पाती।

(३) कुओं एवं जलस्रोतों का जल स्तर नीचा हो जाता है—भूमि में पानी सोखने की शक्ति कम हो जाने के कारण जलाशयों का जल स्तर नीचा हो जाता है।

(४) कछार एवं कगारों का निर्माण हो जाता है—भूमि के निरन्तर कटाव से भूमि कगारी तथा कटावदार हो जाती है जिससे भूमि खेती योग्य नहीं रहती। यह दु:खद स्थिति उत्तर प्रदेश और मध्य प्रदेश में प्रायः दृष्टिगोचर होती है।

(५) बाढ़ आने की सम्भावना रहती है—वनस्पति के समाप्त हो जाने से जल निधि का एक बड़ा भाग न केवल व्यर्थ बह कर नष्ट हो जाता है बल्कि देश में बाढ़ आदि आ जाने की आशंका भी रहती है।

(६) सिंचाई में बाधा पड़ती है—भूमि क्षरण के फलस्वरूप नदियों, नहरों तथा जलाशयों के दोनों ओर बालू (रेती) एक बड़ी मात्रा में इकट्ठा हो जाती है। इससे सिंचाई की व्यवस्था में अड़चन पड़ती है।

(७) नौचालन (Navigation) में बाधा पड़ती है—नदी, नहरों आदि के बीच में मिट्टी (बालू) आदि के जम जाने से जल-मार्ग नौचालन के अयोग्य हो जाते हैं। इससे जल-यातायात को काफी हानि होती है।

(८) सरकारी व्यय बढ़ जाता है—पानी के निकास के मार्गों (drainage) आदि के साफ करने में सरकार को खर्च एवं कठिनाई का सामना करना पड़ता है।

(९) जंगली जानवर तथा आदिवासी—इनके आश्रय (shelter) तथा भोजन के साधन कम हो जाते हैं और वे नगर के लोगों को परेशान करने लगते हैं।

भूमि क्षरण को रोकने के तरीके

भूमि क्षरण की समस्या आज देश के लिए एक जटिल समस्या है। संयुक्त राज्य अमरीका और रूस ने इस समस्या पर विजय प्राप्त करली है। भारत को भी इस समस्या का कोई न कोई हल निकालना है। भारत में भूमि क्षरण को रोकने के लिए निम्न उपायों को अपनाना होगा —

(१) उत्तम भूमि प्रयोग कार्यक्रम को अपनाना चाहिए—इस कार्यक्रम के अंतर्गत उन सब उपायों को अपनाना चाहिए जिससे भूमि का सर्वोत्तम प्रयोग हो सके। उदाहरणार्थ ऐसी भूमि को जो खेती के सर्वथा अयोग्य हो, वहाँ पर घने जंगल लगाने चाहिए। ऐसी भूमि जो ढालू हो और जिस पर घास आदि जम सकती हो वहा स्थायी रूप से घास को उगने दिया जाय। १०% से अधिक ढाल वाली भूमि को जहाँ तक हो सके घास अथवा पेड़ों से आच्छादित रखना चाहिए।

(२) फसलों का हेर फेर (Rotation) होना चाहिए—ऐसी भूमि जहाँ कटाव की सम्भावना हो, वहाँ पर वर्ष पर्यन्त खेती करना चाहिए और विशेषतः ऐसे अवसरों पर जब कि वर्षा होने वाली हो।

(३) वनों का यथासम्भव संरक्षण करना चाहिए।

(४) ढालू भूमि पर समोच्च रेखाओं (contours) के समानान्तर जोत कर पट्टीदार खेती (strip cropping) करना चाहिए। इससे पानी रुकता है, और मिट्टी काटने की शक्ति कम होती है। लम्बे ढाल को छोटे-छोटे भागों में विभाजित कर भूमि-क्षरण कम होता है।

(५) यांत्रिक विधियाँ—भूमि क्षरण को रोकने के लिए यांत्रिक (mechanical) विधियों को भी अपनाना होगा। इसमें बाँधों (dams), चबूतरों (terraces), अतिरिक्त जल को निकालने वाली नालियों आदि का निर्माण सम्मिलित है। इन सब निर्माणों का उद्देश्य बहते हुए पानी की मात्रा व वेग कम करना है, जिससे मिट्टी का कटाव कम हो।

(६) खड्ड बन्द करना (Gully Plugging)—यदि भूमि के कटाव के कारण किसी क्षेत्र में कगारें अथवा खड्ड बहुत हो गये हों तो उन्हें बन्द कर देना अथवा पाट देना चाहिए। खड्ड नियन्त्रण का सबसे सस्ता और विश्वसनीय तरीका यह है कि सम्पूर्ण खड्ड में वनस्पति उगाना चाहिए और उसे प्रकृति के ऊपर छोड़ देना चाहिए। यदि खड्ड बड़े होने के कारण वहा सम्पूर्ण खड्ड में वनस्पति को लगाना सम्भव न हो तो कम से कम सिरे तथा बगलों (heads and sides) में तो वनस्पति लगा ही देना चाहिए। अनेक छोटे मोटे बाँधों (dams) को बनाना चाहिए। ये बाँध प्राय बुने हुए तार (woven wire), ब्रश (brush), चलायमान चट्टानों (loose rocks), प्लांट (plants) आदि के बने होते हैं।

योजना काल में—

(१) ३० लाख एकड़ से भी अधिक भूमि पर विशेष रूप से भू संरक्षण का कार्य किया जावेगा।

(२) लगभग ४,००० से भी अधिक कर्मचारियों को इस सम्बन्ध में प्रशिक्षण दिया जावेगा।

(३) किसानों को भू संरक्षण सम्बन्धी ज्ञान कराने के लिए अनेक प्रदर्शन केन्द्र (Demonstration Centres) स्थापित किये गये हैं।

उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट है कि हमारी राष्ट्रीय सरकार भूमि क्षरण की समस्या के निवारणार्थ काफी प्रयत्नशील है। आशा है कि भारतीय किसान तथा अन्य सम्बन्धित व्यक्ति अपना योग प्रदान करके सरकार की योजनाओं को सफल बनायेंगे।

जलवायु

जलवायु का किसी देश के आर्थिक जीवन पर गहरा प्रभाव पड़ता है। देश में पाये जाने वाले पशु तथा वन सम्पत्ति, देशवासियों की कार्यक्षमता, मानवीय आवश्यकताएँ और उद्योग धन्धों की स्थिति सभी कुछ जलवायु के द्वारा निर्धारित होते हैं। सभ्यता तो जलवायु की उपज कहलाती है। किसी भी अन्य देश में वस्तुओं का उत्पादन जलवायु पर इतना निर्भर नहीं जितना भारतवर्ष में है। भारत एक कृषि प्रधान देश है और यहाँ असंख्य किसान अपनी खेती की सफलता के लिए आकाश की ओर आशा भरी दृष्टि से निहारते रहते हैं। उपयुक्त और सामयिक जल वृष्टि ही उनका भाग्य है। जलवायु भारतीय जीवन के कृषि सम्बन्धी नहीं, वरन् अन्यान्य पहलुओं पर भी प्रभाव डालती है। हमारा रहन सहन, कपड़, घर, सड़कें, रेलें, भोजन व स्वास्थ्य और कार्य शक्ति सभी कुछ जलवायु पर निर्भर रहते हैं।

भारतवर्ष भूमध्य रेखा के उत्तर में ८° से ३७° अक्षांश के अन्तर्गत फैला हुआ है। कर्क रेखा इसको दो भागों में विभाजित करती है—उत्तरी भारत और दक्षिणी भारत। उत्तरी भारत की जलवायु शीतोष्ण है। दक्षिणी भारत भूमध्य रेखा की पटी में आता है अतएव यहाँ तापक्रम साल भर ऊँचा रहता है और जाड़ों तथा गर्मियों के तापक्रम में बहुत कम अन्तर रहता है। तटवर्ती प्रदेशों की जलवायु शीतोष्ण होती है। देश में विभिन्न प्रकार की जलवायु पाये जाने के कारण विभिन्न प्रकार की खेती, विभिन्न प्रकार के लाभ तथा विभिन्न प्रकार के उद्योग धन्धे भी पाये जाते हैं।

वनस्पति एवं पशु

किसी देश की भौगोलिक, भू गार्भिक एवं जलवायु सम्बन्धी अवस्था ही उस देश की वनस्पति एवं पशु सम्पत्ति को निर्धारित करती है। भारतवर्ष में ये दशाएँ इतनी

(१) वन-क्षेत्रफल में वृद्धि—नहरों, सड़कों, व बेकार भूमि पर वृक्षों को लगा कर वन क्षेत्रफल में लगभग ३,८०,००० एकड़ की वृद्धि की जावेगी।

(२) औद्योगिक एवं व्यापारिक महत्व की मूल्यवान लकड़ियों वाले वृक्षों का आरोपण किया जावेगा।

(३) वन पदार्थों तथा वस्तुओं को प्राप्त करने के साधनों में सुधार एवं विकास किया जावेगा।

(४) वन सम्पत्ति सम्बन्धी उपयुक्त आँकड़े संकलित करवाये जावेंगे।

(५) वन सम्बन्धी अनुसन्धान का विस्तार किया जावेगा।

(६) वन सम्बन्धी कार्यों के लिए पर्याप्त संख्या में कर्मचारी नियुक्त किये जावेंगे और उनके आवास की भी व्यवस्था की जावेगी।

वन-सम्पत्ति की रक्षा एवं वन-महोत्सव

जैसा कि उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट है कि वन हमारे आर्थिक जीवन के एक महत्वपूर्ण अंग हैं, जिसके कारण भारत जैसे कृषि प्रधान देश की प्रगति वर्षा पर निर्भर करती है। परन्तु वर्षा को पर्याप्त एवं नियमित रूप में प्राप्त करने के लिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि हम अपने देश की वन सम्पत्ति की रक्षा करें तथा उसके उत्तरोत्तर विकास के लिए प्रयास करते जायँ। परन्तु खेद का विषय है कि लगभग पिछले ५० से अधिक वर्षों के बीच में हमारे देश की वन-सम्पत्ति को भारी क्षति पहुँची है। प्रथम महायुद्ध, द्वितीय महायुद्ध तत्पश्चात् स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद देश के आर्थिक विकास के लिए बनाई गई प्रथम एवं द्वितीय पंचवर्षीय योजनाओं में बहुत भारी मात्रा में इमारती लकड़ी की आवश्यकता पड़ने तथा निरन्तर जनसंख्या की वृद्धि के फलस्वरूप नई-नई बस्तियों के आबाद होने, नये-नये उद्योगों की स्थापना, स्कूल कॉलेज तथा अन्य इमारतों के निर्माण के कारण देश की वन सम्पत्ति का भारी उपयोग हुआ है। इसलिए यह आवश्यक है कि वनों की रक्षा की जाय। इस उद्देश्य से प्रत्येक वर्ष जुलाई मास के प्रथम सप्ताह में 'वन-महोत्सव' मनाया जाता है। इसके अंतर्गत देश के विभिन्न स्थानों में पौधे लगाये जाते हैं। परन्तु केवल नये-नये पेड़ों के लगा देने मात्र से ही हमारा उत्तरदायित्व समाप्त नहीं हो जाता। प्रायः ऐसा देखा जाता है कि प्रति वर्ष 'वन महोत्सव' के अन्तर्गत लगाये गये वृक्षों का अधिकांश अपनी वास्तविक आयु तक पहुँचने के पूर्व ही नष्ट हो जाता है। इसलिए यह आवश्यक है कि हम उनकी उचित देख रेख रखें।

खनिज सम्पत्ति
(Mineral Resources)

खनिज सम्पत्ति किसी देश की समृद्धि के स्रोत होते हैं। खनिज सम्पत्ति के

कारण ही आज इगलैंड ससार मे इतना समृद्धिशाली उद्योग प्रधान देश बन सका है। रूस, अमेरिका, जर्मनी, फ्रांस व अन्य योरोपियन देशों की उन्नति का एकमात्र कारण उनकी धनवान खनिज सम्पत्ति व उसका निदोहन है। हमारे देश मे कुछ खनिज पदार्थों जैसे सीसा, जिक, ताँबा, गधक तथा पेट्रोलियम को छोड़कर और सभी खनिज पदार्थ बहुतायत से पाये जाते हैं। वह खनिज पदार्थ देश की अर्थ व्यवस्था के लिए आवश्यक होते हैं और इन्होंने उत्पादन तथा यातायात के आधुनिक तरीकों मे क्रान्ति कर दी है।

१९५८ मे भारतवर्ष मे खनन-कार्य मे लगभग ६,४७,००० व्यक्ति लगे हुए थे और ३,३०० खानों मे काम हो रहा था। अधिक महत्वपूर्ण खनन केन्द्र आन्ध्र प्रदेश, उड़ीसा, पश्चिमी बगाल, बिहार, मैसूर तथा राजस्थान मे हैं। १९५७ मे खानों से १ अरब २६ करोड़ २० लाख रुपये के मूल्य के खनिज पदार्थ निकाले गये। १९५६ मे इनका परिमाण सम्बन्धी सूचनाक ११६.५ *(आधार वर्ष : १९५१ = १००) था।* विभिन्न पदार्थों का विस्तार मे अध्ययन इस प्रकार है :—

अनुमान लगाया गया है कि भारत मे लोहे का भडार २१ अरब टन का है जो ससार के कुल भडार का एक चौथाई है। उड़ीसा, बम्बई, बिहार, मध्य प्रदेश तथा मैसूर मे हेमेटाइट लोहा अधिक मात्रा मे पाया जाता है। मैग्नेटाइट लोहा उड़ीसा, बिहार, मद्रास, मैसूर तथा हिमाचल प्रदेश मे पाया जाता है। पश्चिमी बगाल मे लाइमोनाइट लोहे का काफी बड़ा भडार है। देश मे सभी प्रकार के लोहे का भडार लगभग ६'७६ अरब टन का है।

कोयला

स्वतन्त्र भारत की नींव सुव्यवस्थित अर्थ व्यवस्था पर खड़ी करने के लिए आजादी के बाद देश मे बहुत से विकास कार्य शुरू हुए हैं। देश के औद्योगीकरण के लिए कोयला और इस्पात उद्योगों के विकास को प्रधानता दी गई है। दूसरी योजना के अन्त तक ६ करोड़ टन कोयला निकालने का लक्ष्य रखा गया है।

भारत मे २५ हजार वर्ग मील मे ६० अरब टन सभी प्रकार के कोयले के भडार होने का अनुमान है। यह दुनिया भर के कोयले के भडारों का पाँचवाँ भाग है। भारत का कोयला क्षेत्र ब्रिटेन के कोयला क्षेत्र से तिगुना है।

कोयले की खुदाई का काम हमारे देश के लिए नया नहीं है। प्रकाशित सूचनाओं से पता चलता है कि सन् १७७४ मे रानीगज मे कम गहरी खानें थीं। इसके ४० साल बाद कोयले का काम नये सिरे से शुरू हुआ और १९ वीं सदी के मध्य तक रानीगञ्ज में बहुत-सी कोयला खानें खोदी गईं।

प्रमुख कोयला क्षेत्र रानीगञ्ज, झरिया, गिरीडीह, बोकारो, पेंच, चाँदा घाटी तथा गोंडवाना हैं।

'बेरिल' राजस्थान और 'मोनाजाइट' केरल में मिलता है। बिहार में ऐसे बहुत से स्थान हैं जहाँ यूरेनियम निकाला जा सकता है। इसके अतिरिक्त फिटकरी, एपाटाइट (एक प्रकार का नमक), खड़िया, ऐस्बस्टस, बेरियम सल्फेट, फेल्सपार, रेह, गारनेट (लाल खनिज), काला सीसा, स्फटिक, शोरा तथा स्ट्रियाटाइट धातुएँ भी थोड़ी थोड़ी मात्रा में पाई जाती हैं। जिप्सम (८८१ करोड़ टन का सम्भावित भंडार) बम्बई, मद्रास तथा राजस्थान में पाया जाता है। एपाटाइट के भण्डार मद्रास तथा बिहार में हैं जिनसे २० लाख टन एपाटाइट सुगमता से प्राप्त किया जा सकता है।

सन १९५८ में विभिन्न खनिज पदार्थों का उत्पादन तथा उसका मूल्य इस प्रकार था—

खनिज पदार्थों का उत्पादन (परिमाण तथा मूल्य) १९५८*

	परिमाण (Quantity) (मीट्रिक टन में)	मूल्य (हजार रुपये) (Value)
धातु खनिज पदार्थ		
लौह		
क्रोमाइट (टन)	९३,९५७	३,१८६
लोहा (टन)	६१,३०,०००	४,८,४६१
मैंगनीज (टन)	१२,५३,०००	११,२,४२६
अलौह		
बाक्साइट (टन)	१,३६,०६८	१,२८४
ताँबा (टन)	४,११,४७१	२,२,६६८
सोना (किलोग्राम)	५,२६१	४,६,६८८
इलमेनाइट (टन)	३,१४,१२२	१,८,३३६
सीसा (टन)	५,३४१	१,६३७
चाँदी (किलोग्राम)	३,४१६	५४८
जस्ता (टन)	७,३६१	२,०४६
धातु भिन्न खनिज पदार्थ		
हीरा (कैरट)	१,५४०	३७०
मरकत (एमरल्ड) (कैरेट)	८०,०००	५०
जिप्सम (टन)	७,६४,३६२	५,२१२
कच्चा अभ्रक (टन)	३१,८११	२,५,१६६
नमक (सेंधा नमक को छोड़कर) (टन)	४२,२७,०००	८,४,३३५

भारतीय खान ब्यूरो

दूसरी पंचवर्षीय योजना में भारी उद्योगों के विकास पर जो अधिक जोर दिया गया है उसे देखते हुए भारतीय खान ब्यूरो का कार्य विशेष महत्व रखता है। खनिज साधनों के विकास और उपयोग के बारे में इस ब्यूरो को जो विधिवत् काम सौंपा गया

*India, 1960, pp. 321-22

जीवित शक्ति (Living Energy) को निकाल दिया जाय तो शक्ति के साधनों की निम्न स्थिति होगी :—

भारत में शक्ति पूर्ति के साधन : १९५५

	अनुरूप कोयले के मि० टन (Mil. tons of Coal Equivalent)	कुल का प्रतिशत (Percentage of Total)
गोबर (Animal Dung)	९०·०	६५·४
लकड़ी (Wood)	९·७	७·१
कोयला (Coal)	२७·३	२०·६
तेल (Oil)	५·१	३·६
बिजली (Electricity)	४·५	३·३
	१३७·६	१००·०

यदि अव्यावसायिक (Non-commercial) शक्ति के साधनों (गोबर तथा लकड़ी) को छोड़ दिया जाय तो हम देखेंगे कि भारतवर्ष में औद्योगिक शक्ति ८० प्रतिशत कोयले के द्वारा और १२ प्रतिशत तेल के द्वारा प्राप्त होती है। परन्तु भारतवर्ष कोई अपवाद नहीं है। तीव्र एवं विश्वव्यापी तेल की माँग की वृद्धि के साथ भारत की माँग में वृद्धि हो रही है। भारत में तेल की माँग जो कि पिछले [illegible] वर्षों में दुगुनी हो गई है आगामी १० वर्षों में पुनः दुगुनी हो जाने की सम्भावना है।

तेल (पेट्रोलियम) साधन (Petroleum Resources)

देश में तेल (पेट्रोलियम) के साधन बहुत सीमित हैं। ४ लाख वर्ग मील क्षेत्र में तेल प्राप्त किये जाने का अनुमान है। किन्तु यह अनुमान आजकल चल रही तेल क्षेत्रों की खोज के आधार पर ही लगाया गया है। बर्मा के अलग हो जाने पर तथा विभाजन के फलस्वरूप भारत अपनी आवश्यकताओं के लिए संयुक्त राज्य अमेरिका, बोर्नियो, बर्मा तथा रूस से आयात करता है।

इस समय भारतवर्ष में चार रिफाइनरीज हैं—

(१) बर्मा शेल, बम्बई,

(२) स्टेनवैक, बम्बई,

(३) कालटेक्स, विशाखापटनम, और

(४) असम आयल कम्पनी, डिग्बोई (असम)।

डिग्बोई रिफाइनरी (असम) सबसे पुरानी रिफाइनरी है। इसका वार्षिक उत्पादन ६० मिलियन गैलन है जो कि देश की कुल आवश्यकता का ७% पूरा करता है। उपरोक्त चारों रिफाइनरीज की उत्पादन क्षमता ४ मिलियन टन है और देश की वर्तमान माग ५ मिलियन टन है। इसके अतिरिक्त प्रतिवर्ष तेल की माग में ८% वृद्धि हो जाती है। इस बढ़ती हुई माँग को पूरा करने के लिए दो और रिफाइनरीज सार्वजनिक क्षेत्र में असम और बिहार में खोली जावेंगी। भारत में कच्चा तेल (Crude oil) आयात किया जायगा और इन रिफाइनरीज में साफ किया जायगा, इस प्रकार १० करोड़ रुपये प्रति वर्ष सालाना की बचत होगी। बिजली का उत्पादन बढ़ने पर इसका आयात कम हो जायगा।

त्रिपुरा राज्य, बधरिया (असम) तथा काँगड़ा (पंजाब) जिलों में तेल क्षेत्र पाये जाने की सम्भावना है, परन्तु फिर भी और अधिक तेल प्राप्त करने की समस्या बनी ही रहेगी। देश के वर्तमान औद्योगिक एवं आर्थिक विकास की दर के अनुसार १९६१ में ७.५ मिलियन टन से अधिक और १९७१ तक २० मिलियन टन से अधिक कच्चे तेल (Crude oil) की आवश्यकता होने का अनुमान है। एक अनुमान के अनुसार १९६५ तक इन भावी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए ३५० करोड़ रुपये के विनियोग की और १९७० तक इस विनियोग के दुगुने की आवश्यकता होगी। इस प्रकार तेल उद्योग में भारी पूँजी निर्माण की आवश्यकता होगी, अन्यथा तेल की पूर्ति के साधन सूख जायेंगे।

प्रथम पंचवर्षीय योजना—इसमें पंजाब के काँगड़ा जिले, राजस्थान के जयसलमेर तथा कच्छ व काम्बे क्षेत्रों में तेल के अनुसन्धान सम्बन्धी पर्यवेक्षण कराने की योजना थी। १९५३ तथा १९५५ में भारत सरकार ने Standard Vacuum Oil Co Ltd, से पश्चिमी बंगाल व बेसिन में संयुक्त रूप से तेल की खोज करने का एक समझौता किया है। योजना की प्रगति की रिपोर्ट के अनुसार ज्ञात हुआ है कि इस समझौते के अनुसार उचित रीति से कार्य चल रहा है।

केन्द्रीय प्राकृतिक साधन एवं वैज्ञानिक अनुसन्धान विभाग ने १९५५ में तेल एवं प्राकृतिक गैस विभाग (Oil and Natural Gas Division) तथा १९५५-५६ में जयसलमेर क्षेत्र में विभागीय तेल खोज (Departmental Exploration of Oil) प्रारम्भ की। तेल खोज कार्य के सम्बन्ध में कोलम्बो योजना के अन्तर्गत कनाडा से प्राविधिक (Technical) सहायता भी प्राप्त हुई है।

द्वितीय पंचवर्षीय योजना—इसमें तेल क्षेत्र के अन्वेषण तथा विकास कार्य में एक महत्वपूर्ण स्थान प्रदान किया गया है। जयसलमेर, काम्बे तथा ज्वालामुखी में

होने वाले कार्यों के लिए ११.५ करोड़ रुपये का प्राविधान था, जो कि बाद में बढ़ा कर २० करोड़ रुपये कर दिया गया।

द्वितीय योजना के अन्तर्गत विभिन्न क्षेत्रों में होने वाले खोज कार्यों में काफी प्रगति हुई है। १९५८-५९ में लगभग ८ करोड़ रुपये व्यय होने का अनुमान है। पश्चिमी बंगाल बेसिन में अन्वेषण कार्य जारी है। नाहोरकटिया तल क्षेत्र के विदोहन के लिए तथा एक पाइप लाइन बनाने एवं चलाने के लिए भारत सरकार और बर्मा ऑयल कम्पनी की साझेदारी में रुपी कम्पनी का निर्माण हुआ है। इस कच्चे तेल के शोधन के लिए सार्वजनिक क्षेत्र में दो रिफाइनरीज बनाने का विचार है। पाइप लाइन का निर्माण तथा रिफाइनरीज की स्थापना दो चरणों (Stages) में की जावेगी। प्रथम चरण में नाहोरकटिया से गौहाटी तक एक पाइप लाइन डाली जावेगी जहाँ कि '७५ मिलियन टन की क्षमता की एक रिफाइनरी बनाई जावेगी। दूसरे चरण में पाइप लाइन बरौनी तक बढ़ा दी जावेगी जहाँ कि दूसरी रिफाइनरी बनाई जावेगी, जिसकी उत्पादन क्षमता १.५ से २.० मिलियन टन की होगी। रुपी कम्पनी तथा गौहाटी में बनने वाली रिफाइनरी में सरकार २४ करोड़ रुपये द्वितीय योजना काल में व्यय करेगी।

सितम्बर १९५८ में बाम्बे में ६,५०० फीट की गहराई पर तेल पाया गया है। भविष्य में और तेल कूपों के पाये जाने की सम्भावना है।

१९५७ में मध्य पूर्वीय देशों (Middle east) से २८,२६,२६,००० रुपये के मूल्य का क्रूड पेट्रोलियम आयात किया गया। १९५८ के प्रथम ८ महीनों में यही आयात ६,६७,०५,००० रुपये के मूल्य का किया गया।

पेट्रोलियम की विकास योजनाएँ

तेल और प्राकृतिक गैस कमीशन—तेल और प्राकृतिक गैस कमीशन ने तेल की खोज का काम और भी जोरों से शुरू कर दिया है। पंजाब के ज्वालामुखी क्षेत्र में तेल के लिए प्रारम्भिक खुदाई का काम हो रहा है। वहाँ गैस होने के भी कुछ संकेत मिले हैं। पंजाब के होशियारपुर क्षेत्र में परीक्षण के तौर पर एक कुआ भी खोदा गया है। असम के शिवसागर क्षेत्र में भी प्रारम्भिक खुदाई का काम जल्दी ही शुरू किया जायगा। बड़ौदा क्षेत्र में ऊपरी सतह की खुदाई का काम हो रहा है। वहाँ गैस और तेल होने की सम्भावना का पता चला है।

भारत स्टैंडर्ड वैकुम पेट्रोलियम परियोजना—इस योजना के अधीन जिसमें सरकार के २५ प्रतिशत हिस्से हैं, स्टैण्डर्ड वैकुम आयल कम्पनी पश्चिमी बंगाल के बेसिन में तेल की खोज का काम कर रही है।

आयल इण्डिया लिमिटेड—बर्मा आयल कम्पनी और असम आयल कम्पनी के साथ एक समझौते के अधीन १८ फरवरी, १९५९ को 'आयल इण्डिया

लिमिटेड के नाम से एक कम्पनी स्थापित की गई। इसमें सरकार के ३३⅓ प्रतिशत हिस्से हैं। यह कम्पनी आसाम के नाहारकटिया तेल क्षेत्रों से बिना साफ किया तेल निकालेगी और एक पाइप लाइन के जरिये यह तेल असम और बिहार में स्थापित किये जाने वाले तेल साफ करने के कारखानों तक पहुँचायेगी। पाइप लाइन बनाने का काम दो चरणों में पूरा होगा। तेल साफ करने के इन कारखानों के निर्माण और सचालन के लिए इण्डियन रिफाइनरीज लिमिटेड के नाम से एक सरकारी कम्पनी स्थापित की गई है। असम में खोले जाने वाले तेल साफ करने के पहले कारखाने के लिए मशीनों तथा टेकनिकल सहायता प्राप्त करने के लिए रूमानिया सरकार के साथ एक समझौता कर लिया गया है। बिहार के बरौनी नामक स्थान में खोले जाने वाले दूसरे कारखाने के लिए सिवियत रूस से इसी तरह की सहायता प्राप्त करने के लिए कार्यवाही की जा रही है।

प्राकृतिक गैस—आसाम के नाहारकटिया क्षेत्र में तेल के साथ साथ प्राकृतिक गैस का काफी बड़ा भण्डार होने का पता चला है। इस सम्बन्ध में अभी जाँच पड़ताल हो रही है कि इस गैस का उपयोग करने के लिए वहाँ कौन कौन से उद्योग स्थापित किये जाय।

विद्युत शक्ति के स्रोत (साधन) (Electric Power Resources)

बीसवीं शताब्दी के दूसरे दशक के मध्य तक विद्युत उत्पादन में बहुत ही कम प्रगति हुई। मार्च, १९५६ में सार्वजनिक उपयोग के विद्युत यन्त्रों (Plants) की प्रस्थापित क्षमता (Installed Capacity) ३५,११,५८६ किलोवाट थी। इसी अवधि में विद्युत् उत्पादन भी बढ़कर १२ अरब ६६ करोड़ ४० लाख किलोवाट हो गया।

भारत का वार्षिक प्रति व्यक्ति विद्युत् उत्पादन केवल २५ किलोवाट घंटे है, जब कि नार्वे, कनाडा, ब्रिटेन, रूस तथा जापान का प्रति व्यक्ति विद्युत् उत्पादन क्रमशः ७,२५० ५,४५० २,००० ६६० तथा ८५० किलोवाट घंटे है।

पश्चिम की ओर बहने वाली पश्चिमी घाट की नदियों, पूर्व की ओर बहने वाली दक्षिण भारत की नदियों तथा मध्यवर्ती भारतीय पठार की नदियों के सम्बन्ध में केन्द्रीय जल तथा विद्युत आयोग, द्वारा किये गये अध्ययनों से पता चलता है कि इस आयोग (Commission) की रिपोर्ट में सुझाई गई ११५ बड़ी योजनाओं से लगभग १ ४७ करोड़ किलोवाट विद्युत का उत्पादन किया जा सकता है। इस समय देश में अनुमानतः ४ १० करोड़ किलोवाट से अधिक विद्युत का उत्पादन किया जाता है।

विद्युत विकास सम्बन्धी सगठन

भारत में विद्युत्-उत्पादन तथा उसके वितरण की व्यवस्था लम्बे समय तक

गाँवों मे बिजली

कुछ बड़े विद्युत् केन्द्रों मे ग्रामीण क्षेत्रों के लिए भी बिजली पैदा की जाती है। ग्रामीण क्षेत्रों मे बिजली लगाने के सम्बन्ध मे अभी तक केवल आन्ध्र प्रदेश, उत्तर प्रदेश केरल, पजाब, पश्चिमी बगाल, बम्बई, बिहार, मद्रास तथा मैसूर मे ही कुछ प्रगति हुई है। मार्च १९५६ के अन्त मे ५,६१,१०८ कस्बों तथा गाँवों मे बिजली की व्यवस्था थी।

दोनों योजनाओं की विद्युत योजनाएँ

प्रथम योजना के सार्वजनिक क्षेत्र मे १४२ विद्युत् विकास योजनाएँ सम्मिलित थीं। उनमे से बड़े बहु उद्देश्यीय नदी घाटी योजना कार्य थे—भाखड़ा नगल, हीराकुड, दामोदर घाटी कारपोरेशन, चम्बल, रिहन्द, कोयना तथा कोसी।

प्रथम योजना काल में जिन मुख्य विद्युत् योजनाओं का कार्य पूरा हो गया तथा जिनमे विद्युत् उत्पादन आरम्भ हुआ, वे इस प्रकार हैं—

	प्रस्थापित क्षमता (किलोवाट) [Installed Capacity Kwt.]
१. नगल (पजाब)	४८,०००
२. बोकारो (बिहार)	१,५०,०००
३. खोल (कल्याण, बम्बई)	५४,०००
४ खापरखेड़ा (मध्य प्रदेश)	३०,०००
५. मोयार (मद्रास)	३६,०००
६. मद्रास नगर सयन्त्र (Plant) विस्तार (मद्रास)	३०,०००
७. मचकुण्ड (आन्ध्र प्रदेश—उड़ीसा)	३४,०००
८. पथरी (उत्तर प्रदेश)	२०,०००
९. शारदा (उत्तर प्रदेश)	४१,४००
१०. सेनगुलम (केरल)	४८,०००
११. जोग (मैसूर)	७२,०००

मार्च १९५१ में विद्युत् उत्पन्न करने वाले सयन्त्रों (Plants) की कुल प्रस्थापित क्षमता (Installed Capacity) २·३ मिलियन किलोवाट थी। प्रथम योजना काल में इस क्षमता १·१ मिलियन किलोवाट की वृद्धि हुई। योजना काल में ३,७०० अतिरिक्त कस्बों तथा गाँवों मे बिजली पहुँचाई गई और प्रति व्यक्ति बिजली का उपभोग १९५०-५१ के १४ यूनिट से १९५५-५६ मे २५ यूनिट हो गया।

द्वितीय योजना काल मे विद्युत सयन्त्रों की क्षमता ३·४ मिलियन किलोवाट से ६·९ मिलियन किलोवाट करने का विचार है। इस अतिरिक्त उत्पादन क्षमता को सरकारी व निजी सयन्त्रों तथा हाइड्रो एव थर्मल पावर प्लान्ट्स के द्वारा प्राप्त किया जायेगा।

योजना काल में सार्वजनिक क्षेत्र में ४२७ करोड़ रुपये और निजी क्षेत्र में ४२ करोड़ रुपये व्यय करने का विचार है।

द्वितीय योजना के अन्त तक १८,००० कस्बों व गाँवों में बिजली पहुँच जावेगी और बिजली का प्रति व्यक्ति उपभोग १९६०-६१ तक ५० यूनिट हो जावेगा।

द्वितीय योजना काल में कुल मिलाकर ४२ विद्युत् उत्पादन योजनाएँ आरम्भ की जायँगी जिनमें से २३ जल विद्युत् योजनाएँ तथा १९ वाष्प शक्ति योजनाएँ होंगी।

तृतीय पंचवर्षीय योजना के अन्त तक बिजली की उत्पादन क्षमता बढ़ाकर १ करोड़ १८ लाख किलोवाट कर दी जायगी। अणु शक्ति से भी ३ लाख किलोवाट बिजली बनाई जायगी। आशा है कि इस योजना काल में १५,००० गाँव और छोटे कस्बों में बिजली लगाई जायगी, जिससे इनकी कुल संख्या ३४,००० हो जायगी।

मानव-शक्ति

(Human Resources)

किसी देश की जनसंख्या का परिमाण और उसके गुण उस देश की आर्थिक, सामाजिक एवं औद्योगिक स्थिति पर प्रत्यक्ष एवं प्रभावपूर्ण प्रभाव डालती हैं। अनादि काल से अर्थशास्त्रियों, समाजशास्त्रियों तथा देशभक्तों में इस बात को लेकर कि किसी देश में अधिकतम् आर्थिक एवं सामाजिक कल्याण के लिए कितनी जनसंख्या का होना उपयुक्त है, वाद-विवाद होता रहा है। सामान्यतः एशियाई देशों की जनसंख्या निरन्तर अबाध गति से बढ़ती जा रही है। इस वृद्धि से उन देशों की उत्पादन क्षमता पर बुरा प्रभाव पड़ा है, और इन देशों में जनसंख्या की वृद्धि एक प्रमुख आर्थिक-सामाजिक समस्या बन गई है। भारत स्वयं इस श्रेणी में आता है।

भारत की जनसंख्या और उसके विभिन्न पहलुओं का अध्ययन औद्योगिक विकास की किसी भी योजना के लिए सर्वथा आवश्यक है।

संसार की सबसे अधिक जन-संख्या वाले देशों में भारत का स्थान दूसरा है। १९५१ की अंतिम जनगणना के अनुसार देश की कुल जनसंख्या ३५,६८,७९,३९४ थी। इसमें सिक्किम की जनसंख्या (१,३७,७२५) तो सम्मिलित थी, परन्तु आसाम के 'ख' भाग के आदिम जातीय क्षेत्रों और जम्मू तथा काश्मीर राज्य की नहीं। १९५८ के मध्य में भारत की कुल जनसंख्या अनुमानतः ३९·७५ करोड़ थी जिनमें जम्मू तथा काश्मीर, पाण्डिचेरी और सिक्किम की जनसंख्या भी सम्मिलित थी।

भारत के राज्यों तथा क्षेत्रीय संघों के क्षेत्रफल और उनकी जनसंख्या निम्न तालिका में दी गई है—

राज्यों तथा संघीय क्षेत्रों के क्षेत्रफल तथा जनसंख्या*

	क्षेत्रफल (वर्गमील)	जनसंख्या
भारत	१२,५६,७९७	३६,११,५१,६६६
राज्य		
असम	८४,८९९	९०,४३,७०७
आन्ध्र प्रदेश	१,०६,०५२	३,१२,६०,१३३
उड़ीसा	६०,१६२	१,४६,४५,९४६
उत्तर प्रदेश	१,१३,४५२	६,३२,१५,७४२
केरल	१५,००३	१,३५,४९,११८
जम्मू तथा काश्मीर	८६,०२४	४४,१०,०००
पंजाब	४७,०८४	१,६१,३४,८९०
पश्चिमी बंगाल	३३,९२८	२,६३,०२,३८६
बम्बई	१,९०,०३९	४,८२,६५,२२१
बिहार	६७,१९८	३,८७,८३,७७८
मद्रास	५०,१३२	२,९९,७४,९३६
मध्य प्रदेश	१,७१,२१०	२,६०,७१,६३७
मैसूर	७४,१२२	१,९४,०१,१९३
राजस्थान	१,३२,१५०	१,५९,७०,७७४
संघीय क्षेत्र		
अण्डमन तथा निकोबार द्वीप समूह	३,२१५	३०,९७१
दिल्ली	५७३	१८,४४,०७२
मणिपुर	८,६२८	५,७७,६३५
लकादीव, मिनिकॉय तथा अमीन दीवी द्वीप समूह	११	२१,०३५
हिमाचल प्रदेश	१०,८८०	११,०९,४६६
त्रिपुरा	४,०३६	६,३९,०२९

भारतीय जनसंख्या और उसके प्रमुख लक्षण

(१) जन्म दर तथा मृत्यु दर—अधिकांश जन्म तथा मृत्यु क्योंकि पंजीकृत (Register) नहीं कराई जा पातीं, इसलिए पंजीकरण के आँकड़ों पर आधारित जन्म तथा मृत्यु के आँकड़ों तथा जनगणना के आँकड़ों में भिन्नता मिलती है। १९४१-५० के दशक में पंजीकृत जन्म दर २८ तथा पंजीकृत मृत्यु दर २० थी। १९५७ में प्रति हजार व्यक्तियों के पीछे जन्म दर २१·५ तथा मृत्यु दर ११·० थी।

*India 1960 p 15

१९५१ में १,००० पुरुषों के पीछे ९४७ स्त्रियां थीं। इस प्रकार कुल जनसंख्या में स्त्रियों की संख्या लगभग ४५.५ प्रतिशत है। जनसंख्या में स्त्रियों की कमी का प्रधान कारण उचित देखभाल न होने के कारण उनकी मृत्यु दर का अधिक होना है।

(२) **काम करने वाली आयु के व्यक्तियों का कम अनुपात**—जनसंख्या के आंकड़ों से आयु विभाजन का भी विशेष महत्व है, क्योंकि उससे किसी देश की कार्य शक्ति का परिचय मिलता है। अन्य उन्नत देशों की तुलना में हमारे यहां बहुत ही थोड़े ऐसे व्यक्ति हैं जो पचास साल से अधिक जीवित रहते हैं। यूरोप में अधिकतर एक व्यक्ति के काम करने का समय २० से ६० साल माना जाता है जब कि हमारे यहां यह काल मात्र १३ से ४० साल है। इस प्रकार कुल जनसंख्या में हमारे यहां काम करने वाली जनता का अनुपात ४२ प्रतिशत रहता है जबकि इंगलैंड में यह ६० प्रतिशत और फ्रांस में ५२ प्रतिशत है। इसका प्रधान कारण हमारे यहां अत्यधिक शिशु और बाल मृत्यु दर है।

(३) **जनता का हीन स्वास्थ्य और कार्यक्षमता**—केवल आबादी लोगों की संख्या से ही हम उनकी कार्यक्षमता का अनुमान नहीं लगा सकते। इसके लिए हम उनके स्वास्थ्य, शिक्षा और प्राप्त सुविधाओं की ओर भी दृष्टि डालनी होगी। इस दृष्टि से हमारी जनसंख्या की अवस्था बहुत ही निराशाजनक है। आवश्यक पौष्टिक भोजन, चिकित्सा एवं शिक्षा सुविधाओं के अभाव में उनकी शक्ति और कार्यक्षमता का गिरा होना स्वाभाविक ही है।

(४) **कृषि पर अत्यधिक निर्भरता**—अर्थशास्त्रियों का कहना है कि किसी देश की अधिकांश जनसंख्या का कृषि जैसे प्राथमिक उद्योगों पर निर्भर रहना उसकी निर्धनता का सूचक है। इसके विपरीत उद्योगों, यातायात तथा अन्य व्यावसायिक सेवाओं में जनसंख्या के अधिक अनुपात का लगा होना उसकी समृद्धि का सूचक है।

१९५१ की जनगणना के अनुसार भारत की ७० प्रतिशत जनसंख्या कृषि पर निर्भर है। ३६.१ करोड़ जनसंख्या में से २४.६ करोड़ व्यक्ति कृषि तथा बाकी १०.७ करोड़ अन्य धन्धों पर निर्भर हैं। ८.५५ करोड़ काम करने वालों में से ■.१ करोड़ कृषि, ६० लाख उद्योगों, ६० लाख व्यापार तथा स्वास्थ्य, ३० लाख शिक्षा और शासन सेवाओं में तथा ५ लाख व्यक्ति अन्य घरेलू सेवाओं इत्यादि कार्यों में लगे हुए हैं।

(५) **शहरी तथा ग्रामीण जनसंख्या**—देश की कुल जनसंख्या में से ६.१९ करोड़ अथवा १७.३ प्रतिशत व्यक्ति नगरों और कस्बों में रहते हैं, जबकि शेष २९.५० करोड़ अथवा ८२.७ प्रतिशत व्यक्ति गांवों में। १९४१-१९५१ के दशक में शहरी जनसंख्या में ३.४ प्रतिशत की वृद्धि तथा ग्रामीण जनसंख्या में ३.४ प्रतिशत की कमी हुई। देश में कुल ३,०१८ नगर तथा ५,५८,०८८ गांव हैं।

(६) **परिवार नियोजन**—बढ़ती हुई जनसंख्या को रोकने के लिए १९५१ की जनगणना रिपोर्ट में परिवार नियोजन का सुझाव दिया गया है। रिपोर्ट के अनुसार स्थिर जनसंख्या ही वियमान स्थिति में हमारे लिए उपयुक्त है। इसके लिए जन्म दर में कमी अनिवार्य है। जनगणना आयुक्त (Census Commissioner) श्री गोपाल स्वामी के अनुसार एक विवाहित दम्पति के अधिक से अधिक तीन बच्चे होने चाहिए। जनसंख्या का एकमात्र नियन्त्रण परिवार नियोजन के द्वारा हो सकता है। दूसरी पंच वर्षीय योजना में भी परिवार नियोजन के महत्त्व को स्वीकार किया गया है।

(७) **बेरोजगारी**—हमारे नवोदित स्वतन्त्र भारत के सम्मुख अनेक समस्याएँ हैं, परन्तु आज सबसे चिन्ताजनक समस्या बेरोजगारी की है। इसके समाधान के ऊपर ही हमारे राष्ट्रीय आयोजन की सफलता और असफलता निर्भर करती है।

१९४१ से १९५१ तक हमारे यहाँ ४.५ करोड़ की वृद्धि हुई है जो मास्को की कुल आबादी के बराबर है। प्रति वर्ष हमारे यहाँ ४५ लाख जनसंख्या की वृद्धि होती है, जो डेनमार्क की कुल आबादी है। द्वितीय योजना की अवधि में प्रति वर्ष ७० लाख की वृद्धि हो रही है और यह सम्भावना है कि तृतीय योजना की अवधि में यह जनसंख्या १ करोड़ प्रति वर्ष के हिसाब से बढ़ने लगेगी। ऐसी दशा में बढ़ती हुई जनसंख्या को काम देना एक असम्भव कार्य है, क्योंकि व्यापार, वाणिज्य और उद्योग भारत में उस गति से नहीं बढ़े हैं।

प्रथम पंचवर्षीय योजना में, ऐसा अनुमान है कि, लगभग ४५ लाख व्यक्तियों को रोजगार दिलाया गया। परन्तु रोजगार की दशा बिगड़ती गई। जनता प्रथम योजना को असफल घोषित करने लगी क्योंकि योजना की प्रगति के साथ बेकारी की भी प्रगति हो रही थी। यह अनुभव किया गया कि औद्योगिक विकास की योजना तभी सफल हो सकती है जब लोगों को रोजगार दिलाना भी उसका एक प्रधान लक्ष्य हो।

इस लक्ष्य को सामने रखकर ही द्वितीय पंचवर्षीय योजना में १ करोड़ २० लाख व्यक्तियों को काम दिलाने की प्रतिज्ञा की गई है। दूसरे शब्दों में द्वितीय योजना का एक प्रधान लक्ष्य रोजगार सुअवसरों का अधिकाधिक विस्तार करना है। परन्तु वर्तमान प्रगति को देखते हुए कहा जा सकता है कि योजना अपने इस लक्ष्य की पूर्ति में सफल न हो पायेगी।

पशु-सम्पत्ति (Livestock Resources)

एशिया में संसार की समस्त पशु सम्पत्ति का ४३ प्रतिशत भाग है, परन्तु प्रति व्यक्ति पशुओं की संख्या एशिया में (०.३३) संसार के प्रत्येक क्षेत्र से कम है। उदाहरणार्थ उत्तरी अमरीका में प्रति व्यक्ति पशुओं की संख्या ०.६८, दक्षिणी अमरीका १.१७, अफ्रीका ०.४६ तथा योरोप ०.२५ है। भारतवर्ष में पशुओं की संख्या प्रति व्यक्ति

०·४६ है। १९५६ की पशु गणना के अनुसार भारतवर्ष में कुल पशुओं की संख्या ३० करोड़ ६५ लाख थी। इनमें गाय, बैल, भैंस तथा भैंसे, भेड़, बकरे-बकरियाँ, घोड़े तथा टट्टू एवं अन्य पशु (खच्चर, गधे, ऊँट तथा सुअर) सम्मिलित हैं। इनकी संख्या १९५६ की पंचवर्षीय पशु गणना इस प्रकार थी—*

	१९५६ की पशुगणना
१. गाय-बैल	१५,८७,००,०००
२. भैंस तथा भैंसे	४,४९,००,०००
३. भेड़	३,९२,००,०००
४. बकरे बकरियाँ	५,५४,००,०००
५. घोड़े तथा टट्टू	१५,००,०००
६. अन्य पशु (खच्चर, गधे, ऊँट तथा सुअर)	६८,००,०००
कुल योग	३०,६५,००,०००

भारतवर्ष में संसार की कुल पशु-संख्या का चौथाई हिस्सा है, जो कि हमारे आर्थिक विकास में बहुत कुछ सहायक हो सकता है। किन्तु हमारे देश में जानवरों को अच्छा खाना नहीं मिलता, फलस्वरूप हमारे जानवर बहुत खराब किस्म के होते हैं। चरागाहों की कमी, गर्भाधान व सुधार के वैज्ञानिक तरीकों का अभाव और बेकार जानवरों का वध करने के विरुद्ध धार्मिक विचार, इन सब बातों ने निरन्तर भारतीय पशुओं की किस्म को बहुत खराब कर दिया है।

भारत के किसानों की आय का लगभग ५० प्रतिशत भाग उनके दूध-दही के उद्योग से प्राप्त होता है। पर यदि गर्भाधान की विधि को वैज्ञानिक रूप दे दिया जाय और चरागाहों का पर्याप्त प्रबन्ध कर दिया जाय तो इस आय को और भी अधिक बढ़ाया जा सकता है। हमारे देश में प्रति एकड़ जुती हुई भूमि पर पशुओं का घनत्व ६७ है। यह घनत्व संसार में सबसे अधिक है किन्तु साथ ही सबसे कम कार्यकुशल और सबसे कम उत्पादक है।

सरकार की नीति

पशुपालन विकास सम्बन्धी सरकारी नीति का उद्देश्य देश में चुनी हुई नस्लों के पशुओं तथा अन्य पशुओं की किस्मों में सुधार करके उनकी दुग्ध-उत्पादन क्षमता में वृद्धि करना है। इससे बैलों की किस्मों पर बुरा प्रभाव नहीं पड़ने दिया जायगा। इस उद्देश्य की पूर्ति केन्द्र ग्राम योजना, गोशाला विकास योजना तथा गोसदन योजना द्वारा करने का लक्ष्य रखा गया है।

*भारत १९६०, पृष्ठ २५६

निष्कर्ष

उपर्युक्त विभिन्न साधनों के उचित प्रयोग एव विदोहन से भारत को भूख, बेकारी, दरिद्रता और बीमारी से मुक्ति दिलाई जा सकती है। भारत सरकार ने आयोजन के द्वारा इन विभिन्न दानवों से मुक्ति दिलाने के लिए जिन प्रयासों का अनुमान लगाया है, वे इस प्रकार हैं—*

	प्रथम योजना	द्वितीय योजना	तृतीय योजना	चतुर्थ योजना	पचम योजना
राष्ट्रीय आय (करोड़ों में)	१०,८००	१३,४८०	१७,२६०	२१,६८०	२७,२७०
कुल शुद्ध विनियोग ,,	३,१००	६,२००	६,६००	१४,८००	२०,७००
विनियोग दर (राष्ट्रीय आय का प्रतिशत	७·२	१०·७	१३·७	१६·०	१७·०
जनसंख्या (करोड़ों में)	३८·४	४०·८	४३·४	४६·५	५०·०
प्रति व्यक्ति आय (रुपयों में)	२८१	३३१	३६८	४४६	५४६

प्रश्न

1. Describe the natural resources of India and discuss the circumstances in which they could not be properly and adequately exploited. (*Agra, 1954*)

2. Give a description of the mineral wealth of India and indicate the policy of the development plan for the future. (*Agra, 1960*)

3. In what different ways do forests prove beneficial to the economy of a country ? What is the present policy of the state in this connection ? (*Agra, 1960*)

4. What are the economic consequences of soil erosion ? What steps have been taken in the country against this evil ? (*Banaras, 1954*)

---

*स्रोतः—योजना आयोग द्वारा प्रकाशित 'न्यू इण्डिया' से—आधार वर्ष १९५२-५३।

खण्ड ३

सामाजिक वातावरण एवं जनसंख्या

१. भारत में सामाजिक एवं धार्मिक संस्थाएँ
२. भारत की जनसंख्या—तथ्य, समस्या एवं उपाय

अध्याय ४

भारत में सामाजिक एवं धार्मिक संस्थाएँ

(Social and R ligious Institutions in India)

मानव एक सामाजिक प्राणी है। उसकी सभी आर्थिक क्रियाएँ समाज में प्रचलित रीति रिवाज, सामाजिक एव धार्मिक सस्थाओं द्वारा प्रभावित होती हैं। सामाजिक एव धार्मिक सस्थाओं का देश के आर्थिक विकास पर भी गहरा प्रभाव पड़ता है। अधिक स्पष्ट शब्दों में हम यह कह सकते हैं कि सामाजिक एव धार्मिक परिस्थितियों के द्वारा ही देश के उद्योग धधों, व्यवसायों तथा राष्ट्रीय आय का वितरण निर्धारित होता है। डा० मार्शल के अनुसार "ससार में सबसे बड़ी निर्माणकारी दो सस्थाएँ चली आ रही हैं—धार्मिक तथा आर्थिक।" सम्भवतः भारतवर्ष में सामाजिक एव धार्मिक सस्थाओं ने हमारे देश के आर्थिक विकास को जितना प्रभावित किया है उतना कदाचित् अन्यत्र नहीं। भारत में प्रत्येक सामाजिक एव आर्थिक क्रिया के पीछे धार्मिक भावना होती है। प्रत्येक कार्य का श्रीगणेश शुभ मुहूर्त वेला में किया जाता है। यह ज्ञात करने के लिए कि इन सस्थाओं ने हमारे देश के आर्थिक जीवन को कहाँ तक प्रभावित किया है, आवश्यक है कि हम उनके बारे में थोड़ा विस्तार से अध्ययन करें।

प्रमुख सामाजिक एव धार्मिक सस्थाएँ

भारतवर्ष में प्रमुख धार्मिक सस्थाएँ, जिनका हमारे आर्थिक जीवन पर प्रभाव पड़ा है, निम्नलिखित हैं :—

(१) जाति प्रथा (Caste System),

(२) सयुक्त कुटुम्ब प्रणाली (Joint Family System),

(३) उत्तराधिकार नियम (Laws of Inheritance),

(४) पर्दा प्रथा एव बाल विवाह,

(५) भारतीय धर्म एव दर्शन, तथा

(६) ग्राम पचायतें।

जाति-प्रथा

जाति-प्रथा का हमारी धार्मिक एव सामाजिक सस्थाओं में एक महत्वपूर्ण स्थान है। यह भारतीय समाज की प्राचीनतम रूढ़ियों में से एक है। अनेक सामाजिक एव

राजनैतिक क्रांतियों के तीव्र झकोरों को सहन करते हुए भी जाति प्रथा रूपी वृक्ष आज भी लहरा रहा है। इसके द्वारा निर्धारित मर्यादाओं एवं प्रतिबन्धों का पालन लगभग पूर्ववत् ही किया जा रहा है।

मानव विज्ञान के ज्ञाता 'जाति' शब्द का प्रयोग प्रविदितों के प्रचलित अर्थ से बिलकुल भिन्न एक निश्चित अर्थ में करते हैं। सभ्यता के साहित्य में 'जाति' शब्द का प्रयोग प्रचुरता तथा अनेक प्रकार से हुआ है किन्तु बहुधा न तो किसी निश्चित अर्थ में वह प्रयुक्त होता है और न एक ही अर्थ में उसका प्रयोग किया जाता है। अंग्रेजी भाषा में मनमाने और गलत अर्थ में प्रयुक्त इस शब्द का पहला प्रयोग हमें सोलहवीं शताब्दी में मिलता है। फाक्स ने अपनी पुस्तक 'बुक आफ मार्टर्स' में, जो सन् १५७० में प्रकाशित हुई थी, अब्राहम की जाति (रक्त) का उल्लेख किया है। वास्तव में बाइबिल की प्रारम्भिक प्रतिलिपि में इसके स्थान पर बीज अथवा पीढ़ी या वंश परम्परा का प्रयोग हुआ है। यह वास्तव में इटली के राज्जा (Razza) शब्द से लिया गया है। जिसका अर्थ परिवार, वंशानुक्रम, नस्ल अथवा प्रकार है।

अंग्रेजी तथा इटली की भाषा में इनके अर्थ एक से ही हैं। वहाँ पर इन शब्दों का प्रयोग एक ही रक्त के उन समान पूर्वजों के वंशजों के लिए हुआ है, जो स्वयं भी एक ही रक्त के थे।

भारत के 'इम्पीरियल गजेटियर' में 'जाति' को ऐसे परिवारों अथवा परिवारों का समूह बताया गया है, जिसका एक सम्मिलित नाम होता है, जो सदा एक विशेष पेशे को प्रकट करने हुए उससे सम्बद्ध होता है और अपनी एक सम्मिलित वंश परम्परा की किसी पौराणिक पूर्वज पुरुष विशेष, मनुष्य अथवा देवता को बताते हैं और उसी के नाम पर अपने को घोषित करता है। इसी ग्रन्थ में आगे चल कर लिखा है कि "किसी व्यक्ति के सामाजिक तथा घरेलू सम्बन्धों की समस्त धारा को जन्म निश्चित कर देता है और उसे अपने जीवन भर, जिस जाति में उसका जन्म हुआ हो, उसी के रीति रिवाजों के अनुसार खाना, पीना, पहनना, विवाह में कन्या लेना तथा कन्या देना पड़ता है।

जाति प्रथा का विकास—भारतीय जाति प्रथा के विकास के सम्बन्ध में श्रीमद्भगवद्गीता के चौथे अध्याय के तेरहवें श्लोक में लिखा है 'चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्म विभागशः।' (अर्थात ब्राह्मण, क्षत्री, वैश्य और शूद्र—इन चार वर्णों का समूह गुण और कर्मों के विभाग रूप में मेरे (श्रीकृष्ण भगवान) द्वारा रचा गया है।) आरम्भ में एक वर्ण दूसरे वर्ण की सीमा का उल्लंघन करके वर्ण परिवर्तन कर सकता था परन्तु कालान्तर में यह व्यवस्था बहुत जटिल हो गई और जातियों तथा उपजातियों का बनना प्रारम्भ हो गया। जाति प्रथा के विकास के सम्बन्ध में विदेशी विद्वानों के भी अनेक मत हैं। प्रसिद्ध अर्थशास्त्री डा० अल्फ्रेड मार्शल के अनुसार "प्रारम्भिक काल में

जब धार्मिक, उत्सव सम्बन्धी, राजनैतिक, सैनिक तथा औद्योगिक संगठन एक दूसरे से घनिष्ठ रूप में सम्बन्धित थे और वास्तव में एक ही वस्तु के विभिन्न रूप थे। लगभग उन सभी राष्ट्रों ने जो संसार की प्रगति में अग्रगामी थे, जाति के लगभग कठोर रूप को अपना लिया था। श्री जेम्स मिल का विश्वास है कि जाति प्रथा का विकास श्रम विभाजन की आवश्यकता के फलस्वरूप हुआ। श्री एम० सोमर्ट के सिद्धान्त के अनुसार जाति प्रथा का विकास समय की परिस्थितियों के अनुसार हुआ।

जाति प्रणाली केवल भारतवर्ष में ही प्रचलित नहीं है वरन् संसार के अन्य देशों में भी है। अन्य देशों में इसका रूप इतना कठोर एवं जटिल नहीं है जितना भारतवर्ष में। जाति प्रथा ने भारतीय अर्थ व्यवस्था पर महत्वपूर्ण प्रभाव डाला है जैसा अगले पृष्ठों में दिये गये विवरण से स्पष्ट होगा।

जाति प्रथा के लाभ

(१) **सामाजिक शुद्धता**—जाति प्रथा के कारण भारतवर्ष को अपनी सांस्कृतिक वैयक्तिक तथा सामाजिक शुद्धता बनाये रखने में बड़ी सहायता मिली है। एक ही सम्प्रदाय में रहने से, खान पान करने से तथा वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित करने से आचार विचार और रक्त की शुद्धता बनी रही है।

(२) **श्रम विभाजन**—जाति प्रणाली के नियमानुसार प्रत्येक जाति व्यक्ति ने पैतृक व्यवसाय को ही अपनाती है। यह एक प्रकार का कार्य अथवा श्रम विभाजन है। इस प्रकार जाति प्रथा के फलस्वरूप श्रम विभाजन के सभी लाभ प्राप्त हैं।

(३) **पैतृक प्रशिक्षण संस्थाएँ**—प्राचीन काल में जब सरकार की ओर से प्रशिक्षण संस्थाओं की स्थापना नहीं की जाती थी, जाति प्रथा के द्वारा व्यक्तियों को ऐसी संस्थाएँ अपने घर पर ही प्राप्त हो जाती थीं। किसी भी नवयुवक को शिक्षा प्राप्त करने के लिए बाहर नहीं जाना पड़ता था। वह अपने पिता से सम्पूर्ण प्रविधियों तथा कारीगरी का उत्तराधिकार पाता था, और फिर अपनी बारी आने पर वह उस उत्तराधिकार को अपनी सन्तान को दे देता था।

(४) **कार्य में निपुणता**—जाति प्रथा प्रत्येक व्यक्ति का भविष्य उसके जन्मानुसार ही निश्चित कर देती थी। नवयुवक को अपनी आजीविका के लिए इधर उधर नहीं भटकना पड़ता था। वह अपना व्यवसाय प्रारम्भ से ही सीखता रहता था और आगे चल कर वह उसमें दक्षता प्राप्त कर लेता था।

(५) **सहकारिता की भावना**—जाति प्रथा के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति एक दूसरे के ऊपर अपने जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए निर्भर रहा करता था। किसी व्यक्ति का काम दूसरे की सहायता के बिना नहीं चलता था। स्वभावतः सभी जाति के लोगों में सहकारिता की भावना जागृत हो जाती थी।

(६) **श्रमिक संघ**—जाति प्रणाली ने आर्थिक क्षेत्र में श्रमिक संघ के कार्य की भूमिका अदा की है। प्रत्येक जाति अपने प्रत्येक सदस्य के अधिकारों की रक्षा करती थी।

(७) **स्वतंत्र सामाजिक संगठन**—सामाजिक क्रियाओं का नियमन करने के लिए प्रत्येक जाति की पंचायतें हुआ करती थीं। इन पंचायतों का निर्णय सर्वमान्य होता था। पंचायतों ने सामाजिक क्षेत्र में अत्यन्त महत्वपूर्ण कार्य किया है और उनकी महत्ता को आज हमारी राष्ट्रीय सरकार भी स्वीकार करती है।

(८) **वैज्ञानिक समन्वय**—जाति प्रथा के समर्थकों ने जाति प्रथा को वैज्ञानिक समाजवाद की संज्ञा भी दी है। सुप्रसिद्ध दर्शनशास्त्री श्री भगवानदास के शब्दों में "लोगों ने प्राचीन काल से जाति प्रथा को समय की कसौटी पर खरा उतरा हुआ ऐसा वैज्ञानिक समाजवाद बतलाया है, जिसने व्यावसायिक वर्गों में शक्ति संतुलन को सदा बनाये रखा।"

(९) **वर्ग संघर्ष का दमन**—श्री आर० पी० मुसानी के अनुसार जाति प्रथा ने वर्ग संघर्ष को कम से कम कर दिया था और आर्थिक शक्तियों के नियन्त्रित कार्य के विपरीत बीमे का कार्य किया था। जाति प्रथा के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति की यह धारणा होती है कि उसका जन्म किसी जाति विशेष में उसके प्रारब्ध के कारण हुआ है। अतः वर्ग संघर्ष की भावना रह ही नहीं जाती।

(१०) **नैतिक प्रतिबन्ध**—प्रत्येक व्यक्ति जाति से बहिष्कृत हो जाने के भय से नैतिक दुराचरण नहीं करता है क्योंकि नैतिक दुराचरण करने वाले को समाज से बहिष्कृत कर दिया जाता है। श्री आर० पी० मुसानी के शब्दों में जाति प्रथा के द्वारा "प्राचीन परम्परा की रक्षा की जाती थी, सामाजिक शांति को सुरक्षित रखा जाता था, नागरिक तथा आर्थिक कल्याण प्राप्त किया जाता था तथा व्यक्तिगत आनन्द और संतोष को बढ़ाया जाता था।"

जाति प्रथा के दोष

(१) **श्रमिकों की गतिशीलता में बाधक**—जाति प्रथा के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति केवल अपनी जाति का ही व्यवसाय कर सकता था अन्य जाति का व्यवसाय नहीं कर सकता, चाहे उसमें इस प्रकार के कार्य करने की कितनी ही निपुणता क्यों न हो। इस प्रकार श्रमिकों में व्यावसायिक गतिशीलता नहीं रहती।

(२) **पूँजी की गतिशीलता में बाधक**—जाति प्रथा के अनुसार धनी लोग अपने धन का विनियोग अपनी जाति वाले व्यवसाय में ही कर सकते थे। एक जाति के लोग दूसरी जाति के व्यवसाय में धन नहीं लगा सकते। इस प्रकार जाति प्रथा

पूँजी की गतिशीलता में बाधक होती है जिससे कुछ प्रभाव औद्योगिक विकास पर भी पड़ता है।

(३) व्यवसाय और व्यक्तिगत रुचि में असामंजस्य—जाति प्रथा के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति को अपना जातीय व्यवसाय ही करना होता था। व्यक्तिगत रुचि एवं दक्षता पर कोई ध्यान नहीं दिया जाता। अतः व्यावसायिक एवं औद्योगिक निपुणता का नितान्त अभाव रहता था।

(४) श्रम की गरिमा की हानि—जाति प्रथा के कारण श्रम की गरिमा (dignity) को भारी धक्का लगता है। ऊँची जाति के लोग निम्न कोटि के कार्य करने में संकोच करते थे और निम्न जाति के लोग ऊँची जाति के कार्य करने में डरते थे। इससे देश को काफी हानि होती थी। आज यह सर्वमान्य है कि 'श्रम की गरिमा में ही मानव की महिमा है।'

(५) विदेश गमन में संकोच—जाति प्रथा के विचारों के अनुसार लोगों को विदेश जाने की आज्ञा नहीं मिलती थी। यदि वे विदेश जाते थे तो उनका हुक्का-पानी बन्द कर दिया जाता था। इस भय से लोग विदेशी व्यापार करने में संकोच करते थे।

(६) राष्ट्रीय एकता में बाधक—जाति प्रथा के अनुसार समाज अनेक छोटे-छोटे भागों में विभाजित हो जाता है और अपने हितों के सम्मुख राष्ट्रीय हितों की उपेक्षा करता है। साम्प्रदायिकता के बल पर ही देश का विभाजन हुआ और अब विभिन्न राज्य छोटे-छोटे राज्यों में विभाजित हो रहे हैं जैसे गुजरात और महाराष्ट्र।

(७) निरर्थक व्यय—जाति प्रथा के नियमानुसार अथवा परम्परानुसार लोगों को विशेष अवसरों अथवा उत्सवों पर हैसियत से अधिक धन व्यय करना पड़ता है जैसे शादी, जन्म, मृत्यु आदि पर। इससे आर्थिक जीवन पर बुरा प्रभाव पड़ता है।

(८) आपसी द्वेष भाव—एक जाति दूसरी जाति की प्रगति को ईर्ष्या एवं स्पर्धा की दृष्टि से देखती है जिससे परस्पर घृणा, द्वेष एवं फूट की भावना को बल मिलता है।

(९) सामाजिक दुराचरण—एक ही जाति के अन्तर्गत विवाह इत्यादि होने के कारण कुछ सामाजिक और नैतिक दुराचरण जैसे दहेज, आत्महत्या तथा शिशु-हत्या बढ़ जाते हैं। स्त्रियों और पुरुषों का अनुपात प्रत्येक जाति में समान नहीं होता, अतः उपरोक्त दोषों का होना स्वाभाविक है।

(१०) अन्त में जाति प्रथा जीवशास्त्र के दृष्टिकोण से भी हानिकारक है। जीवशास्त्र हमें बताता है कि यदि एक ही जाति में परस्पर विवाह होते हैं तो सन्तान

मानसिक एव शारीरिक रूप से अधिक स्वस्थ नहीं होती। यही नहीं इसका प्रभाव स्त्री और पुरुषों के स्वास्थ्य पर भी अच्छा नहीं पड़ता।

सयुक्त कुटुम्ब प्रणाली

सयुक्त कुटुम्ब प्रणाली का अर्थ है कि एक ही परिवार म बहुत से सदस्य जैसे पति पत्नी माता पिता, भाई बहन, चाचा चाची तथा दादा दादी आदि सम्मिलित रूप से रहते है। परिवार का सबसे वृद्ध पुरुष प्रबधक अथवा कर्ता होता है। सभी सदस्य अपने द्वारा कमाये गये धन को कर्ता को सौंप देते हैं और कर्ता उस धन से पूरे परिवार का प्रबध करता है। समाज का मुख्य सिद्धान्त—"प्रत्येक पुरुष अपनी शक्ति के अनुसार कार्य कर और आवश्यकतानुसार उपभोग कर।"—इस प्रणाली के अन्तर्गत पूरा होता है।

प्राचीन भारत म सयुक्त परिवार सम्पूर्ण सामाजिक ढाचे का केन्द्र होता था। इस प्रथा क अनुसार परिवार क सदस्यों म अनुशासन, त्याग, आज्ञापालन, आदर की भावना जाग्रत होती था और स्वार्थपरता का हतोत्साहन होता था। कोई व्यक्ति अभाव, रोग अथवा आलस्य का शिकार नहीं होता था। यह परिवार क सदस्यों के लिए एक प्रकार क सामाजिक बीमा का काम करता था। अनाथ, वृद्ध, असहाय तथा विधवाओं की भली भाति देखभाल की जाती थी। विदेशी प्रभाव क कारण भारत में सयुक्त परिवार प्रथा का अन्त होने लगा। महात्मा गाधी ने कुटीर उद्योगों को सहकारिता क आधार पर चलाने का सुझाव इसीलिए दिया था जिससे सयुक्त परिवार प्रथा का पुनर्गठन हो जाय।

सयुक्त कुटुम्ब प्रणाली के लाभ

(१) एकता की भावना—सयुक्त परिवार प्रणाली सहयोग एव नि स्वार्थ सेवा की भावना को प्रोत्साहित करती है। इसक अन्तर्गत सम्पूर्ण परिवार का ध्येय होता है कि 'एक क लिए सब' और 'सब के लिए एक'। इससे परिवार के सदस्यों में एकता की भावना का जागरण होता है।

(२) मितव्ययता—सयुक्त परिवार म सभी सदस्यों क सम्मिलित रूप म रहने के कारण दैनिक एव सामयिक व्यया म काफी मितव्ययता होती है। बहुत सी मूल्यवान वस्तुओं को सम्मिलित रूप म प्रयोग म लाया जा सकता है। इस प्रकार प्रत्येक सदस्य को अलग अलग खरीदने की आवश्यकता नहीं पड़ती।

(३) समविभाजन—सयुक्त परिवार होने क कारण परिवार क सदस्य अपनी योग्यता एव क्षमता क अनुसार कार्यों को करते हैं जिससे समविभाजन के लाभ सहज ही प्राप्त हो जाते हैं।

(४) सामाजिक सुरक्षा—भारतीय संयुक्त परिवार प्रणाली एक प्रकार से सामाजिक सुरक्षा का कार्य करती है यहाँ पर सब सदस्य अपनी योग्यतानुसार धन कमाते हैं और उस धन को सदस्यों पर उनकी आवश्यकतानुसार व्यय किया जाता है। असहाय, अपंग एवं बेकार सदस्यों का पूरा पूरा ध्यान रखा जाता है।

(५) भूमि के विभाजन पर रोक—संयुक्त परिवार में यदि उसका बटवारा नहीं होता है तो भूमि तथा अन्य सम्पत्ति अविभक्त रहती है। इस प्रकार इस पद्धति के अनुसार भूमि विभाजन तथा उपखंडन के दोष उत्पन्न नहीं होते।

(६) सदस्यों की मानसिक सन्तुष्टि—संयुक्त परिवार प्रणाली में सम्पूर्ण सदस्यों का उनकी आवश्यकतानुसार सम्मान होता है। इससे प्रत्येक सदस्य मानसिक दृष्टि से सन्तुष्ट रहता है।

संयुक्त कुटुम्ब प्रणाली के दोष

(१) आलस्य एवं अकर्मण्यता में वृद्धि—परिश्रम और प्रतिफल में प्रत्यक्ष सम्बन्ध न होने के कारण परिवार के सदस्यों में आलस्य और अकर्मण्यता आ जाती है। सदस्य भली भाँति समझते हैं कि जो कुछ भी कमायेंगे उसका एक अंश ही उनको मिल पायेगा। अतः उनको अधिक कमाने की प्रेरणा नहीं मिलती।

(२) पूँजी के निर्माण में बाधा—चूंकि परिवार के सदस्यों को बचत करने के लिए पर्याप्त प्रोत्साहन नहीं मिलता, अतः पूँजी का निर्माण भी नहीं हो पाता। पूँजी का निर्माण बचत के द्वारा ही होता है। पूँजी का निर्माण न होने के फलस्वरूप देश का आर्थिक विकास रुक जाता है।

(३) निरर्थक व्यय—संयुक्त परिवार पद्धति के अन्तर्गत फिजूलखर्ची को भी बढ़ावा मिलता है। व्यय का भार व्यक्तिगत न होकर सामूहिक होने के कारण मितव्ययिता की भावना को क्षीण कर देता है। फलतः विवाह, मुण्डन, जन्म और मृत्यु इत्यादि अवसरों पर सदस्य दुस्साहस व्यय करते हैं। बहुधा यह ऋण ग्रस्तता का भी रूप धारण कर लेता है।

(४) परिवार नियोजन की अवहेलना—संयुक्त परिवार में बाल्यावस्था में ही विवाह हो जाने के कारण तथा बच्चों के पालन पोषण का प्रत्यक्ष उत्तरदायित्व न होने के कारण सदस्यगण परिवार नियोजन जैसी महत्वपूर्ण युक्ति की अवहेलना करते हैं। इससे परिवार तथा अन्ततोगत्वा देश के रहन सहन का स्तर गिर जाता है।

(५) श्रम गतिशीलता में बाधा—संयुक्त परिवार में रहने के फलस्वरूप सदस्यगण परिवार के सुहाने वातावरण को छोड़ कर बाहर जाना पसंद नहीं करते चाहे उन्हें कितने ही अच्छे सुअवसर क्यों न प्राप्त होते हों। देश के आर्थिक विकास में यह एक बड़ी बाधा है।

(६) वैमनस्य एव मनमुटाव—सुप्रसिद्ध लोकोक्ति है कि 'जहाँ चार बर्तन होते हैं वहाँ खटकते ही हैं।' संयुक्त परिवार में बहुत से व्यक्तियों के एक साथ रहने के कारण छोटी मोटी घरलू बातों पर आपस म मनमुटाव हो जाता है। स्त्रियों में विशेष रूप से स्वभावत यह भावना अधिक होती है। मनमुटाव धीरे धीरे वैमनस्य का रूप धारण कर लेता है जिससे संयुक्त परिवार का स्वर्गीय जीवन नारकीय बन जाता है।

(७) मुकद्दमेबाजी—धन सम्पत्ति की वितरण सम्बन्धी तथा पारस्परिक मान-हानि सम्बन्धी झगड़े कभी कभी इतने अधिक बढ़ जाते हैं कि उनके निवारणार्थ न्यायालयों तक का मुह देखना पड़ता है। इससे दोनों पक्षों की आर्थिक तथा मानसिक हानि होती है।

उत्तराधिकार के नियम

(Laws of Inheritance)

भारतवर्ष म उत्तराधिकार सम्बन्धी दो प्रमुख नियम हैं :—

(१) मिताक्षर (Mitakshara), तथा

(२) दायभाग (Dayabhag)।

उपरोक्त दोनों नियम भारतीयों के आर्थिक जीवन पर बहुत गहरा प्रभाव डालते हैं।

मिताक्षर प्रणाली—यह प्रणाली सम्पूर्ण भारत में, बगाल को छोड़कर प्रचलित है। इस प्रणाली के अन्तर्गत परिवार के सभी सदस्य संयुक्त रूप से परिवार की सम्पत्ति के स्वामी होते हैं। पिता के जीवन काल म ही पिता के साथ साथ पुत्रों का पारिवारिक सम्पत्ति पर समान अधिकार होता है। कोई भी पुत्र किसी भी समय सम्पत्ति का बँटवारा करके अपनी सम्पत्ति का भाग प्राप्त कर सकता है। अविभाजित सम्पत्ति पर पिता का अधिकार रहता है और वह परिवार के सदस्यों की ओर से उसका प्रबन्ध करता है। पिता अपने पुत्रों की अनुमति के बिना सम्पत्ति को बेच नहीं सकता। जब तक संयुक्त परिवार का खण्डन नहीं होता, तब तक यही क्रम चलता रहता है। केवल विभाजन होने पर ही प्रत्येक सदस्य को सम्पत्ति का भाग प्राप्त होता है।

दायभाग प्रणाली—यह प्रणाली केवल बगाल क्षेत्र म ही प्रचलित है। इस प्रणाली के अन्तर्गत पिता का पारिवारिक सम्पत्ति पर नितान्त अधिकार रहता है। उसे यह भी अधिकार होता है कि वह अपनी इच्छानुसार, पुत्रों की अनुमति लिये बिना भी इस सम्पत्ति को बेच सकता है। पुत्रगण पिता के जीवन काल म इस सम्पत्ति का बँटवारा नहीं करवा सकते। पुत्रों का सम्पत्ति पर अधिकार पिता की मृत्यु के पश्चात् होता है।

सन् १९५६ के पूर्व स्त्रियों को उपरोक्त दोनों प्रणालियों के अन्तर्गत पारिवारिक सम्पत्ति में कोई अधिकार नहीं होता था। विधवा स्त्रियाँ केवल अपने लिए निर्वाह भत्ता माँग सकती थीं। अविवाहिता लड़की के लिए विवाह न होने तक के लिए कुछ प्राविधान किया जाता था। निस्सन्देह यह एक दोषपूर्ण पद्धति थी। इस दोष के निवारणार्थ १७ जून १९५६ को केन्द्रीय सरकार ने एक महत्वपूर्ण अधिनियम, 'हिन्दू उत्तराधिकार अधिनियम १९५६', पास किया। इस अधिनियम के अनुसार एक व्यक्ति की सम्पति को उसके परिवार के सभी सदस्यों अर्थात् लड़के, लड़कियां, विधवा और माता में समान रूप से बाँटा जायगा, यदि वह व्यक्ति अपनी मृत्यु के पूर्व कोई इच्छापत्र (Will) न लिख गया हो।

मुसलमानों में उत्तराधिकार

भारतवर्ष में मुसलमानों में पैतृक सम्पत्ति का बँटवारा 'मोहम्मडन लॉ' (Mohammadan Law) के अनुसार नियमित होता है। इस कानून के अनुसार पैतृक सम्पत्ति परिवार के पुरुष एवं स्त्री सभी सदस्यों में विभाजित की जाती है। इस प्रकार व्यावहारिक दृष्टिकोण से मुसलमानों के पैतृक नियम हिन्दुओं के नियमों से मिलते-जुलते ही हैं।

चूँकि हिन्दू और मुसलमान दोनों ही समाजों में सम्पत्ति का विभाजन किया जाता है अतः इसका प्रभाव देश के आर्थिक विकास पर समान रूप से पड़ता है।

उत्तराधिकार नियमों के गुण

(१) **सम्पत्ति पर अधिकार**—सबसे महत्वपूर्ण गुण यह है कि परिवार के प्रत्येक सदस्य को सम्पत्ति पर कुछ अधिकार होता है जिससे उसे जीवन की दुरूह और लम्बी यात्रा पार करने के लिए प्रारम्भिक आधार प्राप्त हो जाता है। इस प्रकार भारतीय उत्तराधिकार नियम समानता और न्याय के सिद्धान्तों के द्योतक हैं।

(२) **समाजवाद**—परिवार के प्रत्येक सदस्य को सम्पत्ति में से कुछ न कुछ भाग मिलने के कारण सम्पत्ति के वितरण में समानता आ जाती है। इस प्रकार पूँजीवाद का स्थान प्राप्त न होकर समाजवाद का श्रीगणेश होता है।

(३) **भ्रातृत्व की भावना**—सम्पत्ति के विभाजन में सबको समान अधिकार प्राप्त होने के कारण आपस में वैमनस्य एवं ईर्ष्या की भावना का सृजन नहीं होता, फलतः परिवार के सभी सदस्यों में भ्रातृत्व एवं सहकारिता की भावना जाग्रत होती है।

(४) **स्वतन्त्र कृषक भू स्वामी वर्ग**—कृषि क्षेत्र में यह नियम स्वतन्त्र कृषक भू स्वामी वर्ग तथा उनके द्वारा निर्मित स्थिर ग्राम्य समाज को जन्म देते हैं।

उत्तराधिकार नियमों का दोष

(१) **भूमि विभाजन एवं उप खण्डन**—भारतीय कृषि का सबसे महत्वपूर्ण

दोष 'भूमि विभाजन एवं उप-खंडन' हमारे भारतीय उत्तराधिकार नियमों की ही देन है। पीढ़ी दर पीढ़ी भूमि का विभाजन छोटे-छोटे टुकड़ों में होता जाता है यहाँ तक कि वे खेती के लिए बिल्कुल अनार्थिक इकाइयाँ बन जाती हैं।

(२) **पूँजी-निर्माण में बाधा**—उत्तराधिकार नियमों के अनुसार सम्पत्ति अथवा पूँजी का अनेक भागों में विभाजन हो जाने के कारण पूँजी का निर्माण (capital formation) बड़े पैमाने पर नहीं हो पाता। इसके फलस्वरूप आधुनिक बड़े पैमाने के उद्योग अथवा कृषि नहीं चल पाते और देश आर्थिक दृष्टि से अविकसित रह जाता है।

(३) **मुकदमेबाजी**—सम्पत्ति के बँटवारे के सम्बन्ध में प्रायः आपस में मत-भेद हो जाया करता है। यह कभी कभी इतना विकराल रूप धारण कर लेता है कि कुटुम्ब में आपस में कलह, झगड़े तथा फौजदारी भी हो जाती है। अतः कहा जाता है कि 'सम्पत्ति फूट की जड़ होती है'।

(४ **अकर्मण्यता**—पूर्वजों द्वारा अर्जित सम्पत्ति में से बिना प्रयत्न किये हुए एक अंश मिल जाने के कारण अधिकांश सम्पत्तिधारियों में अकर्मण्यता आ जाती है। वे जीविका कमाने का कोई प्रयास नहीं करते क्योंकि सम्पत्ति की आय से ही उनकी आवश्यकताओं की पूर्ति हो जाती है। अतः वे संत मलूकदास के शब्दों, 'अजगर करे न चाकरी, पक्षी करे न काम, दास मलूका कहि गये सब के दाता राम' को चरितार्थ करते हैं।

पर्दा एवं बाल-विवाह

भारतवर्ष में दो अन्य दोषपूर्ण सामाजिक प्रथाएँ भी प्रचलित हैं। ये हैं—बाल-विवाह और पर्दा-प्रथा। ये प्रथाएँ भी हमारे आर्थिक जीवन को काफी प्रभावित करती हैं।

बाल-विवाह भारत में कब से प्रचलित हुआ, यह ठीक-ठीक तो नहीं कहा जा सकता परन्तु यह अवश्य है कि मुसलमान शासकों द्वारा किये जाने वाले अत्याचारों से बचने के लिए छोटी-छोटी बालिकाओं का विवाह कर दिया जाता था। बालक-बालिकाओं को यह भी पता नहीं होता था कि विवाह क्या होता है और उसके क्या उत्तरदायित्व होते हैं। अस्तु, कुछ भी हो उस समय समय का तकाजा था परन्तु अब समय का दूसरा तकाजा है। अधिक सन्तानोत्पत्ति की जगह संतति-नियमन, निम्न स्वास्थ्य-स्तर की जगह उच्च स्वास्थ्य-स्तर तथा अल्पायु की जगह दीर्घायु की आवश्यकता है। इस प्रथा के लाभ तो नाम मात्र के हैं परन्तु हानियाँ अवश्य गम्भीर हैं। ये इस प्रकार हैं—

(१) बाल्यावस्था में विवाह हो जाने के कारण भारत में जन्म-दर भी बहुत ऊँची है। देश की जनसंख्या दिन-दूनी रात-चौगुनी बढ़ती चली जा रही है। देश की कोई भी योजना चाहे वह कितनी भी अच्छी क्यों न हो उस समय तक सफल नहीं हो

सकती जब तक जनसख्या सीमित न हो। १६५१ क जनगणना आयुक्त (Census Commissioner) ने यह सुझाव दिया था नि एक व्यक्ति की सतान तीन स अधिक नहीं होनी चाहिए अन्यथा देश की आर्थिक प्रगति रुक जायगी।

(२) दूसरा दोष यह है नि बाल्यावस्था म जो सतान उत्पन्न होती है वह अस्वस्थ एव अपग होती है। हम लोगों की यह एक धार्मिक एव सामाजिक धारणा है कि सतानहीन व्यक्ति मनहूस एव पापी होता है। व इतने अधम समझ जात हैं कि एक भिखारी उनसे भीख लेना भी उचित नहीं समझता। ऐसी अवस्था म शारीरिक एव मानसिक रूप स विकृत होत हुए भी व्यक्ति विवाह कर लेत हैं और सतानोत्पत्ति पर भी प्रतिबन्ध नहीं लगात। फलत देश क भावी कर्णधार शारीरिक एव मानसिक रूप से जन्म से ही अयोग्य होत हैं।

(३) अल्पायु म मातृत्व ग्रहण करने क कारण अधिकाश स्त्रियाँ की प्रसव काल म ही मृत्यु हो जाती है। दुबल बच्चे होने क कारण उनकी भी अधिकाश मृत्यु हो जाती है। इस प्रकार हमारे देश म जन्म और मृत्यु दोनों की दरें अन्य देशों की अपेक्षा बहुत ऊँची हैं।

(४) चौथी हानि यह है कि शारीरिक एव मानसिक रूप स अभाव ग्रस्त होने क कारण हमारे नवजवानों की कार्यक्षमता अन्य देशों की अपेक्षा बहुत कम होती है। इसका आर्थिक परिणाम यह होता है कि देश का आर्थिक विकास कम होता है और रहन-सहन का स्तर नीचा रहता है।

पर्दा प्रथा

बाल विवाह की तरह पर्दा प्रथा भी हमारे राष्ट्र क शरीर म एक कोढ़ है। पर्दा प्रथा का प्रादुर्भाव सम्भवत मुस्लिम काल स ही होता है। कुछ मुसलमान शासको क शासन काल म मुसलमानों को इतनी स्वतन्त्रता मिल गई थी कि वे किसी भी हिन्दू नारी क साथ बलात् विवाह कर सकत थ। सुन्दर नारियों का अपहरण एक साधारण सी बात बन गई थी। ऐस भी उदाहरण पाये जात है जहाँ कुछ अत्याचारी शासकों ने यह घोषित कर दिया था कि कोई भी मुसलमान किसी भी हिन्दू बालिका अथवा नारी स स्वय ऐच्छिक अथवा बलात् विवाह कर सकता था और असमर्थ होने पर ऐसा करने क लिए राज्य अधिकारियों की सहायता भी ले सकता था। इन अत्याचारों से बचने क लिए तथा अपने धर्म की लाज बचाये रखने क लिए हिन्दू समाज म पर्दा प्रथा प्रचलित हो गई। उस समय पर्दा प्रथा क लाभ कुछ भी रहे हों परन्तु अब तो हानि ही हानि है। परिस्थितियां बदल चुकी हैं और परिवर्तित परिस्थितियों में पर्दा प्रथा को भी परिवर्तित कर देना आवश्यक है। क्या आवश्यक है? इसके कारण ये हैं—

(१) पर्दा प्रथा के कारण हमारी श्रम शक्ति का एक बहुत बड़ा अंश निष्क्रिय पड़ा रहता है। स्त्रियां अन्य देशों की भांति जीवन-संग्राम में सक्रिय भाग नहीं ले पातीं। उनकी बुद्धि एवं श्रम का पूर्ण उपयोग नहीं हो पाता।

(२) पर्दा प्रथा के कारण हमारा स्त्री वर्ग अधिकांशतः अशिक्षित बना रहता है और जीवन अंधकारमय बना रहता है।

(३) पर्दा प्रथा के कारण स्त्रियां स्वच्छ एवं खुले हुए वातावरण में विचरण नहीं कर पातीं जिसका दुष्परिणाम केवल उनके मानसिक एवं शारीरिक स्वास्थ्य तक ही सीमित न रहकर उनकी सन्तान पर भी पड़ता है।

(४) पर्दा प्रथा के कारण पुरुष अपनी स्त्रियों को शहरों में, जहाँ स्थान का अभाव होता है, साथ नहीं रख पाते जिसका फल यह होता है कि स्त्रियां अनेक अनैतिक दुर्गुणों में फंस जाती हैं। पुरुष लोग भी इस दुर्गुण के शिकार हो जाते हैं।

यद्यपि पर्दा प्रथा का आजकल काफी विरोध हो रहा है और विदेशी सभ्यता के प्रभाव, सामाजिक एवं आन्तरिक जागृति तथा प्रगतिशील शिक्षा की वृद्धि के फलस्वरूप पर्दा प्रथा समाप्त हो रही है परन्तु फिर भी देश के अधिकांश भागों में इसका प्रचलन है। आवश्यकता यह है कि इसका शीघ्रातिशीघ्र उन्मूलन किया जाय और स्त्रियां पुरुषों के साथ कंधे से कंधा मिलाकर राष्ट्रीय आर्थिक विकास में भाग लें जैसा कि विदेशों में हो रहा है। यह भारत के लिए कोई नवीन चीज न होगी क्योंकि प्राचीन भारत में भी स्त्रियों ने पुरुषों को सदैव सहयोग दिया है। ऐसे भी दृष्टान्त मिलते हैं कि स्त्रियों ने पुरुषों का नेतृत्व भी किया है।

भारतीय धर्म एवं दर्शन

भारतीय आर्थिक विकास को प्रभावित करने में भारतीय धर्म और दर्शन का भी एक विशेष हाथ रहा है। भारतीय हिन्दू व्यक्ति किसी भी कार्य को करने से पहले उसके शुभ मुहूर्त को जानना है और ज्योतिषियों एवं पण्डितों से किसी कार्य की सफलता के बारे में पूर्व ज्ञान प्राप्त कर लेना उचित समझता है। आर्थिक पक्षों के स्थान पर धार्मिक एवं अंधविश्वास के पक्षों पर अधिक जोर दिया जाता है। यह केवल अशिक्षित व्यक्तियों तक ही सीमित नहीं है बल्कि बड़े बड़े विद्वान व्यक्तियों के लिए समान रूप में सत्य है। उदाहरणार्थ हमारे राष्ट्रपति डा० राजेन्द्रप्रसाद बिना मुहूर्त निकरवाये विदेश भ्रमण नहीं करते। हमारे प्रदेश के मुख्य मंत्री डा० सम्पूर्णानन्द अपने भविष्य के बारे में ज्योतिषियों से परामर्श लेते हैं।

धर्म के नाम पर आज हमारे देश में कितने ही लोग निष्क्रिय पड़े हुए हैं। असंख्य धन का अपव्यय किया जा रहा है और कितने ही सामाजिक दुराचरणों को

सहा जा रहा है। धर्म के नाम पर लाखों व्यक्ति भीख माँगते हैं। अहिंसा के नाम पर अनेक हानिकारक कीटाणुओं एवं पशुओं को नष्ट नहीं किया जाता जो हमारी खेती को करोड़ों रुपये की प्रति वर्ष हानि पहुँचाते हैं। इसी विचारधारा के अनुसार बूढ़े और बेकार जानवरों को मारा नहीं जाता जिससे लगभग ६ करोड़ रुपये प्रति वर्ष की हानि होती है। निःसंदेह भारत में विशाल जनसंख्या का निर्धन एवं पिछड़ा हुआ देश है परन्तु इसकी निर्धनता तथा पिछड़ेपन के लिए केवल हमारा धर्म और दर्शन ही उत्तरदायी नहीं। हम यह भी मान नहीं कर सकते कि भारतीय धर्म और दर्शन से देश के आर्थिक विकास को कोई हानि नहीं पहुँची। श्रीमती वीरा एन्स्टे के अनुसार "धार्मिक प्रवृत्ति चाहे किसी भी विशेष सम्प्रदाय से सम्बन्धित हो, भारतीय जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में व्याप्त है और दुरूह रूढ़िवाद व अन्ध विश्वासों को जन्म देती है तथा प्रत्येक नवीनता का चाहे वह कितनी ही शुद्ध व उदार क्यों न हो, तर्कहीन विरोध करती है। पाश्चात्य देशों की अपेक्षा भारत में आर्थिक व सामाजिक विकास के लिए धार्मिक विरोध को नष्ट करना अधिक कठिन है क्योंकि यहाँ वर्तमान धार्मिक विश्वास तथा उनसे उत्पन्न हुआ विशेष सामाजिक संगठन इस उद्देश्य में बाधक है।"

भारतीय धार्मिक ग्रन्थ जैसे उपनिषद्, दर्शनशास्त्र, श्री मद्भगवद्गीता तथा श्री रामचरित मानस को विदेशियों द्वारा भारतीय निर्धनता के कारण बताये जाते हैं। इसके प्रत्युत्तर में यही कहा जा सकता है कि विदेशियों ने हमारी धार्मिक पुस्तकों की शिक्षा को या तो बिल्कुल नहीं समझा है और यदि समझा है तो उसे गलत समझा है। वास्तव में देखा जाय तो हमारे ये शास्त्र हम लोगों को निष्क्रिय एवं उदासीन न बना कर निष्काम कर्म योग की शिक्षा देकर कर्मपरक बनाते हैं। धनोपार्जन का कहीं भी निषेध नहीं है परन्तु यह हमें यह भी नहीं सिखाते कि मानवीय जीवन के वास्तविक लक्ष्य को भुलाकर केवल धन की ही खोज में पागल हो जाना चाहिए। हमारा धर्म यह बताता है कि धन मनुष्य के कल्याण के लिए है न कि मनुष्य धन के लिए। धन साधन है साध्य नहीं। यही बात प्रसिद्ध अर्थशास्त्री डा० मार्शल और उनके अनुयायियों ने अर्थशास्त्र की परिभाषा में स्पष्ट की है। हमारा सच्चा धर्म हम एक सुन्दर जीवन बिताने के लिए, परमार्थ के लिए, उद्योगी अथवा कर्मठ बनने के लिए प्रेरणा देता है।

आधुनिक युग पुरुष लोकमान्य तिलक, महात्मा गांधी तथा विनोबा भावे ने धर्म की व्याख्या करते हुए कर्म को ही धर्म की प्रधान शिक्षा बतलाया है। श्री मद्भगवद्गीता जो सब धर्म और दर्शन का सार है एक कर्मयोग शास्त्र है। इसके अनुसार कर्म निष्काम होना चाहिए। परन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं कि धन की प्राप्ति नहीं करनी चाहिए। धन साधन के रूप में उपार्जित करना अत्यन्त आवश्यक है। यह धर्म मोक्ष की प्राप्ति के लिए आवश्यक है अतः धनोपार्जन करना और उसका सदुपयोग

करना हिन्दू धर्म की मूल शिक्षा है। महर्षि दयानन्द सरस्वती ने भी आर्य समाज में कर्म को ही प्रधान बताया है।

अतएव यह निर्भीकता से कहा जा सकता है कि यदि भारत में साधारण शिक्षा के साथ साथ धार्मिक शिक्षा को भी स्थान दिया गया होता और धर्म के सही और मूल सिद्धान्तों को स्पष्ट रूप से बताया गया होता तो निस्सन्देह भारतवर्ष अन्य देशों की अपेक्षा कहीं अधिक सुखी, सम्पन्न एवं समृद्धिशाली होता।

ग्राम पंचायत

ग्राम पंचायतें भी हमारी सामाजिक व्यवस्था में एक महत्त्वपूर्ण स्थान रखती हैं और अन्ततः देश के आर्थिक विकास को प्रभावित करती हैं। प्राचीन भारत में पंचायतें समाज के संगठन की आधार-शिलाएँ थीं। श्री एलफिन्सटन के अनुसार "इन ग्रामों में (बम्बई प्रान्त) छोटे पैमाने पर अपने अन्दर ही एक पूर्ण राज्य के सभी उपकरण हैं और यदि सभी सरकारों को यहाँ से हटा लिया जाय, तब भी पंचायतें ग्रामों की सुरक्षा के लिए पर्याप्त हैं।" इनकी महत्ता को स्वीकार करते हुए हमारी राष्ट्रीय सरकार ने इन पंचायतों को पुनः प्रतिष्ठित स्थान प्रदान किया है। विभिन्न राज्य सरकारों ने अपने अपने राज्यों में पंचायत राज्य की स्थापना की है। देश में ग्राम पंचायतों की पुनर्स्थापना निस्सन्देह एक क्रान्तिकारी कार्य है जो शीघ्र ही ग्रामीण जीवन के स्तर को ऊँचा करने तथा अन्ततोगत्वा देश के आर्थिक विकास को बढ़ाने में सहायक होगा।

प्रश्न

1. In what manner do the important social and religious institutions help or hinder the economic progress of the people in India? Give examples. *(Punjab, 1954)*

2. Discuss the economic consequences of the caste system. Do you think there is any justification for its continuance in the present conditions? *(Agra, 1954)*

3. Write a short note on 'Joint family system'. *(Agra, 1957)*



अध्याय ५

भारत की जनसंख्या—तथ्य, समस्या तथा उपाय

(The Population of India—Facts, Problems, and Remedies)

किसी देश की अर्थव्यवस्था का अध्ययन उस समय तक पूर्ण नहीं कहा जा सकता जब तक उस देश के आर्थिक जीवन पर प्रभाव डालने वाली सभी बातों का विश्लेषणात्मक एवं आलोचनात्मक अध्ययन न कर लिया गया हो। देश की आर्थिक उन्नति के लिए केवल प्राकृतिक साधनों का ही महत्व नहीं है क्योंकि प्राकृतिक साधनों के अतिरिक्त राष्ट्र की सबसे बड़ी सम्पत्ति उसकी मानवी शक्ति (human resources) होती है। इस कारण देश की प्रगति एवं आर्थिक समृद्धि प्राकृतिक साधनों के अतिरिक्त उस देश की जनसंख्या की प्रकृति एवं उसकी कार्यक्षमता पर बहुत कुछ निर्भर है।

जनसंख्या के अध्ययन का महत्व

(Significance of the Study of Population)

किसी देश की जनसंख्या का अध्ययन उस देश की अर्थव्यवस्था के अध्ययन का महत्वपूर्ण अंग है। यह स्पष्ट है कि किसी देश की उन्नति उस देश में उपलब्ध प्राकृतिक सम्पदा और प्रकृति के अन्य प्राकृतिक उपहारों (other free gifts of nature) पर जितना निर्भर करती है उससे अधिक उसके निवासियों पर। कारण यह है कि एक ओर तो जनसंख्या उत्पत्ति का प्रमुख साधन है अर्थात् देश के प्राकृतिक संसाधनों का समुचित उपयोग राष्ट्र की श्रमशक्ति द्वारा ही होता है, दूसरी ओर देश के समस्त उत्पादन एवं प्रकृति के समस्त साधनों के शोषण का लक्ष्य देश की जनता की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये ही किया जाता है। अन्य शब्दों में जनशक्ति द्वारा ही उत्पादन सम्भव है और समस्त उत्पादन जनशक्ति के लिए ही किया जाता है। (Population helps production and all production is for population.)

जनसंख्या के अध्ययन के महत्व का दूसरा कारण यह है कि आधुनिक युग में जब प्रत्येक राष्ट्र अपनी आर्थिक उन्नति के लिए प्रयत्नशील है, देश के विकास सम्बन्धी योजना के निर्माण के लिए यह जानना आवश्यक है कि देश की कितनी जनसंख्या है? जनसंख्या की वृद्धि किस गति से हो रही है? देश के विभिन्न भागों में जनसंख्या के वितरण का क्या रूप है तथा जनसंख्या की रचना किस प्रकार की है? जनसंख्या के ऐसे अध्ययन द्वारा देश की कार्यक्षम जनशक्ति का अनुमान हो जायेगा जिससे उस देश

के निवासियों की सम्पूर्ण कार्यशक्ति का आभास हो सकेगा। ऐसी कार्यशक्ति का देश के आर्थिक विकास के लिए उच्चतम उपयोग करना आर्थिक नियोजकों का उत्तरदायित्व है। उदाहरणार्थ यदि हम किसी देश के लिए आर्थिक योजना का निर्माण करते हैं तो यह जानना अत्यन्त आवश्यक है कि उस देश का कितना भाग कार्य करने योग्य है। साधारण तौर पर १५ से ६० वर्ष की आयु वाले व्यक्तियों को कार्यशील जनसंख्या (working population) में माना जाता है। इस दृष्टि से यदि हम देश की जनसंख्या का विभिन्न आयु समूह (different age groups) में वर्गीकरण कर लें तो हम देश की कार्ययुक्त जनसंख्या का सही अनुमान हो जायेगा, जो आर्थिक योजना एवं रोजगार (economic planning and employment) में अपना विशेष स्थान रखता है।

जनसंख्या और राष्ट्रीय आय

(Population and National Income)

किसी देश की राष्ट्रीय आय का उस देश की जनसंख्या से बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध है। जनसंख्या का जितना अधिक भाग कार्यशील होने के कारण राष्ट्र की विभिन्न क्रियाओं में व्यस्त होगा उतनी ही राष्ट्रीय आय में वृद्धि सम्भव होगी। इसी प्रकार राष्ट्रीय आय देश की जनशक्ति के लिये उपलब्ध रोजगार के साधनों (avenues of employment) पर भी निर्भर करती है। यदि किसी देश की अधिकांश जनता बेकार है या जिसके लिये पर्याप्त कार्य उपलब्ध न हो तो उस देश की राष्ट्रीय आय, निःसन्देह ऐसे देश की तुलना में कम होगी जहाँ सम्पूर्ण जनशक्ति के लिये पर्याप्त कार्य उपलब्ध हो। इसके अतिरिक्त राष्ट्रीय आय किसी देश की प्रकृति व गुण (nature and qualities) पर भी निर्भर होती है। अर्थात् घनी आबादी और अधिक कार्ययुक्त जनसंख्या होने पर भी यदि देशवासियों में राष्ट्र के उत्पादन में वृद्धि की योग्यता एवं इच्छा (ability and willingness) न हो तो उस देश का आर्थिक विकास (economic growth) कदापि सम्भव नहीं। इसी कारण किसी देश की आर्थिक समृद्धि व राष्ट्रीय आय देशवासियों के उन व्यक्तिगत गुणों पर निर्भर करती है जो आर्थिक उन्नति के लिये अत्यन्त आवश्यक हैं जैसे भौतिक पदार्थों में रुचि (liking for material things), नये विचारों का ग्रहण करने की तत्परता (responsiveness to new things), नई विधियों को सीखने की इच्छा (desire to learn new techniques), सामान्य योग्यता (general ability), गतिशीलता (mobility), उद्योग और साधन सम्पन्नता (industry and resourcefulness) इत्यादि।

अर्धविकसित अर्थव्यवस्था में जनसंख्या की समस्या
(The Problem of Population in an Underdeveloped Economy)

एक पूर्ण विकसित अर्थव्यवस्था में आर्थिक विकास की समस्याएँ एक अर्धविकसित अर्थव्यवस्था की तुलना में पूर्णतया भिन्न होती हैं। वैसे तो जनसंख्या आर्थिक विकास में एक महत्वपूर्ण तत्त्व है परन्तु एक अर्धविकसित अर्थव्यवस्था में उसकी विशेष समस्याओं के कारण जनसंख्या का विशेष महत्त्व होता है। स्वीडन के प्रमुख अर्थशास्त्री प्रो० गुन्नार मेरडल (Prof Gunnar Myrdal) के अनुसार अर्धविकसित अर्थव्यवस्था में जहाँ एक ओर औसत आय का स्तर (average level of income) बहुत निम्न होता है, वहाँ दूसरी ओर जनसंख्या की तीव्र गति से वृद्धि के कारण भूमि पर जनसंख्या का भार बढ़ता जाता है। इसी प्रकार दोनों प्रकार की अर्थव्यवस्था में विकास सम्बन्धी समस्याएँ उनके आकार की दृष्टि से भी भिन्न होती हैं। आज जो विकसित देश हैं उनकी जनसंख्या प्रारम्भ में बहुत कम थी, उदाहरणार्थ इंगलैण्ड की जनसंख्या उसके पूर्व औद्योगिक काल (pre industrial era) के समय केवल एक करोड़ के लगभग थी। इस कारण से इने गिने विकसित राष्ट्र अनेक अविकसित राष्ट्रों का शोषण कर अपने लक्ष्य की पूर्ति कर सकने में समर्थ थे। इन्हें उनके आर्थिक एवं औद्योगिक विकास के लिये एक साधन समझा जाता था और उनके द्वारा निर्मित वस्तुओं के लिये एक विस्तृत बाजार। यही नहीं अन्तर्राष्ट्रीय राजनैतिक व्यवस्था ने भी उनके आर्थिक विकास में भी बहुत योग दिया, जिसके कारण बड़े-बड़े राष्ट्रों ने अनेक छोटे-छोटे अविकसित राष्ट्रों को अपनी दासता की बेड़ियों में जकड़ लिया। अर्धविकसित देशों के आर्थिक विकास के लिये ऐसी परिस्थितियाँ उपलब्ध नहीं हैं। उनके सामने विशाल एवं निरन्तर बढ़ती हुई जनसंख्या के आर्थिक कल्याण और उच्च स्तर प्रदान करने की जटिल एवं भीषण समस्या है।

भारत की जनसंख्या के मूलभूत तथ्य
(Basic Facts about Indian Population)

(१) जनसंख्या का आकार (Size of Population)—भारतवर्ष संसार में सबसे घनी आबादी वाले देशों में से एक है। इसकी जनसंख्या का आकार बहुत विशाल है। चीन को छोड़कर संसार में भारत की जनसंख्या सबसे अधिक है। सन् १९५१ की जनगणना के अनुसार जम्मू और काश्मीर राज्य तथा आसाम के कुछ क्षेत्रों को छोड़कर भारतवर्ष की जनसंख्या ३५,६८,२९,४८५ थी। जम्मू-काश्मीर राज्य की जनसंख्या लगभग ४४ लाख है और आसाम के (Tribal Areas) की ५.७ लाख थी। इस प्रकार भारत की कुल जनसंख्या १९५१ की जनगणना के अनुसार ३६.१८

करोड थी। ऐसा अनुमान किया जाता था कि प्रति वर्ष १३ प्रतिशत की औसत वृद्धि होती गई तो १६५८-५६ तक भारत की जनसख्या लगभग ४० करोड हो जायगी।

(ग) देश की वर्तमान जन सख्या—भारत की जनसख्या आजकल कितनी है ? इस सम्बन्ध म केन्द्रीय सांख्यिकीय सगठन (Central Statistical Organization) न एक विशेष अध्ययन दल (Special Study Group) का अनुमान जानने योग्य है। इसक अनुसार १ मार्च सन् १६६१ तक भारत की जनसख्या ४३१० ८* मिलियन हो जायगी और सन् १६६६ तक यह जनसख्या बढ कर ४७६'६ मिलियन तक पहुच जायगी। देश की आगामी जनगणना १६६१ म होगी और जब तक सन् १६६१ की जनगणना क परिणाम ज्ञात नहीं हो जात तब तक यही अनुमान आगामी तृतीय पचवर्षीय योजना के निर्माण क सम्बन्ध म प्रयोग किय जा रहे हैं।

(घ) विभिन्न राज्यो की जनसख्या (Population in Different States) —१ नवम्बर सन् १६५६ को हमार देश म राज्यो का पुनर्सगठन हुआ। १६५१ की जनगणना क आधार पर भारत की पुर्नसगठित जनसख्या निम्न तालिका म उनकी जनसख्या क क्रम म दी जाती है —

राज्य	जनसख्या (लाखो म)	केन्द्र शासित क्षेत्र	जनसख्या (लाखो में)
उत्तर प्रदेश	६३२	दिल्ली	१७
बम्बई	४८३	मणिपुर	६
बिहार	३८८	हिमाचल प्रदेश	११
आन्ध्र प्रदेश	३१२	त्रिपुरा	०६
मद्रास	३००	अन्दमान नीकोबार द्वीप	३
पश्चिमी बगाल	२६३	लकादिव, मिनीकाय	२
मध्य प्रदेश	२६१	एव आमनीदिव	
मैसूर	१६४		
पजाब	१६१		
राजस्थान	१५६		
उडीसा	१४६		
करल	१३५		
आसम	६०		
जम्मू व काश्मीर	४४		

*उपरोक्त अनुमान से यह स्पष्ट है कि आज भारत की जनसख्या ४० करोड़ स अधिक हो होगी।

(४) जनसंख्या का वितरण ग्रामों तथा नगरों में (Distribution of Population between Towns and Villages)—उपरोक्त तालिका से स्पष्ट हो जाता है कि भारतवर्ष की जनसंख्या का वितरण विभिन्न राज्यों में किस प्रकार हुआ है। अब हम देखेंगे कि देश में नगरों तथा ग्रामों में देश की जनसंख्या के वितरण का क्या रूप है। जैसा कि सर्वविदित है कि भारत एक कृषि प्रधान देश है और यहाँ की अधिकांश जनता खेती पर आश्रित है इस कारण देश का अधिकांश भाग ग्रामों में निवास करता है। किसी लेखक ने सत्य लिखा है 'भारत ग्रामों का निवासी है', (India lives in villages) कुल जनसंख्या का केवल १७.३% अर्थात् ६२ मिलियन शहरों और नगरों में तथा ८२.७% भाग अर्थात् २६५ मिलियन ग्रामों में बसा हुआ है। इस समय भारत में लगभग ३,०१८ नगर और ५,५८,०८८ ग्राम हैं निम्न तालिका से जनसंख्या के आधार पर नगरों और ग्रामों की संख्या का ज्ञान हो सकता है —

शहर और ग्राम जिनकी जनसंख्या	संख्या
५०० से कम	३,८०,०२०
५०० से १,०००	१,०४,२६८
१,००० से २,०००	५१,७६६
२,००० से ५०००	२०,५०८
५,००० से १०,०००	३,१०१
१०,००० से २०,०००	८५६
२०,००० से ५०,०००	४०१
५०,००० से १,०,००००	१११
१,००,००० से अधिक	७३
कुल योग	५,६१,१०७

(५) जनसख्या का घनत्व (Density of Population)—किसी देश की 'जनसख्या के घनत्व' से हमारा आशय इस देश में प्रतिवर्ग मील रहने वाले व्यक्तियों की औसत सख्या से है। अर्थात् एक वर्ग मील में कितने लोग बसे हुए हैं। जनसख्या का घनत्व सम्पूर्ण देश के लिए निकाला जा सकता है अथवा देश के किसी प्रदेश व भाग का, जिसके निकालने की रीति बडी सरल है। किसी देश या प्रदेश की कुल जनसख्या को देश अथवा प्रदेश के कुल क्षेत्रफल से भाग देकर जनसख्या का घनत्व निकाला जा सकता है।

जनसख्या के घनत्व का महत्व (Significance of the Density of Population)—किसी देश की जनसख्या के घनत्व का ज्ञान उस देश की वास्तविक आर्थिक एव प्राकृतिक स्थिति की जानकारी के लिए अत्यन्त आवश्यक है। जनसख्या के घनत्व से हम इस बात का पता लगता है कि देश के विभिन्न प्रदेशों एव क्षेत्रों व राष्ट्र की जनसख्या अथवा जनशक्ति के वितरण का क्या स्वरूप है। जैसा आगे चलकर हम भारत के विभिन्न भागों में जनसख्या के घनत्व की जानकारी से स्पष्ट होगा कि भारत के विभिन्न प्रदेशों में जनसख्या का घनत्व एक-सा नहीं है। उनमें काफी विभिन्नता है। उदाहरणार्थ जब एक ओर बगाल में जनसख्या का घनत्व ८०६ है तो दूसरी ओर मध्य प्रदेश में केवल १६३ है। इसी प्रकार सबसे अधिक घनत्व देहली का है जो ३,०१७ है तो अण्डमन नीकोबार का सबसे कम है जो १० है। जनसख्या के घनत्व से किसी स्थान अथवा प्रदेश की जलवायु, वहा होने वाली वर्षा तथा उपलब्ध भूमि, सिंचाई के साधन तथा उद्योग धधों की स्थिति, एव रोजगार के उपलब्ध साधनों की वास्तविक दशा का ज्ञान होता है जिसके कारण किसी एक स्थान पर दूसरे स्थान की अपेक्षा अधिक व्यक्ति आकर्षित होते हैं।

भारतवर्ष में जनसख्या का घनत्व (Density of Population in India)—सन् १९५१ की जनगणना के अनुसार भारतवर्ष की जनसख्या का औसत घनत्व ३१२* प्रति वर्गमील था। निम्न तालिका में देश के विभिन्न प्रमुख राज्यों के घनत्व को प्रदर्शित किया गया है। यह तालिका १९५१ के जनगणना के आँकड़ों पर आधारित घनत्व के क्रमानुसार दिये गये हैं —

*Source —*Indian Economic Year Book* 1959 60, p 2

कम है क्योंकि जनसंख्या के घनत्व का पहला तत्व जलवायु ही है। असम, जहाँ मलेरिया का भीषण प्रकोप रहता है वहाँ की जलवायु स्वास्थ्य के लिए हानिकारक है इसलिए जनसंख्या का घनत्व कम है।

(३) भूमि की उर्वरता (Fertility of Soil)—अच्छी उपज वाले क्षेत्रों में जनसंख्या का घनत्व अधिक होना स्वाभाविक ही है जिसके कारण कृषिकों को कम लागत और कम परिश्रम से अधिक प्रति एकड़ उपज प्राप्त होती है।

(४) सिंचाई (Irrigation)—जनसंख्या का घनत्व केवल वर्षा पर ही निर्भर नहीं करता क्योंकि जिन क्षेत्रों में सिंचाई के पर्याप्त साधन उपलब्ध हो वहाँ वर्षा की इस कमी को किसी हद तक पूरा कर लिया गया है और इसी कारण जिन क्षेत्रों में पहले वर्षा न होने से जनसंख्या का घनत्व कम था वहाँ नहरों जैसे सिंचाई के अन्य कृत्रिम साधनों की उपलब्धि के फलस्वरूप प्रति वर्गमील जनसंख्या के घनत्व में वृद्धि होती गई है।

(५) सुरक्षा (Security)—जिन क्षेत्रों में जान व माल की सुरक्षा होती है वहाँ अधिक लोग रहने लगते हैं और जनसंख्या के घनत्व में वृद्धि होती है। हमारे देश में विभाजन के बाद सीमान्त क्षेत्रों में, जहाँ पाकिस्तानी क्षेत्र से बराबर आतंक व खतरा बना रहता है, जनसंख्या का घनत्व अपेक्षाकृत कम है।

(६) रोजगार के साधन (Avenues of Employment)—जिन स्थानों में रोजगार एवं जीविकोपार्जन के साधन अधिक उपलब्ध हैं वे स्थान सबसे घनी आबादी वाले क्षेत्र हैं जैसे कलकत्ता, बम्बई, दिल्ली, कानपुर, अहमदाबाद आदि, जहाँ रोजगार के आकर्षण के फलस्वरूप दूर दूर के स्थानों से लोग आकर बसने लगते हैं और इसके कारण जनसंख्या के घनत्व में निरन्तर वृद्धि होती जाती है।

संसार के प्रमुख देशों की जनसंख्या के घनत्व का तुलनात्मक अध्ययन (Comparative Study of the Density of Population of Important Countries of the World)

निम्न तालिका में हम संसार के कुछ प्रमुख देशों की जनसंख्या के घनत्व की भारत के औसत घनत्व से तुलना करेंगे :—

देश	घनत्व (प्रति वर्ग मील)
भारत	३१३
आस्ट्रेलिया	३
कनाडा	३
फ्रान्स	२५०
इटली	३६४
स्वीजरलैण्ड	३१२
यूनाइटेड किंगडम	५३५
संयुक्त राज्य अमेरिका	५४
सोवियत रूस	२३

जनसंख्या के घनत्व का आर्थिक समृद्धि से सम्बन्ध (Relation between Economic Prosperity and Density of Population)

अब प्रश्न उठता है कि क्या किसी देश की जनसंख्या के घनत्व का उसकी आर्थिक सम्पन्नता से कोई सम्बन्ध है अथवा नहीं ? इस सम्बन्ध में दो विचार प्रस्तुत किये जाते हैं। एक विचार के अनुसार अधिक घनत्व से देश के आर्थिक एवं औद्योगिक विकास में सहायता मिलती है क्योंकि किसी स्थान पर भारी संख्या में उद्योगी एवं परिश्रमी जनसंख्या के एकत्रित होने के फलस्वरूप उस क्षेत्र अथवा प्रदेश के प्राकृतिक संसाधनों का समुचित विकास सम्भव हो सकने के कारण भौतिक एवं आर्थिक समृद्धि अवश्य होगी परन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि देश की जनसंख्या का घनत्व सदैव आर्थिक समृद्धि का द्योतक है। संसार के प्रमुख देशों की उपरोक्त तालिका में प्रदर्शित जनसंख्या के घनत्व के अध्ययन से यह बात सिद्ध हो जाती है कि किसी देश की आर्थिक समृद्धि एवं विकास देश की जनसंख्या के घनत्व से सम्बन्ध होना आवश्यक नहीं। उदाहरणार्थ संसार में कुछ ऐसे सुविकसित एवं विशाल राष्ट्र हैं जिनमें जनसंख्या का घनत्व अन्य देशों की अपेक्षाकृत बहुत कम है परन्तु फिर भी आर्थिक उन्नति की दौड़ में वे सबसे आगे हैं जैसे संयुक्त राज्य अमेरिका, कनाडा, रूस इत्यादि जहाँ जनसंख्या का घनत्व क्रमशः ५४,३ व २३ है। इससे यह सिद्ध हो जाता है कि किसी राष्ट्र की आर्थिक समृद्धि केवल जनसंख्या के घनत्व पर ही निर्भर नहीं करती। देश की जनसंख्या का घनत्व तो केवल मानवी साधनों (Human Resources) अथवा जनशक्ति का द्योतक मात्र है। राष्ट्र की उन्नति के लिए देश में रहने वाले व्यक्तियों के चरित्र, योग्यता, कार्यक्षमता तथा प्राकृतिक साधनों एवं पूँजी के कुशल उपयोग की भी अत्यन्त आवश्यकता है।

स्त्री-पुरुष अनुपात (Sex Ratio)

स्त्री पुरुष अनुपात का अर्थ—किसी देश के स्त्री पुरुष अनुपात से हमारा

आशय है उस देश में प्रत्येक एक हजार पुरुष अथवा स्त्री के पीछे कितनी स्त्रियाँ अथवा पुरुष हैं।

अध्ययन का महत्व—देश की जनसंख्या का अध्ययन उसके स्त्री पुरुष के अनुपात की दृष्टि से मुख्यतया ऐसे देशों के लिए विशेष महत्व रखता है जहां सभ्यता का उदय तथा सामाजिक प्रगति मन्द गति से होने के कारण देश की स्त्रियां देश की आर्थिक क्रियाओं में समान भाग नहीं लेतीं। आधुनिक युग में जहां एक ओर बड़े बड़े देशों में स्त्रियों ने निरन्तर प्रगति करके पुरुषों के बराबर स्थान प्राप्त कर लिया है और आर्थिक क्रियाओं में व्यस्त रह कर वे भी देश की राष्ट्रीय आय के उत्पादन में अपना सहयोग देती हैं—जैसे संयुक्त राज्य अमरीका, ग्रेट ब्रिटेन तथा सोवियत रूस इत्यादि—वहां दूसरी ओर भारत व पाकिस्तान जैसे अन्य पिछड़े देशों में स्त्रियाँ अब भी आर्थिक क्रियाओं से दूर रहती हैं। उनका गृह स्वामिनी का ही कार्य मुख्य कार्य तथा घर की चहारदीवारी ही उनका आदर्श स्थान समझा जाता है।

सन् १९५१ की जनगणना के अनुसार हमारे देश की कुल जनसंख्या ३,५६६ लाख थी जिसमें से १,८३२ लाख अर्थात् ५१.४ प्रतिशत पुरुष और १,७३४ लाख अर्थात् ४८.६ प्रतिशत स्त्रियां थीं। भारत में एक हजार पुरुषों के पीछे ९४७ स्त्रियां हैं। परन्तु भारत के कुछ प्रदेश ऐसे हैं जहाँ स्त्रियों की संख्या पुरुषों से अधिक है, जैसा निम्न तालिका से स्पष्ट है —

राज्य	स्त्रियों की संख्या (प्रति हजार पुरुष)
करल	१,००८
मध्य प्रदेश	१,०१७
मणीपुर	१,०३६
उड़ीसा	१,०४०
मद्रास	१,०५४
कच्छ	१,०७९

उपरोक्त तालिका में दिये गये भारत के कुछ इने गिने ही ऐसे प्रदेश हैं जहाँ स्त्रियों की संख्या पुरुषों से अधिक है परन्तु देश की सामान्य स्थिति इससे भिन्न है। साधारणतया हमारे देश में पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों की संख्या कम है। इसका मुख्य कारण स्त्रियों में पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों की मृत्यु दर अधिक होना है। यद्यपि बाल्यावस्था में स्त्रियों की अपेक्षा पुरुषों में अधिक मृत्यु होती है फिर भी शिशु उत्पन्न करने वाली आयु (child bearing age) अर्थात् १५ से ४५ वर्ष की आयु में स्त्रियों की अधिक संख्या में मृत्यु होती है। यही कारण है कि हमारे देश में स्त्रियों की जनसंख्या में निरन्तर ह्रास होता रहता है। इसके अतिरिक्त स्त्रियों की अधिक मृत्यु होने के कई

सामाजिक एवं आर्थिक कारण भी हैं। हमारे देश की अधिकांश जनता ग्रामीण क्षेत्रों में निवास करती है जहाँ अधिकांश स्त्रियाँ व पुरुष अशिक्षित होते हैं। उनका दृष्टिकोण सीमित होता है। पर्दे की प्रथा एवं अस्वच्छ वातावरण में अधिक परिश्रम व पौष्टिक भोजन मिलने के फलस्वरूप स्त्रियाँ अस्वस्थ हो जाती हैं और वे अनेक प्रकार के रोगों से ग्रस्त रहती हैं, जैसे प्रदर, ज्वर, क्षयरोग इत्यादि जिनके कारण स्त्रियों की अधिक मृत्यु होती है।

देश की जनसंख्या में स्त्री पुरुष का अनुपात असन्तुलित होने के परिणामस्वरूप तथा नागरीकरण एवं औद्योगीकरण की निरन्तर प्रगति के कारण जब बड़े-बड़े नगरों एवं शहरों की संख्या में बराबर वृद्धि होती जाती है और अधिक मात्रा में ग्रामीण क्षेत्रों के लोग औद्योगिक केन्द्रों में आकर बसने लगे हैं जिससे एक नई समस्या उत्पन्न हो जाती है। बड़े विशाल नगरों में आवास की पर्याप्त सुविधा न होने के कारण श्रमिक अपने परिवार को गाँवों ही में छोड़ आते हैं, इससे स्त्री पुरुष अनुपात में अन्तर (disparity in sexes) उत्पन्न हो जाता है जो अनेक असामाजिक एवं अनैतिक क्रियाओं को जन्म देता है, जो देश की जन शक्ति एवं जन स्वास्थ्य के लिए अत्यन्त हानिप्रद है।

आयु-वर्ग (Age Structure)

महत्व—किसी देश की जनसंख्या का अनुमान लगाते समय प्रत्येक व्यक्ति की आयु की भी जानकारी कर ली जाती है जिससे सम्पूर्ण जनसंख्या को विभिन्न आयु, समूहों में विभक्त करने में सरलता होती है। देश का आयु वर्ग (age structure) उस देश के आर्थिक जीवन को भली प्रकार समझने के लिए अत्यन्त महत्वपूर्ण है। जनसंख्या के विभिन्न आयु समूहों के विभाजन से हमें इस बात का ज्ञान हो जाता है कि देश में कार्यशील जनसंख्या (working population) कितनी है। जिसकी जानकारी राष्ट्र की आर्थिक योजना के निर्माण के लिए अत्यन्त उपयोगी होती है। सन् १९५१ की जनगणना के अनुसार हम भारत की कुल जनसंख्या को विभिन्न आयु समूहों में इस प्रकार विभक्त कर सकते हैं :—

वर्गीकरण	आयु वर्ग	कुल जनसंख्या का प्रतिशत भाग
शिशु व बालक	०—४	१३.५
लड़के व लड़कियाँ	५—१४	२४.८
युवक व युवतियाँ	१५—२४	१७.४
	२५—३४	१५.६
प्रौढ़ पुरुष व स्त्रियाँ	३५—४४	११.९
	४५—५४	८.५
वृद्ध पुरुष व स्त्रियाँ	५५—६४	५.१
	६५—७४	२.२
	७५ से ऊपर	१.०
	कुल योग	१००

जैसा कि उपरोक्त तालिका से स्पष्ट है कि भारत में १४ वर्ष की आयु तक के बच्चों की जनसंख्या कुल जनसंख्या का ३८.३ प्रतिशत है। इस आयु समूह में संयुक्त राज्य अमेरिका की जनसंख्या का केवल २७.१ प्रतिशत भाग आता है। इससे हमें इस बात का ज्ञान होता है कि हमारे देश में संयुक्त राज्य अमेरिका की अपेक्षा शिशुओं तथा बालकों की संख्या अधिक है जो इस बात का द्योतक है कि हमारे देश में जन्म दर काफी ऊँची है। उपरोक्त तालिका से हमें यह भी पता चलता है कि हमारे देश की कार्यव्यस्त जनसंख्या क्या है। साधारण तौर पर १५ से ५५ वर्ष की आयु के व्यक्तियों से अपनी जीविका स्वयं कमाने की आशा की जाती है जिसके अन्तर्गत हमारे देश की जनसंख्या का ५३.४ भाग आता है। ५५ वर्ष की आयु के पश्चात् वृद्धावस्था प्रारम्भ हो जाती है। अर्थात् इस या इससे अधिक अवस्था वाले लोग भी अपनी जीविका के लिए दूसरों पर ही निर्भर होते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि हमारे देश की ५३.४ प्रतिशत जनसंख्या जो कि कार्यशील जनसंख्या कही जा सकती है इसको अपने ऊपर आश्रित देश की कुल जनसंख्या के अन्य ४६.६ प्रतिशत भाग के लिए भी जीविका कमानी पड़ती है। इस प्रकार देश की आर्थिक समृद्धि के लिए यह आवश्यक है कि उसकी जनसंख्या का अधिक से अधिक भाग आर्थिक कार्य में व्यस्त होने के योग्य हो। देश की कार्यव्यस्त जनसंख्या जितनी अधिक होगी उतनी ही राष्ट्रीय आय में वृद्धि होगी। आयु वर्ग की उपरोक्त तालिका से एक और महत्वपूर्ण तथ्य का ज्ञान होता है। देश की जनसंख्या का कुल ८.३ प्रतिशत भाग ऐसा है जिसमें ५५ वर्ष से अधिक आयु वाले व्यक्ति सम्मिलित हैं। यह सर्वविदित है कि आयु के साथ साथ किसी व्यक्ति में

ज्ञान की वृद्धि होती है। अतः उनके संचित ज्ञान एवं अनुभव से राष्ट्र को अनेक प्रकार से लाभ पहुँचता है। वास्तव में देश के पथ-प्रदर्शन के लिए ऐसे ही अनुभवी तथा बुद्धिमान व्यक्तियों की आवश्यकता है। निम्न तालिका से विदित होगा कि हमारे देश में अन्य देशों की तुलना में ऐसी आयु वाले लोगों की संख्या बहुत कम है :—

राष्ट्रों के नाम	५५ वर्ष से अधिक आयु वाले (कुल जनसंख्या का प्रतिशत भाग)
भारतवर्ष	८·३
जर्मनी	१९·१
यूनाइटेड किंगडम	२१·१
फ्रान्स	२१·४
उत्तरी अमेरिका	१६·६
जापान	११·०
इटली	१२·०

उपरोक्त तालिका से यह बिलकुल स्पष्ट है कि योरोप के कुछ ऐसे राष्ट्र हैं जहाँ ५५ वर्ष से अधिक आयु वाले व्यक्तियों की संख्या भारत की तुलना में काफी अधिक है जिसके कारण वहाँ अधिक समय तक अनुभवशील एवं बुद्धिमान व्यक्ति अपने राष्ट्र की सेवा तथा उसके पथ-प्रदर्शन में समर्थ होते हैं। भारतवर्ष में इस आयु-वर्ग में कुल जनसंख्या का केवल ८·३ प्रतिशत भाग हमारी निर्बलता का द्योतक है।

जीवन की आशा या अवधि (Expectation of Life)—किसी देश में जन्म लेने वाले बच्चों के जीवित रहने की आशा कितने समय तक की जा सकती है इससे हमें उस देश के जन साधारण के स्वास्थ्य का ज्ञान होता है। अन्य देशों की तुलना में हमारे देश में जीवन की अवधि बहुत कम है। सन् १९३१ की जनगणना के अनुसार एक भारतवासी की आयु केवल २७ वर्ष थी जो १९३१ से ४१ के बीच घट कर केवल २३ वर्ष थी। १९४१ से ५१ के जीवन की अवधि बढ़कर ३२ वर्ष तक पहुँच गई। निम्नतालिका से विदित होगा कि संसार के अन्य राष्ट्रों की तुलना में भारतवर्ष की जीवन अवधि बहुत कम है :—

राष्ट्र	औसत आयु (वर्ष)
नार्वे	६९
यूनाइटेड किंगडम	६८
यू० एस० ए० (अमेरिका)	६७
न्यूजीलैंड	६७
भारत	३२

जन्म तथा मृत्यु-दर (Birth and Death Rate)

निम्न तालिका* में भारतवर्ष की जन्म तथा मृत्यु दर का अन्य देशों से तुलनात्मक अध्ययन करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि भारत जन्म तथा मृत्यु की दृष्टि से संसार के अनेक बड़े देशों से आगे बढ़ा हुआ है।

देश	जन्म दर (प्रति हजार)	मृत्यु दर (प्रति हजार)
भारत	३०·५	११·७
जापान	२०·१	८·२
कनाडा	२८·७	८·२
न्यूजीलैंड	२५·८	९·०
संयुक्त राज्य अमरिका	२४·६	९·२
यू० के०	१५·६	११·४
फ्रान्स	१८·८	१२·०
इटली	१७·६	९·२

भारत में जन्म दर अधिक होने के कारण

जैसा कि उपरोक्त तालिका से विदित होगा हमारे देश में अन्य देशों की तुलना में जन्म दर अधिक है जिसके निम्न कारण हैं :—

(१) बाल विवाह—भारत में जन्म दर अधिक होने का उत्तरदायित्व बहुत कुछ उसकी बाल विवाह जैसी प्राचीन प्रथा पर है जिसके फलस्वरूप छोटी आयु में ही बच्चों का पैदा होना शुरू हो जाता है।

(२) धार्मिक विचार—भारत जैसे धर्म प्रधान देश में बच्चों का जन्म एक धार्मिक महत्व रखता है। पिता की मृत्यु के बाद उसकी आत्मा को शान्ति देने के लिए उनका क्रिया कर्म पुत्र द्वारा होना आवश्यक है। इसी कारण धार्मिक दृष्टि से बच्चे पैदा करना आवश्यक है।

(३) सामाजिक आवश्यकता—बालक का जन्म सामाजिक दृष्टि से भी आवश्यक हो जाता है। भारतवर्ष में उन स्त्रियों को घृणा की दृष्टि से देखा जाता है जो सन्तानरहित होती हैं। इस प्रकार प्रत्येक दम्पत्ति को इसकी तीव्र इच्छा होती है कि उसके कुछ बच्चे हों जिससे उन्हें सामाजिक प्रतिष्ठा प्राप्त हो जाये।

(४) सन्तति नियोजन (Family Planning) के ज्ञान का अभाव—हमारे देश में सन्तति नियोजन का महत्व केवल कुछ इने गिने शिक्षित व्यक्तियों में

*United Nation's *Statistical Year Book*, 1956

(२) माताओं का अस्वास्थ्य वर्धक भोजन—देश की अधिकांश जनता निर्धन है जिसके कारण यह सम्भव नहीं कि माताओं को स्वास्थ्यवर्धक भोजन उपलब्ध हो सके, यहां तक कि गर्भिणी होने के समय देश की अधिकांश स्त्रियों को आवश्यक स्वास्थ्यवर्धक एवं पौष्टिक भोजन दिया जा सके। इससे उनके स्वास्थ्य पर तो बुरा प्रभाव पड़ता ही है साथ ही उनके बच्चे भी दुर्बल एवं कमजोर होते हैं जो विभिन्न बीमारियों का सामना करने में असमर्थ होते हैं।

(३) अस्वच्छता—देश की अधिकांश जनता गन्दे तथा अस्वच्छ वातावरण में अधिकांश जीवन निर्वाह करती है। अपने दैनिक जीवन में भी हमारी ग्रामीण जनता सफाई की ओर ध्यान नहीं देती जिससे अनेक बीमारियों का जन्म होता है और प्रायः महामारी एवं अनेक भीषण बीमारियों के कारण हजारों शिशुओं की अकाल मृत्यु हो जाती है।

(४) प्रजनन सम्बन्धी सुविधाओं का अभाव—हमारे देश में ऐसे अस्पतालों की बहुत कमी है जहां जन साधारण को प्रजनन सम्बन्धी विभिन्न सुविधाएँ प्राप्त हो सकें तथा जच्चा बच्चा की उचित देखभाल हो सके। ग्रामीण क्षेत्रों में प्रजनन के समय प्रायः अशिक्षित एवं अकुशल दाइयां ही उपलब्ध होती हैं जिसके कारण अत्यधिक शिशु-मृत्यु दर होना स्वाभाविक ही है।

(५) चिकित्सा सम्बन्धी सुविधाओं की कमी—देश की अधिकांश जनता ग्रामों में निवास करती है जहां बीमारियों के फैलने पर चिकित्सा का कोई प्रबन्ध नहीं होता और भारी संख्या में बच्चे मौत का शिकार हो जाते हैं।

स्त्री मृत्यु दर—देश में अत्यधिक स्त्री मृत्यु दर के विभिन्न कारण हैं। इस सम्बन्ध में यह बात जानने योग्य है कि हमारे देश में १५ से ४५ वर्ष की आयु ऐसी है जिस काल में स्त्रियां बच्चों को जन्म देती हैं। दुर्भाग्य से यही आयु ऐसी है जिसमें सबसे अधिक स्त्रियां मर जाती हैं जो इस बात का संकेत है कि हमारे देश में प्रसूत-काल ही स्त्रियों के लिए सबसे घातक एवं जोखिम का समय होता है। स्त्री मृत्यु दर के प्रमुख कारण निम्नलिखित हैं :—

(१) छोटी आयु में विवाह हो जाना—जन्म के सम्बन्ध में अपर्याप्त विचार होने के कारण कानूनन अवैध होने पर भी बाल विवाह की प्रथा भारत में बहुत हद तक प्रचलित है। छोटी उम्र में विवाह होने के फलस्वरूप लड़कियाँ अपरिपक्व अवस्था में ही *माता बन जाती हैं और प्रसूत समय की कठिनाइयां सहन नहीं कर पाती हैं।*

(२) जल्दी जल्दी बच्चे पैदा होना—हमारे देश में अधिकांश स्त्रियों के बच्चे जल्दी जल्दी पैदा होते हैं। बच्चों के जन्म सम्बन्धी अपर्याप्त अन्तर होने के कारण माताओं का स्वास्थ्य बिगड़ जाता है और अनेक बीमारियों में ग्रस्त हो जाने के कारण शीघ्र ही मृत्यु हो जाती है।

(३) प्रजनन सम्बन्धी सुविधाओं का अभाव—जैसा कि ऊपर देख चुके हैं भारत में प्रजनन सम्बन्धी सुविधाओं की कमी भी स्त्री मृत्यु दर अधिक होने का एक महत्वपूर्ण कारण है।

(४) सामाजिक रीति रिवाज—भारत में विभिन्न सामाजिक कुप्रथाओं के कारण भी स्त्रियों का स्वास्थ्य खराब हो जाता है, जैसे स्त्री शिक्षा के प्रति अरुचि, पर्दा प्रथा आदि।

समस्या के हल के हेतु सुझाव—भारत में अत्यधिक शिशु एवं स्त्री मृत्यु दर होने के कारण इस ओर आवश्यक कदम उठाना अत्यन्त आवश्यक हो जाता है। इस गंभीर समस्या को हल करने के लिए सबसे बड़ी आवश्यकता इस बात की है कि माताओं को कम से कम उनके गर्भकाल में एवं शिशु जन्म के कुछ समय पश्चात् तक स्वास्थ्यवर्धक एवं पौष्टिक भोजन दिया जाये। प्रसूत सम्बन्धी आवश्यक सुविधाएँ प्राप्त हों, चिकित्सा का उचित प्रबन्ध हो तथा बाल विवाह एवं अन्य सामाजिक कुरीतियों को दूर करने के लिए उनमें आवश्यक शिक्षा का प्रसार होना चाहिए।

जनसंख्या का व्यावसायिक वितरण (Occupational Distribution of Population)

महत्व—किसी देश का आर्थिक जीवन उस देश की जनसंख्या के पेशेवर वितरण द्वारा निर्धारित होता है। देश की जनसंख्या के पेशेवर वितरण से इस बात का ज्ञान होता है कि उस देश की कितनी जनसंख्या किन किन आर्थिक क्रियाओं तथा उद्योगों में व्यस्त है। ऐसी जानकारी के फलस्वरूप ही संसार के विभिन्न राष्ट्रों में से कुछ को औद्योगिक राष्ट्र तथा कुछ देशों को कृषि प्रधान देश कहना सम्भव होता है।

सन् १९५१ की जनगणना के अनुसार भारतवर्ष में विभिन्न उद्योगों तथा पेशों में लगे हुए व्यक्तियों की संख्या निम्न तालिका में दिखाई गई है —

पेशा	आश्रित जनसंख्या (लाखों में)	कुल जनसंख्या का प्रतिशत
कृषि	२४९०	६९.८
अन्य प्रकार के उद्योगों में (कृषि को छोड़ कर)	३७७	१०.५
व्यापार	२१३	६.०
यातायात	५६	१.६
अन्य	४३०	१२.१
कुल योग	३५६६*	१००.०

*उपरोक्त तालिका में कुल जनसंख्या ३५६६ लाख में केवल ३५६६ लाख

जनसंख्या के व्यावसायिक वितरण का देश के आर्थिक जीवन पर प्रभाव—उपरोक्त तालिका से स्पष्ट है कि भारतवर्ष की जनसंख्या का अधिकांश भाग खेती पर निर्भर है। इसी कारण भारत एक कृषि प्रधान देश है। उद्योग तथा अन्य पेशों में लगे हुए लोगों की संख्या कम होने के कारण हमारी आर्थिक योजनाओं में खेती के विकास पर विशेष महत्व दिया गया है। यही कारण है कि हमारी प्रथम पंच वर्षीय योजना (First Five Year Plan) एक कृषि योजना थी। द्वितीय पंच वर्षीय योजना की भी सफलता कृषि के विकास पर निर्भर करती है। एक और महत्वपूर्ण बात जो देश की जनसंख्या का पेशावार वितरण को प्रदर्शित करने वाली उपरोक्त तालिका से स्पष्ट है वह यह कि हमारा देश औद्योगिक क्षेत्र में काफी पिछड़ा हुआ है तथा भारतीय आर्थिक जीवन बहुत हद तक असन्तुलित अवस्था में है जो उसके मन्द गति से आर्थिक विकास का एक मुख्य कारण है अत्यधिक कृषि पर निर्भर होना जिससे देश की राष्ट्रीय आय में भी बराबर परिवर्तन होता रहता है जिससे राज्य की आय निरन्तर घटती बढ़ती रहती है। किसी लेखक ने ठीक ही कहा है कि "भारतीय बजट मानसून में एक जुआ है।" (Indian budget is a gamble in monsoons). कारण यह है कि जिस वर्ष देश में फसल अच्छी होती है उस साल अर्थव्यवस्था सुदृढ़ हो जाती है, कृषकों की अवस्था सुधर जाती है, राजकीय आय में वृद्धि होती है तथा देश के आर्थिक विकास की विभिन्न योजनाओं के लिए पर्याप्त आवश्यक धन उपलब्ध हो जाता है परन्तु यदि वर्षा या अन्य किसी प्राकृतिक कारण के फलस्वरूप दुर्भाग्य से यदि किसी वर्ष फसल अच्छी न हो तो देश की समस्त अर्थव्यवस्था बिगड़ जाती है और आर्थिक जीवन अस्त व्यस्त हो जाता है। यही नहीं अत्यधिक जनसंख्या के खेती में लगे होने के कारण भूमि पर अधिक दबाव हो जाता है जो कृषि अर्थव्यवस्था में अनेक दोष उत्पन्न कर देता है, जैसे खेतों का छोटे छोटे टुकड़ों में विभक्त हो जाना जिससे खेती की उपज बहुत कम हो जाती है।

नागरीकरण की समस्या (Problem of Urbanization)—जनसंख्या की वृद्धि के साथ भारतवर्ष में नागरीकरण की समस्या भी जटिल होती जा रही है। जैसा कि बताया जा चुका है सन् १९५१ की जनगणना के अनुसार कुल जनसंख्या का केवल ६.१६ करोड़ अर्थात् १७.३ प्रतिशत भाग शहरों तथा नगरों में रहता है और शेष ग्रामों में। संसार के अन्य देशों में स्थिति ऐसी नहीं है। उदाहरण के लिए फ्रान्स में लगभग ५२ प्रतिशत तथा इङ्गलैंड में ८० प्रतिशत भाग तक नागरिक जनसंख्या कही जा सकती है। भारतवर्ष में नगरों तथा ग्रामों में जनसंख्या के वितरण का रूप सदा

के सम्बन्ध में ही पेशेवर वितरण सम्बन्धी आंकड़े प्राप्त है। शेष ३ लाख व्यक्तियों के सम्बन्ध में जानकारी प्राप्त नहीं है।

ऐसा ही नहीं रहा है। कुछ समय पूर्व तक स्थिति पूर्णतया भिन्न थी। परन्तु समय की गति के साथ साथ नागरीकरण में वृद्धि होती गई जिसके प्रमुख कारण ये हैं ;—

(१) भूमि पर जनसंख्या के निरन्तर बढ़ते भार के कारण ग्रामीण निवासियों को जीविकोपार्जन के अन्य साधनों की खोज करना आवश्यक हो गया और वे नगरों तथा शहरों में अधिक मात्रा में जा कर बसने लगे।

(२) औद्योगीकरण तथा मशीन के आगमन से नव-युग का प्रारम्भ हुआ और रोजगार के अनेक क्षेत्र नगरों में उपलब्ध होने लगे।

(३) नागरिक जीवन के प्रति अधिक आकर्षण होने का एक और कारण वहाँ अनेक सुख सुविधाओं का उपलब्ध होना है जो प्राय: ग्रामीण जीवन में प्राप्त नहीं हो पाता।

(४) जमींदारी उन्मूलन के पश्चात् बड़े बड़े जमींदार कुटुम्बों का ग्रामों से नगरों तथा कस्बों की ओर बढ़ना स्वाभाविक ही था।

(५) देश के विभाजन ने भी नागरीकरण में योग दिया और व्यापार तथा वाणिज्य में अधिक रुचि होने के कारण विस्थापितों ने अपने जीविकोपार्जन के लिए नगरों में ही रहना उचित समझा।

उपरोक्त कारणों के फलस्वरूप इधर कुछ वर्षों से देश की नागरिक जनसंख्या में निरन्तर वृद्धि होती जा रही है जैसा कि निम्न तालिका से स्पष्ट है :—

वर्ष	कुल जनसंख्या की	
	ग्रामीण जनसंख्या	नागरिक जनसंख्या
१६२१	८८·७ प्रतिशत	११·२ प्रतिशत
१६३१	८७·६ "	१२·१ "
१६४१	८६·१ "	१३·६ "
१६५१	८२·७ "	१७·३ "

उपरोक्त तालिका से यह स्पष्ट है कि पिछले ३० वर्षों में नगरों की जनसंख्या में ६·१ प्रतिशत की वृद्धि हुई है। यही नहीं, देश में बड़े-बड़े शहरों और नगरों में लोग छोटे-छोटे नगरों की अपेक्षा रहना अधिक पसन्द करते हैं जैसा कि अगले पृष्ठ पर दी गई तालिका से स्पष्ट है :—*

* *Indian Economic Year Book*, p. 5.

जनसंख्या	नागरिक जनसंख्या का प्रतिशत भाग
१,००,००० तथा इससे अधिक जनसंख्या वाले शहरों में	३८.१ प्रतिशत
५०,००० से १,००,००० जनसंख्या वाले	३०.१ ,,
५,००० से २०,००० जनसंख्या वाले	२८.५ ,,
५,०० से कम जनसंख्या वाले	३.३ ,,

नागरीकरण का महत्व—इसके पूर्व कि हम यह देखें कि नागरीकरण का हमारे आर्थिक एवं सामाजिक जीवन पर क्या प्रभाव पड़ता है यह जान लेना अधिक उपयोगी होगा कि नागरीकरण का क्या महत्व है तथा किसी देश की जनसंख्या का ग्रामीण तथा नागरिक क्षेत्रों में विभाजन से उस देश के राष्ट्रीय जीवन के किन तथ्यों का आभास होता है।

(१) नागरीकरण से किसी देश के राष्ट्रीय चरित्र (National Character) का ज्ञान होता है—नगर तथा ग्राम निवासियों के चरित्र में अन्तर होता है। जहाँ एक ओर ग्रामीण क्षेत्रों में कृषि में व्यस्त निवासियों की प्रशंसा में प्रसिद्ध विचारक केटो (Cato) ने कहा है, 'The agricultural population produces the bravest men, the most valiant soldiers and a class of citizens the least given of all to evil designs' वहां उनके सम्बन्ध में यह भी प्रसिद्ध है कि वे रूढ़िवादी विचारधारा के तथा नवीन एवं उन्नतिशील विचारों के प्रति अरुचि रखने के कारण आर्थिक विकास की दौड़ में वे अपने नागरिक भाइयों की अपेक्षा प्रायः पीछे ही होते हैं जो उनके विपरीत विशाल दृष्टिकोण, उन्नतिशील विचार तथा अधिक साधन सम्पन्न होते हैं। इस दृष्टि से भारत के सम्बन्ध में, जहां अधिकांश जनसंख्या ग्रामीण है, हम यह सरलता से कह सकते हैं कि देश के आर्थिक विकास के लिए आवश्यक पृष्ठभूमि अभी अपर्याप्त एवं निर्बल है।

(२) नागरीकरण से किसी देश की आर्थिक स्थिति का ज्ञान होता है—यदि देश की जनसंख्या का अधिकांश भाग ग्रामीण है और शहर तथा नगरों में रहने वालों की संख्या बहुत कम है, तो हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि देश की अर्थव्यवस्था कृषि पर निर्भर है तथा औद्योगीकरण के क्षेत्र में देश अभी पिछड़ा हुआ है। इसी प्रकार यदि देश की अधिक जनसंख्या शहरों तथा नगरों में रहती हो, तो यह समझना चाहिए कि देशवासियों को आधुनिक जीवन की अनेक प्रगतिशील सेवाएं

जैसे रेल, ट्राम, बसों, डाक व तार, संचार साधन इत्यादि की आवश्यक सुविधायें प्राप्त हैं।

भारत में एक लाख या इससे अधिक जनसंख्या वाले शहरों की संख्या लगभग ७३ है, जहाँ पिछले कई वर्षों से निरन्तर चिन्ताजनक वृद्धि होती जा रही है। हम नीचे दी गई तालिका में ऐसे दस प्रमुख नगरों की जनसंख्या में पिछले पचास वर्षों में होने वाली प्रगति का चित्र प्रस्तुत करते हैं जिससे इस तथ्य का ज्ञान होगा कि *भारत में किस गति से नागरीकरण (urbanisation) हो रहा है।*

नगर	जनसंख्या में वृद्धि (लाखों में)		वृद्धि (लाखों में)
	१९०१	१९५१	
कलकत्ता	९·०	४५ ८	३६ ८
बम्बई	५·६	२८ ४	२२ ८
मद्रास	१·६	१४·२	१२·६
दिल्ली	२·३	१३ ८	११·५
हैदराबाद	०·२	१० ६	१०·७
अहमदाबाद	१·३	७ ६	६·६
बंगलोर	१·५	७·८	६·३
कानपुर	०·४	७·१	६·७
पूना	०·६	५ ६	५·०
लखनऊ	०·२	५·०	४ ८

नागरीकरण के प्रभाव (Effects of Urbanisation)—नागरीकरण का देश की अर्थव्यवस्था पर गहरा प्रभाव पड़ता है। किसी देश में नागरीकरण के प्रभाव के दो पक्ष होते हैं। अर्थात एक ओर जहाँ नागरीकरण द्वारा देश के आर्थिक एवं औद्योगिक विकास में सहायता मिलती है वहाँ दूसरी ओर नागरीकरण के अनेक दोष भी होते हैं।

नागरीकरण के लाभदायक प्रभाव (Beneficial Effects of Urbanisation)

(१) आर्थिक एवं औद्योगिक विकास—नागरीकरण देश की आर्थिक एवं औद्योगिक प्रगति में सहायक होता है। बड़े बड़े विशाल उद्योग धन्धों के लिए कुशल व परिश्रमी जनशक्ति की उपलब्धि के कारण देश का औद्योगिक विकास सरलता से हो जाता है।

(२) राष्ट्रीय आय मे वृद्धि—भूमि पर जनसख्या म वृद्धि से निरन्तर बढ़ते भार के कारण ग्रामीण क्षेत्रों के अतिरिक्त जनशक्ति (surplus man power) को नागरीकरण के फलस्वरूप उपयोगी रोजगार (gainful employment) प्राप्त होता है। इससे बेकार जनशक्ति का आर्थिक उपयोग (economic utilisation) होता है और राष्ट्रीय आय म वृद्धि होती है।

(३) देश की सामाजिक एव राजनैतिक प्रगति होती है—नगरा में जन सख्या म वृद्धि से प्रगतिशील विचारा क सचार म सहायता होती है शिक्षित एव विक सित दृष्टिकोण वाले व्यक्ति जब ग्रामा म जाते हैं तो वहाँ वे एक नई चेतना व जागृति म सहायक होते हैं। अपने राजनैतिक व सामाजिक अधिकारों एव कर्तव्यों से सुपरिचित व्यक्ति देश की प्रगति म सहायक होते हैं और अनेक प्रकार की सामाजिक कुरीतियों एव परम्पराओं के उन्मूलन में सफलता होती है जैसे जाति प्रथा, पर्दा प्रथा, बाल विवाह, अस्पृश्यता आदि।

नागरीकरण के हानिकारक प्रभाव (Adverse Effects of Urbanisation)

(१) देश का असन्तुलित विकास—नागरीकरण क कारण नगरों व शहरों म नइ नइ विशाल उद्योगों की स्थापना होती है। जहाँ अनेक व्यक्तियों को रोजगार मिलता है, जहा एक ओर शहरा व नगरा की आर्थिक प्रगति होती जाती है वहाँ ग्रामीण क्षेत्र उसी पिछड़ी अवस्था म पड़े रहते हैं जिससे देश के विभिन्न भागों का असन्तुलित विकास होता है।

(२) आवास की समस्या—नागरीकरण क कारण जब अधिकाश जनसख्या नगरों म प्रवास करने लगती है, तो इससे नगरा का विकासक्रम असन्तुलित हो जाता है और लोगों क रहने के लिए जगह बनाना एक समस्या हो जाती है। गन्दी बस्तियों (slums) तथा अस्वच्छता का जन्म होता है।

(३) धुआँ एव अस्वास्थ्यकर वातावरण—नागरीकरण का जनसाधारण के स्वास्थ्य पर भी हानिकारक प्रभाव पड़ता है। हर ओर धुआ, गन्दगी एव यातायात की रुकावट (traffic congestion) जैसी अनेक समस्याओं क कारण व्यक्तियों क सामान्य जीवन प्रवाह म बाधा पहुँचती है।

समस्या के हल या सुझाव (Suggestions and Remedies)—उप रोक्त विवेचन से स्पष्ट है कि नागरीकरण क दोष भी हैं और गुण भी। इस कारण हम नागरीकरण को समाप्त करने क पक्ष म नहा हैं। परन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि हम इस दिशा म पश्चिमी राष्ट्रा का अन्धानुसरण करते चले जायें जहा कुछ इने गिने विशाल नगरों म देश की जनसख्या का अधिकाश भाग निवास करता है। हमारे

देश में कुछ बड़े-बड़े नगरों की जनसंख्या में पिछले पचास वर्षों में बड़ी वृद्धि हुई है जिससे नागरीकरण पर प्रतिबन्ध लगाना आवश्यक हो गया। इसलिए हमारे देश में समस्या यह है कि हम अपने नगरों के विकास के लिए सुनिश्चित योजना बनायें जिससे नगरों तथा शहरों का नियोजित विकास (planned growth) हो तथा नागरिकों के लिए पर्याप्त सुख सुविधायें प्राप्त हों। देश की समुचित आर्थिक प्रगति के लिए यही आवश्यक नहीं कि केवल नगरों का विकास हो वरन् ग्रामीण क्षेत्रों में भी नये-नये उद्योग-धन्धे प्रतिस्थापित किये जायें जिससे ग्रामीण क्षेत्रों का भी विकास होता जाये। तभी राष्ट्र की समृद्धि सम्भव हो सकेगी।

भारत की जनसंख्या की प्रगति

(Increase in India's Population)

जैसा सर्वविदित है कि भारत संसार के अत्यधिक जनसंख्या वाले देशों में से एक है। यही नहीं, पिछले कई वर्षों से भारत की जनसंख्या में निरन्तर वृद्धि होती जा रही है जैसा कि हम आगे देखेंगे। भारत की जनसंख्या की यह प्रगति आर्थिक नियोजकों के लिए घोर चिन्ता का विषय बनी हुई है। निम्न तालिका भारत की जनसंख्या की (१८९१ से १९५८ तक की) प्रगति का चित्र प्रस्तुत करती है:—

भारत की जनसंख्या की प्रगति (१८९१ से १९५८)

वर्ष	जनसंख्या (लाखों में)	प्रगति (लाखों में)	प्रगति (प्रतिशत में)
१८९१	२,३५९	—	—
१९०१	२,३५५	—४	—१·३
१९११	२,४९०	+१३५	+५·८
१९२१	२,४८१	—९	—०·३५
१९३१	२,६५५	+२७५	+११·०
१९४१	३,१२८	+२७३	+१४·३
१९५१	३,५६९	+४४१	+१३·३
१९५८ (अनुमानित)	३,९७५	+४०६	+९·५

भारत की जनसंख्या में अत्यधिक वृद्धि के कारण

(१) बाल विवाह—बाल विवाह जैसी सामाजिक कुरीति जिसके फलस्वरूप छोटी आयु में विवाह हो जाने से देश की जनसंख्या में निरन्तर वृद्धि होती रहती है।

(२) भारत में अनेक धार्मिक एवं सामाजिक विचार बालक के जन्म को प्रोत्साहन देने का कार्य करते हैं जैसे पिता के लिए कन्या-दान देना तथा उसकी मृत्यु

के पश्चात् अन्तिम दाह संस्कार का पुत्र द्वारा सम्पन्न होना उसकी आत्मा की शान्ति के लिए अनिवार्य है।

(३) देशवासियों की निर्धनता तथा उसका जीवन स्तर अत्यधिक निम्न होना भी जनसख्या म वृद्धि का कारण है।

(४) बहुधा यह देखा गया है कि अधिक निर्धन परिवारों मे अधिक बच्चे पैदा होते हैं। भारत एक ऐसा देश है जहाँ सामाजिक विचारों का बोलबाला है। प्रत्येक स्त्री पुरुष के लिए विवाह अनिवार्य समझा जाता है, जो जनसख्या वृद्धि का एक प्रमुख कारण है।

(५) अशिक्षित एव निरक्षर होने के कारण अधिकांश भारतवासी उच्च जीवन स्तर को विशेष महत्व नहीं देते हैं। अत बालक के जन्म को वह भगवान की देन समझते हैं। ऐसी प्रवृत्ति भी जनसख्या की वृद्धि म सहायता देती है।

(६) सयुक्त कुटुम्ब प्रणाली—इसके कारण बच्चों के पालन पोषण की समस्या तथा उसका उत्तरदायित्व दम्पति पर न पड़ने के कारण बालक के जन्म में कोई बाधा नहीं पहुचती और जनसख्या मे निरन्तर वृद्धि होती रहती है।

(७) आर्थिक दृष्टि—इससे भी बच्चों का अधिक पैदा होना उचित समझा जाता है। परिवार की आय कम होने के फलस्वरूप पिता छोटी आयु में ही अपने बच्चों को किसी कार्य म लगा देता है जिससे आय में वृद्धि हो। इस कारण वे अधिक बच्चे उत्पन्न करने के पक्ष म हैं।

(८) देश म परिवार नियोजन का कार्य मन्द गति से होने के कारण जनसख्या वृद्धि बिना रोक टोक हुआ करती है।

जनसख्या वृद्धि का प्रभाव (Effects of Increase in Population)

लाभदायक प्रभाव (Beneficial Effects)

(१) **देश की जनशक्ति में विभिन्नता (Diversity in Man power)**—देश की जनसख्या की वृद्धि मानव शक्ति का एक प्रमुख स्रोत है इससे देश की विभिन्न आर्थिक क्रियाओं (economic activities) के लिए विभिन्न प्रकार की आवश्यक मानवी शक्ति उपलब्ध होती रहती है।

(२) **औद्योगिक विकास (Industrial Progress)**—देश का आर्थिक एव औद्योगिक विकास एव राष्ट्रीय आय की निरन्तर वृद्धि के लिए कुशल जनशक्ति एक आवश्यक तथ्य है।

(३) **नागरीकरण (Urbanisation)**—जनसख्या की निरन्तर वृद्धि से नागरीकरण मे सहायता होती है और बड़े बड़े विशाल औद्योगिक केन्द्रों में देश की जनशक्ति आकर्षित होती है।

हानिकारक प्रभाव (Bad Effects)

(१) भूमि पर दबाव (Pressure of Population on Land)—जनसंख्या के निरन्तर बढ़ते रहने से भूमि पर उसका भार बढ़ता रहता है जिससे कृषि की अनेक समस्याएँ उत्पन्न हो जाती हैं।

(२) अतिरेक जनशक्ति (Surplus Man-power)—आर्थिक विकास के अभाव में जनसंख्या की वृद्धि से सम्पूर्ण मानवी शक्ति का उपयोग नहीं हो पाता है, इस कारण देश में प्रायः अतिरेक जनशक्ति के आर्थिक उपयोग की समस्या बनी रहती है।

(३) बेकारी की समस्या (Problem of Unemployment)—जनसंख्या की वृद्धि से अविकसित राष्ट्रों में बेकारी की समस्या का जन्म होता है। इस कारण देश के लिए सर्वोच्च जनसंख्या से अधिक जनसंख्या की वृद्धि राष्ट्र के आर्थिक जीवन के लिए उपयोगी नहीं कही जा सकती।

(४) निर्धनता व जीवन का निम्न स्तर (Poverty and Low Level of Life)—जब देश में जनसंख्या की अत्यधिक वृद्धि हो जाने से बेकारी व बेरोजगारी की समस्या बढ़ने लगती है तो देश की अधिकांश जनता को गरीबी तथा निम्न जीवन-स्तर का सामना करना पड़ता है।

(५) बड़े-बड़े औद्योगिक केन्द्रों के दुष्परिणाम (Evils of Big Industrial Towns)—जनसंख्या की वृद्धि से अत्यधिक लोगों का शहरों की ओर प्रवास होने लगता है जिससे बड़े-बड़े औद्योगिक केन्द्र तथा विशाल नगरों के असन्तुलित विकास के फलस्वरूप अस्वच्छता, आवास का अभाव, यातायात की रुकावट (traffic congestion), धुँआ, गदी बस्तियों आदि की अनेक समस्याएँ उपस्थित हो जाती हैं।

भविष्य में जनसंख्या निर्धारण के तत्व (Factors determining the Future Population)

किसी देश की भविष्य में कितनी जनसंख्या होगी यह मुख्यतया निम्न बातों पर निर्भर है :—

(१) आवास (Immigration)—अर्थात् किसी निश्चित समय में देश के भीतर आकर बसने वालों की संख्या।

(२) प्रवास (Emigration)—अर्थात् किसी निश्चित समय में देश से बाहर जाकर बसने वालों की संख्या।

(३) पुनर्जन्म की दर (Rate of Reproduction)—अर्थात् जन्म दर तथा मृत्युदर में अन्तर।

भारत जैसे देश में जनसंख्या की वृद्धि केवल पुनर्उत्पत्ति की खालिस दर (net reproduction rate) पर निर्भर करती है क्योंकि यहाँ से प्रवास करने वालों की संख्या तथा देश में आकर बसने वालों की संख्या बहुत ही कम है जिसका देश की वृद्धि पर कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ता है।

भविष्य में जनसख्या वृद्धि के कारण—भारत ही क्या, ससार के समस्त राष्ट्रों में जनसख्या की निरन्तर वृद्धि हो रही है जिसके कारण विशेषज्ञों ने अनेक चिन्ता जनक विचार प्रस्तुत किये हैं, इनकी जानकारी अत्यन्त रुचिकर एव उपयोगी होगी।

1 'Double in forty years —डा० सी० पी० ब्लैकर (Dr C P Blacker), जो ब्रिटेन क स्वास्थ्य मन्त्रालय के सलाहकार हैं, के अनुसार यदि वर्तमान गति से ससार की जनसख्या की वृद्धि होती रही तो ४० वर्षों म ससार की जनसख्या दूनी हो जायगी।

2 Rise in population may cause water shortage"—सयुक्त राष्ट्र क अन्तर्राष्ट्रीय मालरोप के अधिकारी सर हरबर्ट ब्राड्ले (Sir Herbert Broadley) के अनुसार ससार की जनसख्या में निरन्तर वृद्धि होने से ससार के बड़े बड़े नगरों में जल की कमी उत्पन्न हो सकती है।

ससार मे जनसख्या की प्रगति (Growth of World Population) लगभग पिछले २०० वर्षों में ससार की जनसख्या में जिस गति से प्रगति हुई है उसे निम्न तालिका में प्रदर्शित किया गया है —

वर्ष	जनसख्या (करोड़ों में)
१७५०	७२ ८
१८००	९० ६
१८५०	११७ १
१९००	१६० १
१९४०	२१७ १
१९५०	२४० १

भारत की जनसख्या की मुख्य विशेषताएँ (Principal Characteristics of Population)—भारत की जनसख्या क सांख्यकीय अध्ययन क पश्चात् हम देश की जनसख्या क कुछ प्रमुख विशेषताओं पर प्रकाश डालेंगे। भारत की जनसख्या की निम्न विशेषताएँ उसकी आर्थिक दशा पर गहरा प्रभाव डालती हैं तथा इन्हीं कारणों से भारत की समस्या अन्य देशों की जनसख्या की समस्या से भिन्न है।

(१) **तीव्र गति से बढती हुई जनसख्या** (Progressively increasing Population)—जिस गति से भारत म जनसख्या की वृद्धि हो रही है वह भारत की जनसख्या की सबसे बड़ी विशेषता है। १९५१ की जनगणना के अनुसार भारत की जन सख्या लगभग ३६ करोड थी परन्तु १९६१ तक यह सख्या बढ़कर लगभग ४१ करोड़

होने का अनुमान है जो १६७१ में तथा १६८१ में क्रमशः ४६ तथा ५२ करोड़ तक पहुँच सकती है।

(२) भारतीय जनसंख्या संख्यात्मक दृष्टि से विशाल परन्तु गुणात्मक दृष्टि से निर्धन है (Indian population is quantitatively great but qualitatively poor)—वैसे तो भारत का जनसंख्या के आकार की दृष्टि से ससार में दूसरा स्थान है परन्तु स्वास्थ्य तथा शक्ति की दृष्टि से निम्नतम है जिससे देश में जन्म दर, शिशु मृत्यु-दर तथा मातृ-मृत्यु-दर का बहुत ऊँचा होना तथा भारतीयों की जीवन अवधि का बहुत कम होना है।

(३) अति ग्रामीण जनसंख्या (Predominantly Rural Population)—भारत की जनसख्या की एक प्रमुख विशेषता यह है कि देश का अधिकाश भाग ग्रामीण क्षेत्रों में निवास करता है। १६५१ की जनगणना के अनुसार कुल जनसख्या का ८२·७ प्रतिशत भाग ग्रामों में तथा १७·३ प्रतिशत भाग नगरों में रहता है।

(४) अत्यधिक कृषि पर आश्रित जनसंख्या (Population mainly depending upon Agriculture,—देश की अधिकाश जनता अपने जीविकोपार्जन के लिए कृषि व्यवसाय में लगी हुई है यही कारण है कि भारत की अधिकाश जनता खेतिहर है।

(५) स्त्रियों की अपेक्षा पुरुष अधिक कार्यशील (Male Population more active than Female Population)—अनेक सामाजिक तथा धार्मिक रीति-रिवाज के कारण भारतवर्ष में स्त्रियाँ आर्थिक कार्यों में अधिक सक्रिय भाग नहीं ले पातीं, अतः देश के विभिन्न आर्थिक क्षेत्रों में भाग लेने का उत्तरदायित्व पुरुषों पर ही है।

(६) जनसंख्या के घनत्व में प्रादेशिक विभिन्नता (Regional Disparity in the Density of Population)—भारत मे विभिन्न प्रदेशों एव क्षेत्रों में जनसख्या का घनत्व एक-सा नहीं है। किन्तु कुछ भागों में आबादी इतनी घनी है कि जिसके कारण घनत्व में बहुत वृद्धि हो गई है, जैसे दिल्ली जहाँ घनत्व ३०१७ है इसके विपरीत राजस्थान प्रदेश में जनसख्या का घनत्व केवल ११६ है।

भारत में जनसख्या की समस्या

(Problem of Population in India)

भारत की जनसख्या के सम्बन्ध में मूलभूत तथ्यों का अध्ययन करने के पश्चात् इसकी जनसख्या की समस्या के वास्तविक रूप को समझने की भी अत्यन्त आवश्यकता है। ससार में जनसख्या की समस्या के विषय में एक बात बड़ी महत्वपूर्ण है कि प्रत्येक राज्य में जनसख्या की समस्या एक-सी नहीं है। हाँ, देश में उसकी जनसख्या की समस्या उसकी सामाजिक, राजनैतिक एव आर्थिक परिस्थितियों द्वारा निर्धारित होती है।

केवल जनसंख्या की वृद्धि (जैसा कि उपरोक्त तालिका से विदित है जिसमें संसार की जनसंख्या की प्रगति प्रदर्शित की गई है) ही समस्या का मूल कारण नहीं है। वास्तव में जनसंख्या की समस्या उसकी वृद्धि के साथ-साथ किसी देश की आर्थिक एवं औद्योगिक प्रगति से भी सम्बंधित होती है। इस दृष्टि से संसार के अनेक सुविकसित राष्ट्र ऐसे हैं जहाँ जनसंख्या की वास्तव में कोई समस्या ही नहीं और वे अपनी निरन्तर बढ़ती हुई आबादी के लिए पर्याप्त वस्त्र एवं भोजन उपलब्ध करने में पूर्णतया समर्थ हैं। यही नहीं, उन देशों में जनसंख्या की वृद्धि को प्रोत्साहन दिया जाता है, परन्तु हमारे देश में ऐसी स्थिति नहीं है।

भारतवर्ष में पिछले तीस-चालीस वर्षों में जनसंख्या में चिन्ताजनक वृद्धि हुई है और देश के पर्याप्त आर्थिक एवं औद्योगिक विकास के कारण बढ़ती हुई जनसंख्या के लिए आवश्यक सुविधायें न प्राप्त होने के कारण भारतवासियों का जीवन-स्तर बराबर गिरता जा रहा है। यही नहीं, जनसंख्या की वृद्धि से उनके प्रमुख आर्थिक व्यवसाय खेती में भी अनेक समस्यायें उत्पन्न हो गई हैं। जनसंख्या के बढ़ने से जब भूमि पर अत्यधिक भार पड़ता है तो देश की खेती योग्य जमीन अनार्थिक जोतों (uneconomic holdings) में बँट जाती है जिससे खेती के उत्पादन में वृद्धि नहीं होती। खेती के पिछड़े होने के कारण कृषि पर आश्रित अधिकांश जनसंख्या की आर्थिक दशा सुधरने नहीं पाती। भारत में कितनी जनसंख्या रह सकती है जिसका जीवन-स्तर विकसित राष्ट्रों की तुलना में भी काफी अच्छा हो ? यह राष्ट्र के सम्पूर्ण आर्थिक साधनों के कुशल शोषण पर निर्भर करता है। निःसन्देह भारतवर्ष अपने आर्थिक साधनों की दृष्टि से एक धनी देश है, परन्तु दुःख की बात यह है कि यहाँ के निवासियों का जीवन-स्तर काफी नीचा है जिसका मूल कारण देश की पर्याप्त आर्थिक प्रगति तथा उसके साधनों का कुशल उपयोग न होना है, जिसके फलस्वरूप जनसंख्या की वृद्धि एक विशाल समस्या प्रतीत होती है। पश्चिम के बड़े राष्ट्रों में जनसंख्या की वृद्धि से देश की आर्थिक व्यवस्था में दृढ़ता आती है तथा पर्याप्त जनशक्ति की उपलब्धि से राष्ट्रीय साधनों का अच्छा विकास होता है, परन्तु हमारे देश में परिस्थिति इसके विपरीत है। भारत में जनसंख्या की वृद्धि देश की अर्थ-व्यवस्था को दृढ़ नहीं बनाती वरन् देश के आर्थिक ढाँचे में शिथिलता उत्पन्न होती है।

भारत की जनसंख्या सम्बन्धी अध्ययन के विभिन्न पक्ष (Different *Aspects of the Study of India's Population*)—हम भारत की जनसंख्या की समस्या का कई दृष्टिकोणों से निरीक्षण कर सकते हैं। मुख्यतया इस समस्या के दो रूप हैं :—

(१) जन वर्णन पहलू (Demographic Aspect)—जनसंख्या के अध्ययन के इस पहलू में हम देश की जनसंख्या की प्रगति दर (Rate of

growth) तथा मानवी प्रजनन शक्ति (human fertility) का सांख्यकीय अध्ययन करते हैं जिससे देश की वर्तमान जनसंख्या का क्या रूप है, इसका विस्तृत ज्ञान प्राप्त होता है। इस दृष्टि से भारत की जनसंख्या का आकार उसके आर्थिक साधनों के विकास की दृष्टि से बहुत बड़ा है और जिस गति से देश की जनसंख्या बढ़ती जा रही है यह राष्ट्र के आर्थिक विकास में बाधक-सी प्रतीत होती है।

(२) आर्थिक पहलू (Economic Aspect)—जनसंख्या की समस्या के अध्ययन का एक आर्थिक दृष्टिकोण भी होता है जिसके अन्तर्गत हम देश की जनसंख्या तथा उसके आर्थिक जीवन के पारस्परिक सम्बन्ध का अध्ययन करते हैं। इस दृष्टि से भी भारत में जनसंख्या का आधिक्य है। कारण यह कि हमारे देश की जनसंख्या का स्वास्थ्य और शक्ति अन्य देशों की तुलना में काफ़ी नीची है। जैसा कि शिशु मृत्यु दर, स्त्री मृत्यु-दर तथा देश की सामान्य मृत्यु दर के आँकड़ों से जाना जा सकता है। अनेक रोगों में ग्रस्त और अपर्याप्त पौष्टिक भोजन के अभाव में देश की अधिकांश जनसंख्या का स्वास्थ्य बिगड़ा हुआ है जिसके कारण देश की श्रमशक्ति अकुशल है।

क्या भारत में जनसंख्या का आधिक्य है ?

(Is India overpopulated ?)

भारत में जनसंख्या का आधिक्य है अथवा देश की जनसंख्या उसकी आवश्यकता के अनुसार है ? इस सम्बन्ध में पारस्परिक विरोधी विचार प्रस्तुत किये जाते हैं। यह जानने से पूर्व कि किन परिस्थितियों में देश की जनसंख्या आवश्यकता से अधिक होती है और किन अवस्थाओं में देश की जनसंख्या उसकी आर्थिक स्थिति के अनुकूल होती है यह जान लेना उपयोगी होगा कि जनसंख्या के प्रमुख सिद्धान्त क्या हैं, जिनको ध्यान में रखकर किसी देश की जनसंख्या के सम्बन्ध में निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं।

जनसंख्या सम्बन्धी प्रमुख सिद्धान्त (Important Theories of Population)

(१) जनसंख्या का माल्थस का सिद्धान्त (Malthusian theory of population)—जनसंख्या सम्बन्धी माल्थस का सिद्धान्त एक प्रमुख सिद्धान्त है। इसके अनुसार किसी देश की जनसंख्या ज्योमितिक वृद्धि (geometrical progression) अर्थात् १:२:४:८:१६:३२ आदि, परन्तु देश की खाद्य सामग्री में समानान्तर वृद्धि (arithmetical progression) होती है। इस कारण किसी देश की जनसंख्या उस देश की खाद्य सामग्री की पूर्ति की अपेक्षा अधिक तीव्र गति से बढ़ती है परन्तु ऐसा तभी होता है जब किसी प्रकार का अवरोध कार्य न कर रहा हो। जैसे निवारक (preventive) तथा नैसर्गिक (positive) अवरोध। निवारक अवरोधों द्वारा जनसंख्या के जन्म-दर में ह्रास होता है तथा नैसर्गिक अवरोधों

से मृत्यु दर म वृद्धि होती है। माल्थस के अनुसार यदि देश की जनसख्या को रोकने के लिए निरोधक अवरोधो द्वारा सफलता न मिल रही हो और उस देश में महामारी, भूकम्प, बाढ इत्यादि जैसे कारणों द्वारा मृत्यु दर म वृद्धि हो रही हो अर्थात् नैसर्गिक अवरोध क्रियाशील हो तो उस देश म आवश्यकता से अधिक जनसख्या कही जा सकती है।

जनसख्या का आधुनिक सिद्धान्त या अनुकूलतम (optimum) जनसख्या का सिद्धान्त—आधुनिक अर्थशास्त्रियो ने माल्थस के सिद्धान्त की तीव्र आलोचना करके जनसख्या का एक नवीन सिद्धान्त प्रस्तुत किया है जिसे अनुकूलतम जनसख्या का सिद्धान्त (optimum theory of population) कहा जाता है। इस सिद्धान्त के अनुसार प्रत्येक देश के लिये जनसख्या का एक आदर्श आकार होता है जो किसी राष्ट्र म उपलब्ध पूजी, औद्योगिक एव कलात्मक ज्ञान द्वारा देश के अधिक ससाधनों का सर्वोत्तम उपयोग हो सके। इसके फलस्वरूप प्रति व्यक्ति की वास्तविक आय (per capita real income) अधिकतम होता है। यदि देश की जनसख्या सर्वोत्तम जनसख्या से कम होगी तो देश के अधिक साधनो का पूर्ण विकास न होकर प्रति व्यक्ति आय अधिकतम से कम होगी। इसी प्रकार यदि देश म जनसख्या अधिक है तो भी व्यक्तियो को रोजगार न मिलने के कारण प्रति व्यक्ति आय सर्वोत्तम जनसख्या की दशा से कम होगी।

भारतवर्ष मे जनसख्या आधिक्य की समस्या

जनसख्या के उपरोक्त सिद्धान्त को दृष्टि म रखकर अब हम भारत की जनसख्या का आलोचनात्मक अध्ययन करेंगे। इस सम्बन्ध म एक विवादग्रस्त प्रश्न यह है कि देश म जनसख्या का आधिक्य है अथवा आवश्यकतानुसार है। इस सम्बन्ध में दो मत हैं —

(१) भारत म जनसख्या का आधिक्य नहीं है।

(२) भारत म जनसख्या अधिक है।

भारत मे जनसख्या का आधिक्य नही है (India is not overpopulated)

(१) जिन लोगो का यह मत है कि भारतवर्ष में जनसख्या अधिक नहीं है वे इस तर्क की पुष्टि के लिए देश की राष्ट्रीय आय के आँकड़ो का सहारा लेते हैं। उनकी राय म जिस देश की राष्ट्रीय आय बढ रही हो तो उस देश में जनसख्या का आधिक्य कैसे हो सकता है डा० वी० के० आर० वी० राव के अनुसार भारत की प्रति व्यक्ति राष्ट्रीय आय १९३१ ३२ म ६५ रुपया थी। परतु १९५० ५१ म २६५ २ रुपया हो गई और द्वितीय पचवर्षीय योजना की सफलता के पश्चात् देश की प्रति व्यक्ति

राष्ट्रीय आय बढ़कर लगभग ३३० रुपया वार्षिक होने का अनुमान है। इससे यह सिद्ध होता है कि भारत अतिवासित नहीं है।

(२) माल्थस द्वारा बताये गये नैसर्गिक अवरोधों, जिनका प्रकोप भारत में पिछले कई वर्षों से बिलकुल कम हो गया है, इस बात की पुष्टि करते हैं कि भारत में जनसंख्या अधिक नहीं है।

(३) संसार के विभिन्न देशों की तुलना में भारत म जनसंख्या का घनत्व भी कम होना इस तथ्य का प्रमुख प्रमाण है।

(४) भारत के औद्योगिक विकास की गति मन्द होने का एक प्रमुख कारण देश में कुशल शक्ति का अभाव है। जिससे यह भी सिद्ध होता है कि भारत की जनसंख्या अधिक नहीं है।

(५) कुछ लोग भारत की गरीबी व निर्धनता का दोष उसकी बढ़ती हुई जनसंख्या पर मढ़ देते हैं परन्तु यह भ्रमात्मक है। वास्तव में देश का निर्धन होना उसके प्राकृतिक ससाधनों का उचित प्रयोग एव शोषण न होने के फलस्वरूप अधिक विकास में बाधा पड़ने के कारण है जिसका उत्तरदायित्व राष्ट्रीय आय के असमान वितरण पर भी है न कि इसलिए कि हमारा देश अतिवासित है।

देश में जनसंख्या का आधिक्य है (India is overpopulated)

भारत की जनसंख्या के सम्बन्ध में दूसरा मत यह है कि भारत म जनसंख्या अधिक है जिसके लिए निम्न प्रमाण प्रस्तुत किये जाते हैं :—

(१) देश की जनसंख्या के निरन्तर वृद्धि से ही भारत जैसे कृषि प्रधान देश म खेती की अनेक समस्याएँ उपस्थित हो गई हैं, जैसे खेती की भूमि पर जनसंख्या के अत्यधिक भार द्वारा कृषि जोत का छोटे छोटे टुकड़ों में विभक्त हो जाना।

(२) देश म जनसंख्या के बराबर बढ़ते जाने के कारण ही बेकारी की विकट समस्या उत्पन्न हो गई है।

(३) जनसंख्या के स्वास्थ्य बिगड़ने के कारण अधिकांश जनता में अधिक रोगों का प्रकोप बढ़ता जा रहा है जिसका मुख्य कारण स्वास्थ्यवर्धक तथा पौष्टिक भोजन का न मिलना भी जनसंख्या के आधिक्य का एक प्रमाण है।

(४) भारत में जनसंख्या के अधिक होने का सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि एक कृषि प्रधान देश होते हुए भी देश में खाद्यान्न की कमी बराबर बढ़ती जा रही है और देश के लिए पर्याप्त खाद्यान्न की पूर्ति करने की दृष्टि से सरकार को भारी मात्रा में विदेशों से अन्न का आयात करना पड़ता है।

(५) देशवासियों के जीवन स्तर की दशा इस बात का जीता-जागता उदाहरण है कि देश में जनसंख्या का आधिक्य है। पिछले कुछ वर्षों में भारत की राष्ट्रीय आय में

वृद्धि तो अवश्य हुई है पर संसार के अन्य देशों की तुलना में स्थिति अभी सन्तोषजनक नहीं कही जा सकती है जिसका मूल कारण है देश में जनसंख्या का आवश्यकता से अधिक होना जिससे भारतवासियों का जीवन-स्तर बहुत नीचा है।

(६) यद्यपि भारत में चिकित्सा के प्रबन्ध द्वारा सरकार ने जनसाधारण के स्वास्थ्य में काफी प्रगति की है फिर भी समय समय पर माल्थस द्वारा बताये गये नैसर्गिक अवरोधों (positive checks) जैसे बाढ़, चेचक, फ्लू इत्यादि की क्रियाशीलता *इस बात का प्रमाण है कि देश में जनसंख्या का आधिक्य है।*

जनसंख्या का खाद्यपूर्ति से सम्बन्ध (Population in relation to Food Supply)—जैसा कि उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट है भारत में जनसंख्या के अधिक होने का सबसे बड़ा प्रमाण देश में खाद्यान्न की निरन्तर कमी होते जाना है। निम्न तालिका से स्पष्ट है सरकार को देश में अन्न की इस कमी को पूरा करने के लिए बराबर भारी मात्रा में अन्न का आयात करना पड़ता है जिससे देश की राष्ट्रीय आय का *बहुत बड़ा भाग विदेशों को चला जाता है।*

देश में खाद्यान्न का आयात (१६४७-५८)

वर्ष	आयात की मात्रा (टनों में)	लागत (करोड़ रुपये में)
१६४७	२३.३	६३.७
१६४८	२८.४	१२६.५
१६४९	३८.०	१४२.०
१६५०	२०.३	१५०.०
१६५१	४७.०	२१६.०
१६५२	४७.६	२२८.१
१६५३	२६.१	१५३.०
१६५७	३५.८२	१६२.०
१६५८	३१.७३	१२०.५

जिस गति से भारत की जनसंख्या में प्रगति होती जा रही है उससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि यदि देश में कृषि उत्पादन की वृद्धि के लिए आवश्यक प्रयत्न न किये गये तो भारत में खाद्यान्न की बराबर कमी बनी रहेगी। १६६१ की जनगणना के पूर्व भारत में जनसंख्या की वृद्धि के सम्बन्ध में जो अनुमान लगाये गये हैं उनके आधार पर १६६१ में देश की जनसंख्या लगभग ४१ करोड़ तक पहुँच जायगी जिससे लगभग ८५ करोड़ टन खाद्यान्न की आवश्यकता होगी। अशोक मेहता खाद्य-पदार्थ जाँच समिति (Ashok Mehta Foodgrains Enquiry Committee) के अनुसार भी १६६०-६१ में देश में अन्न उत्पादन लगभग ७७० लाख टन होगा, परन्तु इस

2. Discuss what do you consider to be the main problem of Indian population. (*Agra 1956*)

3. Explain critically the problem of population in India. How far can the population be deliberately planned and controlled? (*Patna, 1955*)

4. In what sense is India overpopulated? Do you advocate population control? Give reasons. (*Agra, 1956*)

5. How far do you agree with the view that the rapid growth of population in India stands in the way of economic progress? (*Delhi, 1953, Agra, 1957*)

6. Write a short note on 'Family Planning'. (*Agra, 1960, 1957, Delhi, 1954*)

7. Examine the case for family planning in India. (*Punjab, 1957*)

8. What are the major problems of population in India? Suggest a suitable population policy for the solution of these problems. (*Punjab, 1958*)



खण्ड ४

कृषि एवं उसकी समस्याएँ

अध्याय ६

१६वीं शताब्दी में भारतीय अर्थ-व्यवस्था का अध्ययन

(A Study of Indian Economy during 19th Century)

इतिहास की दृष्टि से भारत का प्राचीन काल एक स्वर्ण काल कहलाता है। जिस समय संसार के अन्य राष्ट्र अज्ञानता के घोर अन्धकार में डूबे हुए थे तथा जिनसे सभ्यता का प्रकाश कोसों दूर था उस समय भारत अपनी आर्थिक, सामाजिक, आत्मिक तथा नैतिक प्रगति द्वारा उन्नति के शिखर तक पहुँच चुका था जिसके कारण संसार के नेतृत्व का भार भारत जैसे देश पर था। इस काल में भारतीय संस्कृति का वह तेजस्वी रूप था जिसमें आर्थिक उन्नति के अतिरिक्त हमारे देश में कला, साहित्य, धर्म तथा दर्शन का उच्चतम विकास हुआ। यही नहीं, यह वह समय था जब देश में स्वर्ण एवं चाँदी का अपार भंडार था। चारों तरफ सुख-शान्ति की वर्षा होती थी। प्रत्येक व्यक्ति के लिए भरपेट भोजन, पहनने को वस्त्र तथा देश में दूध घी की नदियाँ बहा करती थीं। कला तथा उद्योग की महान् प्रगति के कारण देश में बनी हुई अनेक सुन्दर तथा कलात्मक वस्तुएँ विदेशों को जाया करती थीं जिसके कारण भारत ने संसार में अपना आधिपत्य जमा रक्खा था। यही नहीं, भारत के कुटीर उद्योगों द्वारा निर्मित वस्तुओं की प्रशंसा प्राचीन रोम एवं मिश्र जैसे सभ्य देशों में भी की जाती थी। इतिहास साक्षी है कि भारतीय मलमल मिश्र की ममीज के आवरण के लिए प्रयुक्त होती थी। इस प्रकार व्यापार तथा उद्योगों के कारण भारत में सोना व चाँदी दूसरे देशों से ढुला चला आता था। एक लेखक के अनुसार विक्रम की पहली दूसरी व तीसरी शताब्दी में भारत का रोम साम्राज्य के साथ जो व्यापार था उसका यह फल हुआ कि पश्चिम से बह कर आने वाली नदी ने भारत को सींच दिया परन्तु अपनी आर्थिक समृद्धिशीलता एवं सम्पन्नता के कारण भारत अन्य राष्ट्रों की आँखों में खटकने लगा और किसी न किसी आकर्षण के फलस्वरूप विदेशियों ने भारत में पदार्पण प्रारम्भ कर दिया।

विदेशियों का आगमन (Advent of Foreigners)—भारत विदेशियों के लिए सदा ही आकर्षण का कारण रहा। १५वीं शताब्दी के अन्तिम चरण में योरोप के अनेक धर्म प्रचारकों ने भारत में आना प्रारम्भ कर दिया था। सन् १४९८ ई० में सर्वप्रथम पुर्तगाल निवासी वास्कोडिगामा कालीकट में उतरा। इसके पश्चात् डच, डेन, फ्रांसीसी तथा अंग्रेज इत्यादि योरोप निवासियों ने भारत में आना प्रारम्भ

कर दिया। यह जातियाँ हमारे देश में मुख्यतया व्यापारिक उद्देश्यों की पूर्ति ही के लिए आई थीं, किन्तु कालान्तर में पारस्परिक संघर्ष के कारण एक एक कर के इनका पतन होता गया और अन्त में अंग्रेजों ने भारत में अपने साम्राज्य की स्थापना कर ली। अंग्रेजों से पूर्व अन्य शासकों ने भारतीय अर्थ व्यवस्था में कोई विशेष परिवर्तन उत्पन्न होने नहीं दिया और देश का सामान्य आर्थिक जीवन प्रायः हस्तक्षेप से मुक्त (undisturbed) ही रहा। परन्तु भारत में अंग्रेजी शासन की सबसे बड़ी विशेषता यह रही कि उस काल में अनेक ऐसे कार्य हुए जिनका देश की अर्थ व्यवस्था पर गहरा असर पड़ा। उनकी नीतियों ने भारत की प्राचीन अर्थ व्यवस्था की काया ही पलट दी। समृद्धिशील तथा आत्मनिर्भर भारतीय अर्थ व्यवस्था पूर्णतया छिन्न भिन्न हो गई और हमारा देश आर्थिक अवनति की ओर बढ़ने लगा।

१९वीं शताब्दी के प्रारम्भ में भारत का आर्थिक संगठन

१९वीं शताब्दी के प्रारम्भ में भारत के आर्थिक संगठन की कुछ प्रमुख विशेषताएँ थीं जिनका अध्ययन विशेष महत्व रखता है। अतिप्राचीन काल से भारत एक कृषि प्रधान देश रहा है जिसके कारण देश का आर्थिक संगठन तथा सभ्यता की प्रकृति ग्रामीण थी। देश की जनसंख्या का अधिकांश भाग गाँवों में रहा करता था जिनका मुख्य व्यवसाय कृषि था, परन्तु उस समय भारत के ग्रामीण क्षेत्रों में छोटे छोटे कुटीर उद्योगों द्वारा भी अनेक व्यक्तियों का जीवन निर्वाह हो रहा था। यह कुटीर उद्योग न केवल भारत की जनसंख्या के अधिकांश भाग को उसकी जीविका प्रदान करने में समर्थ थे वरन् इनके द्वारा भारत की प्राचीन सभ्यता तथा संस्कृति का परिचय भी होता था। भारत भूमि से जन्मित ये अनेक उद्योग भारत के प्राचीन गौरव प्रतीक हैं जिनसे स्पष्ट था कि भारतवासी एक सरल तथा नम्र स्वभाव के होते हुए भी विभिन्न कलाओं तथा उद्योगों से कितना प्रेम रखते थे। उनका जीवन सादा परन्तु परिश्रमशील था। विदेशी शासन द्वारा प्रभावित होने के पूर्व भारत के आर्थिक संगठन की कुछ प्रमुख विशेषताएँ थीं जिनकी देश के आर्थिक जीवन पर गहरी छाप पड़ी थी। हम इनका वर्णन नीचे करेंगे।

(१) **ग्रामीण अर्थ व्यवस्था का आत्मनिर्भर होना**—भारत के आर्थिक इतिहास के अध्ययन से पता चलता है कि १९वीं शताब्दी के प्रारम्भ तक भारत की ग्रामीण अर्थ व्यवस्था की सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि हमारे ग्राम आत्मनिर्भर थे, यहाँ तक कि संसार अथवा देश में जो अनेक आन्दोलन अथवा क्रान्तियाँ हुईं वे भी हमारे ग्रामीण जीवन को न प्रभावित कर सकीं। अतः उनकी सामाजिक एवं आर्थिक आत्म-निर्भरता ज्यों की त्यों बनी रही। ग्रामीण निवासी केवल अपने गाँव सम्बन्धी अनेक समस्याओं में व्यस्त रहते थे। उनका संसार तथा देश की विभिन्न बातों से कोई सम्बन्ध

न था। एक सरल तथा आत्मनिर्भर जीवन के लिए हमारे ग्रामीण क्षेत्रों में पर्याप्त सामग्री उपलब्ध थी। उनका जीवन सुखी एवं सम्पन्न था। देश की जनसंख्या भी इतनी न थी कि भूमि पर उसके अत्यधिक भार से कृषि की अनेक समस्याएँ उत्पन्न हो जातीं। उनके सुखमय एवं समृद्धिशील जीवन का मुख्य कारण यह था कि उनके जीवन तथा मुख्य व्यवसाय कृषि में किसी प्रकार की कठिनाई एवं समस्या उत्पन्न नहीं हुई थी। खेती के लिए पर्याप्त भूमि थी जिसके कारण कृषक तथा उसके परिवार को जीवन निर्वाह के आवश्यक साधन उपलब्ध हो जाते थे। जो कुछ भी अतिरिक्त जनसंख्या थी उसके लिए भारत में फैले हुए विभिन्न कुटीर उद्योगों द्वारा जीविका प्राप्त हो जाती थी। ग्रामीण क्षेत्रों में रहने वाले देशवासियों के लिए अपनी अनेक आवश्यकताओं के लिए गाँव के बाहर का मुँह नहीं देखना पड़ता था। उनके लिए समस्त आवश्यक वस्तुएँ एवं कच्चे माल का गाँवों में पर्याप्त भण्डार था तथा देहातों में रहने वाले विभिन्न व्यवसायों में लगे हुए लोगों में पारस्परिक प्रेम तथा सद्भावना के कारण किसी व्यक्ति को किसी वस्तु की आवश्यकता तथा अभाव के कारण पीड़ित होने का कोई कारण ही न था।

(२) *द्रव्य एक गौण स्थान के रूप में*—जैसा कि उपरोक्त विवेचन से सिद्ध है कि १६वीं शताब्दी के प्रारम्भ में हमारे गाँव आत्मनिर्भर थे जिसके कारण बहुत सीमित मात्रा में विनिमय की आवश्यकता पड़ती थी। अधिकतर प्रचलन वस्तुविनिमय (barter) का था। अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति प्राय: व्यक्ति स्वयं अपने प्रयत्न द्वारा कर लिया करता था। यदि किसी समय उसे किसी ऐसी वस्तु की आवश्यकता होती थी जिसका उत्पादन उसके द्वारा नहीं होता था तो वह उस वस्तु को अपने द्वारा निर्मित किसी अन्य वस्तु द्वारा प्राप्त कर लिया करता था। गाँव में जितनी भी सेवाएँ होती थीं जैसे खेतिहर मजदूरों की सेवाएँ, नाई, कुम्हार, जुलाहे, कहार, तेली, अहीर, बढ़ई, सुनार इत्यादि, इन सभी की सेवाओं के लिए हमारे ग्रामीण बन्धु प्राय: अनाज का ही प्रयोग करते थे। इस कारण अनाज उस समय विनिमय का प्रमुख माध्यम (medium of exchange) था, पर इसका यह अर्थ नहीं कि हमारे ग्रामीण भाई *मुद्रा से पूर्णतया अनभिज्ञ थे। वास्तविकता यह थी कि मुद्रा का प्रचलन कम था जिसका प्रमुख कारण यह था कि उस समय देश वासियों को मुद्रा की अधिक आवश्यकता* प्रतीत नहीं होतीं थीं। इस कारण उनके दैनिक जीवन में आधुनिक युग के विपरीत मुद्रा का महत्व गौण था। यद्यपि आज हमारे जीवन में मुद्रा का एक उच्च स्थान है पर भारत में एक ऐसा भी समय था जब कि भारतवासियों का जीवन मुद्रा की महानता (supremacy of money) से मुक्त था।

(३) **सामाजिक तथा धार्मिक भावनाओं से ग्रस्त जीवन**—एक और विशेषता यह थी कि देशवासियों का जीवन विभिन्न सामाजिक रीति रिवाज तथा परम्प

राओं से रत था। उनके जीवन में धर्म की महानता थी। इन सामाजिक परम्पराओं और धार्मिक भावनाओं ने उनके आर्थिक जीवन को एक विशेष साँचे में ढाल रखा था। संयुक्त परिवार की प्रणाली, जिसमें परिवार के सब सदस्य मिल जुल कर रहते थे, उसका एक विशेष आर्थिक एवं सामाजिक महत्व था। आपस में हिलमिल कर तथा प्रेम से रहने के कारण परिवार के सब सदस्य सुखमय जीवन व्यतीत करते थे। 'प्रत्येक सबके लिए' तथा 'सब प्रत्येक के लिए' ही उनके जीवन का मुख्य सिद्धान्त था। धर्म की महानता के कारण उनके जीवन में सत्य, प्रेम, अहिंसा, सेवा, सदाचार के अमूल्य गुण निखर गये थे। अन्धे, लूले, लँगड़े, अपाहिज तथा विधवाओं का ऐसी सामाजिक प्रणाली के अन्तर्गत पर्याप्त संरक्षण होता था। कोई व्यक्ति भूख से नहीं मरने पाता था। हर व्यक्ति अपनी सामर्थ्य व शक्ति के अनुसार कुटुम्ब की आय की वृद्धि के लिए प्रयत्न करता था तथा परिवार के मुखिया के लिए कर्तव्य था कि वह सबके सुख, कल्याण तथा आवश्यकताओं का ध्यान रक्खे।

(४) व्यक्तिवाद की भावना का अभाव—अंग्रेजी शासन से प्रभावित होने के पूर्व तक हमारे भारत में व्यक्तिवाद की भावना का एक प्रकार से अभाव-सा था। यह हो सकता है कि अधिकांश देशवासी अशिक्षित होने के कारण व्यक्तिवाद की भावना से दूर रहे थे और उनमें पारस्परिक मित्रता, प्रेम तथा सहयोग की भावना कूट-कूट कर भरी हो। परन्तु यह उनके स्वच्छ सरल जीवन का एक अमूल्य अंग था। ऐसा नहीं था कि प्रत्येक केवल अपनी ही उन्नति से सन्तुष्ट हो वरन् अपने भाई, पड़ोस तथा गाँव के लोगों के प्रति प्रेम तथा सहानुभूति होने के कारण उनकी भी उन्नति में एक विशेष रुचि थी जिससे सम्पूर्ण गाँव एक कुटुम्ब तथा परिवार के तुल्य था। किसी एक व्यक्ति की कठिनाई के समय सारा गाँव उसकी सहायता के लिए उमड़ पड़ता था। ऐसा था हमारा अतिप्राचीन ग्रामीण जीवन।

(५) ग्राम तथा नगरों में सम्पर्क का अभाव—यातायात तथा संदेशवाहन के साधनों में पर्याप्त विकास न होने के कारण हमारे गाँव तथा नगरों में सम्पर्क अधिक नहीं था। परन्तु इसका एक और भी मुख्य कारण था और वह था ग्रामीण जीवन की आत्मनिर्भरता। अपने जीवन की आवश्यक सभी वस्तुओं का ग्रामीण क्षेत्रों में उपलब्ध होने तथा यातायात के साधनों में कमी होने के फलस्वरूप ग्रामीण तथा नागरिक जनसंख्या में सम्पर्क का कोई अवसर न था। जो कुछ भी सम्पर्क दोनों प्रकार की जनसंख्याओं में था भी वह केवल ग्रामीण क्षेत्रों से शहरों की ओर आने वाले मजदूरों के कारण था। इस पारस्परिक सम्पर्कहीनता का यह परिणाम अवश्य हुआ कि हमारे ग्रामवासी नगरों में होने वाली सामाजिक एवं आर्थिक क्रान्ति से वंचित रहे तथा उनका सरल और आत्मनिर्भर जीवन छिन्न भिन्न नहीं होने पाया। उनमें जागृति एवं चेतना का प्रकाश न पहुँचने के कारण हमारे ग्रामवासी रूढ़िवादी तथा

काल में भारत ने औद्योगिक तथा व्यापारिक क्षेत्र में भी काफी प्रगति कर ली थी। १८वीं शताब्दी के प्रारम्भ काल तक यद्यपि देश में विशाल स्तरीय उद्योगों की भरमार नहीं थी फिर भी अपने कुटीर उद्योगों की कलात्मक वस्तुओं के उत्पादन के लिए हमारा देश संसार के सब देशों से आगे था। भारत में लगे हुए कुटीर उद्योगों में अतिकुशल श्रमिकों द्वारा निर्मित अनेक सुन्दर तथा मोहक वस्तुओं की प्रशंसा समस्त संसार के कला प्रेमियों द्वारा की जाती थी। फ्रांस, इटली तथा मिश्र जैसे सभ्य देशों में भारत की बनी हुई सुन्दर कलापूर्ण वस्तुओं के प्रयोग से लोग प्रसन्नता तथा गौरव अनुभव करते थे। उस काल की औद्योगिक दशा की प्रमुख विशेषता यह थी कि भारत में विशाल उद्योगों की अपेक्षा कुटीर एवं लघुस्तरीय उद्योगों का प्रमुख स्थान था। यही नहीं कि केवल भारत की इन कलात्मक वस्तुओं की ख्याति केवल विदेशों ही में थी वरन् स्वयं देश में तत्कालीन राजाओं व महाराजाओं के प्रोत्साहन के कारण इन वस्तुओं का विस्तृत बाजार था। भारत में बनी हुई अनेक वस्तुओं से लदे जहाज प्रायः संसार के सभी भागों में जाया करते थे जिनसे देश में अधिक मात्रा में स्वर्ण तथा चाँदी की प्राप्ति होती थी।

भारत में आर्थिक क्रान्ति का प्रारम्भ—ग्रामीण आत्मनिर्भरता, मुद्रा का अभाव, नगर तथा ग्रामों में सम्पन्न हीनता तथा कुटीर उद्योगों की प्रधानता जैसी प्रमुख विशेषताओं जिनका वर्णन ऊपर किया गया है उनसे भारत के प्राचीन आर्थिक संगठन का विस्तृत रूप आँखों के सामने आ जाता है, परन्तु थोड़े ही समय के बाद भारत की आर्थिक स्थिति में महान् परिवर्तन दृष्टिगोचर होने लगे। विदेशों के सम्पर्क में आने के कारण तथा उनके रीति रिवाज से प्रभावित होने के फलस्वरूप भारत की दृढ़ आर्थिक स्थिति का रूप भी बदलने लगा। अंग्रेज शासक अपने प्रारम्भ काल से ही भारत में अपना आधिपत्य जमाने का स्वप्न देख रहे थे जिसके लिए उन्होंने धीरे-धीरे यहाँ के सामाजिक तथा आर्थिक ढाँचे को बदलने का कार्य प्रारम्भ कर दिया था।

१८वीं शताब्दी में अंग्रेजों का अधिकार भारत में काफी गहराई तक पहुँच चुका था। अपने शासन काल में अनेक आर्थिक तथा राजनैतिक नीतियों के फलस्वरूप उन्होंने भारत के सामाजिक तथा आर्थिक जीवन में महान् क्रान्ति उत्पन्न कर दी। अब भारत में ग्रामीण आत्मनिर्भरता समाप्त होने लगी। विदेशियों के सम्पर्क में आने के कारण नवीन दृष्टिकोण का जन्म हुआ तथा ग्रामीण निवासी भी अब इस नई विचारधारा से प्रभावित होने लगे। जिस देश में अपनी दैनिक आवश्यकताओं तथा सेवाओं की पूर्ति के लिए लोग वस्तु विनिमय का ही सहारा लेते थे वहाँ अब मुद्रा का चलन बढ़ गया। उत्पादन में वृद्धि होने लगी। खेती के तरीकों में परिवर्तन होने लगा जिसके कारण कृषक अपने तथा अपने परिवार की आवश्यकता से अधिक उत्पादन रने में सम ... प्रकार विभिन्न सेवाओं का भुगतान अब ... रूढ़िवादी ...

शिक्षा का प्रसार तथा ग्रामीण क्षेत्रों का नगरों से सम्पर्क हीनता की समाप्ति के कारण लोगों में नई विचारधारा का सचार हुआ। देशवासियों के दृष्टिकोण में महत्वपूर्ण परिवर्तन दिखाई देने लगा। सक्षेप में भारत के प्राचीन सामाजिक ढाचे ने एक नया रूप ग्रहण कर लिया।

आर्थिक क्रान्ति (Economic Transition)—नये विचारों के समावेश तथा नवीन विचारधाराओं से पोषित इस नवीन वातावरण में देश में हर तरफ आर्थिक क्षेत्र में भी एक नई जागृति होने लगी। विकसित राष्ट्र तथा समृद्धिशील राष्ट्र के सम्पर्क में आने से भारत के आर्थिक जीवन तथा उसकी प्राचीन अर्थ-व्यवस्था में भी क्रान्ति उत्पन्न हो गई। देश में अब कृषि के साथ-साथ औद्योगिक उन्नति के प्रति भी रुचि होने लगी। कृषि से उद्योग की ओर (from agriculture to industry) होने की प्रवृत्ति आर्थिक क्रान्ति का एक प्रमुख कारण थी। यही नहीं कि केवल इस काल में देश में कुछ उद्योगों का प्रारम्भ हुआ तथा भारत में नये नये उद्योगों की नींव रक्खी जाने लगी वरन् स्वयं देश के प्राचीन व्यवसाय कृषि में भी एक प्रकार की क्रान्ति सी आ गई। अब भारतीय कृषि का वह रूप नहीं था जिसमें किसान केवल अपने लिए ही उत्पादन करता हो और जिसमें श्रम व पूँजी का सीमित उपयोग होकर कृषि की प्रणाली सीधी सादी बनी हो। इस नई अर्थ व्यवस्था में भारत की कृषि में अनेक सुधार हुए। सबसे प्रमुख परिवर्तन जो भारतीय कृषि में दृष्टिगोचर हुआ वह देश में कृषि का व्यापारी करण (commercialisation of agriculture) था जिसका अर्थ था कि अब कृषक कृषि का उत्पादन केवल अपने लिए ही न करके देश व ससार के अन्य लोगों के लिए भी करता था। विदेशी साम्राज्यवादियों, जिनका भारत पर आधिपत्य था, वे भारत से अधिक मात्रा में कच्चा माल अपने देशों में निर्यात करते थे जिससे भारतीय किसान को काफी आय होने लगी थी। भारतीय कृषक अब यह भली भाँति समझ गया था कि ऐसी अवस्था में उसके लिए केवल अपने लिए ही कृषि सम्बन्धी वस्तुओं का उत्पादन करना उचित नहीं वरन् ऐसी अनेक वस्तुओं का जैसे चाय, कहवा, रबड़, कपास, जूट, रेशम इत्यादि विक्रय उत्पादन द्वारा उसे काफी आमदनी हो सकती है। जिससे भारतीय कृषि में व्यापारीकरण की प्रवृत्ति आने लगी।

उत्पादन पद्धति में क्रान्ति (Transition in Productive Technique)—१६वीं शताब्दी में भारत में होने वाली आर्थिक क्रान्ति तथा शिक्षा के प्रसार एवं ग्रामीण क्षेत्रों तथा नगरों में सम्पर्क स्थापित होने का एक महत्वपूर्ण परिणाम यह हुआ कि रूढ़िवादी विचारों तथा अन्धविश्वास को छोड़कर देशवासी एक नवीन दृष्टिकोण तथा उन्नतिशील विचारों को अपनाने के लिए उत्सुक होने लगे। इस नये प्रकाश एवं नवीन चेतना के प्रकाश के फलस्वरूप भारत के किसान अब कृषि की अपनी प्राचीन रीति तथा पद्धति से घृणा करने लगे। कृषि उत्पादन पद्धति में भी

म बरार लोगों को रोजगार प्राप्त हुआ। बड़े-बड़े औद्योगिक केन्द्र तथा नगरों की स्थापना होने लगी जिसके फलस्वरूप देश की जनसंख्या के नगर तथा ग्रामों में वितरण म भी काफी परिवर्तन हो गया।

उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट है कि १९वीं शताब्दी में भारत म जो आर्थिक, सामाजिक तथा औद्योगिक क्रान्ति हुई उससे देश की प्राचीन अर्थ व्यवस्था पूर्णतया परिवर्तित हो गई जिसके परिणाम स्वरूप देश का आर्थिक ढाचा ही बिल्कुल बदल गया। विभिन्न क्षेत्रों म होने वाली क्रान्ति द्वारा उत्पन्न हुई नवीन अर्थ व्यवस्था म भारत के भावी औद्योगीकरण तथा आर्थिक प्रगति की नींव तो अवश्य पड़ गई है परन्तु फिर भी अनेक कारणों से देश का सम्पूर्ण आर्थिक एवं औद्योगिक विकास नहीं हो सका। ससार के अन्य राष्ट्रों की तुलना म भारत फिर भी एक पिछड़ा तथा अर्धविकसित राष्ट्र बना रहा जिसके कारण भारतवासियों का जीवन स्तर बहुत निम्न है।

प्रश्न

1 What do you kn w about the economic transition in India during 19th Century? What were its causes and affects on the economic life of the country? *(Lucknow 1944)*



अध्याय ७

भारत में कृषि का महत्व तथा उसकी समस्याएँ

(Importance of Agriculture and its Problems in India)

प्रत्येक देश के आर्थिक जीवन का कुछ विशेषतायें होती हैं जिनका राष्ट्रीय आय तथा जनसंख्या व व्यावसायिक वितरण पर गहरा प्रभाव पड़ता है। अर्थ व्यवस्था की प्रकृति तथा देशवासियों की आर्थिक क्रियाओं का इनके द्वारा प्रभावित होना स्वाभाविक ही है। अतः राष्ट्रीय अर्थ व्यवस्था व औद्योगिक एवं आर्थिक विकास में इन विशेषताओं को ध्यान में रखना अत्यन्त आवश्यक है। उदाहरण के लिए औद्योगिक राष्ट्र की आर्थिक समृद्धि के लिए यह अनिवार्य है कि वहाँ प्रथम उद्योग सम्बन्धी व्यवसायों जैसे खनिज उद्योग व इन्जीनियरिंग उद्योगों का विकास किया जाये जिसके फलस्वरूप औद्योगिक उत्पादन में वृद्धि होने से राष्ट्रीय आय में निरन्तर वृद्धि होती जाय। इसी प्रकार एक कृषि प्रधान देश की आर्थिक उन्नति तथा समृद्धि के लिये पहले कृषि की दशा को सुधारना होगा। बिना उन्नतिशील कृषि के देश की अर्थ व्यवस्था में वास्तविक सुधार होना असम्भव है। यही दशा हमारे देश की है। एक कृषि प्रधान देश होने के कारण अधिकांश जनता खेती के व्यवसाय में लगी हुई है, अतः राष्ट्रीय विकास की योजनाओं को सफल बनाने तथा देश की आर्थिक उन्नति के लिये आवश्यकता इस बात की है कि कृषि के क्षेत्र में पर्याप्त उन्नति हो। यही हमारा अर्थ व्यवस्था का आधारभूत तथ्य है।

भारत की अर्थ व्यवस्था में कृषि का स्थान (Place of agriculture in Indian economy)—भारत सदा से ही कृषि प्रधान देश रहा है। वैसे तो प्रत्येक देश में उसकी जनसंख्या के पालन पोषण तथा उद्योगों के लिए पर्याप्त कच्चे माल की पूर्ति की समस्या को हल करने के लिये कृषि का महत्व होता है, परन्तु भारत में कृषि का एक विशेष स्थान है। हमारे आर्थिक जीवन का आधार स्तम्भ कहलाने का गौरव केवल कृषि को ही प्राप्त है। प्राचीन काल से ही यह हमारे देश वासियों का मुख्य व्यवसाय रहा है। कृषि उद्योग भारत का सर्वश्रेष्ठ उद्योग है। आज से लगभग सौ वर्ष पूर्व जब देश में यातायात सम्बन्धी सुविधायें बहुत कम थीं कृषि उत्पादन का क्रय-विक्रय केवल गाँव तक ही सीमित था। हमारे गाँव आत्मनिर्भर थे तथा बाहरी दुनिया से उनका कोई सम्बन्ध न था। यातायात के साधनों के विकास से कृषि उत्पादन के बाजार में भी विस्तार हुआ; अतः कृषि का व्यापारीकरण हो गया। यद्यपि वर्तमान समय में हमारे देश के समक्ष खाद्य पूर्ति की गम्भीर समस्या उपस्थित है, फिर भी

हमारे देश से विभिन्न प्रकार की कृषि वस्तुओं का निर्यात किया जाता है। खाद्य समस्या को हल करने के लिये किये गये प्रयत्नों से कृषि की उन्नति तथा रसम सुधार किये जाने की आवश्यकता बढ़ती जा रही है। अब यह बात स्पष्ट हो गई है कि बिना उन्नतिशील कृषि के देश का आर्थिक उन्नति सम्भव नहीं है। देश के आर्थिक विकास के लिये निर्मित पंचवर्षीय योजनाओं की सफलता भी कृषि की उन्नति एवं विकास पर ही निर्भर है।

हमारे देश के प्राकृतिक साधनों में सबसे प्रमुख साधन "भूमि" है। उत्पत्ति के लिये आवश्यक पांच साधनों भूमि, श्रम, पूँजी, साहस एवं संगठन में जिन दो उत्पत्ति के साधनों का हमारे देश में बाहुल्य है वे हैं भूमि व श्रम (Land and labour)। देश की अधिकांश जनता एवं जन शक्ति भूमि पर आश्रित है। इसी कारण देश की अर्थ व्यवस्था में कृषि का सबसे अधिक महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। प्रत्यक्ष एवं परोक्ष रूप से देश की जन संख्या का अधिकांश भाग खेती के व्यवसाय में लगा हुआ है। सन् १९५१ की जनगणना के अनुसार कुल जनसंख्या का लगभग ७० प्रतिशत भाग अर्थात् ३५६६ लाख व्यक्तियों में से लगभग २४ करोड़ ९० लाख कृषि द्वारा अपनी जीविका प्राप्त करते हैं। कुल जन संख्या का लगभग ३० प्रतिशत ही भाग ऐसा है जो कृषि से भिन्न व्यवसायों पर निर्भर रहता है। इससे यह स्पष्ट है कि देश की जनसंख्या के प्रत्येक दस व्यक्तियों में से सात व्यक्ति ऐसे हैं जो कृषि या उससे सम्बन्धित कार्यों में संलग्न हैं। कृषि में लगी हुई इस जन संख्या पर ही राष्ट्र के चालीस करोड़ से भी अधिक व्यक्तियों के लिए खाद्य सामग्री उपलब्ध करने का उत्तरदायित्व है। परन्तु इस समय खाद्य सामग्री की पूर्ति के अभाव के कारण देश की आवश्यकता का कुछ भाग विदेशों से आयात करना आवश्यक हो जाता है।

कृषि राष्ट्रीय आय का प्रमुख स्रोत है। सन् १९५५ के राष्ट्रीय आय के उपलब्ध आंकड़ों के अनुसार भारत में कृषि (वन इत्यादि समेत) व्यवसाय द्वारा ४,२२० करोड़ रुपये की राष्ट्रीय आय प्राप्त हुई। यह उस वर्ष की कुल राष्ट्रीय आय का ४३ ७ प्रतिशत भाग है। इससे यह सिद्ध होता है कि कृषि हमारी राष्ट्रीय आय का महत्वपूर्ण साधन है। समार के अन्य देशों में कृषि द्वारा प्राप्त राष्ट्रीय आय भारत की तुलना में बहुत कम है जैसा कि निम्न तालिका से विदित है।

कृषि द्वारा प्राप्त राष्ट्रीय आय (१९५५)

राष्ट्र	कृषि द्वारा प्राप्त आय (करोड़ रुपये में)	कुल राष्ट्रीय आय का प्रतिशत
भारत	४२२० ०	४३ ७
जापान	१६७१ १	२१ ८
यूनाइटेड किंगडम	१०४० ०	४ ६
संयुक्त राज्य अमेरिका	७२७१ ६	४ ३

interests, and farmers in the course of their pursuit of a living and a private profit are the custodians of the bases of national life *

भारतीय कृषि की प्रमुख विशेषताएँ

(Main features of Indian agriculture)

संसार के अन्य देशों की भाँति भारत के कृषि उत्पादन में भी उपरोक्त विशेषतायें चरितार्थ होती हैं। परन्तु कृषि उत्पादन की इन मौलिक विशेषताओं के अतिरिक्त भारतीय कृषि की कुछ और प्रमुख बातें विशेष महत्व की है जिनके सम्बन्ध में जानकारी होना भारतीय कृषि की विभिन्न समस्याओं के वैज्ञानिक अध्ययन के लिए अत्यन्त आवश्यक है।

(१) भारतीय कृषि की सबसे प्रमुख विशेषता यह है कि यहाँ सिंचाई के पर्याप्त साधन उपलब्ध न होने के फलस्वरूप कृषि वर्षा पर ही मुख्यतया निर्भर करती है, परन्तु वर्षा के अनिश्चित, अपर्याप्त एवं समय पर न होने के कारण कृषिकों के सामने गम्भीर समस्या उत्पन्न हो जाती है।

(२) हमारे खेतों का छोटे छोटे टुकड़ों में विभक्त होना तथा उनके छिटके होने के कारण कृषि उत्पादन में वृद्धि करना कठिन हो जाता है।

(३) भारतीय कृषि की एक विशेषता यह भी है कि भूमि क्षरण जैसी समस्याओं के कारण भारत की कृषि भूमि की उपज में निरन्तर हानि होती जा रही है जिसके फलस्वरूप प्रति एकड़ उत्पादन में कमी होने की समस्या उत्पन्न हो गई है।

(४) भारतीय कृषि बड़ी पिछड़ी अवस्था में है। प्राचीन उत्पादन पद्धति तथा खेती सम्बन्धी अनेक सुविधाओं की कमी के कारण भारतीय कृषि की दशा बड़ी शोचनीय है।

(५) भारतीय कृषक की अज्ञानता एवं निरक्षरता कृषि की उन्नति में बाधक है। किसानों के पास पूँजी की पर्याप्त मात्रा न होने के कारण अपनी आवश्यकताओं के लिए ऋण लेना पड़ता है। सामाजिक रीति रिवाज एवं परम्पराओं के कारण किसान अपव्यय का शिकार हो जाता है जिसके कारण उसे भारी ब्याज पर ऋण लेने की आवश्यकता होती है जिसका उसके आर्थिक एवं सामाजिक जीवन पर बुरा प्रभाव पड़ता है।

(६) भारतीय कृषि की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि अभी तक भारत के कृषि उद्योग में विज्ञान के प्रयोग का अभाव है। संसार के अन्य राष्ट्रों में वैज्ञानिक अनुसंधान द्वारा कृषि उत्पादन में पर्याप्त उन्नति कर ली गई है। भारतीय कृषि अभी तक वैज्ञानिक प्रयोगों एवं अनुसंधानों से लाभान्वित होने में असमर्थ रही है। यही भारतीय कृषि की समस्याओं का मूल्य कारण है।

*Quoted in Theory and Practice of Co operation in India and Abroad, Vol III

फसल	कुल क्षेत्रफल (लाख एकड़)	कुल उत्पादन (लाख टन में)
तिलहन	३३४ २	५६ १
कपास	२०१ ६	५७ ५
पटसन	१७ ५	४० ६ (लाख गाँठ)
गन्ना	५० २	६४१ ४
तम्बाकू	६ ३	२ ५
चाय	७ ८	६ ८ (लाख पौंड)
कहवा	२ ४	६८ ० (लाख पौंड)
रबर	१ ८	४६ ४ (लाख पौंड)

खाद्य फसलें

चावल—चावल भारत की सबसे महत्वपूर्ण फसलों में गिना जाता है देश की कृषि योग्य भूमि के लगभग ३०५ प्रतिशत भाग पर चावल की खेती होती है। भारत के कुछ प्रदेश ऐसे हैं जहां के निवासियों का मुख्य भोजन चावल ही है। १९५८ ५९ में इसका क्षेत्रफल लगभग ८१५ ६ लाख एकड़ और उपज २९७ २१ लाख टन थी। चावल एक खरीफ की फसल होने के कारण नवम्बर दिसम्बर के महीने में काटी जाती है। भारत में चावल की समस्या १९३५ में वर्मा के अलग हो जाने के परिणामस्वरूप उत्पन्न हुई है। अपनी आवश्यकता के लिए भारत को चावल विदेशों आयात करना पड़ता है। पश्चिमी बंगाल, मध्यप्रदेश, आसाम, मद्रास, बम्बई, उत्तर प्रदेश, बिहार, उड़ीसा, इत्यादि प्रदेश चावल के प्रमुख उत्पादन क्षेत्र हैं।

गेहूँ—भारत में शीत ऋतु में गेहूं की खेती होती है। गेहूँ देशवासियों का प्रमुख भोजन है। वैसे तो इसके उत्पादन के लिये वर्षा की आवश्यकता होती है परन्तु कम वर्षा वाले स्थानों में सिंचाई द्वारा इसकी पैदावार के लिये पर्याप्त जल उपलब्ध कर लिया जाता है। गेहूँ के उत्पादन के लिए दुमट मिट्टी सबसे अधिक लाभदायक है। इस कारण देश की कुल उपज का लगभग ३५ प्रतिशत भाग केवल उत्तर प्रदेश से ही प्राप्त होता है। शेष उत्पादन पंजाब, बिहार, बम्बई, राजस्थान से प्राप्त होता है। १९५८ ५९ में इसका क्षेत्रफल १०९ ६६ लाख एकड़ था जिसमें लगभग ६६ ६४ लाख टन की उपज हुई थी।

जौ—जौ भी देश में भोजन के लिए प्रयुक्त होता है। यह अधिकतर निर्धन एवं कम आय वाले व्यक्तियों का लोकप्रिय अनाज है। इसका प्रयोग बियर (Beer) बनाने के लिए भी किया जाता है और साथ ही पशुओं के चारे के लिए भी। इस कारण

कृषकों के लिए यह द्राविक फसल होने के कारण अधिक महत्व की है। उसका उत्पादन उत्तर प्रदेश, पश्चिमी बिहार, मध्य प्रदेश, पञ्जाब, राजस्थान आदि में अधिक होता है। १९५८-५९ में इसकी कुल उपज २६.४० लाख टन थी।

ज्वार-बाजरा एवं रागी—ज्वार, बाजरा, रागी को घटिया किस्म की फसलों में गिना जाता है परन्तु देश की निर्धन जनता के भोजन के लिए इनका महत्व कम नहीं है। सन् १९५८-५९ में ज्वार, बाजरा तथा रागी का उत्पादन क्रमशः ८६.८८ लाख टन, ३७.९१ लाख टन और १७.७७ लाख टन था।

दालें—दालें भारत के लिए अत्यन्त महत्व की हैं। देश की अधिकांश जनता शाकाहारी होने के कारण लगभग सारे देश में दालों का उपयोग किया जाता है। दालें प्रायः देश के सभी क्षेत्रों में उत्पन्न की जाती हैं। स्वास्थ्य की दृष्टि से भी इनका महत्व अधिक है क्योंकि इनसे प्रोटीन काफी मात्रा में प्राप्त होती है। सन् १९५८-५९ में लगभग ५८९.७ लाख एकड़ में दालों की काश्त हुई थी जिसकी कुल उपज लगभग १२२.०८ लाख टन थी। बिहार, पञ्जाब, उत्तर प्रदेश, बंगाल, मध्य प्रदेश, बम्बई, आदि राज्य इसके लिए प्रमुख हैं।

गन्ना—यह भारत की प्रमुख व्यापारिक फसल गिनी जाती है तथा देश का एक प्रमुख उद्योग—चीनी उद्योग—इसी पर आधारित है। गन्ने के उत्पादन की दृष्टि से विश्व में भारत का प्रथम स्थान है। सन् १९५७-५८ में देश में लगभग ५०.२ लाख एकड़ भूमि पर गन्ने की खेती हुई थी। उसी समय इसका उत्पादन लगभग ६४१.४ लाख टन था। उत्तर प्रदेश, जो गन्ने का प्रमुख उत्पादक है, के अतिरिक्त बम्बई, मद्रास, आसाम, बिहार, पञ्जाब, मध्य-प्रदेश, पश्चिमी बंगाल आदि राज्यों में भी गन्ने का उत्पादन होता है।

अखाद्य फसलें (Non-food crops)

कपास (Cotton)—कपास के उत्पादन के लिए काली मिट्टी सबसे बढ़िया है। इसके लिए पर्याप्त वर्षा तथा उच्च तापक्रम की भी आवश्यकता है। इस कारण भारत में कुल उत्पादन का लगभग ९०% भाग दक्षिणी भारत से ही प्राप्त होता है। इसके उत्पादन के मुख्य क्षेत्र बम्बई, मद्रास, मध्य प्रदेश आदि राज्य हैं। संसार में संयुक्त राज्य अमेरिका एवं सोवियत रूस के पश्चात् ही भारत की गणना होती है। भारत में अच्छी किस्म की कपास अधिक पैदा न होने के कारण देश की सूती मिलों की आवश्यकता के लिए बढ़िया किस्म की कपास मिस्र तथा संयुक्त-राज्य अमरीका जैसे देशों से आयात की जाती है। १९५७-५८ में कपास का कुल उत्पादन ४७.०५ लाख गाँठ हुआ था। एक गाँठ का भार लगभग ३९२ पौंड होता है। भारत में १९८ लाख एकड़ के क्षेत्रफल से अधिक भूमि पर कपास का उत्पादन किया जाता है।

होने के कारण हमारी खेती एक पिछड़ी अवस्था में है। चकबन्दी द्वारा ही हम इस समस्या को हल कर सकते हैं जिससे हमारी कृषि में पर्याप्त सुधार सम्भव हो सकता है।

(३) उत्तरदायित्व का अभाव—कृषि के क्षेत्र में केन्द्रीय एवं राज्य सरकारों के बीच उत्तरदायित्व के अभाव के कारण कृषि को भारी क्षति हो रही है (Divided responsibility is hitting agriculture)। कृषि की समस्या को हल करने के लिए सबसे बड़ी आवश्यकता इस बात की है कि राज्य सरकारों के कृषि उत्पादन में वृद्धि करने की अपने जिम्मेदारी का अनुभव न कर अपने लिए आवश्यक खाद्यान्न के लिए केन्द्रीय सरकार पर सदैव निर्भर करते रहने की प्रवृति को दूर करने के लिए संविधान का संशोधन किया जाय जिससे कृषि सम्बन्धी समस्त अधिकार केन्द्रीय सरकार के पास आ जायें।

(४) वर्षा पर अत्यधिक निर्भर होना—अच्छी उपज के लिए पर्याप्त मात्रा में पानी की आवश्यकता है, परन्तु भारत में सिंचाई के कृत्रिम साधनों की अपर्याप्त मात्रा में उपलब्धि के कारण भारतीय कृषक को अपनी उपज के लिए वर्षा पर ही निर्भर रहना पड़ता है, परन्तु वर्षा का ठीक समय पर तथा समान वितरण न होने के कारण खेती को बड़ी क्षति पहुँचती है। वर्षा अधिक हो जाने से बाढ़ आ जाती है और फसल को नुकसान पहुँचता है। वर्षा न होने अथवा कम होने के फलस्वरूप कभी कभी सूखा पड़ जाने का भय रहता है। इस कारण संक्षेप में भारतीय कृषि मानसूनी जुआ (gamble in monsoons) के नाम से विख्यात है।

(५) दोषपूर्ण भूमि व्यवस्था—भारत में प्रचलित भूमि व्यवस्था दोषपूर्ण होने के कारण खेती की उन्नति में बाधा पहुँचती है तथा इसका कृषकों की कार्यक्षमता पर हानिकारक प्रभाव पड़ता है। भारत में जमींदारी प्रथा के प्रचलित होने के कारण खेती एक पिछड़ी अवस्था में रही है, परन्तु जमींदारी उन्मूलन के पश्चात् कृषक को अपनी भूमि में सुधार करने तथा उसके उत्पादन में वृद्धि करने की प्रेरणा मिली है। आवश्यकता इस बात की है कि कृषक और सरकार के बीच मध्यस्थों को समाप्त कर दिया जाये तभी कृषि में वास्तविक सुधार सम्भव हो सकता।

(६) कृषि की दोषपूर्ण प्रणाली—भारतीय कृषि के पिछड़े होने का एक प्रमुख कारण देश में प्राचीन तथा दोषपूर्ण कृषि पद्धति का अपनाया जाना है। हमारे कृषक प्राचीन यन्त्रों द्वारा ही खेती करते हैं। उनके खेती के तरीके बहुत पुराने हैं जिसका मुख्य कारण उनकी अज्ञानता ही है। इस कारण खेती में प्रयुक्त यन्त्रों को उन्नतिशील बनाया जाये तथा हमारे कृषक गण खेती के नये नये एवं सुधरे तरीकों को अपनावें जिससे भारतीय कृषि को वास्तविक लाभ अवश्य होगा।

(७) खाद की कमी—खाद उपज बढ़ाने का सबसे महत्वपूर्ण साधन है। ग्रामीण क्षेत्रों में उत्पन्न अधिकांश गोबर, जो अच्छी खाद के रूप में प्रयुक्त किया जा



सकता है, भारी मात्रा में किसानों द्वारा ईंधन के रूप में जला दिया जाता है। इसके अतिरिक्त हमारे किसानों को कम्पोस्ट बनाने का भी समुचित ज्ञान नहीं है जिसके कारण या तो अधिकांश कूड़ा करकट व्यर्थ चला जाता है अथवा दोषपूर्ण ढंग से इकट्ठा रखने के कारण उनके आवश्यक रासायनिक तत्व नष्ट हो जाते हैं। इस कारण कृषि का उत्पादन कम हो जाता है।

(८) उत्तम बीज की कमी—भारतीय कृषि को सुधारने के लिए उत्तम बीज का भी होना अत्यन्त आवश्यक है। अच्छे प्रकार के बीज के प्रयोग से कृषि उत्पादन में वृद्धि की जा सकती है।

(९) दुर्बल पशु—वैसे तो हमारे देश में खेती में प्रयोग होने वाले पशुओं की संख्या कम नहीं है तथा संख्या की दृष्टि से भारत में संसार में सबसे अधिक पशु हैं, परन्तु किस्म की दृष्टि से (Qualitatively) भारतीय पशु दुर्बल और घटिया प्रकार के हैं। उनकी कार्य क्षमता कम होने के कारण किसान को उनसे वास्तविक लाभ नहीं हो पाता। भारत की पशु सम्पत्ति सुधारने के लिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि पशुओं के लिए चारे का समुचित प्रबन्ध हो, उनके रहने का स्थान स्वच्छ एवं स्वास्थ्यवर्धक हो तथा उनकी चिकित्सा का भी प्रबन्ध हो।

(१०) कृषि विपणन के दोष—भारतीय कृषि के पिछड़े होने का दायित्व बहुत कुछ कृषकों की भी पिछड़ी एवं दयनीय अवस्था होना है जिसका मुख्य कारण यह है कि दोषपूर्ण विपणन प्रणाली के कारण उन्हें अपनी फसल का उचित मूल्य नहीं मिल पाता। गाँवों के रास्ते खराब होने तथा यातायात के साधनों के अभाव के फलस्वरूप किसान को गाँव में ही प्रतिकूल परिस्थितियों में अपनी फसल को बेचने के लिए बाध्य होना पड़ता है। संगठित मंडियों के अभाव के कारण वहाँ नाना प्रकार की धोखेबाजियाँ प्रचलित हैं तथा मध्यस्थों द्वारा उसके मूल्य का एक भारी भाग हड़प कर लिया जाता है। सहकारी विपणन समितियों द्वारा इन मध्यस्थों को दूर कर किसान को अपनी उपज का उचित मूल्य दिलाया जा सकता है जिससे उसकी दशा में वास्तविक सुधार हो जायेगा।

(११) कृषकों का ऋण ग्रस्त होना—भारतीय कृषक रूढ़िवादी तथा दकियानूसी विचारधारा का शिकार है। अपनी अज्ञानता के कारण उसे सामाजिक एवं धार्मिक अवसरों पर गाँव के महाजन से ऋण लेना पड़ता है। इसके अतिरिक्त अपनी खेती सम्बन्धी आवश्यकताओं के लिए भी उसे महाजन और साहूकार के द्वार खटखटाने पड़ते हैं। सहकारी समितियों द्वारा किसान को अपनी आवश्यकता के लिए उचित ब्याज पर साख दिलाकर उसे महाजन साहूकार के निर्दयी पंजों से मुक्त किया जा सकता है। इससे देश की कृषि की दशा को सुधारने में सहायता मिलेगी।

कम उपज के कारण—जैसा कि उपरोक्त विवरण से विदित है भारतीय कृषि

की अवस्था बड़ी दयनीय है। एक ओर तो देश की जन संख्या में निरंतर वृद्धि होती जा रही है और दूसरी ओर इस बढ़ती हुई जनसंख्या के लिए देश में पर्याप्त खाद्य सामग्री का अभाव है जिसके फलस्वरूप देश को विदेशों पर आश्रित रहना पड़ता है। भारत में प्रति एकड़ उपज बहुत कम है। निम्न तालिका में हम चावल, गेहूँ, तथा गन्ने के सम्बन्ध में संसार के प्रमुख देशों के प्रति एकड़ औसत उत्पादन का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करते हैं।

देश	[प्रति एकड़ औसत उत्पादन (पौन्डों में)]		
	गेहूँ	चावल	गन्ना
भारत	५८६	६६१	२६,४६७
पाकिस्तान	८३३	१,२६१	१७,४९६
अमेरिका	९४६	—	३६,६१८
कनाडा	१,०५०	—	—
यू० के०	२,४३६	—	—
जापान	—	३,५३३	—
हवाई	—	—	१,५०,३६८

उपरोक्त तालिका से स्पष्ट है कि भारत में गेहूँ, चावल, गन्ना जैसे प्रमुख वस्तुओं का प्रति एकड़ औसत उत्पादन संसार के अन्य देशों के प्रति एकड़ औसत उत्पादन से बहुत कम है। जबकि यू० के० में प्रति एकड़ गेहूँ का औसत उत्पादन २,४३६ पौंड है वहाँ भारत में केवल ५८६ पौंड ही है। इसी प्रकार जापान में चावल के प्रति एकड़ औसत उत्पादन की तुलना में भारत का प्रति एकड़ उत्पादन बहुत ही कम है। इससे इस बात का आभास होता है कि हमें कम उत्पत्ति के कारणों का विस्तृत अध्ययन करना चाहिए जिनके हल करने के पश्चात् ही देश की कृषि अर्थ व्यवस्था में कोई वास्तविक सुधार सम्भव हो सकेगा। भारत में कम उत्पत्ति के प्रमुख कारण निम्न हैं :—

(१) खेतों का उपखंडन तथा छिटके होना।

(२) लगातार खेती करने तथा भूमिक्षरण (Soil erosion) के कारण कृषि भूमि की उर्वरा शक्ति कम होते जाना।

(३) उत्तम बीज तथा खाद का प्रयोग कम होना।

(४) दोषपूर्ण प्राचीन कृषि प्रणाली का अपनाया जाना।

(५) सिंचाई के साधनों के अभाव के कारण खेती का वर्षा पर निर्भर होना।

(६) दुर्बल तथा रोगग्रस्त पशुओं का प्रयोग।

(७) दोषपूर्ण कृषि विपणन की पद्धति।

(८) विभिन्न रोगों तथा कीटाणुओं द्वारा फसल नष्ट हो जाना।

(९) कृषकों की अज्ञानता तथा ऋणग्रस्त होना।

(१०) दोषपूर्ण भू धारण प्रणाली।

(११) कृषकों की निर्धनता तथा कृषि सम्बन्धी कार्यों के लिए पूँजी का अभाव।

कृषि उत्पादन में वृद्धि करने के उपाय

भारत में कृषि उत्पादन बढ़ाने के लिए समय समय पर नियुक्त की गई समितियों एवं सम्मेलनों द्वारा अनेक महत्वपूर्ण सुझाव दिये गये हैं। हमारे विचार से यदि हमें देश की कृषि उत्पादन में पर्याप्त वृद्धि करना है तो निम्नलिखित सुझावों को ध्यान में रखना होगा —

(१) उद्योग धन्धों के विकास से रोजगार के विभिन्न अवसर प्रदान किये जायँ जिससे भूमि पर जनसंख्या का भार कम हो।

(२) देश की वनस्पति की रक्षा करने की दृष्टि से पेड़ों के काटने पर रोक लगानी चाहिये।

(३) सिंचाई के साधनों का समुचित विकास हो। उन्नतिशील कृषि यन्त्र, उत्तम बीज एवं बढ़िया खाद का प्रयोग हो।

(४) ग्रामीण क्षेत्र में शिक्षा का प्रसार हो जिससे कृषक की अज्ञानता एवं उसकी रूढ़िवादी विचारधारा समाप्त की जा सके।

(५) यातायात के साधनों का विकास हो।

(६) कीटाणु एवं विभिन्न रोगों से फसल की रक्षा की जाये।

(७) कृषि अनुसंधान एवं वैज्ञानिक अन्वेषणों द्वारा खेती के उन्नतिशील तरीकों का विकास हो।

(८) भूमिक्षरण द्वारा होने वाली हानि से कृषि भूमि की रक्षा की जाये।

(९) छोटे छोटे खेतों को मिलाकर कृषि जोत (agricultural holdings) में वृद्धि की जाये।

(१०) पशु सम्पत्ति के सुधार के लिए प्रयत्न किये जायें।

भारत सरकार के खाद्य एवं कृषि मंत्रालय (Ministry of Food and Agriculture) एवं सामुदायिक विकास एवं सहकारिता मंत्रालय (Ministry of Community Development and Co operation) के निमन्त्रण पर आमन्त्रित १३ सदस्यों वाले 'फोर्ड फाउन्डेशन अध्ययन दल' (Ford Foundation Study Team) द्वारा भारतीय कृषि के उत्पत्ति को बढ़ाने के लिए दिये गये सुझाव अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं। इन सुझावों से देश के कृषि उत्पादन में वास्तविक वृद्धि की सम्भावना की जा सकती है। सुझावों को संक्षेप में नीचे दे रहे हैं :—

(१) भूमि सुधार तथा भूमि की रखाई व्यवस्था करना।

(२) खाद्यान्न के मूल्यों में स्थिरता लाना।

(३) खेतों की चकबन्दी ।

(४) सहकारी कृषि प्रणाली ।

(५) साख सम्बन्धी सुविधाओं को प्रदान करना ।

(६) कृषि विपणन में सुधार ।

(७) भूमि क्षरण से भूमि की रक्षा की जाना ।

(८) पशुओं द्वारा खेतों में अनियन्त्रित ढंग से चरने पर रोक ।

(९) रासायनिक खादों का प्रयोग ।

(१०) कृषि का यन्त्रीकरण ।

(११) पशुओं की दशा सुधारना तथा बेकार पशुओं की संख्या कम करना ।

(१२) कृषि अर्थशास्त्र में अनुसंधान (Research in Agricultural Economics)

भारत में विस्तृत तथा सघन अथवा गहरी खेती की समस्या
(Problem of Extensive and Intensive Cultivation in India)

भारत में कृषि सम्बन्धी सुधार के अन्तर्गत विस्तृत तथा गहरी खेती की समस्या भी आती है । हमारे देश के समक्ष इस समय अधिक उत्पादन की समस्या है । कृषि उत्पादन में वृद्धि करने से न केवल भारत अपनी बढ़ती हुई जनसंख्या के लिए आवश्यक खाद्यान्न जुटाने में समर्थ हो सकेगा वरन् उत्पादन की इस वृद्धि का अन्य दृष्टि से भी अत्यन्त राष्ट्रीय महत्व है । प्रथम अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार द्वारा यदि हमारे देश को विदेशी मुद्रा प्राप्त करना है तो उसके लिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि भारत अपनी उन वस्तुओं के उत्पादन में दिनोन्तर वृद्धि करता जाय जिनका प्राचीन समय से भारत द्वारा निर्यात किया जाता रहा है । दूसरे नियोजित आर्थिक विकास के अन्तर्गत होने वाले औद्योगीकरण के लिए आवश्यक है कि विभिन्न प्रकार के कच्चे माल की पूर्ति के लिए स्वयं आत्मनिर्भर न रहना पड़े । इस सम्बन्ध में दो समस्यायें हैं :—

(१ विस्तृत खेती (Extensive Cultivation)—अर्थात् खेती योग्य भूमि की मात्रा में वृद्धि करना । अधिक उत्पादन के लिए हमें देश की कृषि योग्य भूमि में निरन्तर वृद्धि करनी चाहिए । देश में अभी कुछ ऐसे क्षेत्र हैं जिनमें बड़ी-बड़ी चट्टानें हैं और मिट्टी न होने के कारण उसका खेती के लिए प्रयोग नहीं हो पा रहा है । भारत की कुछ कृषि योग्य भूमि ऊसर तथा बंजर हो जाने या अधिक जंगली घास पात से ढकी होने के कारण खेती के सर्वथा अयोग्य हो गई है । हमें इस प्रकार की भूमि का पुनरुद्धार करके पुनः खेती योग्य बनाना है । इस प्रकार भारत की कृषि योग्य पड़ी हुई भारी मात्रा में व्यर्थ भूमि खेती के कार्य में प्रयुक्त हो सकती है । भारत के तराई के क्षेत्र में भी बहुत-सी ऐसी भूमि है जिसमें सुधार करके कृषि उत्पादन किया जा सकता है ।

'केन्द्रीय ट्रैक्टर संगठन' की स्थापना इसी उद्देश्य को पूरा करने के लिए की गई है। इस कार्य के लिए भारत को अन्तर्राष्ट्रीय बैंक से समय समय पर ऋण भी प्रदान किया गया है। भारत की तृतीय पंचवर्षीय योजना काल में लगभग २५ लाख एकड़ भूमि को खेती के योग्य बनाने का लक्ष्य निर्धारित किया गया है। अतः स्पष्ट है कि भारत में कृषि उत्पादन में वृद्धि के लिए विस्तृत खेती की भी पर्याप्त सम्भावनायें हैं परन्तु इसमें आवश्यक तानिक ज्ञान तथा वित्तीय साधनों का अभाव है।

(२) गहरी सघन खेती (Intensive Cultivation)—अधिक उत्पादन के लिए या तो खेती योग्य भूमि की मात्रा में वृद्धि की जाये अथवा भूमि के एक निश्चित क्षेत्रफल पर अधिक श्रम व पूँजी तथा खाद के प्रयोग से उत्पादन में आवश्यक वृद्धि प्राप्त की जाये। यदि हमें अपने देश में कृषि उत्पादन में वृद्धि करनी है तो उसके लिए भी सघन खेती की पर्याप्त सम्भावनायें हैं। सिंचाई की सुविधाओं के समुचित विकास, उन्नतिशील कृषि, यन्त्र, उत्तम बीज व बढ़िया खाद द्वारा देश की प्रति एकड़ भूमि में पर्याप्त वृद्धि की जा सकती है। इस क्षेत्र में हमें जापान के उदाहरण को समक्ष रखना होगा जहाँ प्रति व्यक्ति खेती किया गया क्षेत्रफल भी भारत की तरह कम है। परन्तु वैज्ञानिक एवं उन्नतिशील कृषि पद्धति द्वारा वहाँ उत्पादन में पर्याप्त वृद्धि कर ली गई है। हमारे देश में भी सरकार द्वारा आयोजित फसल प्रतियोगिताओं के अन्तर्गत की गई उपज इस बात का साक्षी है कि सुधरे हुये तरीकों तथा पर्याप्त सुविधाओं द्वारा देश में सघन खेती द्वारा उत्पादन में वृद्धि करना अधिक कठिन नहीं है।

कृषि क्षेत्र में विदेशों के अनुभव

वास्तव में यह बड़े दुःख का विषय है कि भारत एक कृषि प्रधान देश होते हुए भी कृषि सम्बन्धी अनेक समस्याओं से ग्रस्त है जिसके कारण उसकी कृषि अर्थ व्यवस्था बड़ी बिगड़ी हुई अवस्था में है। संसार के अन्य देशों के कृषि सम्बन्धी अनुभवों द्वारा भारत को काफी लाभ हो सकता है। नीचे हम अमरीका, रूस, चीन और जापान जैसे प्रमुख राष्ट्रों की कृषि पद्धति का अध्ययन करेंगे।

अमेरिका (America)—अमेरिका की कृषि पद्धति के विषय में दो बातें बड़ी महत्वपूर्ण हैं, पहली तो कृषि में विज्ञान का प्रयोग और दूसरी वैज्ञानिक कृषि प्रबन्ध (scientific farm management)। विज्ञान के क्षेत्र में अग्रसर होने के कारण कृषि-सम्बन्धी अनेक वैज्ञानिक अनुसंधान एवं अन्वेषण द्वारा कृषि प्रणाली में अनेक महत्वपूर्ण सुधार कर लिए गये हैं। आधुनिक कृषि, औजारों, रासायनिक खाद तथा कृषि के यन्त्रीकरण द्वारा कृषि में पर्याप्त उन्नति हुई है।

रूस (Russia)—सोवियत रूस कृषि के क्षेत्र में संसार के प्रमुख राष्ट्रों में गिना जाता है। अपनी समस्त आवश्यकताओं के लिए रूस अपने आन्तरिक उत्पादन पर आत्मनिर्भर है। रूसी कृषि के सम्बन्ध में निम्न बातें जानने योग्य हैं :—

(१) बड़े बड़े खेतों पर खेती किया जाना।

(२) कृषि यन्त्रीकरण (Mechanisation of agriculture)।

(३) सामूहिक कृषि प्रणाली (Collective farming)।

चीन (China)—पिछले कुछ वर्षों में चीन ने भी कृषि के क्षेत्र में आश्चर्य जनक प्रगति कर ली है। चीन में प्रति एकड़ उपज बढ़ाने के लिए अधिक मात्रा में खादों का प्रयोग किया जाता है। जिन खादों का चीन में अधिक प्रयोग किया जाता है उनमें से प्रमुख हैं मल की खाद (night soil), कूड़े की खाद (compost) तथा सन की खली (bean cake) इत्यादि। भारत में उत्पन्न होने वाली अधिकांश गोबर कृषक द्वारा ईंधन के रूप में प्रयुक्त हो जाने के कारण तथा अन्य प्रकार की खादों के सम्बन्ध में समुचित जानकारी न होने के कारण भारतीय कृषि में खाद की पर्याप्त मात्रा के प्रयोग का पाठ हमें चीन से मिलता है जिससे देश के कृषि उत्पादन में काफी वृद्धि हो सकती है।

जापान (Japan)—जापान के कृषि उत्पादन में सबसे प्रमुख वस्तु चावल है जिसके सम्बन्ध में जापान के अनुभवों से भारतीय कृषि को पर्याप्त लाभ होने की संभावना है। जापान में प्रति एकड़ चावल की उपज भारत की प्रति एकड़ चावल की उपज से कई गुना अधिक है जैसा कि निम्न तालिका से विदित है :—

देश	प्रति एकड़ चावल की उपज (पौंड में)
जापान	३५३३
भारत	६६१

जापान में प्रति एकड़ उपज अधिक होने का मुख्य कारण एक विशेष प्रकार की धान की खेती की जाना है जिसका विवरण नीचे दिया जाता है।

जापानी ढंग से चावल की खेती* (Japanese Method of Rice Cultivation)—जापानी ढंग से धान की उपज बढ़ाने के लिए २ बातों को सदैव याद रखना आवश्यक है —(१) पेड़ का पुष्ट होना (२) फसल का अच्छा होना।

इन उद्देश्यों की पूर्ति के लिए हम निम्नलिखित तरीकों को काम में लाना चाहिए :—

(१) पेड़ को भली भाँति तैयार की हुई क्यारियों में लगाने से।

(२) पेड़ के लिए बीज की मात्रा कम डालने से।

(३) क्यारियों और खेत दोनों में प्रचुर मात्रा में खाद देने से।

(४) कतार में और दूर दूर पर रोपाई करने से।

*(१) उत्तर प्रदेश में जापानी ढंग से धान की खेती।

(५) पेड़ की देखभाल करने और खेत में उचित निराई करने से।

यदि इन तरीकों से कार्य किया जाये तो धान की पैदावार औसत से दुगनी और तिगुनी हो जाती है।

पेड़ लगाने का स्थान सिंचाई के साधन के नजदीक ही होना चाहिए। क्यारी बनाने के पहले खेत को खूब अच्छी तरह जोत कर मिट्टी बारीक कर लेनी चाहिए। क्यारी की लम्बाई ७५ फुट तथा चौड़ाई ४ फुट होनी चाहिए। इस प्रकार की प्रत्येक क्यारी में एक मन की दर से सड़ी हुई गोबर का खाद व कम्पोस्ट अच्छी तरह से मिला देनी चाहिए। इसके बाद क्यारी के ऊपर लगभग ½ इञ्च छनी हुई बारीक कम्पोस्ट और इसके ऊपर राख की एक पतली तह फैला देना चाहिए। राख की तह के ऊपर ½ सेर रासायनिक खाद का मिश्रण जिसमें आधा अमोनियम सल्फेट और आधा सुपर फास्फेट हो छिड़क देना चाहिए। अब अच्छे बीज को नमक के पानी में डालकर फिर अलग पानी में धो लेना चाहिए, तत्पश्चात् खाद के मिश्रण के ऊपर बीजों को इस प्रकार डालना चाहिए कि बीज हर स्थान पर बराबर बराबर पड़ जावें। एक क्यारी के लिए ½ सेर बीज काफी है। ७ या ८ दिन के बाद पौधों की निराई करनी चाहिए। पेड़ तैयार हो जाने के बाद उन्हें खेत में रोप देना चाहिए इसके बाद खेत तैयार किया जाता है। हर एक पेड़ को बहुत सावधानी से उखाड़ना चाहिए। रोपाई कतार ही में करनी चाहिए। पौधे से पौधे की दूरी और कतार से कतार की दूरी दस-दस इञ्च की होनी चाहिए। रोपाई के बाद पन्द्रह-पन्द्रह दिन पर गोड़ाई करनी चाहिए। बरसात में यदि पानी की कमी हो तो समय समय पर पानी देते रहना चाहिए।

प्रश्न

1. Mention the chief characteristics of Indian agriculture. How can we improve it? (*Rajputana, 1951*)
2. What are the main problems of Indian Agriculture? How is it proposed to solve them during the next five years? (*Allahabad 1954, Punjab, 1953, Agra, 1946*)
3. Why is agricultural productivity low in India? Are you satisfied with the steps taken so far to increase it? (*Banaras, 1954*)
4. The central problem in planning and development of India's economy is the reconstruction of agriculture. Discuss. (*Bombay, 1953*)
5. Write a short note on —
   (1) 'Principal Agricultural Crops of India'. (*Agra, 1957*)
   (2) Causes of Low Yield (*Agra, 1942*)

अध्याय ८

भारत में कृषि की इकाई

(Unit of Cultivation in India)

कृषि की उन्नति में प्रभाव डालने वाली बातों में जोत का आकार सबसे अधिक महत्व का है। यह सत्य है कि बिना बढ़िया खाद, बीज, उन्नत औजार एवं कृषि यन्त्र तथा सिंचाई आदि की सुविधाओं के कृषि उत्पादन में वृद्धि नहीं की जा सकती है, परन्तु इन सब साधनों तथा सुविधाओं से अधिकतम लाभ उठाने तथा उनका अधिकतम आर्थिक प्रयोग करने के लिए खेत की इकाई अथवा जोत का आकार एक महत्वपूर्ण विषय है जिसका मुख्य कारण यह है कि कृषि के आकार पर ही उत्पत्ति का पैमाना, कृषि यन्त्रों का प्रयोग एवं उत्पादन प्रविधि इत्यादि जैसी समस्त बातें निर्भर करती हैं। कृषि की इकाई के सम्बन्ध में विस्तृत अध्ययन हम आगामी पृष्ठों में करेंगे।

कृषि उत्पादन का परिमाण (Scale of Agricultural Production)

जिस प्रकार औद्योगिक उत्पादन छोटे पैमाने अथवा बड़े पैमाने पर किया जा सकता है ठीक उसी प्रकार कृषि उत्पादन का पैमाना भी निर्धारित करने वाला मुख्य तत्व देश की जनसंख्या है। एक कृषि प्रधान देश में भूमि पर जनसंख्या का अधिक भार होने के कारण प्रति व्यक्ति कृषि भूमि की मात्रा कम होती है। अधिक लोगों को जीविका मिलने के कारण समस्त देश की कृषि योग्य भूमि छोटे छोटे टुकड़ों में विभक्त हो जाती है और यदि कृषक इस सीमित कृषि भूमि की मात्रा से उत्पादन वृद्धि का इच्छुक है तो उसे अधिक मात्रा में श्रम तथा पूँजी लगाकर गहरी खेती कर अपने लक्ष्य को पूरा करना होगा। परन्तु संसार के उन देशों में जहाँ कृषि योग्य भूमि अधिक है और साथ ही जनसंख्या का भूमि पर भार भी कम है, वहाँ प्रति व्यक्ति कृषि भूमि की मात्रा अधिक होती है जिसके कारण बड़े पैमाने पर कृषि उत्पादन किया जा सकता है। कृषि में उत्पत्ति का परिमाण अनेक बातों पर निर्भर करता है जिनमें मुख्य निम्न हैं—

कृषि में उत्पादन का पैमाना निर्धारित करने वाले तथ्य (Factors governing the Scale of Production in Agriculture)—

(१) **भूमि पर जनसंख्या का भार**—घनी आबादी वाले देशों में भूमि पर

जनसंख्या का भार अधिक होने के कारण कृषि भूमि का छोटे-छोटे टुकड़ों में बँट जाने से बड़े पैमाने पर खेती नहीं की जा सकती।

(२) भूमि की प्रकृति—यदि खेती की भूमि उपजाऊ है तो थोड़ी ही भूमि पर कृषि की उत्पत्ति में पर्याप्त वृद्धि की जा सकती है।

(३) जलवायु—जन-स्वास्थ्य तथा कृषि के लिए उपयोगी जलवायु होने के कारण किसी स्थान पर जनसंख्या के घनत्व अधिक हो जाने से कृषि जोतों का क्षेत्र छोटा हो जाता है।

(४) कृषि सम्बन्धी सुविधायें—खाद, बीज तथा सुधरे हुए कृषि के औज़ार तथा सिंचाई के साधनों की उपलब्धि पर कृषि उत्पत्ति का परिमाण निर्भर करता है।

(५) उत्पादन प्रविधि तथा कृषकों की कार्य कुशलता—कुशल कृषकों तथा उन्नत कृषि पद्धति द्वारा सीमित क्षेत्र में भी पर्याप्त उत्पादन सम्भव हो सकता है।

उपरोक्त बातों से स्पष्ट है कि कृषि उत्पत्ति का परिमाण अनेक बातों पर निर्भर करता है। अतः यह कहना कठिन है कि बड़े पैमाने पर खेती अच्छी है अथवा छोटे पैमाने पर। वास्तव में दोनों प्रकार की कृषि उत्पत्ति के परिमाण के लाभ व दोष हैं और प्रत्येक देश की आर्थिक एवं प्राकृतिक परिस्थितियों को दृष्टि में रखकर ही उस देश के लिए कृषि उत्पत्ति का परिमाण निश्चित किया जाना चाहिए। जहाँ तक कृषि की जोत का सम्बन्ध है यह बात सर्वविदित है कि एक छोटे जोत में कृषि उत्पादन में अनेक कठिनाइयाँ होती हैं। इस कारण कृषि की छोटी जोत की अपेक्षा बड़े जोत में खेती करना अधिक लाभदायक होता है।

जोतों के उपविभाजन से होने वाली हानियों का वर्णन हम आगे करेंगे। यहाँ यह जानना उपयोगी होगा कि वास्तव में कृषि की बड़ी जोतों से क्या लाभ होते हैं।

कृषि की बड़ी जोतों से होने वाले लाभ (Advantages of Bigger Holdings)—बड़ी जोत के मुख्य लाभ निम्न हैं—

(१) उत्पत्ति के विभिन्न साधनों का उच्चतम आर्थिक प्रयोग होना।

(२) उन्नत कृषि औजारों, समय तथा परिश्रम बचाने वाले यन्त्रों का प्रयोग सम्भव होना।

(३) प्रति इकाई उत्पादन व्यय में कमी होना।

(४) *औज़ारों तथा पशुओं का अधिकतम प्रयोग* होने से घिसावट व्यय (Depreciation) कम होना।

(५) कृषि में अनुसन्धान होना।

जोत का अर्थ (Meaning of Holding)—कृषि जोत से हमारा तात्पर्य कृषक द्वारा जोते हुए समस्त क्षेत्र से है अर्थात् वह कुल भूमि जिस पर एक किसान खेती सम्बन्धी कार्य सम्पन्न करता है।

जोत की किस्में (Kinds of Holdings)—कृषक कृषि भूमि के जिस क्षेत्र पर खेती करता है उस पर या तो उसकी मिलकियत या पैतृक अधिकार हो सकता है अथवा उसे उस भूमि पर केवल कृषि उत्पादन मात्र का ही अधिकार हो। इस दृष्टि से कृषि जोत की दो मुख्य प्रकार होती हैं—

(१) भूस्वामी की जोत (Owner's Holdings)—अर्थात् वह जोत जिस पर किसान का अधिपत्य हो और कानूनी दृष्टि से उसे उसका स्वामित्व प्राप्त हो। इस प्रकार की भूमि पर या तो भूस्वामी स्वयं कृषि करे अथवा कई किसानों में उसे विभक्त कर दे जिससे प्रत्येक किसान को कुल स्वामित्व की इकाई (unit of ownership) का केवल एक छोटा भाग ही प्राप्त होगा।

(२) कृषक की जोत (Cultivator's Holdings)—इसे कृषि की इकाई (unit of cultivation) भी कहते हैं। इससे हमारा अभिप्राय एक कृषक द्वारा उस समस्त भूमि से है जो वास्तव में कृषक द्वारा जोती जाती है। किसान अपनी आवश्यकता के लिए अनेक भूस्वामियों से छोटी छोटी मात्रा में भूमि लेकर खेती कर सकता है। इस प्रकार उसके द्वारा जोती गई समस्त भूमि को 'कृषि की इकाई' या 'कृषक जोत' कहा जायगा।

आर्थिक जोत (Economic Holding)

अर्थ—आर्थिक जोत के सम्बन्ध में विभिन्न मत प्रगट किये गये हैं जिससे इस शब्द का सही अर्थ समझने में कठिनाई होती है। वास्तव में आर्थिक जोत से हमारा तात्पर्य एक कृषक द्वारा जोती गई कृषि भूमि के उस क्षेत्र से है जिससे उसे न्यूनतम लागत से अधिकतम उपज प्राप्त होती है। यह तब सम्भव होगा जब खेत का आकार कम से कम इतना अवश्य हो जिससे कृषि में लगे उत्पत्ति के समस्त साधनों के उच्चतम प्रयोग के फलस्वरूप किसान को होने वाला लाभ अधिकतम हो।

आर्थिक जोत का वास्तविक अर्थ जानने के लिए इस सम्बन्ध में कुछ विशेषज्ञों एवं लेखकों द्वारा दी गई परिभाषाओं का अध्ययन करना अत्यन्त आवश्यक है।

परिभाषायें

कीटिंग्स (Keatings) के शब्दों में एक आर्थिक जोत उसे कहते हैं "जो आवश्यक खर्चे निकालने के पश्चात् एक कृषक को अपने और अपने परिवार को उचित सुविधाओं की प्राप्ति के लिए पर्याप्त उत्पादन का अवसर देती है।"[1]

डा० मान के अनुसार—"एक आर्थिक जोत वह है जो एक औसत आकार के परिवार को जीवन का सतोषजनक समझा जाने वाला न्यूनतम स्तर प्रदान करती है।"[2]

स्टैन्ले जेवेन्स (Stanley Jevons) के विचारानुसार कोई जोत तभी आर्थिक

1 Keatings *Agricultural Problems in Western India*

2 H Mann *Land and Labour in Deccan Villages*

जोत है जब वह कृषक को न केवल 'न्यूनतम स्तर' और न केवल 'उचित स्तर' वरन् 'रहन-सहन का उचित स्तर' प्रदान करती है।

उपरोक्त परिभाषाओं के अनुसार कीटिंग्स की दृष्टि में ४० से ५० एकड़ भूमि आर्थिक इकाई कही जा सकती है। जेवन्स के अनुसार एक आर्थिक इकाई में कम से कम ३० एकड़ भूमि होना चाहिए। मि० डार्लिंग (Mr Darling)* के अनुसार यदि एक किसान के पास आय के अन्य साधन उपलब्ध हैं तो ८ से १० एकड़ भूमि उसको न्यूनतम स्तर प्रदान करने के लिए पर्याप्त है।

फ्लाउड कमीशन (Floud Commission) के अनुसार बंगाल में एक कृषक के औसत स्तर के लिए २½ से लेकर १० एकड़ तक की भूमि पर्याप्त है।

आर्थिक जोत के निर्धारण करने वाले तथ्य—आर्थिक जोत का आकार निश्चित करना बड़ा कठिन कार्य है। हम सभी क्षेत्र तथा सभी अवस्थाओं के लिए एक निश्चित आर्थिक जोत निर्धारित नहीं कर सकते। वास्तव में आर्थिक जोत का आकार निश्चित करने के लिए कई बातों को दृष्टि में रखना अत्यन्त आवश्यक है। जैसे भूमि की उर्वरा शक्ति, कृषि की विधि, सिंचाई की सुविधायें इत्यादि जिनका वर्णन हम नीचे कर रहे हैं। इसी कारण देश के विभिन्न क्षेत्रों तथा कृषि सुविधाओं को दृष्टि में रखकर लेखकों ने आर्थिक जोत के विभिन्न आकार बताये हैं। उदाहरण के लिए पंजाब जैसे प्रदेश की उपजाऊ भूमि तथा सिंचाई के साधनों की उपलब्धि को दृष्टि में रखकर ८ से १० एकड़ भूमि आर्थिक जोत हो सकती है तो दूसरी ओर राजस्थान जैसे क्षेत्र की कम उपज तथा कम वर्षा वाली एवं रेतीली भूमि के लिए कम से कम १५ से २० एकड़ भूमि ही आर्थिक जोत कही जा सकेगी।

आर्थिक जोत का आकार निश्चित करने वाले प्रमुख तथ्य निम्न हैं :—

(१) कृषि भूमि की उर्वरा शक्ति—कम उपज वाली भूमि में आर्थिक जोत का आकार बड़ा होगा।

(२) कृषि की विधि—ट्रैक्टरों द्वारा की जाने वाली खेती की भूमि के आर्थिक जोत का आकार बैलों तथा घोड़ों द्वारा खेती की जाने वाली भूमि के आकार से बड़ा होगा।

(३) सिंचाई की सुविधायें—जिस भूमि पर वर्षा कम होने पर भी सिंचाई की सुविधायें उपलब्ध हैं वहाँ एक छोटा खेत ही कृषक को आवश्यक न्यूनतम स्तर प्रदान कर सकेगा जिसके कारण एक छोटा खेत भी आर्थिक जोत कहा जा सकता है।

(४) खेती का स्वरूप—सघन अथवा गहरी खेती की जाने वाले क्षेत्रों में आर्थिक जोत का आकार छोटा होगा परन्तु विस्तृत खेती के लिए बड़े आर्थिक जोत की

---

* M L. Darling, *Punjab Peasants in Prosperity and Debt.*

आवश्यकता पड़ेगी। इस प्रकार कृषि के स्तर पर भी आर्थिक जोत का आकार निर्भर करता है।

(५) उगाई जाने वाली फसल की प्रकृति—कुछ फसलें ऐसी हैं जिनके उगाने के लिए एक छोटा खेत भी आर्थिक जोत कहा जा सकेगा जैसे गन्ना, सब्जी, फल इत्यादि। परन्तु विभिन्न प्रकार के अनाजों जैसे गेहूँ, ज्वार, बाजरा इत्यादि की उत्पत्ति के लिए आर्थिक जोत का बड़ा ही होना उपयुक्त होगा।

(६) बाजार से अन्तर—खेत से बाजार का अन्तर भी आर्थिक जोत निर्धारण करने के लिए महत्त्वपूर्ण तथ्य है। उदाहरण के लिए जो खेत बाजार व रेलवे स्टेशन के निकट होते हैं ऐसे छोटे खेत भी आर्थिक जोत कहे जा सकते हैं। इसके विपरीत यातायात व्यय में वृद्धि होने से स्टेशन व बाजार से दूर स्थित होने वाली कृषि भूमि के आर्थिक जोत का आकार बड़ा होना चाहिए।

आधारभूत जोत, अनुकूलतम जोत तथा पारिवारिक जोत

(Basic Holdings, Optimum Holdings & Family Holdings)

भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस द्वारा नियुक्त कृषि सुधार समिति १९४९ (Agrarian Reforms Committee 1949) ने भारतीय कृषि अर्थ व्यवस्था के विभिन्न पक्षों का अध्ययन कर कृषि-भूमि के आर्थिक जोत का आकार निर्धारित करने के लिए देश की आर्थिक स्थिति की अपेक्षा सामाजिक परिस्थितियों तथा देश में उपलब्ध भूमि की माँग व पूर्ति की दृष्टि से रखने पर अधिक बल दिया है। समिति द्वारा कृषि भूमि के आर्थिक जोत को आधारभूत जोत (basic holding) का नाम दिया गया है।

आधारभूत जोत—आधारभूत जोत कृषि जोत की सबसे छोटी इकाई है। इससे कम भूमि पर कृषि-उत्पादन का कार्य करना आर्थिक दृष्टि से अलाभकर होगा अर्थात् "बुनियादी जोत" से हमारा अभिप्राय व्यक्तिगत आधार पर की जाने वाली लाभदायक खेती के लिए आवश्यक न्यूनतम क्षेत्र से है।

अनुकूलतम जोत—इसे "आदर्श जोत" भी कहते हैं। संसार के कुछ राष्ट्रों में (जैसे कनाडा व संयुक्त राज्य अमेरिका) आर्थिक जोत तथा आदर्श या अनुकूलतम जोत में कोई अन्तर नहीं माना जाता है। अर्थात् खेत का वह आकार, जिससे एक किसान को उसके द्वारा लगाये गये श्रम व पूँजी से अधिकतम लाभ प्राप्त होता है, वही आदर्श जोत कही जायेगी। भारत में अनुकूलतम जोत का आकार आर्थिक जोत के आकार का तीन गुना माना गया है। आदर्श जोत के आकार को इस प्रकार निश्चित करना सामाजिक दृष्टि से देश के लिए बड़े महत्त्व की बात है जिसके द्वारा देश में फैली आर्थिक विषमता को दूर करने का प्रयास किया गया है।

पारिवारिक जोत—पारिवारिक जोत से हमारा तात्पर्य कृषि-भूमि के ऐसे आकार से है जो किसान को कम से कम इतना उत्पादन अवश्य प्रदान करे जिससे

उसको प्रति वर्ष १६०० रुपये की औसत आय प्राप्त हो तथा मजदूरी आदि आवश्यक व्ययों को निकालकर कम से कम १२०० रुपये शेष रह जायें। राष्ट्रीय आयोजना आयोग द्वारा पारिवारिक जोत (family holding) की परिभाषा इस प्रकार दी गई है। पारिवारिक जोत कृषि भूमि का वह क्षेत्र है "जो स्थानीय दशाओं के अनुसार और कृषि की वर्तमान प्रविधि के अन्तर्गत, कृषि कार्यों में बहुधा जो सहायता उपलब्ध होती है उनके द्वारा कार्य करते हुए औसत आकार के परिवार के लिए एक 'हल इकाई' अथवा एक 'कार्य-इकाई' के समान हो।"*

भारत में कृषि जोतें अथवा कृषि की इकाई
(Agricultural Holdings in India)

भारतीय कृषि की समस्याओं का अध्ययन करते समय यह बात स्पष्ट हो गई है कि एक कृषि-प्रधान देश होते हुए भी हमारी कृषि अर्थ व्यवस्था बड़ी क्षीण अवस्था में है। भारतीय कृषि के पिछड़े होने का कारण उसके सम्मुख खेती सम्बन्धी अनेक गम्भीर समस्याओं का उपस्थित होना है। इनमें एक महत्वपूर्ण समस्या यह भी है कि भारत की अधिकांश कृषि भूमि छोटे-छोटे अनार्थिक आकारों में विभक्त है। छोटे तथा सीमित क्षेत्रफल के इन खेतों में कृषि उत्पादन अत्यन्त कठिन तथा अलाभदायक कार्य होता है।

भारत की कृषि जोत का औसत आकार (average size) लगभग ७·५ एकड़ है, परन्तु इसके विपरीत संसार के अन्य राष्ट्रों में कृषि जोत का आकार काफी बड़ा है जिसकी तुलना में भारत में कृषि की इकाई की समस्या अत्यन्त गम्भीर प्रतीत होती है। आगे दी जाने वाली तालिका में हम संसार के कुछ देशों की कृषि जोत का औसत आकार प्रदर्शित कर रहे हैं :—

---

*"A family holding may be defined briefly as being equivalent according to local conditions and under the existing conditions of technique, either to a plough-unit or to a work-unit for a family of average size working with such assistance as is customary in agricultural operations."—*First Five Year Plan*, p. 189.

कृषि जोतों का उपविभाजन एवं अपखण्डन
(Subdivision and Fragmentation of Agricultural Holdings)

ऊपर दिये गये आँकड़ों से ज्ञात होता है कि भारत में छोटे छोटे आकार वाले खेतों की संख्या अत्यधिक है। इन अलाभकर कृषि जोतों के ही कारण भारतीय कृषि में उन्नतिशील तरीकों को अपनाने में बाधा पहुँचती है। पहले यह देखना आवश्यक है कि जोतों के उपविभाजन व अपखण्डन से हमारा क्या अभिप्राय है।

अर्थ—कृषि जोतों की दो प्रमुख समस्यायें हैं—एक उपविभाजन (subdivision) की और दूसरे अपखण्डन (fragmentation) की। कृषि भूमि की इन गम्भीर समस्याओं में पारस्परिक घनिष्ट सम्बन्ध होने के कारण इन्हें पृथक नहीं किया जा सकता।

उपविभाजन—इसका अर्थ है कृषि भूमि का छोटे-छोटे अलाभकर जोतों में बँट जाना। भूस्वामी की मृत्यु के पश्चात् उसकी कृषि भूमि का उसके उत्तराधिकारियों में बराबर बराबर अथवा उनके हक के अनुसार बँट जाने के कारण ही जोतों के उपविभाजन की समस्या उत्पन्न होती है। यह क्रम बराबर चलता रहता है जिसके कारण पिछले लगभग २०० वर्षों में भारत की कृषि भूमि के टुकड़े टुकड़े हो गये हैं।

जोतों के अपखण्डन से हमारा आशय यह है कि किसी भूस्वामी की कुल भूमि एक चक के रूप में नहीं है वरन् उसके छोटे छोटे खेत एक अथवा कई गाँवों में बिखरे पड़े हैं। संक्षेप में भूमि के अपखण्डन से हमें कृषि जोतों की स्थिति का आभास होता है। खेतों के अपखण्डन होने के फलस्वरूप किसान को खेती में अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है।

डा० मान (Dr Mann) द्वारा बम्बई राज्य के पूना जिले के 'पिम्पला सौदागर' ग्राम में कृषि जोतों के सम्बन्ध में की गई जाँच से वहाँ की स्थिति का सही ज्ञान होता है। उनके अनुसार सन् १७७१ में वहाँ जोत का औसत आकार लगभग ४० एकड़ था जो १८१८ व १९१५ में घटकर क्रमश १७½ व ७ एकड़ ही रह गई थी। इससे पता चलता है कि लगभग १५० वर्षों में उपविभाजन की निरन्तर प्रवृत्ति से कृषि जोत पर क्या प्रभाव पड़ा है। इस काल में कृषि जोत ¾ से भी कम रह गई है।

इसी प्रकार खेतों के अपखण्डन के सम्बन्ध में भी स्थिति अत्यन्त गम्भीर है देश के अधिकांश स्थान ऐसे हैं जहाँ किसान छोटे छोटे अनेक खेतों पर खेती करता है। डा० मान की जाँच से जोतों के अपखण्डन का भी पता चलता है। उनके अनुसार वहाँ लगभग १५६ भूस्वामियों के ७२९ खेत थे। इनमें ४६२ खेत ऐसे थे जिनका आकार १ एकड़ से कम था तथा २११ खेत तो ¼ एकड़ से भी छोटे थे।[1]

कृषि जोतों के उपविभाजन तथा अपखण्डन के कारण—

1 Dahama, *Agricultural and Rural Economics*, p 50

(१) जनसंख्या की वृद्धि से भूमि पर भार का बढ़ना—भारत की अधिकांश जनता खेती सम्बन्धी कार्य में लगी है। पिछले कुछ वर्षों में देश की जनसंख्या में तेजी से वृद्धि होने के कारण भूमि पर आश्रित व्यक्तियों की संख्या में भी पर्याप्त वृद्धि हो गई है जिनके पास रोजगार के कोई अन्य अवसर न होने के कारण खेतीबाड़ी ही जीविका का एक मात्र साधन रह जाता है। यही कारण है कि भारत की कृषि भूमि छोटे-छोटे अलाभदायक जोतों में विभाजित होती जा रही है।

(२) संयुक्त कुटुम्ब प्रणाली का अन्त—आजकल देश में संयुक्त परिवार प्रणाली जैसी प्राचीन प्रथा का लोप होता जा रहा है। सारी जनसंख्या छोटे छोटे परिवारों में बँट गई है। आज भारत के एक साधारण परिवार की औसत संख्या केवल ५ ही रह गई है।

(३) व्यक्तिवाद की भावना—पाश्चात्य शिक्षा प्रणाली के प्रसार तथा पश्चिमी सभ्यता के सम्पर्क में आने के कारण देश में व्यक्तिवाद की भावना के विकास में प्रोत्साहन मिला जिसके फलस्वरूप व्यक्ति में अलग रहने की प्रवृत्ति जाग्रत हो गई। प्रत्येक अपना हिस्सा अलग ही कर लेना चाहता है। इस व्यक्तिवाद की भावना ने कृषि जोत के उप-विभाजन तथा अपखण्डन में भारी योग दिया।

(४) उत्तराधिकार के नियम—हमारे देश में प्रचलित दायाधिकार तथा उत्तराधिकार नियमों ने भी भूमि के उपविभाजन तथा अपखण्डन को प्रोत्साहन दिया है। पैतृक सम्पत्ति के विभाजन सम्बन्धी दायाधिकार के नियम के अनुसार पिता के सभी पुत्रों को उसकी सम्पत्ति में बराबर का अधिकार होता है जिससे कृषि भूमि का उपविभाजन तो होता ही है साथ ही प्रत्येक उत्तराधिकारी का सब प्रकार की भूमि से हिस्सा लेने के कारण भूमि का अपखण्डन भी होता है।

(५) कुटीर उद्योगों एवं सहायक धन्धों का विनाश—देश के विभिन्न कुटीर उद्योगों, सहायक धन्धों एवं दस्तकारियों के पतन होने के कारण ग्रामीण जनसंख्या के लिए केवल कृषि ही रोजगार का एकमात्र साधन शेष रह गया जिससे भूमि से जीविका प्राप्त करने वालों की संख्या में चिन्ताजनक वृद्धि हो गई और कृषि भूमि का उप-विभाजन तथा अपखण्डन होता गया।

(६) कृषकों का ऋणग्रस्त होना—भारतीय कृषक के ऋणग्रस्त होने से भी भूमि के उपविभाजन एवं अपखण्डन में सहायता मिली। ऊँची ब्याज की दर पर ऋण देकर ग्रामीण महाजन सदैव किसानों की भूमि के कुछ भाग को हथियाने की ताक में रहता है।

(७) मनोवैज्ञानिक प्रवृत्ति—भारत के किसानों में पैतृक एवं अचल सम्पत्ति के प्रति अपूर्व प्रेम होने की मनोवैज्ञानिक प्रवृत्ति के फलस्वरूप भी कृषि भूमि का उप-विभाजन एवं अपखण्डन होना स्वाभाविक ही है।

उपविभाजन एवं अपखंडन के आर्थिक प्रभाव—देश की खेती योग्य भूमि के उपविभाजन तथा अपखंडन का भारत की कृषि अर्थ व्यवस्था पर बड़ा गहरा प्रभाव पड़ा है। कृषि पर जोतों के अन्तर्विभाजन तथा दूर दूर छिटके होने के प्रभावों को समझने के लिए उपविभाजन तथा अपखंडन से होने वाले लाभों एवं हानियों का परीक्षण करना होगा।

जोतों का उपविभाजन

लाभ—खेतों के छोटे छोटे टुकड़ों में विभाजित होने से निम्न लाभ होते हैं—

(१) एक कृषि-प्रधान देश में जहाँ भूमि को माता के समान सम्मान प्राप्त है यह कहां तक उचित है कि कुछ के पास काफी भूमि हो और कुछ को इससे वंचित रक्खा जाय। भूमि के उपविभाजन से प्रत्येक को कुछ न कुछ भूमि प्राप्त हो जाती है।

(२) देश की अधिकांश जनसंख्या को भूमि द्वारा ही जीविका मिलती है। इस कारण जब तक देश के औद्योगीकरण द्वारा जीविकोपार्जन के अन्य साधन सुलभ नहीं हो जाते भूमि के उपविभाजन से हर व्यक्ति को अपनी रोटी कमाने के लिए एक छोटे से खेत का मिल जाना ही उचित है।

(३) भूमि के उपविभाजन के कारण कृषि के एक सीमित क्षेत्र से ही अपनी आवश्यकता के लिए पर्याप्त उत्पादन प्राप्त करने के उद्देश्य से ग्रामीण जनता में सघन खेती तथा कृषि उत्पादन में वृद्धि करने के लिए अन्य प्रयत्न करने की आवश्यकता अनुभव होगी।

(४) आर्थिक एवं सामाजिक विषमता को दूर करने की दृष्टि से भी कृषि भूमि का उपविभाजन आवश्यक है। कारण, इससे देश दो पारस्परिक विरोधी वर्गों में विभक्त हो जाने से बच जाता है। एक वर्ग भूमिहीन किसानों का और दूसरा वह जिसके हाथों में देश की अधिकांश भूमि हो।

हानियाँ—कृषि जोतों का छोटे छोटे अनार्थिक एवं अलाभदायक टुकड़ों में विभाजित होने से खेती पर बड़ा बुरा प्रभाव पड़ता है। इससे होने वाले कुछ लाभों को ऊपर बताया गया है। नीचे हम इससे होने वाली हानियों का वर्णन कर रहे हैं :—

(१) छोटे छोटे खेतों में कृषि उत्पादन करने से बहुत सी भूमि मेड़ों तथा रास्ते इत्यादि बनाने में व्यर्थ नष्ट हो जाती है।

(२) अत्यधिक छोटे एवं उपविभाजित कृषि जोत पर खेती सम्बन्धी स्थाई सुधार नहीं किये जा सकते जिसके बिना कृषि उत्पादन में वृद्धि होना असम्भव है।

(३) छोटे खेतों पर कृषि सम्बन्धी कार्य सम्पन्न करने से उत्पादन लागत में काफी वृद्धि हो जाती है। कारण कृषि यन्त्रों तथा खेती में प्रयुक्त पशुओं का पूरा उपयोग नहीं हो पाता और साथ ही खाद डालने जैसे कार्यों पर खर्चा भी अधिक आता है।

(४) बहुत छोटे खेतों पर उन्नतिशील कृषि प्रविधि, सुधरे हुए यंत्रों तथा खेती के लिए उपयोगी मशीनों इत्यादि का प्रयोग नहीं किया जा सकता है। उदाहरण के लिए ट्रैक्टर जैसी मशीनों के प्रयोग के लिये खेतों का आकार काफी बड़ा होना चाहिए।

(५) अत्यधिक छोटे कृषि जोतों पर खेती करने वाले कृषकों की आर्थिक स्थिति बड़ी शोचनीय होती है। पर्याप्त आय तथा आर्थिक लाभ न होने के कारण उनके साधन भी सीमित होते हैं जिसके फलस्वरूप कृषि में उन्नति करने की उनमें पर्याप्त क्षमता नहीं होती।

जोतों का अपखण्डन—जोतों के उपविभाजन की भाँति जोतों के अपखण्डन स भी अनेक लाभ व हानियाँ हैं।

लाभ

(१) कृषि भूमि के अपखण्डित होने से सबसे बड़ा लाभ यह होता है कि एक कृषक के पास विभिन्न प्रकार की कृषि योग्य भूमि आ जाती है जिसमें से यदि कुछ की उपज कम है तो दूसरी भूमि की उपज अधिक होने के कारण कृषक को होने वाली हानि कुछ सीमा तक पूरी हो जाती है। इससे कृषक को विभिन्न प्रकार की फसलें बोने की सुविधा होती है। इसके अतिरिक्त कई प्रकार की भूमि पर विभिन्न प्रकार की फसलों को उगाने के कारण उसे वर्ष भर के लिए पर्याप्त काम भी उपलब्ध हो जाता है।

(२) खेतों के अपखण्डन के फलस्वरूप पैतृक सम्पत्ति के प्रत्येक उत्तराधिकारी को सब प्रकार की भूमि मिल जाती है। यह नहीं, कि एक पुत्र को बढ़िया तथा उपजाऊ भूमि प्राप्त हो और दूसरे के घटिया और कम उपजाऊ भूमि ही हाथ लगे।

(३) खेतों का दूर दूर छिटके होना वर्षा, पाला, टिड्डी के आक्रमण, सूखा इत्यादि विभिन्न प्रकार के प्राकृतिक प्रकोपों के प्रति एक बीमा जैसा है जिससे किसान को किसी एक स्थान के खेत में होने वाले हानि को दूसरे स्थान पर स्थित खेतों से पूरा किया जा सकता है। इससे उसकी आर्थिक सुरक्षा होती है।

हानियाँ

(१) कृषि जोत के दूर दूर स्थित होने के कारण किसान को कृषि उत्पादन म अधिक परिश्रम करना पड़ता है। एक खेत से दूसरा खेत काफी दूरी पर स्थित होने के कारण आने जाने मे काफी समय व शक्ति का अपव्यय होता है।

(२) अपखण्डित खेतों की देख रेख करने मे कृषक को बड़ी कठिनाई का सामना करना पड़ता है। प्राय देखभाल तथा निरीक्षण के अभाव में कृषि उत्पादन को भारी क्षति पहुँचती है।

(३) खेतों के अपखण्डित होने के कारण किसान के सीमित साधनों तथा पूँजी का समुचित प्रयोग नहीं हो पाता। काफी मात्रा में एक स्थान से दूसरे स्थान पर खाद,

बीज तथा कृषि यन्त्रों के लाने वाले जाने में यातायात व्यय तथा धन का अपव्यय होता है ।

(४) खेतों के अपखन्डन तथा दूर-दूर छिटके होने के कारण सिंचाई का भी समुचित प्रबन्ध नहीं हो पाता जिससे फलस्वरूप कृषि उत्पादन में वृद्धि नहीं हो पाती । कृषि जोतों के दूर दूर स्थित होने के कारण पशुओं की शक्ति का भारी नुकसान होता है। एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाने में ही बैल इतने थक जाते हैं कि खेतों पर उनसे भरपूर काम नहीं लिया जा सकता ।

(५) कृषि जोतों के अपखण्डन से किसानों में पारस्परिक झगड़े-फिसाद पैदा होते हैं जिनसे गाँव का वातावरण तनावपूर्ण तथा दूषित हो जाता है ।

समस्या को हल करने के उपाय (Remedies)

भारत की कृषि के पिछड़ा होने का एक महत्व पूर्णकारण कृषि-जोतों का छोटे-छोटे टुकड़ों में होना तथा उनका दूर दूर छिटके होना है। यही कारण है जिसने भारतीय कृषकों की आर्थिक दशा इतनी दयनीय बना दी है। अतः यह आवश्यक है कि इस समस्या को हल करने के लिए आवश्यक प्रयत्न किये जायँ। कृषि जोतों को उपविभाजन एव अपखन्डन से उत्पन्न होने वाली बुराइयों को दूर करने के लिए हम दो प्रकार के भिन्न उपायों का सहारा ले सकते हैं :—

(१) वर्तमान कृषि जोतों की एक निश्चित सीमा के उपरान्त भविष्य में होने वाले उपविभाजन एवं अपखंडन पर वैधानिक प्रतिबन्ध लगाना ।

(२) जोतों की चकबन्दी करना ।

उपविभाजन पर रोक—कृषिजोत के उपविभाजन तथा अपखंडन की गम्भीर समस्या को हल करने के लिए सबसे बड़ी समस्या इस बात की है कि एक निश्चित एव निम्नतम आकार के पश्चात् जोतों का अपखंडन न किया जाय। इस प्रकार बड़ी-बड़ी तथा आर्थिक कृषि जोतों के अपखंडन पर वैधानिक प्रतिबन्ध लगाकर उन्हें अनुत्पादक एव अलाभकर जोतों में परिवर्तित होने से रोका जाय। इस समस्या को सुलझाने के लिए केवल चकबन्दी से काम न चलेगा जैसा कि हम आगे देखेंगे। छोटे छोटे खेतों को मिलाकर तथा दूर-दूर छिटके खेतों को एकत्र करके उन्हें चकबन्दी द्वारा यदि हम एक बड़ी कृषि की इकाई में बदल भी देते हैं तो भविष्य में उनके उपविभाजन तथा अपखंडन पर वैधानिक प्रतिबन्ध न लगने पर भविष्य में फिर उनके अन्तर्विभाजन तथा छिटक जाने का भय रहेगा। इस कारण या तो ग्रामीण क्षेत्रों में शिक्षा का प्रसार किया जाय जिससे कृषि में लगी जनसख्या की अज्ञानता का अन्त हो और उनमें चकबन्दी से होने वाले लाभ का महत्व समझने की क्षमता उत्पन्न हो जिसके परिणामस्वरूप वह स्वय उपविभाजन तथा उपखंडन जैसी बुराइयों को दूर करने का प्रयत्न करने लगेंगे, परन्तु साथ ही साथ यह भी आवश्यक है कि ऐसे खेतों की अन्तर्विभाजन से रक्षा की जाय जिनका

आकार केवल इतना ही रह गया है कि जिसके और टुकड़े किये जाने पर वे आर्थिक जोत ही न रह सकेंगे। इस कार्य के लिए कानून की सहायता लेना भी आवश्यक है। भारत के कुछ राज्यों में जैसे पंजाब, पेप्सू (PEPSU), बम्बई तथा उत्तर प्रदेश इत्यादि में भूमि के एक निम्नतम सीमा के पश्चात् भूमि के अन्तर्विभाजन एवं उसके हस्तांतरण पर वैधानिक प्रतिबन्ध लगा दिया गया है। आज आवश्यकता तो इस बात की है कि समस्त देश में व्यापक कृषि जोत के उपविभाजन तथा अपखण्डन की इस बुराई को दूर करने के लिए प्रत्येक राज्य में इस प्रकार के वैधानिक प्रतिबन्ध लगा दिये जायें।

निम्न तालिका में हम भारत के विभिन्न राज्यों में भूमि की जिस निम्नतम सीमा के पश्चात् उपविभाजन तथा अपखण्डन पर वैधानिक प्रतिबन्ध लगा दिया गया है उसका विवरण दे रहे हैं—[1]

राज्य	न्यूनतम सीमा (एकड़)
उत्तर प्रदेश	६¼ एकड़
भूपाल	१५ ,,
मध्य भारत	१५ ,,
दिल्ली	८ स्टैन्डर्ड एकड़
विन्ध्य प्रदेश	५ एकड़ (सिंचाई वाली भूमि)
	१० ,, (सूखी भूमि)

उपरोक्त तालिका में विभिन्न राज्यों द्वारा लगाये गये प्रतिबन्ध कृषि भूमि की निम्नतम सीमा निर्धारित करने के लिए वास्तव में बड़ा महत्वपूर्ण कदम है। परन्तु इस सम्बन्ध में एक और आवश्यक कार्य किया जाना भी उपयोगी होगा और वह है देश में दायाधिकार व उत्तराधिकार के नियमों में आवश्यक संशोधन करना। वर्तमान अवस्था में इन नियमों द्वारा पैतृक सम्पत्ति का सब उत्तराधिकारियों में उनके अधिकारानुसार बराबर वितरण करने से एक भूस्वामी की कृषिभूमि के अन्तर्विभाजन तथा अपखण्डन में सहायता मिलती है। इन नियमों में अगर ऐसा परिवर्तन कर दिया जाये जिससे केवल ज्येष्ठ पुत्र को ही पिता की मृत्यु के पश्चात् समस्त कृषि भूमि मिले तो उससे कृषि भूमि उपखण्डित होने से बच जायगी। परन्तु क्या यह न्यायोचित कहलायेगा? छोटे पुत्र तथा अन्य उत्तराधिकारियों को कुछ न मिले और सब भूमि बड़े लड़के को ही मिल जाय? इससे भूमि वंचित व्यक्तियों के समक्ष जीवकोपार्जन की जटिल समस्या उत्पन्न हो जायेगी।

[1] *India*, 1959, p 274-275

जोतों की चकबन्दी

चकबन्दी का अर्थ—जब भूस्वामियों की दूर दूर छिटकी हुई कृषि भूमि के छोटे-छोटे टुकड़ों को मिलाकर एक या आवश्यकता पड़ने पर एक से अधिक चकों में बाँधने का प्रयास किया जाता है तो इस कार्य को जोतों की चकबन्दी (consolidation of holdings) कहते हैं। इस कारण चकबन्दी कृषि भूमि के उपविभाजन तथा अपखण्डन की समस्या को हल करने का एक सफल प्रयास है।

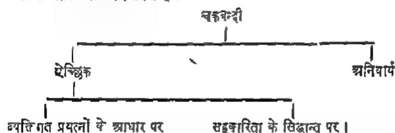
चकबन्दी का उद्देश्य—चकबन्दी का मुख्य उद्देश्य अपखण्डित तथा दूर-दूर बिखरी हुई कृषि भूमि को एक बड़े एव आर्थिक जोत में बदल देना है। कृषि की आर्थिक जोतों के निर्माण द्वारा ही हम अन्तर्विभाजन से होने वाली हानियों को दूर कर कृषि में उन्नति कर सकते हैं।

शाही कृषि आयोग (Royal Commission on Agriculture) के अनुसार "भूमि के टुकड़े टुकड़े होने की बुराई को रोककर उसकी कुछ सहायता करने का केवल एक उपाय दिखाई पड़ता है, वह उपाय है—चकबन्दी। इस प्रणाली से एक मालिक की समस्त भूमि का एक भूमिखण्ड अथवा विभिन्न प्रकार की मिट्टी के कुछ भूमिखण्ड बन सकते हैं।[1]

चकबन्दी के प्रकार—चकबन्दी का कार्य दो प्रकार से किया जा सकता है :—

(१) ऐच्छिक चकबन्दी। यह भी दो प्रकार से हो सकती है (अ) व्यक्तिगत प्रयत्न द्वारा ब) सहकारिता के आधार पर

(२) अनिवार्य चकबन्दी। चकबन्दी के विभिन्न प्रकारों को हम नीचे दिये गये रेखाचित्र द्वारा स्पष्ट कर सकते हैं :—



ऐच्छिक चकबन्दी (Voluntary Consolidation)—इस प्रकार की कृषि जोतों की चकबन्दी का कार्य किसानों की स्वेच्छा पर निर्भर करता है तथा चक बनाने के लिए किसी व्यक्ति को बाध्य नहीं किया जा सकता। इस प्रकार चकबन्दी का कार्य करने में सफलता प्राप्त करने के लिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि पहले हम चकबन्दी से प्रभावित होने वाले समस्त व्यक्तियों को उससे होने वाले लाभों से अवगत करावें। भोली

1 *Royal Commission on Agricultural Report*, p 139

भाली, अशिक्षित एवं रूढ़िवादी विचारधारा वाली ग्रामीण जनसंख्या को चकबन्दी का अर्थ तथा उसका महत्व समझने में काफी समय लगेगा, परन्तु यदि एक बार वे चकबन्दी की सम्भावनाओं तथा कृषि को उसके द्वारा प्राप्त होने वाले लाभों से प्रभावित हो जाते हैं, तो फिर निसन्देह वे स्वेच्छापूर्वक चकबन्दी के लिए तैयार हो जायेंगे। ऐच्छिक चकबन्दी का कार्य दो प्रकार से सम्पन्न हो सकता है :—

(१) व्यक्तिगत प्रयत्नों के आधार पर—व्यक्तिगत प्रयत्नों द्वारा चकबन्दी करना वास्तव में एक बड़ा ही कठिन कार्य है। आश्चर्य की बात तो यह है कि व्यक्तिगत प्रयत्नों द्वारा की जाने वाली चकबन्दी का कार्य संसार के उन्नतिशील राष्ट्रों जैसे डेनमार्क, जर्मनी तथा फ्रांस आदि देशों में भी अधिक सफलता नहीं प्राप्त कर सका तो इस क्षेत्र में भारत जैसे पिछड़े देश में व्यक्तिगत प्रयत्नों के आधार पर की जाने वाली चकबन्दी की सफलता के लिए आशा करना ही व्यर्थ है। अनेक कारणों से हमारे देश में चकबन्दी का कार्य व्यक्तिगत प्रयत्नों द्वारा सफल नहीं हो सकता। क्योंकि :—

(अ) भारत की अधिकांश कृषि जनसंख्या अशिक्षित एवं रूढ़िवादी होने के कारण चकबन्दी का वास्तविक महत्व नहीं समझती।

(ब) भारत में कृषिक्षेत्र में अधिकारों की विभिन्नता के कारण भी व्यक्तिगत प्रयत्नों के आधार पर चकबन्दी करने में बड़ी बाधा पहुँचती है।

(स) टेकनीकल ज्ञान का अभाव।

(२) सहकारी सिद्धान्तों के आधार पर—चकबन्दी का कार्य सहकारिता के आधार पर किया जा सकता है। इस प्रकार चकबन्दी के कार्य का जन्म सर्वप्रथम १९२१ में पंजाब में हुआ जहाँ चकबन्दी के लिए सहकारी समितियों की स्थापना की गई। सहकारी सिद्धान्तों द्वारा की जानेवाली चकबन्दी में भी किसी प्रकार की जबरदस्ती नहीं की जाती और न ही किसी को चकबन्दी के लिए बनाई गई योजना को मान्यता प्रदान करने के लिए विवश किया जाता है। समिति के अधिकारियों का मुख्य कार्य चकबन्दी सम्बन्धी लाभों से सदस्यों को अवगत करना है। समिति की सदस्यता के द्वार सभी व्यक्तियों के लिए खुले होते हैं। चकबन्दी के लिए आवश्यक भूमि के पुनर्विभाजन तथा चकबन्दी की योजना उस समय तक कार्यान्वित नहीं की जा सकती जब तक प्रत्येक सदस्य की अनुमति प्राप्त न हो जाये। इस प्रकार सहकारिता के आधार पर की जानेवाली चकबन्दी में भी अनेक कठिनाइयाँ आती हैं, जैसे :—

(१) अशिक्षित तथा अन्धविश्वासी ग्रामीण जनता को चकबन्दी का लाभ तथा महत्व समझाना अत्यन्त कठिन कार्य है।

(२) आसानी से भारतीय किसान अपनी पैतृक भूमि के हस्तांतरण के लिए तत्पर नहीं होते।

(३) यथार्थ में किसी एक व्यक्ति को भी चकबन्दी की योजना मान्य न होने पर उसे कार्यान्वित नहीं किया जा सकता।

(४) चकबन्दी के लिए आवश्यक थोड़े से भी व्यय के लिए किसान तैयार नहीं होता।

(५) इस प्रकार चकबन्दी में समय अधिक लग जाता है।

अनिवार्य चकबन्दी—भारत जैसे देश मे व्यक्तिगत प्रयत्नों के आधार पर तथा सहकारी सिद्धान्तों के आधार पर की जाने वाली ऐच्छिक चकबन्दी सफल न होने के कारण यह बात स्पष्ट हो जाती है कि यदि हमें भारतीय कृषि को कृषि भूमि के विभाजन तथा अपखण्डन के दोषों से मुक्त करना है तो यह आवश्यक है कि अनिवार्यता (compulsion) का सहारा लें। इसलिए कानून द्वारा चकबन्दी का कार्य किया जाने लगा। अनिवार्य चकबन्दी या तो गाँव के अधिकाश भूस्वामियों, जिनके पास गाँव की एक निश्चित न्यूनतम भूमि है, द्वारा चकबन्दी के लिए रक्खी गई योजना के आधार पर की जाती है। अथवा सरकार अपनी ओर से चकबन्दी का कार्य प्रारम्भ कर देती है। ऐसी दशा में सरकार के लिए भूस्वामी की अनुमति लेना आवश्यक नहीं है। अनिवार्य रूप से चकबन्दी का कार्य करने के लिए भारत मे विभिन्न राज्यों में चकबन्दी सम्बन्धी अधिनियम बना लिए गये हैं। मध्य प्रदेश में यह नियम १६२८ में पास हुआ था, पंजाब में १६३६ में, उत्तर प्रदेश में १६३६ मे, तथा जम्मू व काश्मीर में भी यह नियम १६४० म पास किये गये। उत्तर प्रदेश के अधिनियम का संशोधन १६५३ में किया गया। बम्बई राज्य में १६४७ में, पूर्वी पंजाब में १६४८ में, उड़ीसा मे १६५१ मे, हिमाचल प्रदेश में १६५३ में, राजस्थान में १६५४ मे, पश्चिमी बंगाल मे १६५५ मे और बिहार तथा हैदराबाद में १६५६ में चकबन्दी सम्बन्धी अधिनियम पास किये गये।[1]

चकबन्दी की प्रगति

चकबन्दी ही भारत की कृषि भूमि के अन्तर्विभाजन तथा छितरे होने का एक मात्र उपाय है। हमारे देश म चकबन्दी का महत्व पूर्णतया स्पष्ट हो जाने के कारण प्राय देश के सभी राज्यों में चकबन्दी का कार्य प्रारम्भ हो गया है। कुछ राज्यों में तो इस क्षेत्र में महान प्रगति हुई है। परन्तु साथ ही कुछ राज्य ऐसे हैं जो इस क्षेत्र मे अभी काफी पिछड़े हैं जिसके कारण भारतीय कृषि के समक्ष उत्पन्न इस भीषण रोग को पूर्णतया दूर नहीं किया जा सका है। देश के विभिन्न राज्यों में सन् १६५७ के अन्त तक चकबन्दी के क्षेत्र में की गई प्रगति अगले पृष्ठ पर दी गई है[2] (इसका विस्तृत विवरण अध्याय ६ में दिया गया है।)

---

1 *Indian Economics*, Gupta S B, p 202

2 *Indian Economics Year Book*, 1959 60, p 69

बम्बई	१८६० गाँव
दिल्ली	२१० गाँव
मध्य प्रदेश	२६ लाख एकड़
पंजाब	६१.४ लाख एकड़
उत्तर प्रदेश	४०.६ लाख एकड़

चकबन्दी में आने वाली कठिनाइयाँ

यद्यपि चकबन्दी द्वारा हम भारतीय कृषि में पर्याप्त उन्नति कर सकते हैं फिर भी चकबन्दी के कार्य में अनेक ऐसी कठिनाइयाँ आती हैं जिनके कारण चकबन्दी की प्रगति में बड़ी बाधा पहुँचती है। इनमें से कुछ कठिनाइयाँ निम्न हैं :—

(१) चकबन्दी के कार्य में आवश्यक व्यय होने के कारण इसकी प्रगति में बाधा पहुँचती है। उत्तर प्रदेश, पंजाब तथा मध्य प्रदेश जैसे राज्यों में सरकार भी चकबन्दी के लिए कुछ शुल्क लेती है।

यदि यह कार्य बिना कुछ लिये ही किया जाये तो आशा है कि चकबन्दी के क्षेत्र में पर्याप्त प्रगति हो सकेगी।

(२) अपनी पैतृक तथा पूर्वजों से प्राप्त भूमि के प्रति अत्यधिक ममता तथा लगाव होने के कारण किसान उसे हस्तांतरित करने के लिए आसानी से तैयार नहीं होता। इस कारण भी चकबन्दी का कार्य अधिक तेजी से नहीं हो पा रहा है।

(३) भारत के अधिकांश क्षेत्रों मे भूमि में अधिकार सम्बन्धी आवश्यक अभिलेखों (Records) के न होने के कारण भी चकबन्दी के कार्य में कठिनाई होती है।

(४) प्रशिक्षित तथा कुशल कर्मचारियों की कमी होने के फलस्वरूप चकबन्दी जैसे गम्भीर तथा पेचीदा कार्य को पूरा करना अत्यन्त कठिन हो जाता है, जो उसके मार्ग में आने वाली प्रमुख बाधा है।

(५) चकबन्दी कार्य से सम्बन्धित कर्मचारियों में ईमानदारी की कमी, रिश्वत लेने, भेदभाव तथा पक्षपात करने की प्रवृत्ति के कारण ग्रामीण जनता में चकबन्दी के प्रति अविश्वास की भावना उत्पन्न हो गई है जो इस कार्य की प्रगति में बड़ी बाधक सिद्ध हुई है।

(६) निरक्षरता, अंधविश्वास तथा अज्ञानता के कारण भारतीय किसान चकबंदी के कार्य का न तो वास्तविक महत्व समझता है और न उसकी प्रगति में अपना समुचित योग प्रदान कर पाता है जिसके कारण चकबन्दी के क्षेत्र में भारी प्रगति नहीं हो सकी है।

कृषि की विभिन्न प्रणालियाँ (Types of Farming)

भारतीय कृषि को सुधारने के लिए कृषि जोतों के अन्तर्विभाजन तथा अपखण्डन को रोकने की सबसे बड़ी आवश्यकता है। इस सम्बन्ध में दिये गये उपरोक्त सुझाव जैसे उत्तरा-

धिकार नियमों में परिवर्तन करना तथा चकबन्दी द्वारा बड़े आकार के आर्थिक जोतो का निर्माण करना तो इस समस्या को हल करने का एक सफल उपाय है ही, परन्तु साथ साथ कृषि प्रणाली में आवश्यक परिवर्तन करके भी हम इस समस्या को बहुत सीमा तक हल कर सकते हैं। वास्तविकता तो यह है कि भारत जैसे कृषि प्रधान देश में जहाँ जनसख्या का अधिकाश भाग भूमि पर ही अपनी जीविका प्राप्ति के लिए निर्भर करता हो व्यक्तिगत आधार पर कृषि व्यवसाय अधिकतर उपयुक्त नहीं हो सकता। वर्तमान परिस्थितियों में जब भूमि पर जनसख्या का भार बढ़ता जा रहा है तो इस बात की ओर गम्भीरतापूर्वक सोचना चाहिए कि क्या हम व्यक्तिगत खेती (individual farming) के स्थान पर किसी अन्य प्रकार की व्यवस्था का प्रयोग नहीं कर सकते। ससार के अनेक राष्ट्र ऐसे हैं जहाँ पर किसानों द्वारा व्यक्तिगत आधार पर खेती नहीं की जा सकती है जिसके फलस्वरूप वे राष्ट्र उपविभाजन एव अपखण्डन जैसी समस्याओं से मुक्त हैं और साथ ही उनकी खेती भी सुधरी हुई अवस्था में है। कृषि के क्षेत्र में अपनाई जाने वाली विभिन्न प्रणालियों का वर्णन नीचे दिया जा रहा है —

(१) सामूहिक खेती (Collective Farming) सामूहिक कृषि प्रणाली के अन्तर्गत बड़े पैमाने पर खेती की जा सकती है। भूमि पर किसी व्यक्ति का अधिकार न होकर सामूहिक अधिकार हो जाता है। समस्त कृषि यन्त्रों तथा अन्य साधनों का सामूहिक रूप से प्रयोग किया जाता है। व्यक्तिगत किसान को मजदूरी पाने का अधिकार होता है जिसका निर्धारण उसके कार्य के अनुसार किया जाता है। सक्षेप में सामूहिक प्रणाली के अन्तर्गत भूमि पर व्यक्तिगत अधिकारों का प्राय अन्त सा हो जाता है। हमारे देश में जहाँ भूमि तथा अचल सम्पत्ति के प्रति लोगों में इतना प्रेम है इस प्रकार की कृषि पद्धति के लिए अनुकूल वातावरण नहीं है, परन्तु सोवियत रूस जैसे महान देशों में सामूहिक कृषि उत्पादन में भारी प्रगति हुई है। रूस के कोलखोज (Kolkhoz), इजराइल के किब्बुज (Kibbutz) तथा मोशाव शितूफी (Moshav shitufi) सामूहिक खेती के उत्तम उदाहरण हैं।[1]

(२) राज्य कृषि अथवा भूमि का राष्ट्रीकरण (State Farming or Nationalisation of Land)—राज्य कृषि भी भारत की सामाजिक एव आर्थिक परिस्थितियों के अनुकूल नहीं है। हमारे देश में आदि काल से भूमि पर व्यक्तिगत अधिकार की परम्परा चली आ रही है। शायद ही भारत का कोई भी किसान ऐसा हो जो भूमि पर अपने व्यक्तिगत स्वामित्व को समाप्त कर देने को तत्पर हो, परन्तु राज्य कृषि के अन्तर्गत ऐसा सम्भव नहीं है। उसके अन्तर्गत समस्त भूमि का राष्ट्रीकरण करके भूमि पर व्यक्तिगत स्वामित्व को समाप्त कर देना पहला कार्य होगा। सरकार

---

[1] O P Dahama, *Agricultural and Rural Economics*, p 61

सारी कृषि भूमि को अपने अधिकार में लेकर कृषकों द्वारा आधुनिक यन्त्रों के प्रयोग से कृषि उत्पादन का कार्य करायेगी जिसके लिए किसानों को वेतन दिया जायेगा। परन्तु क्या इस प्रणाली में समस्त कृषि समस्याओं का हल हो जायेगा? सत्य तो यह है कि कृषि में उन्नति व्यक्तिगत प्रेरणा तथा प्रोत्साहन द्वारा ही सम्भव हो सकती है। भूमि के राष्ट्रीकरण के पश्चात् किसान केवल सरकारी कर्मचारी के रूप में ही खेती का कार्य करेंगे। व्यक्तिगत लाभ की आशा के अभाव में प्रत्येक कृषक अपना अधिकतम योग (maximum contribution) न देगा।

(३) सुसगठित खेती (Corporate Farming)—इस प्रकार की सुसगठित खेती का एक मात्र उद्देश्य कृषि उत्पादन द्वारा अधिक से अधिक लाभ प्राप्त करना है। सुसगठित खेती वास्तव में पूँजीवादी उत्पादन प्रणाली का ही एक रूप है। कृषि उत्पादन की इस प्रणाली के अन्तर्गत बड़े पैमाने पर खेती करने के लिये पर्याप्त पूँजी एवं भूमि का होना आवश्यक है जिससे खेती के उन्नत तरीकों से कृषि उत्पादन करने से लाभ में पर्याप्त वृद्धि हो जाती है। इस प्रकार कृषि उत्पादन भी बहुत बढ़ जाता है।

(४) सहकारी कृषि (Co operative Farming)—वर्तमान समय में सहकारी कृषि के ऊपर काफी वादविवाद उठ खड़ा हुआ है। खेतों के उपखण्डन तथा दूर-दूर छिटके होने की समस्या को हल करने के लिये तथा भारतीय कृषि के पुर्नसगठन के लिए सहकारी कृषि पद्धति अपनाये जाने का सुझाव दिया जाता है। सहकारी कृषि का वास्तविक अर्थ क्या है? इस सम्बन्ध में बड़ा मतभेद है और अनेक भ्रममूलक विचार प्रस्तुत किये गये हैं जिनसे सहकारी कृषि का अर्थ तथा देश की वर्तमान कृषि व्यवस्था में उसके महत्व को समझने में बड़ी कठिनाई होती है। हम इस सम्बन्ध में नीचे कुछ प्रमुख लेखकों तथा विशेषज्ञों द्वारा बताये गये सहकारी कृषि के अर्थ का विवरण दे रहे हैं। उदाहरण के लिए डा० ओटो शिलर (Dr Otto Schiller) के शब्दों में—

"In modern literature generally co operative farming is understood as a form of farm management in which the land is used jointly ......[1] अर्थात् आधुनिक साहित्य में सहकारी कृषि का यह अर्थ लगाया जाता है कि यह प्राय कृषि व्यवस्था का एक रूप है जिसमें भूमि का सयुक्त प्रयोग किया जाता है।

काग्रेस अध्यक्ष श्री सजीव रेड्डी (Shri Sanjiva Reddy) के अनुसार "Co operation is not only a technique for greater production and better living but is also a way of life

[1] Dr Otto Schiller Quoted by K R Kulkarni, *Theory and Practice of Co operation in India and Abroad*, V III, p 578.

which is opposed to many of the conflicts that exist to day "* सहकारिता न केवल अधिक उत्पादन तथा उन्नत जीवन की एक विधि है वरन यह जीवन का एक ऐसा मार्ग भी है जो वर्तमान समय के अनेक संघर्षों के विरुद्ध है।

सहकारी कृषि के भेद—सहकारी कृषि के ४ विभिन्न रूप हैं जिनका भेद समझना आवश्यक है —

(१) सहकारी संयुक्त कृषि (Co operative Joint Farming)—इस प्रकार की सहकारी कृषि में छोटे-छोटे खेतों को मिलाकर एक बड़ी इकाई बना ली जाती है जिसमें सदस्यों का अपनी अपनी भूमि पर अधिकार बना रहता है। भूमि के प्रबन्ध के लिए एक समिति होती है जिसके द्वारा बनाई गई योजना के अनुसार कार्य करने हैं। उनके द्वारा किये गये श्रम के लिए उन्हें मजदूरी दी जाती है, साथ ही उनकी भूमि में मूल्य के अनुपात में लाभांश भी प्राप्त होता है।

(२) सहकारी उन्नत कृषि (Co operative Better Farming)—इस प्रकार की प्रणाली में व्यक्तिगत एवं मिल जुलकर दोनों प्रकार से काम किया जाता है। सदस्यों में इस बात का पूर्ण स्वतन्त्रता होती है कि वह किन बातों में अन्य सदस्यों के साथ मिल जुलकर काम करें और किन बातों को व्यक्तिगत आधार पर करें। जहाँ तक भूमि के स्वामित्व तथा प्रबन्ध का प्रश्न है उसके लिए भूस्वामी पूर्ण स्वतन्त्र है, परन्तु यदि वह कृषि में उन्नति करना चाहता है तो इसके लिए कृषक एक सहकारी उन्नत खेती समिति का निर्माण कर लेते हैं जिसके द्वारा बढ़िया बीज, अच्छी खाद, उन्नत कृषि यन्त्र तथा कृषि सम्बन्धी विभिन्न क्रियाओं के लिए मशीन आदि के खरीदने तथा खेती की उपज बेचने का कार्य किया जाता है। डेनमार्क जैसे देशों में इस प्रकार की समितियों ने महत्वपूर्ण कार्य किये हैं।

(३) सहकारी काश्तकार खेती (Co operative Tenant Farming)—सहकारी काश्तकार खेती के अन्तर्गत समस्त कृषि भूमि सहकारी समितियों के अधिकार में होती है जिसे छोटे छोटे चकों में विभक्त कर दिया जाता है। समिति खेती कराने के लिए कुछ किसानों को लगान पर एक एक चक दे देती है जिन पर खेती समिति द्वारा बनाई गई योजना के अनुसार ही करना होता है। कृषि सम्बन्धी विविध सुविधाएँ, जैसे खाद, बीज, औजार आदि प्रदान करना समिति का ही उत्तरदायित्व होता है। उत्तर प्रदेश में गंगा खादर योजना पर सहकारी आसामी कृषि व्यवस्था अथवा सहकारी काश्तकार कृषि का महत्वपूर्ण प्रयोग हो रहा है।

(४) सहकारी सामूहिक कृषि (Co operative Collective Farming)—इस प्रकार की कृषि में भी भूमि सहकारी कृषि के अधिकार में होती है, परन्तु

---

* *National Herald*, dated—Jan 17, 1960

इसमें खेती का कार्य भी समिति के सदस्यों द्वारा ही सम्पन्न होता है। ऐसी प्रणाली में समिति के सदस्य के पास भूमि का व्यक्तिगत स्वामित्व नहीं रहता है। वे तो वेतन के बदले केवल एक श्रमिक के रूप में ही काम करते हैं। सदस्य समिति द्वारा अर्जित लाभ का कुछ भाग पाने के अधिकारी होते हैं।

भारतवर्ष में सहकारी कृषि (Co operative Farming in India) —वैसे तो सहकारी कृषि के सिद्धान्त भारत के लिए कुछ नये नहीं हैं फिर भी काग्रेस के नागपुर अधिवेशन में पास किये गये प्रस्तावों में, विशेषकर कृषि सगठन सम्बन्धी, के पास होने के उपरान्त सहकारी कृषि पर काफी विवाद उठ खड़ा हुआ है। नागपुर अधिवेशन के पश्चात् काग्रेस ने सहकारी कृषि प्रणाली अपनाने का जो महत्वपूर्ण निश्चय किया उसे देश के अन्य राजनैतिक दलों तथा आलोचकों द्वारा सहकारी कृषि की तीव्र आलोचना की जाने लगी। कुछ लोगों के विचार से देश की वर्तमान कृषि अर्थ व्यवस्था को सुधारने, कृषि में उन्नति करने, तथा कृषि उत्पादन में पर्याप्त वृद्धि तथा खाद्य समस्या को हल करने का एक मात्र साधन सहकारी कृषि है, परन्तु दूसरी ओर स्वतन्त्रता, जनतन्त्र तथा अन्य उच्च आदर्शों एव सिद्धान्तों के नाम पर सहकारी कृषि की की जाने वाली कटु आलोचना भी सर्व विदित है। यदि एक ओर भारत के प्रधान मन्त्री जवाहरलाल नेहरू, श्री सजीव रेड्डी, श्री निजिलिंगप्पा जैसे नेताओं ने सहकारी कृषि द्वारा देश की सामाजिक एव आर्थिक स्थिति सुधारने की बड़ी आशा प्रकट की है, तो दूसरी ओर राजगोपालाचार्या, क० एम० मुन्शी, प्रो० रगा, मिस्टर एम० आर० मसानी जैसे विचारकों एव विद्वानों ने सहकारी कृषि की सफलता पर काफी सन्देह प्रगट किया है। इस कारण हम सहकारी कृषि के पक्ष एव विपक्ष में कहे गये कुछ महत्वपूर्ण तर्कों का परीक्षण कर रहे हैं।

सहकारी कृषि का आलोचनात्मक विश्लेषण पक्ष में

(१) सहकारी कृषि से कृषि जोतों के आकार में पर्याप्त वृद्धि हो जाती है। यह एक ऐसी विधि है जिसके द्वारा खेतों के छोटे छोटे टुकड़ों में विभक्त होने तथा उनके छिटके होने के कारण कृषि को होने वाली हानियाँ दूर करके भारतीय कृषि में काफी उन्नति की जा सकती है।

(२) सहकारी कृषि भारतीय कृषकों को आर्थिक सुरक्षा प्रदान करने का एक महत्वपूर्ण साधन है। मिल-जुलकर की जाने वाली खेती में फसल खराब होने तथा अन्य-प्रकार के जोखिमों का भार एक व्यक्ति पर नहीं पड़ता।

(३) सहकारी कृषि द्वारा देश में कृषि उत्पादन में भारी वृद्धि करके वर्तमान समय में खाद्यान्न की कमी जैसी गम्भीर समस्या बड़ी सुगमता से हल की जा सकती है।

(४) अनेक प्रकार से कृषि में उन्नति करने के लिए सहकारी कृषि बड़ी उपयोगी

सिद्ध हो सकती है। सहकारी कृषि समितियों द्वारा किसान को बाजारों की प्रवृति तथा अपने साधनों के समुचित प्रयोग के सम्बन्ध में आवश्यक जानकारी प्रदान की जा सकती है जिससे उसको अपने कृषि उत्पादन के स्तर को बढ़ाने में बड़ी सहायता मिलेगी।

(५) सहकारी कृषि द्वारा बड़े पैमाने पर खेती की जाने की सम्भावना की जा सकती है। अनेक बचतों के प्राप्त होने तथा थोक भाव पर कृषि के लिए आवश्यक सामग्री बीज, यन्त्र, आदि खरीदने से उत्पादन लागत बहुत कम हो जाती है और साथ ही उत्पादन में भी वृद्धि होती है।

(६) सहकारी खेती द्वारा होने वाले सामाजिक लाभ के कारण भी सहकारी कृषि पद्धति भारत के लिए अत्यन्त महत्वपूर्ण व उपयोगी है। ग्रामीण जीवन में मिल जुल कर रहने, पारस्परिक सहयोग तथा भाईचारे की भावनाओं का विकास कर सहकारी कृषि ग्रामीण जीवन में शान्ति एवं सुख का संचार करने का एक उपयोगी साधन है।

सहकारी कृषि से होने वाले लाभों को बड़े ही सुन्दर ढङ्ग से निम्न शब्दों में स्पष्ट किया गया है —

"Co operative farming is held to be the best means of rationalising agriculture and attaining a higher order of social and economic life in keeping with the principles of democracy and self-government'[1]

विपक्ष में

विभिन्न लेखकों तथा विशेषज्ञों द्वारा सहकारी कृषि की तीव्र आलोचना की गई है। मिस्टर एच० के वीराना गऊथ (Mr H K Veeranna Gowdh) के शब्दों में —

"Co operative farming had nothing sinful or destructive about it any more than promoting joint stock companies or industrial combines"[2]

सहकारी कृषि के विपक्ष में दिये जाने वाले मुख्य तर्क निम्न हैं —

(१) सहकारी कृषि भारत की सामाजिक परिस्थितियों के सर्वथा प्रतिकूल है।

(२) भूमि के प्रति अधिक लगाव होने के कारण कृषकों से भूमि प्राप्त करने में बड़ी कठिनाई होगी। सहकारी कृषि का सबसे बड़ा दोष यह है कि इससे किसान केवल एक श्रमिक के रूप में परिणत हो जाता है। इसके फलस्वरूप उसकी रुचि एवं उत्साह में कमी आ जाने से कृषि उत्पादन में बुरा प्रभाव पड़ सकता है।

(३) कुछ लोगों के विचार से सहकारी कृषि प्रणाली के अपनाये जाने से देश में बेकारी की समस्या और बढ़ जायेगी।

1 K R Kulkarni, *Theory and Practice of Co-operation*, p 178.

2 *National Herald*, dated Jan 17, 1960

(४) पर्याप्त कुशल कर्मचारियों तथा प्रशिक्षित व्यक्तियों का अभाव सहकारी कृषि पद्धति को सफल बनाने तथा उसे वास्तविक लाभ प्राप्त करने में बहुत बड़ी बाधा है।

(५) मिस्टर रेल्फ ओल्सेन (Mr. Ralph O len), जिन्होंने भारत में अभी कुछ समय पूर्व आये हुए अमरीकी कृषकों के एक दल का नेतृत्व किया, सहकारी कृषि के सम्बन्ध में अपने विचार स्पष्ट करते हुए कहा है —

"Co-operative farming was not too practical and I do not think it will be successful in India It took away incentive from the farmer and made him lose his identity and individual interests as an entrepreneur in the land [1]

सहकारी सेवा समितियाँ (Service Co operatives)—भारत में कृषि की उन्नति के लिए सहकारी सेवा समितियों द्वारा बड़ा उपयोगी कार्य किया जा सकता है। वर्तमान स्थिति में जबकि विभिन्न विचारकों तथा लेखकों द्वारा सहकारी कृषि की तीव्र आलोचना की जा रही है शायद ही कोई व्यक्ति ऐसा हो जिसे सहकारी सेवा समितियों के उपयोग तथा महत्व में तनिक भी सन्देह हो। प्रसिद्ध अमेरिकन कृषि नेता मिस्टर ओल्सन द्वारा भी सहकारी सेवा समितियों की बड़ी प्रशंसा की गई है। उनके शब्दों में :—

"Service Co operatives were very practical and will be of tremendous advantage to India"

इन सहकारी सेवा समितियों द्वारा किसान को उसके लिए आवश्यक खाद, बीज, उर्वरक, सुधरे कृषि यन्त्र, साख, विपणन तथा प्राविधिक उपयोगी सुविधाएँ सुगमता से प्राप्त हो सकती हैं जिनसे वह अपनी कृषि में पर्याप्त उन्नति कर सकता है। इस प्रकार सहकारी सेवा समितियाँ कृषि सुधार के लिए अत्यन्त आवश्यक हैं।

भारत में सहकारी कृषि अभी अपनी प्रारम्भिक अवस्था में है परन्तु कृषि क्षेत्र में इसका अत्यधिक महत्व होने के कारण सहकारी कृषि के विकास का दृढ़ निश्चय कर लिया गया है। दिसम्बर १९५८ तक भारत में सहकारी कृषि समितियों की संख्या लगभग २०३० थी परन्तु भारत जैसे विशाल देश के लिए यह संख्या इस बात का स्पष्ट प्रमाण है कि अभी सहकारी कृषि ने देश में व्यापक प्रगति नहीं की है जिसके लिए आवश्यक है कि इसके विकास एवं प्रचार के लिए आवश्यक प्रयत्न किये जावें तभी देश सहकारी कृषि द्वारा समुचित लाभ प्राप्त कर सकेगा। सहकारी कृषि के विकास के लिए हमें निम्न प्रयत्न करने चाहिए :—

---

1 *National Herald*, dated Dec 29, 1959

(१) सहकारी कृषि द्वारा होने वाले लाभ तथा उसके महत्त्व से किसान को अवगत करने के लिए इसका व्यापक प्रचार हो।

(२) इसके लिए आवश्यक प्राविधिक सलाह तथा परामर्श की सुविधायें प्रदान करनी चाहिए जिससे इसके मार्ग में आनेवाली प्राविधिक कठिनाइयाँ इसके विकास में बाधक न हों।

(३) सहकारी कृषि समितियों को अपना कार्य सुगमतापूर्वक चलाने के लिए उन्हें आवश्यक प्रोत्साहन देना भी अत्यन्त आवश्यक है। उन्हें अपने कृषि उत्पादन के लिए उचित अथवा रियायती मूल्य पर आवश्यक कृषि सामग्री जैसे खाद, बीज, कृषि यन्त्र उर्वरता वर्धक इत्यादि दिलाकर सहकारी कृषि में बड़ी प्रगति की जा सकती है।

भारत सरकार ने देश में सहकारी कृषि के विकास के लिए महत्त्वपूर्ण कदम उठाये हैं। प्रथम तथा द्वितीय पचवर्षीय योजनाओं में कृषि के प्रसार के लिए महत्त्वपूर्ण प्रयत्न किये गये हैं। द्वितीय पचवर्षीय योजनाकाल में देश में कार्य करने वाली अथवा निष्क्रिय समितियों को सुधारने अथवा पुन जीवित करने की ओर ध्यान दिया जायेगा। देश में आगामी वर्षों के लिए बनने वाली तृतीय पचवर्षीय योजना में भी सहकारी कृषि तथा सहकारी सेवा समितियों की ओर पर्याप्त ध्यान दिया जाने का निश्चय किया गया है। इस योजना के अन्तर्गत लगभग २,५०,००० सहकारी समितियों की स्थापना करने का प्रस्ताव रक्खा गया है जिसकी सदस्य सख्या लगभग ४ करोड़ होगी।

प्रश्न

1 What are the causes and effects of subdivision and fragmentation of agricultural holdings? What remedial measures have been adopted to check and eradicate the evil?

(*Agra, 1957, 1959 Delhi, 1953, Rajasthan, 1952, Allahabad 1953, Patna, 1953*)

2 Write a short note on 'Agricultural Holdings in India'

(*Agra, 1956, 1948, Rajasthan, 1948*)

3 Define an 'Economic Holding' What measures would you suggest for creation and stabilisation of economic holdings in India?

(*Rajasthan, 1953*)

4 What are the various types of farming at present practised in India? How far would 'Co operative Farming' prove beneficial for our country under the present circumstances? (*Agra, 1960*)

5 Write a short note on —

Consolidation of Holdings (*Punjab, 1958*)
Service Co-operatives (*Agra, 1960*)

अध्याय ९

भूमि व्यवस्था एवं भूमि सुधार

(Land Tenures and Land Reforms)

किसी भी देश के जीवन को सुदृढ़ और सम्पन्न बनाने में उस देश की भूमि व्यवस्था (Land Tenures) का बड़ा हाथ होता है। वास्तव में देखा जाय तो भूमि ही किसी देश की अर्थ-व्यवस्था का आधार होती है। बेचारे किसान भाइयों की आर्थिक सम्पन्नता भी भूमि के वितरण विधि तथा भूमि के अधिकार पर अवलम्बित होती है। अतः किसी भी देश में वहाँ की राज्य सरकार पर न्यायोचित भूमि व्यवस्था करने का उत्तरदायित्व बहुत विशाल है।

भूमि व्यवस्था का अर्थ

"भूमि व्यवस्था का सम्बन्ध उन शर्तों एवं अवस्थाओं से है जिन पर भूमि का स्वामित्व और उसकी जोत का अधिकार निर्भर करता है।" स्पष्ट शब्दों में भूमि व्यवस्था का अर्थ भू-स्वामित्व और भू-उपयोग से है।

भूमि व्यवस्था का महत्व

भूमि व्यवस्था का अध्ययन तीन दृष्टिकोण से महत्वपूर्ण है :—

(१) राज्य अथवा सरकार को लगान वसूल करने के लिए आवश्यक है कि वह भू-स्वामी का पता लगावे।

(२) भूमि व्यवस्था का प्रभाव भूमि की उत्पादकता पर भी पड़ता है। उदाहरणार्थ खुद काश्तकार अपनी भूमि पर अधिक उत्साह एवं लगन से कार्य करता है।

(३) भूमि-व्यवस्था पर देश का सामाजिक संगठन भी निर्भर करता है क्योंकि भूमि व्यवस्था के अनुसार ही सामाजिक एवं लौकिक प्रथाओं का निर्माण होता है।

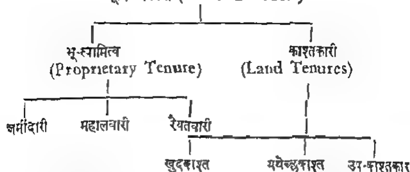
भूमि व्यवस्था के पक्ष

भूमि व्यवस्था के अन्तर्गत दो पक्षों का विवेचन होता है :

(१) भू-स्वामित्व (Proprietary Rights), तथा

(२) जोत का अधिकार अथवा काश्तकारी (Cultivation Tenures)।

उपरोक्त का स्पष्टीकरण निम्न चार्ट द्वारा किया जा सकता है :—



भू स्वामित्व—इसके अन्तर्गत यह देखा जाता है कि भू स्वामियों के भूमि पर क्या क्या अधिकार हैं तथा सरकार के प्रति उनके क्या-क्या कर्तव्य हैं।

भारतवर्ष में भू-स्वामित्व की तीन पद्धतियाँ अति प्राचीनकाल से चली आई हैं—

(१) जमींदारी प्रथा,

(२) महालवारी प्रथा; तथा

(३) रैयतवारी प्रथा।

जमींदारी प्रथा

जमींदारी प्रथा को भारतवर्ष में चलाने का श्रेय लार्ड कार्नवालिस को है जिन्होंने सन् १७९३ में भारतीय किसानों को एक निश्चित रकम देने के बदले में भू स्वामित्व सम्बन्धी अधिकार प्रदान किये थे। यह प्रथा इंगलैण्ड में प्रचलित पद्धति पर आधारित है। इस पद्धति के अनुसार जमींदार ही सम्पूर्ण भूमि का मालिक होता है। जमींदार स्वयं खेती न करके भूमि को बटाई अथवा लगान पर उठा देता है। परन्तु वैधानिक रूप से लगान देने का उत्तरदायित्व उसी के ऊपर होता है। जमींदार किसान और सरकार के बीच में एक प्रकार का मध्यस्थ होता है।

जमींदार द्वारा सरकार को दिये जानेवाले लगान की मात्रा दो प्रकार से निश्चित होती है :—

(१) स्थायी बन्दोबस्त; तथा

(२) अस्थायी बन्दोबस्त।

स्थायी बन्दोबस्त—(Permanent Settlement)—इस पद्धति के अन्तर्गत जमींदार द्वारा सरकार को दी जाने वाली लगान की धनराशि सदैव के लिए एक बार निश्चित हो जाती है।

अस्थायी बन्दोबस्त (Temporary Settlement)—इस प्रथा के अन्तर्गत लगान की धनराशि सदैव के लिए निश्चित न होकर एक निश्चित काल के

लिए निश्चित की जाती है। यह काल ३० या ४० वर्ष का होता है। इस काल के पूर्ण हो जाने पर लगान की धनराशि पुनः निश्चित की जाती है।

जमींदारी प्रथा बंगाल, बिहार, उत्तर प्रदेश, उत्तरी मद्रास, मध्य प्रदेश तथा बम्बई के कुछ भागों में पाई जाती है। उत्तर प्रदेश तथा देश के अन्य प्रदेशों में जमींदारी प्रथा का उन्मूलन अभी हाल में ही किया गया है। जमींदारी प्रथा का विस्तार में अध्ययन अगले पृष्ठों में किया गया है।

महालवारी प्रथा—इस पद्धति का श्रीगणेश सन् १८३३ ई० के 'रेगुलेशन एक्ट' के अनुसार सर्व प्रथम आगरा व अवध में हुआ था। कालान्तर में इसे पंजाब के कुछ भागों में लागू कर दिया गया। 'महाल' शब्द का अर्थ गाँव से होता है। गाँव के कुछ समृद्धिशाली लोग मिलकर सरकार से भूमि का स्वामित्व प्राप्त कर लेते हैं और सम्मिलित रूप से गाँव भर के लगान को चुकाने का उत्तरदायित्व अपने ऊपर ले लेते हैं। अतः इस प्रथा को 'संयुक्त ग्राम स्वामित्व' (Joint Village Tenure) प्रणाली भी कहते हैं।

विशेषतायें

(१) इस प्रथा के अन्तर्गत मालगुजारी अस्थायी होती है।

(२) मालगुजारी के लिए केवल कोई विशेष भू-स्वामी ही सरकार के प्रति उत्तरदायी नहीं होता बल्कि सम्पूर्ण गाँववाले मिलकर मालगुजारी के लिए सरकार के प्रति उत्तरदायी होते हैं।

(३) किसान को अपनी भूमि का किसी भी रूप में प्रयोग करने का पूरा-पूरा अधिकार होता है।

(४) इस प्रथा के अन्तर्गत भूमि के हिस्सेदारों में विभाजन की तीन मुख्य प्रणालियाँ होती हैं:

(अ) पैतृक सिद्धान्त के अनुसार;

(ब) अपैतृक सिद्धान्त के अनुसार; तथा

(स) साधारण विभाजन।

पैतृक सिद्धान्त के अनुसार भूमि का हिस्सेदार परम्परागत भूमि का स्वामी होता है। पैतृक प्रणाली वाले गाँव तीन प्रकार के होते हैं। प्रथम वे गाँव जो एक संयुक्त कुटुम्ब प्रणाली की भाँति होते हैं अर्थात् जिन पर कुछ व्यक्तियों का सामूहिक अधिकार होता है। द्वितीय वे ग्राम होते हैं जो अपैतृक प्रणाली पर आधारित हैं। इसमें भूमि का विभाजन 'सच्चे भाईचारे' के सिद्धान्त के अनुसार होता है। यह तीन रूप धारण कर सकता है—(क) भूमि को बराबर-बराबर हिस्सों में बाँटकर, (ख) हल्की संख्याओं के स्वामित्व के अनुसार, (ग) पानी अथवा कुओं के हिस्सों के अनुसार। तृतीय वे गाँव

होते हैं जहाँ भूमि के विभाजन के लिए कोई विशेष नियम प्रचलित नहीं। जिस व्यक्ति के अधिकार में जो भूमि होती है वही व्यक्ति उस भूमि का स्वामी माना जाता है।

यह प्रथा पंजाब, मध्य प्रदेश तथा उत्तर प्रदेश के कुछ भागों में प्रचलित है। सैद्धान्तिक रूप से यह प्रथा भली अवश्य मालूम होती है, परन्तु व्यावहारिक रूप में इसमें कुछ कठिनाइयाँ उत्पन्न हो जाती हैं। अब पंजाब आदि राज्यों में इसका स्वरूप व्यावहारिक दृष्टिकोण से बदला हुआ है। पंजाब में सम्पूर्ण गाँव के स्थान पर किसान ही व्यक्तिगत रूप में भूमि का स्वामी समझा जाता है।

रैयतवारी प्रथा (Ryotwari System)—सर्वप्रथम इस पद्धति को कैप्टेन रीड तथा मद्रास के गवर्नर टामस मनरो ने सन् १७६२ में मद्रास के बारामहल नामक जिले में चालू किया था। शनै शनै यह पद्धति राज्य के अन्य भागों तथा बम्बई में प्रचलित हो गई। इस समय यह प्रथा बम्बई, मद्रास, बरार, कुर्ग, मध्य प्रदेश तथा आसम में प्रचलित हैं। प्रारम्भ में रैयत ही स्वयं काश्तकार होता था परन्तु आजकल बहुत से रैयत खुद काश्तकार नहीं होते।

विशेषतायें

(१) इस प्रथा के अन्तर्गत किसान और सरकार के बीच एक सीधा सम्पर्क होता है और किसी मध्यस्थ की आवश्यकता नहीं होती।

(२) किसानों को व्यक्तिगत रूप से अपने खेतों के लगान को सरकारी खजाने में जमा करना पड़ता है।

(३) मालगुजारी लगभग प्रत्येक ३०-४० वर्ष बाद निश्चित होती है। मालगुजारी के निश्चित करते समय भूमि के क्षेत्रफल तथा उसकी उर्वरा शक्ति को ध्यान में रखा जाता है।

(४) सम्पूर्ण भूमि पर राज्य का ही स्वामित्व रहता है। यद्यपि वैधानिक रूप से किसान भूमि का पूरा स्वामी नहीं होता, व्यावहारिकता में वह स्वामी ही रहता है।

(५) किसान को अपनी भूमि को प्रयोग में लाने, बदलने अथवा छोड़ देने का पूरा अधिकार होता है।

(६) किसान भूमि का स्वामी उसी समय तक रहता है जब तक वह सरकार को लगान देता रहता है।

उपरोक्त तीनों प्रकार की भूमि व्यवस्थाओं के अन्तर्गत भूमि का विभाजन सन् १९३७-३८ में इस प्रकार था[1]—

[1] Ministry of Information and Broadcasting *Agricultural in India* 1950 p 51

भूमि व्यवस्था की प्रथा	क्षेत्रफल (करोड़ एकड़ में)	कुल का% क्षेत्रफल	राज्य जहाँ प्रचलित है
(१) रैयतवारी	१८ ३	३६	मद्रास, बम्बई, आसाम तथा सिन्धु (पाकिस्तान)
(२) जमींदारी (स्थायी बन्दोबस्त)	१२ ६७	२५	बंगाल, उड़ीसा, बिहार, और मद्रास
(३) जमींदारी तथा महालवारी (अस्थायी बन्दोबस्त)	१६ ७२	३६	मध्य प्रदेश, उत्तर प्रदेश तथा पंजाब ।

जमींदारी उन्मूलन

सरकार तथा किसानों के बीच में उपस्थित मध्यस्थों ने कृषि के विकास को ठेस पहुँचाई है। अत राज्य सरकारों ने जमींदारी प्रथा तथा मध्यस्थों का अन्त करने का निश्चय कर लिया और अपने अपने राज्यों में तत्सम्बन्धी जमींदारी उन्मूलन अधिनियम भी पास कर दिये हैं। इस प्रकार के अधिनियम देश के भाग 'अ' के लगभग सभी राज्यों में तथा हैदराबाद, मध्य प्रदेश, राजस्थान, सौराष्ट्र, पैप्सू तथा जम्मू एव कश्मीर में बनाये गये हैं। इसी प्रकार के कार्यक्रम अन्य बहुत से राज्यों में भी बनाये जा रहे हैं।

मध्यस्थों के उन्मूलन सम्बन्धी अधिनियम कुछ राज्यों में पूर्णतया, कुछ राज्यों में अधिकाशत तथा कुछ राज्यों में आशिक रूप में लागू किये जा चुके हैं। राज्यानुसार इनका विवरण इस प्रकार है —

(१) पूर्णतया क्रियान्वित (Fully implemented)

मध्य प्रदेश, पंजाब, हैदराबाद, पैप्सू तथा भूपाल ।

(२) अधिकाशत क्रियान्वित (Substantially implemented)

आंध्र प्रदेश, बम्बई, मद्रास, उत्तर प्रदेश, मध्य भारत तथा सौराष्ट्र ।

(३) आशिक रूप मे क्रियान्वित (Partially implemented)

बिहार, उड़ीसा, राजस्थान तथा विन्ध्य प्रदेश ।

जमींदारी प्रथा अथवा मध्यस्थों के उन्मूलन के सम्बन्ध में लोगों का एक मत नहीं है। कुछ लोग उन्मूलन के पक्ष में हैं और कुछ इसके विपक्ष में।

उन्मूलन के पक्ष मे तर्क

जमींदारी उन्मूलन के समर्थकों ने अपने प्रभावपूर्ण तर्क इस प्रकार दिये हैं—

(१) जमींदार किसानो का शोषक होता है—जमींदारी प्रथा के इतिहास का सिंहावलोकन करने से ज्ञात होता है कि अधिकाश जमींदार लोग निर्धन, जर्जर

और पीड़ित किसानों का सदैव से शोषण करते रहे हैं और अपने कर्त्तव्यों की पूर्ति जैसे भूमि सुधार आदि की अवहेलना करते रहे हैं। उन्मूलन के समर्थकों का कहना है कि यदि मध्यस्थों को हटा दिया जाय तो किसानों की दशा भी सुधरेगी और भूमि सुधार भी हो सकेगा।

(२) राजकीय आय में वृद्धि—जमींदारी प्रथा के अन्तर्गत किसानों से लगान वसूल करने का उत्तरदायित्व जमींदारों अथवा मध्यस्थों का होता है। ये मध्यस्थ लगान का एक बहुत बड़ा भाग स्वयं ले लेते हैं। यदि इन मध्यस्थों का उन्मूलन कर दिया जाय तो सरकार और किसान का सीधा सम्पर्क स्थापित हो जायगा और मध्यस्थों की जब में जाने वाला भाग सरकारी खजाने में जाने लगेगा।

(३) राजनैतिक सुधार—भारतीय जनता का अधिकांश भाग (लगभग ७०%) कृषि पर आधारित है। जमींदारों द्वारा शोषित तथा उत्पीड़ित किये जाने के कारण किसानों में एक राजनैतिक असन्तोष की भावना आ गई है। यदि इस प्रथा का उन्मूलन कर दिया जाय तो किसानों के असन्तोष की भावना का भी अन्त हो जायगा और स्वभावतः हमारी सरकार और किसानों के सम्बन्ध अच्छे हो जायेंगे और आगामी निर्वाचन में सरकार की लोकप्रियता बनी रहेगी।

(४) देश का आर्थिक विकास—लोगों का यह भी कहना है कि यदि मध्यस्थों का उन्मूलन कर दिया जाता है तो कृषि में सुधार होगा, कृषि उत्पादन में वृद्धि होगी, जनता की क्रय-शक्ति बढ़ेगी और अन्ततः देश का आर्थिक विकास होगा।

उन्मूलन के विपक्ष में तर्क

जमींदारी उन्मूलन के विरोधियों ने अपने तर्क निम्न प्रकार प्रस्तुत किये हैं :—

(१) देश में बेरोजगारी की वृद्धि—यदि जमींदारी प्रथा का उन्मूलन कर दिया जाता है तो बहुत से जमींदार तथा मध्यस्थ और उनके कर्मचारी एक बहुत बड़ी संख्या में बेरोजगार हो जायेंगे। अधिकांशतः अशिक्षित अथवा अर्धशिक्षित होने के कारण इनको कोई रोजगार भी नहीं मिल सकेगा। ऐसे समय में जब कि देश में बेरोजगारी का दानव आतंक मचाये हुए है, इन लोगों की अतिरिक्त बेकारी देश में अराजकता फैला देगी और नवोदित स्वतन्त्र राष्ट्र के शुभ्र भाल पर कलंक का टीका लगा देगी।

(२) किसानों की कठिनाइयाँ—महोदय ग्लाडस्टन के शब्द, "भारतीय कृषक का जन्म ऋण में होता है, ऋण में जीवन व्यतीत करता है और इसी ऋण में उसकी मृत्यु भी हो जाती है" आज भी अक्षरशः सत्य हैं। जमींदार लोग अपने किसानों को अपनी प्रजा समझ कर उनकी आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति समय-समय पर किया करते हैं। यही कारण है कि जमींदारों में अनेक दोष होते हुए भी किसान

उनकी छत्रछाया से अलग नहीं होना चाहते । जमींदारी के समाप्त हो जाने पर किसान लोग निराधार हो जावेंगे और सामाजिक अराजकता फैल जावेगी ।

(३) ग्रामीण रिकार्डों का अभाव—देहातों में भूमि सम्बन्धी सलेखों (Records) की लिखापढ़ी पटवारियों (लेखपालों) द्वारा की जाती है । इन लोगों को कोई उचित शिक्षा, उच्च अथवा विशेष नहीं दी जाती, अत: वे ठीक-ठीक हिसाब किताब नहीं रख पाते । प्राय: पैसे के लालच में वे अशुद्ध प्रविष्टियाँ कर देते हैं । जमींदारी उन्मूलन के समय ये कठिनाइयाँ बाधक सिद्ध होंगी ।

(४) क्षतिपूर्ति (मुआवजे) की समस्या—जमींदारी प्रथा का उन्मूलन होते ही सरकार को जमींदारों को क्षतिपूर्ति देने की समस्या उत्पन्न होगी । अनुमान है कि जिन राज्यों में जमींदारी प्रथा का उन्मूलन किया गया है वहाँ क्षतिपूर्ति के रूप में लगभग ४५० करोड़ रुपए देने होंगे । ऐसे समय में जब कि सरकार के पास धन का अभाव है क्षतिपूर्ति एक समस्या बन जावेगी । यदि इस धन का उपयोग कृषि सुधार में लगाया जाय तो अधिक उपयुक्त होगा ।

(५) भूमिधर बनने की समस्या—काश्तकारों को भूमिधर बनने के लिए सरकार को दस गुना लगान देना होगा । भारतीय किसान इतने धनवान नहीं हैं कि ये इसे अपने सचित कोष से निकाल कर जमा कर दें । उनके पास ऐसी कोई चल अथवा अचल सम्पत्ति भी नहीं है जिसके विरुद्ध वे ऋण प्राप्त कर सकें ।

जमींदारी उन्मूलन के मूल तत्व

जमींदारी उन्मूलन के तीन प्रमुख तत्व हैं :—

(१) मध्यस्थ अधिकारों [illegible] अन्त और जमींदार को क्षतिपूर्ति जो कि मध्यस्थ अधिकार से होने वाली शुद्ध आय की कई गुनी रखी गई । जिस जमींदार की आय अधिक थी उसको घटती हुई दर से क्षतिपूर्ति की गई ।

(२) जमींदार द्वारा अपनी व्यक्तिगत कृषि के लिए रखी जाने वाली भूमि की सीमा निश्चित की गई और जोत की अधिकतम सीमा निर्धारित की गई ।

(३) सरकार और किसान में प्रत्यक्ष सम्बन्ध स्थापित करना जिससे अब किसान लगान चुकाने के लिए सीधा सरकार के प्रति उत्तरदायी होता है ।

जमींदारों अथवा मध्यवर्ती लोगों के उन्मूलन के लिए सरकार को कुल क्षतिपूर्ति तथा पुनर्वास अनुदान (ब्याज सहित) ६२५.२५ करोड़ रुपए देना था । इसमें से सन् १९५७-५८ तक ६८.८७ करोड़ रुपए की धनराशि दी जा चुकी है । निम्न तालिका में राज्यानुसार सन् १९५७ के अन्त में देय क्षतिपूर्ति तथा दी जा चुकी राशियाँ दिखाई गई हैं :—

मध्यवर्ती लोगों के उन्मूलन के लिए देय तथा दी जा चुकी क्षतिपूर्ति
(राज्यों के पुनर्संगठन के पूर्व की स्थिति के अनुसार)

(करोड़ रुपयों में)

	कुल देय क्षतिपूर्ति तथा पुनर्वास अनुदान (ब्याज सहित)	दी जा चुकी राशि
आसाम	५.१८	०.०२
आन्ध्र प्रदेश	६.६०	४.५६[1]
उड़ीसा	१०.५०	०.४७
उत्तर प्रदेश	१७६.००	५६.७२
तिरुवांकुर कोचीन	०.२०	—
पश्चिम बंगाल	७०.००	१.५६
बम्बई	२०.८६	०.१४
बिहार	२४०.००	३.७०[2]
मद्रास	४८.१	३.१६
मध्य प्रदेश[3]	२२.१०	६.७८
मैसूर	१.८०	—
राजस्थान (अजमेर सहित)	३५.८८	६.४०
सौराष्ट्र	१०.२०	२.६२
हैदराबाद	१५.१८	६.६४
योग	६६५.२५	९८.८७

मध्यवर्ती लोगों का उन्मूलन

कानून बनाने तथा मध्यवर्ती लोगों की भूमि हस्तगत कर लेने से सम्बन्धित अधिकांश कार्य तथा मध्यवर्ती लोगों के पूर्ण रूप से उन्मूलन का कार्य लगभग किया जा चुका है। भू स्वामियों तथा राज्य के बीच सीधा सम्बन्ध स्थापित कर दिया गया है। कृषि विहीन भूमि (वह भूमि जिस पर कृषि नहीं की जाती) तथा वन आदि हस्तगत कर लिए गये हैं और उसकी व्यवस्था का काम राज्य अथवा ग्राम पंचायत जैसे स्थानीय संगठन प्रत्यक्ष रूप से करते हैं।

मध्यवर्ती लोगों के उन्मूलन का कार्यक्रम विभिन्न राज्यों में भिन्न भिन्न स्थिति में है।

[1] फरवरी, १९५८ तक [2] जुलाई, १९५८ तक

[3] भूतपूर्व भोपाल, मध्य भारत तथा विन्ध्य प्रदेश सहित

जमींदार अथवा मध्यवर्ती लोगों के अधिकार में कुल क्षेत्रफल का ४३% भाग जमींदारी उन्मूलन के पूर्व था। उन्मूलन के पश्चात् कुल क्षेत्फल का लगभग ५% भाग अब भी मध्यवर्ती लोगों के हाथ में है। स्पष्ट विवरण निम्न तालिका से ज्ञात होगा :—

मध्यवर्ती लोगों से सम्बन्धित क्षेत्रफल

	कुल क्षेत्रफल का प्रतिशत
वह क्षेत्र जो मध्यवर्ती लोगों के अधिकार में था	४३
वह क्षेत्र जहाँ मध्यवर्ती लोगों के उन्मूलन के सम्बन्ध में कानून लागू किए जा चुके हैं	४०
वह क्षेत्र जहाँ मध्यवर्ती लोगों का उन्मूलन किया जा चुका है	३८
वह क्षेत्र जहाँ मध्यवर्ती लोग अभी भी हैं	५

भूमि सुधार (Land Reforms)—आर्थिक दृष्टिकोण से भूमि नीति ऐसी होनी चाहिए कि कृषि की विविधता द्वारा तथा उसकी कार्यक्षमता के स्तर को ऊँचा उठा कर कृषि उत्पादन में वृद्धि हो। योजना आयोग की रिपोर्ट में भूमि नीति के आर्थिक पहलू के अतिरिक्त सामाजिक पहलू पर भी बल दिया गया है। सामाजिक पहलू में निम्न बातें सम्मिलित हैं :—

(१) धन और आय की असमानताओं को कम करना;

(२) शोषण का अंत करना; तथा

(३) किसान के लिए भू धारण की सुरक्षा और ग्रामीण जनसंख्या के विभिन्न समुदायों को समाज मे स्थान और अवसर पाने की समानता।

प्रथम पचवर्षीय योजना में निर्धारित की गई राष्ट्रीय भूमि नीति में यह स्वीकार कर लिया गया कि राष्ट्रीय विकास के कार्यक्रम में भूमि स्वामित्व तथा कृषि के रूप का बहुत अधिक महत्व है। उस भूमि व्यवस्था के स्थान पर, जिसमे किसानों का शोषण होता आ रहा था, इस भूमि नीति मे एक ऐसी भूमि व्यवस्था लागू करने की सिफारिश की गई जिसमें किसान को अपने श्रम का अधिकतम लाभ प्राप्त हो और उसे उत्पादन क्षमता में वृद्धि करने का पूरा पूरा प्रोत्साहन मिले। द्वितीय पचवर्षीय योजना में भी इसी बात पर बल दिया गया। योजना में निहित भूमि-नीति के दो उद्देश्य हैं :—

(१) गाँव में वर्तमान भूमि व्यवस्था के कारण कृषि उत्पादन के मार्ग में आने

वाली अड़चनों को दूर करना तथा देश में यथा शीघ्र ऐसी ग्रामीण अर्थ व्यवस्था लागू करना जिससे कार्यक्षमता और उत्पादन क्षमता, दोनों में वृद्धि हो, और

(२) समानता के सिद्धान्त पर आधारित समाज की रचना करना तथा सामाजिक असमानताओं को दूर करना।

नई कृषि-नीति—नागपुर प्रस्ताव

कांग्रेस के नागपुर अधिवेशन में 'कृषि संगठन सम्बन्धी ढाँचे' पर स्वीकृत प्रस्ताव के द्वारा भूमि नीति को एक ठोस रूप दिया गया। यह प्रस्ताव अखिल भारतीय केन्द्रीय कमेटी की कृषि उत्पादन सम्बन्धी उपसमिति की रिपोर्ट पर तैयार किया गया था। प्रस्ताव में दो महत्वपूर्ण आधार भूत निर्णय हैं—एक तो भूमि की अधिकतम सीमा के निर्धारण और दूसरा संयुक्त सहकारी कृषि से सम्बन्धित है। कृषि संगठन पर पास किये गये प्रस्ताव की विशेषताएँ निम्नलिखित हैं :—

(१) ग्राम पंचायत और ग्राम सहकारिता—ग्रामीण संगठन ग्राम पंचायत और ग्राम सहकारिता पर आधारित हो जिनके पास पर्याप्त अधिकार और साधन हों। ग्राम सहकारिता की सदस्यता सभी लोगों के लिए खुली होनी चाहिए चाहे उनके पास भूमि हो या न हो। सहकारी समिति को वैज्ञानिक कृषि और कुटीर उद्योगों को प्रोत्साहन देकर अपने सदस्यों के कल्याण की व्यवस्था करनी चाहिए।

(२) सहकारी संयुक्त कृषि—भावी कृषि संगठन सहकारी संयुक्त कृषि पर आधारित होगा, जिसमें संयुक्त कृषि के लिए भूमि को एकत्रित कर लिया जायगा, किसानों का भूमि में स्वामित्व बना रहेगा और उन्हें शुद्ध आय से अपनी भूमि के अनुपात में लाभांश (हिस्सा) मिलेगा। संयुक्त खेत पर काम करने वालों को मजदूरी मिलेगी चाहे उनके पास भूमि हो या न हो। संयुक्त कृषि प्रारम्भ करने के पूर्व किसानों को आवश्यक सेवायें जैसे अच्छे बीज, खाद, कृषि यन्त्र की पूर्ति, वैज्ञानिक सलाह, सिंचाई की सुविधायें, सस्ती साख, विक्रय और संग्रह की सुविधायें प्रदान करने के लिए सेवा सहकारिता की स्थापना की जायगी ताकि किसान वैज्ञानिक कृषि कर सकें। यह सब तीन वर्ष के अन्दर पूरा हो जाना चाहिए। इस समय भी जहाँ संयुक्त कृषि सम्भव हो सके चालू की जानी चाहिए। सेवा सहकारी समितियों से संयुक्त सहकारी समितियों की प्रगति करना कठिन होगा। क्योंकि पुराने विचारों वाले अशिक्षित किसानों को उत्साहित करने और उनके मानसिक दृष्टिकोण को विस्तृत करने के लिए आवश्यक मनोवैज्ञानिक एवं शैक्षणिक योग्यता प्रदान करने तथा नये प्रयोगों को समझाने में कठिनाई होगी। अतः सहकारी संयुक्त कृषि धीरे धीरे ढंग से चालू की जानी चाहिए। इसके लिए आवश्यक संगठनात्मक एवं टेकनीकल योग्यतायें प्राप्त विशेषज्ञों और सुलझे हुये नेतृत्व की आवश्यकता होगी।

(३) जोत की अधिकतम सीमा—इसमें वर्तमान और भावी जोत की अधिकतम सीमा निर्धारित कर देनी चाहिए और विभिन्न राज्यों में १६५६ के अन्त तक कानून बना देना चाहिए। इस प्रकार जो भूमि शेष बचेगी वह पचायतों की होगी और भूमिहीन तथा जोत की अधिकतम सीमा से कम होने वाले किसानों की सहकारी समिति द्वारा उस पर खेती की जायगी।

(४) फसल के न्यूनतम मूल्य का निर्धारण—फसल बोने से काफी पहले फसल का निम्नतम मूल्य निश्चित कर देना चाहिए ताकि किसान को अपनी उपज के बदले में उचित मूल्य का विश्वास हो जाये।

(५) बंजर भूमि को कृषि योग्य बनाना—बजर भूमि को खेती के लिए उपयोगी बनाना चाहिए।

भूमि सुधारों की प्रगति

भूमि सुधार के अन्तर्गत निम्न बातें उल्लेखनीय हैं :—

(१) मध्यवर्ती लोगों का उन्मूलन;
(२) काश्त सम्बन्धी सुधार;
(३) जोतों का सीमा-निर्धारण;
(४) जोतों की चकबन्दी,
(५) सहकारी कृषि, तथा
(६) भूदान।

मध्यवर्ती लोगों का उन्मूलन

कानून बनाने तथा मध्यवर्ती लोगों की भूमि हस्तगत कर लेने से सबन्धित अधिकाश कार्य तथा मध्यवर्ती लोगो के पूर्ण रूप से उन्मूलन का कार्य लगभग किया जा चुका है। भू स्वामियों तथा राज्य के बीच सीधा सम्बन्ध स्थापित कर दिया गया है। कृषि भिन्न भूमि (वह भूमि जिस पर कृषि नहीं की जाती) तथा वन आदि हस्तगत कर लिए गये हैं और उसकी व्यवस्था का काम राज्य अथवा ग्राम पचायत जैसे स्थानीय सगठन प्रत्यक्ष रूप से करते हैं।

मध्यवर्ती लोगों के उन्मूलन का कार्यक्रम विभिन्न राज्यों में भिन्न भिन्न है।

काश्त सम्बन्धी सुधार

योजना आयोग ने राज्यों से जो काश्त सम्बन्धी सुधार अपनाने की सिफारिश की, उसके मुख्य उद्देश्य हैं : (१) लगान में कमी करना, (२) पट्टे की सुरक्षा के लिए व्यवस्था करना, तथा (३) काश्तकारों को स्वामित्व का अधिकार देना। इस सम्बन्ध में विभिन्न राज्यों में काफी प्रगति हो चुकी है।

जोतों का सीमा-निर्धारण

प्रथम योजना में जोतों की सीमा निर्धारित करने का सिद्धान्त स्वीकार कर लिया गया था। इस कार्य के सम्बन्ध में आवश्यक आँकड़ों का संग्रह करने के लिए जोतों तथा कृषि सम्बन्धी गणना करने का सुझाव रखा गया। यह गणना अधिकांश राज्यों में की गई। द्वितीय योजना में इस सिफारिश पर फिर से बल दिया गया है कि जोतों की सीमा 'तीन पारिवारिक जोत' निर्धारित की जाय। इसके अतिरिक्त इसमें यह भी सिफारिश की गई है कि द्वितीय योजनाकाल में प्रत्येक राज्य में वर्तमान जोतों की सीमा निर्धारित कर दी जानी चाहिए।

सीमा निर्धारण दो प्रकार का होता है : (क) भविष्य के लिए तथा (ख) वर्तमान जोतों का। निम्न राज्यों में भविष्य के लिए निर्धारित की गई जोतों की सीमा का ब्यौरा नीचे दिया गया है :

असम	मैदानी जिले	५० एकड़
आन्ध्र प्रदेश	तेलगाना क्षेत्र	१२ से १८० एकड़
उत्तर प्रदेश		१२½ एकड़
जम्मू तथा कश्मीर		२२¾ एकड़
पंजाब		३० स्टैण्डर्ड एकड़
पश्चिम बंगाल		२५ एकड़
बम्बई	बम्बई क्षेत्र (भूतपूर्व)	१२ से ४८ एकड़
	मराठवाड़ा क्षेत्र	१२ से १८० एकड़
	विदर्भ तथा कच्छ क्षेत्र	३ पारिवारिक जोत (क्षेत्र का निश्चय न्यायाधिकरण करेगा)
	सौराष्ट्र क्षेत्र	६० से १२० एकड़
मध्य प्रदेश	मध्य भारत क्षेत्र	५० एकड़
	राजस्थान क्षेत्र	३० से ६० एकड़ (भूमि की उपज के अनुसार भिन्न भिन्न)
मैसूर	बम्बई क्षेत्र	१२ से ४८ एकड़
	हैदराबाद क्षेत्र	१२ से १८० एकड़
राजस्थान (अजमेर सहित)		३० सिंचित एकड़ अथवा ६० सूखे एकड़
दिल्ली		३० स्टैण्डर्ड एकड़

निम्न राज्यों में वर्तमान जोतों पर कानून बनाये जा चुके हैं :

असम	मैदानी जिले	५० एकड़
आन्ध्र प्रदेश	तेलगाना क्षेत्र	१८ से २७० एकड़
जम्मू तथा कश्मीर		२२¾ एकड़
पंजाब	पेप्सू क्षेत्र	३० स्टैण्डर्ड एकड़ (विस्थापित व्यक्तियों के सम्बन्ध में ५० स्टैण्डर्ड एकड़)
पश्चिम बंगाल		२५ एकड़
बम्बई	मराठवाड़ा क्षेत्र	१८ से २७० एकड़
	विदर्भ तथा कच्छ क्षेत्र	६ पारिवारिक जोत
मैसूर	हैदराबाद क्षेत्र	१८ से २७० एकड़
राजस्थान	अजमेर क्षेत्र	५० एकड़ (मध्यवर्ती लोगों के सम्बंध में)
हिमाचल प्रदेश		चम्बा जिले में ३० एकड़ तथा अन्य क्षेत्रों में १२५ रुपये के मूल्य का क्षेत्र

इसके अतिरिक्त असम, आंध्र प्रदेश, केरल, जम्मू तथा कश्मीर, पंजाब के पेप्सू क्षेत्र, पश्चिम बंगाल, मध्य प्रदेश तथा मैसूर में कई अन्य प्रकार की व्यवस्थाएँ भी की गई हैं।

जोतों की चकबन्दी

प्रथम तथा द्वितीय, दोनों योजनाओं में जोतों की चकबन्दी की आवश्यकता पर काफी बल दिया गया है। योजना आयोग ने इस बात की सिफारिश की है कि जोतों की चकबन्दी का कार्य सामुदायिक योजना कार्य-क्षेत्रों में अवश्य किया जाना चाहिए।

प्रथम योजना काल में उत्तर प्रदेश में ४४ लाख एकड़ भूमि, पंजाब में ४८ लाख एकड़ भूमि, पेप्सू में १३ लाख एकड़ भूमि, मध्य प्रदेश में २६ लाख एकड़ भूमि तथा बम्बई में २१ लाख एकड़ भूमि में चकबन्दी का कार्य किया गया। द्वितीय योजना काल की तत्सम्बन्धी राज्यीय योजनाओं के लिए ४५० करोड़ रुपये की व्यवस्था की गई है। विभिन्न राज्यों में जोतों की चकबन्दी के सम्बन्ध में ३१ दिसम्बर, १९५७ तक हुई प्रगति अगले पृष्ठ की तालिका में दिखाई गई है।

जोतों की चकबन्दी

राज्य संघीय क्षेत्र	१९५६ ६१ के लिए व्यवस्था (लाख रुपये)	३१.१२ ५७ तक हुआ कार्य (एकड़)	३१ १२ ५७ को जारी कार्य (एकड़)
असम	१४ २५	—	—
आन्ध्र प्रदेश	२० ५३	—	१,६२,३४१
उड़ीसा	५ ००	७३	—
उत्तर प्रदेश	*	१३,६८,५९२	३७,३५,१२९
पंजाब	१७२ ००	८५,८०,८७४	५६,१७,४३८
पश्चिम बंगाल	१४ २५	—	—
बम्बई	७६ ३९	१२,६५,२७५	११,७६,५४२
बिहार	१८ ६७	—	२,५५,८८५
मद्रास	११ ५०	—	—
मध्य प्रदेश	५४ २५	२६,६५,४३५	२,१६,६/२
मैसूर	१४ ५१	२,८८,३३४	४,५१,११०
राजस्थान	३२ ५०	२१,०००	३,६२,११६
दिल्ली	२ ८५	२,०१,८३४	—
पाण्डिचेरी	० ३०	—	—
मणिपुर	० २६	—	—
हिमाचल प्रदेश	६ ५०	२१,७६२	२६,१०४

खेतों का बँटवारा तथा टुकड़े होना

भू-सम्पत्ति के उत्तराधिकार सम्बन्धी कानूनों के फलस्वरूप खेतों के बँटवारे से उनके टुकड़े इतने अधिक होते गये कि आज कृषि उत्पादन बहुत ही गिरी अवस्था में है। भारत सरकार की नीति इस प्रवृत्ति को रोकने की है।

१५ राज्यों में खेतों के बँटवारे को तथा उनके टुकड़े होने से रोकने के लिए कानूनी कार्यवाही की गई। इसके अतिरिक्त भिन्न भिन्न राज्यों में इस सम्बन्ध में अन्य उपायों पर भी अमल किया गया।

जोत के आँकड़े

२२ राज्यों में कृषि भूमि तथा जोत सम्बन्धी गणना की जा चुकी है। गणना सम्बन्धी परिणाम बिहार को छोड़कर अन्य सभी राज्यों के सम्बन्ध में उपलब्ध हैं।

*चकबन्दी का कार्यक्रम योजना में सम्मिलित नहीं था। अब इसे वार्षिक योजनाओं में सम्मिलित किया जा रहा है।

सहकारी कृषि

भूमि समस्या को केवल सहकारी ग्राम व्यवस्था द्वारा ही हल किया जा सकता है जैसा कि प्रथम तथा द्वितीय योजनाओं में बताया गया था। प्रथम योजना में यह कहा गया था कि छोटे तथा मध्यम श्रेणी के किसान सहकारी कृषि के माध्यम से ही बड़े बड़े खेतों की व्यवस्था कर सकते हैं और तभी भूमि की उत्पादन क्षमता में वृद्धि करना, कृषि में अधिक पूँजी लगाना तथा वैज्ञानिक अनुसन्धानों का पूरा पूरा उपयोग करना सम्भव हो सकेगा। इस अवधि में लगभग सभी राज्यों ने सहकारी कृषि समितियों की स्थापना के लिए सहायक कानून तथा उनकी सहायता के लिए नियम बनाये।

द्वितीय योजनाकाल में सहकारी कृषि के विकास के लिए सुदृढ़ आधार भूमि तैयार करने के काम को प्रधानता दी गई है।

'राष्ट्रीय विकास परिषद्' की स्थायी समिति ने सितम्बर, १९५७ में सहकारी कृषि के कार्यक्रम पर विचार किया और शेष द्वितीय योजनाकाल में ३,००० खेती में सहकारी कृषि का परीक्षण करने का निर्णय किया।

दिसम्बर, १९५८ के अन्त में देश में २,०२० सहकारी कृषि समितियाँ थीं।

भूदान

भूदान अथवा स्वैच्छिक भूमिदान आन्दोलन को प्रेरणा देने का श्रेय आचार्य विनोबा भावे को है। आन्दोलन के उद्देश्य के विषय में बतलाते हुए आचार्य विनोबा भावे कहते हैं "न्याय और समानता के सिद्धान्त पर आधारित समाज में भूमि सबकी होनी चाहिए। इसलिए, हम भूमि की भिक्षा नहीं माँग रहे बल्कि उन गरीबों का हिस्सा माँग रहे हैं जो भूमि प्राप्त करने के सच्चे अधिकारी हैं।" इस आन्दोलन का मुख्य उद्देश्य बिना किसी खून खराबी के देश में सामाजिक और आर्थिक दुर्व्यवस्था को दूर करना है।

व्यावहारिक रूप में भूदान आन्दोलन का अर्थ, लोगों से भूमिहीन व्यक्तियों में बाँटने के लिए उनकी अपनी भूमि के ⅙ भाग का स्वेच्छा से दान करने का अनुरोध करना है। कृषि भिन्न क्षेत्रों में यह आन्दोलन सम्पत्तिदान, बुद्धिदान, जीवनदान, साधन दान तथा गृहदान का रूप ले लेता है। इस आन्दोलन का लक्ष्य ५ करोड़ एकड़ भूमि प्राप्त करने का है जिससे प्रत्येक ग्रामीण परिवार को कृषि के लिए पर्याप्त भूमि प्राप्त हो सके। इसने अब ग्रामदान का व्यापक रूप ग्रहण कर लिया है।

भारत में कृषि मजदूर

(The Agricultural Labour in India)

कृषि प्रधान देश भारत अपनी उन्नति का श्रेय कृषि को ही मानता है। भारत का प्राचीन वैभव केवल कृषि और तत्सम्बन्धित उद्योगों पर ही अवलम्बित था।

क्वेसने* के शब्दों में 'गरीब किसान, गरीब राजा, गरीब देश' आज भारत के लिए सर्वथा उपयुक्त है। भारत में आज किसान को न भर पेट रोटी का ठिकाना है न तन ढकने के लिए समूचा कपड़ा। उसे यह भी पता नहीं था कि सामाजिक सुविधाएँ क्या होती हैं ? उसके पास न निजी घर थे और न खेती करने के लिए साधन ही। हमारे देश की सामाजिक अर्थ व्यवस्था बिगड़ने का प्रधान कारण था हमारे देश के किसानों का निर्धन एवं निरक्षर होना। जहाँ के किसानों की इस प्रकार की दयनीय दशा हो वहाँ पर खेतिहर मजदूरों की दशा क्या होगी यह एक विचारणीय विषय बन जाता है।

सच पूछा जाय तो भारत का खेतिहर मजदूर और किसान अपनी साँसों को आहों के रूप में निकालता था और वह सिर्फ ऋण के भुगतान के लिए जीवित रहता था। उसे न तो अपने जीवन से प्रेम रह जाता था न मातृभूमि से ममता और अपने परिवार से स्नेह उससे कोसों दूर रहता था। उसका जीवन सदैव निराशामय और चिंताग्रस्त बीतता रहता था। उसके परिवार के सदस्य सदैव नंगे और भूखे रह कर अपना जीवन व्यतीत कर देते थे।

सन् १९५०-५१ की कृषि-मजदूर सम्बन्धी रिपोर्ट

यह रिपोर्ट केन्द्रीय श्रम सचिवालय ने प्रकाशित की थी। इसमें कृषि मजदूरों के विषय में जाँच की, पर देश की सम्पूर्ण जाँच न हो पाई क्योंकि भारत एक विशाल देश है तथा यहाँ पर खेतिहर मजदूर भी फैले हुए हैं। न वे एक स्थान पर रहते हैं और न उनका कोई संगठन ही है जिससे सही आँकड़े आ सकें अतएव सही और पूर्ण जाँच होना असम्भव हो जाता है। अतएव नमूने के रूप में सम्पूर्ण देश के ८१२ गाँव लिए गये थे जिसमें १,०३,५८४ व्यक्ति रहते थे जिसमें ७९.८% परिवार खेती पर ही निर्भर थे। ३०.४% इनमें खेतिहर मजदूर हैं। इनके आधे अर्थात् १५.२% व्यक्तियों के पास अपनी निजी कुछ भूमि है और शेष १५.२% लोगों के पास अपनी निजी कोई भी भूमि नहीं है।

विस्तृत जाँच के अनुसार यह कहा जा सकता है कि भारत में ५.८० करोड़ परिवार हैं जिसमें से १७६ लाख परिवार खेतिहर मजदूर हैं और इनके आधे अर्थात् ८८ लाख परिवारों के पास कुछ निजी भूमि है और उत्तरार्ध ८८ लाख परिवारों के पास निजी भूमि के नाम पर शून्य है।

उपरोक्त संख्या जो ३०% बतलाई गई है उसका विश्लेषण करने से ज्ञात होता है कि २५.४% अस्थायी एवं आकस्मिक कृषि मजदूर हैं और ४६% स्थायी

*Quesnay *The Physiocratic Leader*

मजदूर हैं। इनके परिवारों में लगभग ४.७ व्यक्ति प्रति परिवार पाये जाते हैं। इनमें से *प्रत्येक परिवार में २.४ व्यक्ति काम धन्धों में लगे हुए हैं तथा अन्य आश्रित हैं।* २१% मजदूर ऐसे भी हैं जो सहायक उद्योग धन्धों से भी कुछ आय प्राप्त कर लेते हैं। इन श्रमिकों के पास औसतन निजी भूमि २.६ एकड़ है, जो बहुत ही कम है।

कृषि मजदूरों की प्रति परिवार औसत वार्षिक आय ४४७ रुपए और प्रति व्यक्ति औसत आय १०४ रुपए थी। वर्ष में औसतन केवल २१८ दिन काम के होते थे १८६ दिन कृषि सम्बन्धी कार्य में और शेष २६ दिन और कार्यों में। इस प्रकार वर्ष में ७ महीने मजदूरी देकर कृषि होती थी। लगभग १५ प्रतिशत कृषि मजदूर भू स्वामियों के साथ सम्बद्ध थे और वे उनके लिए औसतन ३२६ दिन काम करते थे, जब कि आकस्मिक रूप से कार्य करने वाले कृषि मजदूरों को वर्ष के २०० दिनों में ही काम रहता था। कृषि मजदूरों की स्थिति में सुधार करने की समस्या दरिद्रता उन्मूलन की एक मूलभूत समस्या है।

इन कृषि श्रमिकों के चूल्हे को गरम रखने के लिए यह आवश्यक है कि बेरोज *गारी एवं अर्धरोजगारी को दूर कर अमूल्य समय का सदुपयोग किया जाय।* इस समय के सदुपयोग के लिए निम्नलिखित सुझाव दिये जा सकते हैं :—

(१) लघु उद्योगों को प्रोत्साहित किया जाय और ऐसी योजना बनाना चाहिए जिससे प्रत्येक श्रमिक लाभ उठा सके।

(२) *शिक्षा सम्बन्धी व्यवस्था इस प्रकार करनी चाहिए जिससे बच्चे,* वयस्क एवं वृद्धि सभी लाभान्वित हों।

(३) कृषि मजदूरों को अपना नेतृत्व दूसरे व्यक्तियों के हाथ में न सौंप कर स्वयं करना चाहिए जिससे वे अपनी दशा सम्भालने में सफल हो सकें।

(४) *श्रम सहकारी समितियों का निर्माण किया जाय जिससे श्रमिक आर्थिक एवं* सामाजिक सहायता पा सकें तथा उसमें भाईचारे की भावना की जागृति हो।

(५) तान्त्रिक प्रशिक्षण के लिए केन्द्रों की स्थापना की जाय और उनको (श्रमिकों को) इन केन्द्रों से समय समय पर सहायता मिलती रहनी चाहिए।

श्रमिकों की दशा सुधारने के लिए किये गये उपाय—ऐसी स्थिति में जब कि भारत की जनसंख्या का बहुत बड़ा भाग दास बना हुआ है सरकार इनकी स्थिति को सम्भाले बिना देश की आर्थिक एवं सामाजिक व्यवस्था समाजवादी ढंग पर नहीं बना सकती है। आधुनिक काल में इस प्रकार के सभी कार्य सरकार के उत्तरदायित्व में सम्मिलित हो गये हैं और जनप्रिय सरकार इनको जनता की भलाई के लिए करना अपना धर्म समझती है। श्रमिक भी अब न तो मौन है और न उतना अज्ञानी ही है कि वह अपना सर झुकाये सब कुछ सुनता रहे। अब यदि उसका शोषण किया गया

तो देश में आपसी कलह उत्पन्न हो जायगी और विद्रोह की भावना जाग्रत हो जायगी। इन श्रमिकों का अभ्युदय ब्रिटिश शासन काल से हुआ था और यह दासता अंग्रेजों के साथ-साथ चली भी गई। अब कानून के द्वारा श्रमिकों की सुरक्षा के लिए क्रय-विक्रय पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया है। उनको न तो कोई खरीद ही सकता है और न बेच ही सकता है। फिर भी वर्ग प्रथा के पूर्णतः समाप्त न होने के कारण से जमींदार का कुछ काम जैसे मुर्गे-मुर्गियाँ पालना, तथा अन्य पालतू जानवरों की सेवा मुफ्त में ही करनी पड़ती है। पर जहाँ पर जमींदारी समाप्त हो चुकी है जैसे उत्तर प्रदेश वहाँ भी अब ऐसी स्थिति नहीं रही है। वहाँ अब इन मजदूरों को इस कार्य के लिए भी पैसा दिया जाने लगा है। अन्य शब्दों में अर्ध सामन्त प्रथा जो सदियों से चली आ रही थी उसका अन्त हो गया है। श्रमिकों की दशा सुधारने के लिए जो अन्य उपाय किये जा रहे हैं उनका विस्तृत वर्णन निम्नलिखित है—

(१) श्रमिक सहकारिता—मजदूरों के हित के लिए योजना आयोग ने सुझाव प्रस्तुत किया है कि सिंचाई सहकारिता, कृषि एवं वन विभाग तथा राज्य के अन्य विभागों से कृषि श्रमिकों के लिए सहकारी समितियों का संगठन किया जाय। इस संगठन के द्वारा सामाजिक कल्याण होने की सम्भावना पाई जाती है।

(२) भूदान यज्ञ—विनोबा भावे द्वारा प्रसारित भूदान यज्ञ न केवल भारत के लिए वरन् विश्व के लिए एक आदर्श है। इसमें भूमिपतियों से जिनके पास आवश्यकता से अधिक भूमि है उनसे प्रार्थना करके कुछ भूमि माँगी गई है और जो भूमि प्राप्त हो जाती है उसको उन व्यक्तियों में बाँट दिया जाता है जिनके पास भूमि नहीं होती है पर भूमि पर वे कठिन परिश्रम कर सकते हैं। बिहार के रान्का के राजा को इस क्षेत्र में श्रेय प्राप्त है कि उन्होंने १,०२,००१ एकड़ भूमिदान में दे दी। यह आन्दोलन सन् १९५१ में हैदराबाद के तेलगाना नामक जिले से प्रारम्भ हुआ था तथा इसका लक्ष्य १९५७ तक ५ करोड़ एकड़ भूमि दान में प्राप्त कर लेने का लक्ष्य था। अनुमान के द्वारा यह कहा जा सकता है कि १९५६ तक केवल ४० लाख एकड़ भूमि ही एकत्र हो पाई है। इससे सामाजिक तथा राजनैतिक दोनों ही प्रकार की समितियाँ प्रभावित हुई हैं। इससे मुख्य मुख्य निम्नलिखित लाभ हैं—

(१) इसके द्वारा आपस में सद्भावना एवं सहकारिता का विकास होता है।

(२) इससे त्याग की भावना बढ़ती है जैसे इसके द्वारा भूमिदान, ग्रामदान, सम्पत्तिदान, श्रमदान, बुद्धिदान आदि सभी एकत्र किये जाते हैं।

(३) इसके द्वारा गृह विद्रोह की भावना नहीं बढ़ेगी तथा सदैव मैत्री की भावना बनाये रखने का प्रयास किया जा रहा है।

(४) इससे बेकारी की समस्या दूर की जा सकती है।

(अ) भूमिहीन किसानों को भूमि मिल जाती है।

(ब) खेती के अयोग्य भूमि पर ट्रैक्टरों द्वारा तथा अन्य औज़ारों की सहायता से उसे खेती योग्य बनाया जाता है।

(स) कृषि से सम्बन्ध रखने वाले उद्योगों को गाँवों में ही खोलने का प्रयास किया जा रहा है।

(द) सिंचाई में विकास करने के लिए नई योजनाएँ तैयार की जा रही हैं जिससे श्रमिकों को कार्य मिल जायगा।

(य) कृषि एवं कृषि सम्बन्धित उद्योगों के लिए प्रशिक्षण केन्द्र भी खोले गये हैं।

(२) इसमें उद्योग प्रादेशिक स्वावलम्बन के आधार पर खोले गये हैं जिससे श्रमिकों का बेकार समय इन उद्योगों में जा सके।

(३) इन (कृषि श्रमिकों) का अपना जीवन-स्तर उठाने के लिए कहीं-कहीं प्रौढ़ पाठशाला खोले गये हैं तथा इनके बच्चों को स्कूल में बिना किसी भेदभाव के मुफ्त शिक्षा देने का कार्य प्रारम्भ हो चुका है। सहायता के रूप में उनको निःशुल्क शिक्षा, विद्यार्थी हितकारी कोष से निश्चित धन तथा पुस्तकें मुफ्त में प्राप्त होती हैं जिससे इनको शिक्षा के क्षेत्र में कुछ भी व्यय नहीं करना पड़ता है। इससे श्रमिकों की दरिद्रता, उनका निष्कासन तथा उनकी सामाजिक स्थिति में सुधार किया जा रहा है।

(३) **सामुदायिक विकास योजनाएँ**—हरिजनों एवं कृषि-मजदूरों की दशा सँभालने के लिए २ अक्टूबर १९५२ से ५५ सामुदायिक विकास योजनाओं ने कार्य करना प्रारम्भ कर दिया था तथा २ अक्टूबर १९५३ से राष्ट्रीय निस्तार सेवाएँ भी प्रदान की जाने लगीं। इनकी स्थापना श्रमिकों की आर्थिक एवं सामाजिक स्थिति को सुधारने के लिए किया गया है। इनके द्वारा वे सभी काम किये जाते हैं जिनसे श्रमिकों का कल्याण हो सके। प्रथम पंचवर्षीय योजना में ७ करोड़ जनसंख्या की भलाई के लिए १२०० विकास खण्डों ने कार्य प्रारम्भ किया था जिनके कार्य करने का क्षेत्र १,२०,००० गाँव थे।

द्वितीय पंचवर्षीय योजना में यह सम्पूर्ण गाँवों पर लागू करने के लिए प्रयत्न किये जा रहे हैं तथा इस योजना में ५१० करोड़ रुपये व्यय किये जायेंगे। इन विकास खण्डों के द्वारा जनता की सर्वांगीण उन्नति की जायगी।

(४) **कृषि में न्यूनतम मजदूरी का निर्धारण**—कृषि-मजदूरों की दशा सुधारने तथा उनके हितों की रक्षा करने के लिए सरकार ने 'न्यूनतम मजदूरी अधिनियम १९४८' पास किया है। इस अधिनियम के अन्तर्गत भारत के विभिन्न राज्यों में कृषि मजदूरी के पारिश्रमिक की न्यूनतम सीमा निर्धारित की गई है। ये राज्य हैं—केरल, उड़ीसा, दिल्ली, पंजाब, राजस्थान और त्रिपुरा। इसके अतिरिक्त, असम, आन्ध्र प्रदेश, बम्बई, हिमा-

चल प्रदेश, मध्य प्रदेश, मैसूर एव पश्चिमी बगाल के कुछ क्षेत्रों में भी न्यूनतम मजदूरी अधिनियम लागू किया गया है।

सन् १९५६-५७ म लगभग ३,६०० ग्रामों में सन् १९५१ की जाँच के आधार पर ही 'द्वितीय अखिल भारतीय कृषि श्रमिक जाँच' (Second All India Agricultural Labour Enquiry) प्रथम पचवर्षीय योजना के अन्तर्गत प्रारम्भ किये गये कार्यक्रमों के विकास के प्रभाव को आँकने के लिए की गई थी। अभी तक इस जाँच समिति ने अपनी रिपोर्ट प्रकाशित नहीं की है।*

प्रश्न

1. Describe the different forms of land tenures in India What are their defects? Briefly examine the effects of the abolition of Zamindari on the economic status of the peasantry
(Agra, 1947, 1949)

2. Which system of land tenure will in your opinion, bring about greater social justice and higher efficiency of agriculture in India? Give reasons in support of your answer *(Rajasthan, 1954)*

3. Argue the case for and against the fixation of a ceiling on agricultural holdings in India *(Delhi, 1954)*

4. Distinguish between Zamindari and Ryotwari systems Point out the defects of each Examine the effects of abolition of permanent settlement on the state revenues and the economic status of the peasantry *(Agra, 1948, Rajasthan 1948)*

5. Discuss the land policy of the Government of India since Independence

---

*India 1960 p 259



अध्याय १०

भारत में सिंचाई

(Irrigation in India)

कृषि प्रधान देश में सिंचाई क्या महत्व रखती है इस पर अधिक बल देने की आवश्यकता नहीं है। भारत के आर्थिक ढाँचे की दुर्बलताएँ कभी भी इतनी स्पष्ट नहीं हुई थीं जितनी द्वितीय विश्वयुद्ध के तुरन्त पश्चात् दिखाई पड़ीं। देश के विभाजन से स्थिति और भी गम्भीर हो गई। राष्ट्रीय सरकार के सामने उस समय अनेक समस्याएँ थीं जिनमें सबसे अधिक महत्वपूर्ण अन्न उत्पादन की समस्या थी। इसके पश्चात् विद्युत शक्ति के उत्पादन का प्रश्न था जो उद्योग धन्धों के विकास के लिए अनिवार्य थी। भारत के पास विशाल जल साधन हैं, जो परिमाण में १३ हजार लाख एकड़ फुट क्षेत्र के बराबर है, परन्तु उसमें से ½ ही प्रयुक्त हो रहा है। भारत में सिंचाई तो बहुत प्राचीन काल से हो रही है परन्तु जल और विद्युत साधनों का योजनाबद्ध विकास स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद ही आरम्भ हुआ। यदि हमारी राष्ट्रीय सरकार की प्रथम पंचवर्षीय योजना देश की जल शक्ति के योजनाबद्ध विकास का प्रतिनिधित्व करती है तो द्वितीय योजना ने उस कार्य को आगे बढ़ाया है।

सिंचाई का अर्थ

साधारण रूप से कृषि के लिए जल सम्बन्धी आवश्यकता की पूर्ति वर्षा से होती है परन्तु यदि वर्षा के अभाव में कृत्रिम साधनों जैसे नदी, तालाब कुओं और नहरों से पानी पहुँचाने की व्यवस्था की जाती है तो इसको सिंचाई कहते हैं। दूसरे शब्दों में भूमि में नमी कम हो जाने पर फसल को सूखने से बचाने के लिए जो पानी बाहरी साधनों द्वारा पौधों को दिया जाता है, उसे सिंचाई कहते हैं। भारत जैसे विशाल और कृषि प्रधान देश में जहाँ बहुत से क्षेत्रों में वर्षा का नितान्त अभाव है अथवा जहाँ वर्षा अनियमित और अनिश्चित होती है, वहाँ सिंचाई के कृत्रिम साधनों का अवलम्बन लेना ही आवश्यक होता है।

सिंचाई का महत्व

प्रत्येक किसान सिंचाई का महत्व भली भाँति जानता है और बहुत-सी कठिनाइयों का सामना करके भी विश्राम पाना पड़ने वाले मौसम में भी रात भर ठंड खाकर और परिश्रम करके अपनी फसलों को सूखने से बचाता है। सिंचाई की आवश्यकता किन्हीं·

किन्हीं फसलों में अधिक तथा किन्हीं-किन्हीं में कम पड़ती है और मौसम के आधार पर भी फसलों में कम या अधिक पानी देना पड़ता है। अतएव कृषि में सिंचाई का एक बहुत बड़ा स्थान है।

भारतवर्ष में वर्षा के मानचित्र को देखने से ज्ञात होता है कि देश के कुछ भाग जैसे असम और हिमालय की तराई में बहुत अधिक वर्षा—१००" से ३००" तक—होती है और कुछ भागों जैसे राजपूताना और पंजाब में नाम मात्र को ही वर्षा होती है। देश के अन्य भागों में वार्षिक वर्षा ३०" से ४०" के बीच में होती है।

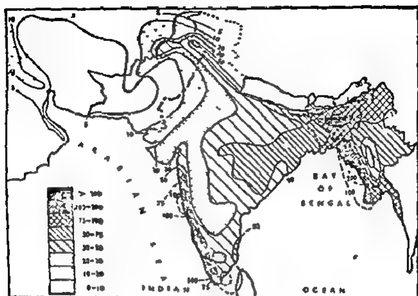
मौसम के आधार पर तथा फसलों के अपने गुणों के अनुसार भिन्न-भिन्न फसलों के लिए भिन्न भिन्न मात्रा में पानी की आवश्यकता होती है, परन्तु यह मात्रा किसी एक फसल के लिए कभी एक नहीं रहती। जलवायु और भूमि की बनावट के अनुसार पानी की आवश्यकता घटती अथवा बढ़ती रहती है और कृषि सम्बन्धी कार्यों के लिए फसल भर तक (Crop season) पानी की आवश्यकता होती है, जब कि अभाग्यवश भारतवर्ष में वर्षा केवल सामयिक (seasonal) होती है।

वैज्ञानिकों का कहना है कि फसल के मौसम में कृषि सम्बन्धी कार्यों के लिए औसतन ४०" जल की आवश्यकता होती है।

स्पष्टीकरण के विचार से निम्नलिखित तालिका में हम कुछ प्रमुख फसलों के लिए पानी की आवश्यकता की मात्रा देते हैं जिससे किस फसल को कितना पानी आवश्यक है इसका अनुमान लग सकेगा :—

फसल का नाम	पानी की मात्रा (वर्षा के अतिरिक्त एकड़ इंचों में)
धान	३७
ज्वार	१०
मक्का	१५
गेहूँ	८
जौ	६
अरहर	६
मटर	६
चना (यदि आवश्यक हो)	३
गन्ना	५०
आलू	३०

अतः उन सब क्षेत्रों में जहाँ वर्षा की उपलब्धि पर्याप्त मात्रा में नहीं होती है वहाँ सिंचाई अपरिहार्य हो जाती है।



चित्र ५

भारतीय वर्षा की चार मुख्य विशेषताएँ हैं :—

(१) वर्षा का असमान वितरण;

(२) वर्षा का अनियमित वितरण;

(३) वर्षा का अभाव अथवा अनावृष्टि; तथा

(४) वर्षा की अधिकता अथवा अतिवृष्टि।

उपरोक्त विशेषताओं के कारण सर चार्ल्स ट्रैवीलियन ने कहा है कि "भारतवर्ष में सिंचाई ही सब कुछ है। पानी भूमि से मूल्यवान है, क्योंकि जब भूमि पर जल पड़ता है तो उपज शक्ति में कम से कम छः गुनी वृद्धि होती है और वह भूमि भी उपजाऊ हो जाती है, जो बंजर थी, अतः भारत में सिंचाई सब कुछ है।" श्री नविल्स ने तो यहाँ तक कहा है कि "सिंचाई के कार्यों ने जीवन की रक्षा का प्रबन्ध किया है, क्योंकि भूमि की उपज, उसके मूल्य तथा उससे प्राप्त आय में वृद्धि हुई है। अतः दुर्भिक्ष के समय में इस सहायता की अति आवश्यकता पड़ती है और यह सम्पूर्ण क्षेत्रों को सभ्य बनाने में सहायक हुए हैं।"

सिंचाई का महत्व केवल कृषि और कृषक तक ही केन्द्रित नहीं है बल्कि देश की सम्पूर्ण अर्थ-व्यवस्था के विकास, व्यापार में उन्नति, उत्पादन में वृद्धि, उद्योगों का विस्तार, सरकारी आय में वृद्धि तथा सर्व साधारण के रहन-सहन को प्रभावित करता है।

जल की पूर्ति (Availability of Water)—सिंचाई के लिए जल की

पूर्ति तीन साधनों से होती है :—(१) प्राकृतिक नदियों और स्रोतों से प्रत्यक्ष रूप में, (२) बाढ़ अथवा वर्षा के पानी को एकत्रित करके तथा (३) भूमि के नीचे संचित जल से। भारतवर्ष में ये तीनों ही साधन उपलब्ध हैं।

भारतवर्ष में प्रति वर्ष ७ करोड़ एकड़ भूमि से अधिक की सिंचाई की जाती है। कृषि-प्रधान देश होने के कारण यहाँ पर संसार का सबसे अधिक सिंचित भू भाग है। यह भू-भाग संयुक्त राज्य अमेरिका के सिंचित भाग का दुगना है। भारतवर्ष में सिंचाई अति प्राचीन काल से की जाती रही है। प्रारम्भिक सिंचाई कुओं, तालाबों, नहरों तथा स्रोतों को काटकर की जाती थी।

सिंचाई के साधनों का विभाजन

सिंचाई के साधनों को दो भागों में विभाजित किया जा सकता है : (१) उत्पादक और (२) अनुत्पादक अथवा रक्षात्मक। उत्पादक साधनों से तात्पर्य यह है कि उनके द्वारा इतनी आय प्राप्त हो जाती है कि जिससे पूँजीगत व्यय पर ब्याज कार्य शील खर्चे तथा कर वसूल करने के खर्चे आसानी से प्राप्त हो जाते हैं। इस वर्ग में आने वाली योजनाओं की अर्थ व्यवस्था सार्वजनिक ऋणों के द्वारा की जा सकती है क्योंकि इससे सार्वजनिक अर्थ-व्यवस्था पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। द्वितीय वर्ग के अन्तर्गत वे योजनाएँ आती हैं जिनसे केवल इतनी आय प्राप्त होती है जिससे लगाई गई पूँजी का ब्याज निकल आये।

सिंचाई के लाभ

(१) **अकाल के विरुद्ध सुरक्षा**—अनावृष्टि अथवा अपर्याप्त वर्षा होने की दशा में सिंचाई का मुख्य कार्य उस क्षेत्र की अकाल के विरुद्ध रक्षा करना होता है। सिंचाई की योजनाओं के निर्माण के समय असंख्य लोगों को कार्य मिलता है जिससे उनकी क्रय शक्ति बढ़ती है। योजनाओं के समाप्त हो जाने पर सिंचाई कार्यों की सहायता से लोगों को खाद्यान्न और चारे की फसलें प्राप्त होती हैं।

(२) **भूमि के मूल्य में वृद्धि**—सिंचाई की योजनाओं के पास वाले क्षेत्रों का बाजार मूल्य पहले की अपेक्षा अधिक बढ़ जाता है क्योंकि अब उस स्थान को उपज सम्बन्धी अधिक सुविधाएँ उपलब्ध हो जाती हैं।

(३) सिंचाई वाले स्थान का स्तर (level) पहले की अपेक्षा ऊँचा हो जाता है।

(४) मनुष्यों और जानवरों को नहाने और पीने के लिए पानी की सुविधाएँ उपलब्ध हो जाती हैं।

(५) सिंचाई की सहायता से बागान सफल जाते हैं और भूमि की नमी बढ़ जाती है।

(६) राज्यों की आगमनों में वृद्धि हो जाती है।

(७) बाढ़ नियन्त्रण तथा शक्ति उत्पादन में सहायता मिलती है।

(८) यदि सिंचाई की योजनाएँ बहुउद्देशीय होती हैं तो उससे अनेक लाभ प्राप्त होते हैं।

उपरोक्त लाभों से प्रभावित होकर हमारी सरकार ने सिंचाई विकास की ओर विशेष ध्यान दिया है जैसा कि निम्न तालिका से ज्ञात होगा—

(मिलियन में)

वर्ष	जनसंख्या	बोई गई भूमि (एकड़)	सिंचित क्षेत्र (एकड़)	कुल खाद्यार्थ-क्षेत्र (एकड़)
१६००	२३६	२०२	३६	१८०
१६५१	३६२	३००	५१	२४०
१६७१ (अनुमानित)	४००	३१५	१५०	पूर्ण विकास

भारत में सिंचाई के विभिन्न साधन

भारतवर्ष में सिंचाई के बहुत से साधन हैं, जिनसे सिंचाई के लिए किसानों को पानी मिलता है, जैसे—

(१) कुआँ,

(२) नल कूप (Tube-well);

(३) नहर,

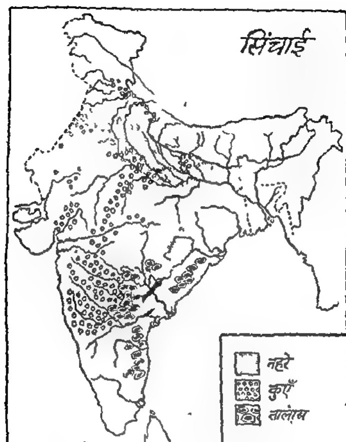
(४) नदी,

(५) तालाब अथवा झील; तथा

(६) झरना।

ऐसा अनुमान है कि उपरोक्त विभिन्न साधनों द्वारा भारत के कुल कृषि योग्य क्षेत्रफल का केवल २०% क्षेत्रफल ही लाभान्वित होता है और शेष ८०% क्षेत्रफल के लिए सिंचाई का कोई साधन नहीं है। सन् १६५८-५६ में विभिन्न सिंचाई के साधनों द्वारा सिंचित भूमि का क्षेत्रफल और उनका तुलनात्मक प्रतिशत अगले पृष्ठ पर दी गई तालिका में दर्शाया गया है*—

* *Directory and Year Book* 1959-60, p. 135.



चित्र ६—सिंचाई

सिंचाई के साधन	सिंचित क्षेत्रफल (हजार एकड़ में)
नहरें :	
सरकारी	१६,८३२
निजी	३,३६०
तालाब	१०,८८४
कुएँ	१६,६४३
अन्य साधन	५,४४४
योग	५६,२६३

आगे हम सिंचाई के प्रमुख साधनों का संक्षिप्त वर्णन करेंगे।

कुओं द्वारा सिंचाई

सिंचाई के व्यक्तिगत साधनों में कुओं का महत्वपूर्ण स्थान है। भारतवर्ष में यह अति प्राचीन काल से अत्यन्त महत्वपूर्ण एवं अति प्रचलित साधन रहा है। देश में जहाँ कहीं भी अनुकूल भौगोलिक दशाएँ विद्यमान हैं वहाँ कुएँ पाये जाते हैं। भारतवर्ष में कुल सिंचित क्षेत्रफल का लगभग २६% भाग कुओं के द्वारा ही सींचा जाता है। वैसे तो यह देश के लगभग प्रत्येक भाग में पाये जाते हैं परन्तु यह विशेष रूप से उत्तर प्रदेश, पंजाब, मद्रास, और बम्बई राज्य में पाये जाते हैं। उत्तर प्रदेश में ११ लाख से अधिक कुएँ काम में लाये जाते हैं। इसके बाद मद्रास का नम्बर आता है जहाँ ६३ लाख कुएँ पाये जाते हैं। पंजाब, बम्बई, मध्य प्रदेश और राजपूताना क्रमशः इसके बाद आते हैं। कुओं को दो भागों में विभाजित किया जा सकता है—साधारण कुएँ और नल कूप।

साधारण कुएँ—साधारण कुएँ कच्चे और पक्के दोनों ही प्रकार के होते हैं। इन कुओं की बनावट, गहराई और पानी की मात्रा भौगोलिक परिस्थितियों पर निर्भर होता है। उत्तर प्रदेश में इस प्रकार के कुओं की संख्या अन्य सभी राज्यों की अपेक्षा सबसे अधिक है। दक्षिणी भारत में पथरीली भूमि होने के कारण कुओं की संख्या बहुत कम है। १९४५ के अकाल जाँच आयोग ने कुओं की महत्ता को स्वीकार करते हुए लिखा है कि "कुएँ सिंचाई के सर्वोत्तम महत्व के साधन हैं और यदि सिंचित क्षेत्र में अधिकतम वृद्धि करनी है, तो व्यक्तिगत कुओं की संख्या में पर्याप्त वृद्धि करना अनिवार्य है।"

नल कूप—नल कूपों के निर्माण ने सिंचाई पद्धति के इतिहास में एक महत्वपूर्ण अध्याय जोड़ दिया है। एक नल कूप ६० फुट से लेकर ५०० फुट तक गहरा होता है। इसकी क्षमता ३३००० गैलन पानी प्रति घण्टा खींचने की होती है। इससे लगभग ५०० एकड़ भूमि की सिंचाई हो सकती है।

सर्व प्रथम सन् १९४८ में भारत सरकार ने नल कूपों के विषय में दो अमरीकी विशेषज्ञों को सलाह के लिए बुलाया था। उत्तर प्रदेश तथा बिहार में ऐसे कुओं का निर्माण सन् १९३० से प्रारम्भ हो गया था और १९५० तक लगभग २५०० कुएँ बन चुके थे। अमरीकी विशेषज्ञों ने उत्तर प्रदेश, बिहार तथा पंजाब में नल कूपों के विकास की भारी योजनाएँ बनाई। प्रथम पंचवर्षीय योजना में ५८३० नल कूप तथा द्वितीय पंचवर्षीय योजना में ३५८१ नल कूप बनाने का लक्ष्य रखा गया था। इस समय यह नल कूप पंजाब, बम्बई, बिहार, मद्रास, उत्तर प्रदेश, ट्रावनकोर कोचीन तथा मध्य प्रदेश में काफी संख्या में पाये जाते हैं।

कुँओं से लाभ

(१) पानी के व्यय में मितव्ययता—विभिन्न गहराइयों से पानी निकालने

में होने वाले परिश्रम से बचने के लिए किसान स्वभावतः पानी व्यर्थ नष्ट करने में संकोच करता है। पानी निकालने में लागत भी अधिक लगती है, अतः इस पानी का उपयोग केवल लाभदायक फसलों में ही किया जाता है। इस प्रकार पानी के व्यय की लागत कम हो जाती है और परिश्रम की बचत होती है।

(२) कुएँ का पानी धात्विक दृष्टिकोण से अधिक गुणकारी होता है क्योंकि इसमें सोडा, नाइट्रेट, क्लोराइड तथा सल्फेट मिले होते हैं जो कि भूमि की उर्वरा शक्ति को बढ़ा देते हैं।

(३) आवश्यकतानुसार पानी का उपयोग होने के कारण पानी के सड़ने (water-logging) का भी भय नहीं रहता जैसा कि नहरों, तालाबों और झीलों से सम्भव है।

(४) कुओं के निर्माण में न तो अधिक पूँजी की आवश्यकता होती है और न विशेष तान्त्रिक योग्यता की।

(५) भारतवर्ष की भौगोलिक परिस्थितियों के अनुसार भी कुँओं का निर्माण ही अधिक हितकर है। अधिकांश भूमि तराई की एवं रेतीली है जिसमें कि बरसात का पानी सुविधापूर्वक संचित हो जाता है।

(६) नल कूप साधारण कुँओं की अपेक्षा मितव्ययी, दीर्घजीवी होते हैं। इनका सबसे बड़ा लाभ यह है कि ये मानवीय और पाशविक परिश्रम की बिलकुल छुटकारा दे देते हैं।

कुओं से सिंचाई करने में कठिनाइयाँ

(१) कुओं द्वारा सिंचाई करने में धन और परिश्रम दोनों ही अधिक लगते हैं। यद्यपि प्रारम्भ में धन और परिश्रम का विनियोग कम मालूम होता है परन्तु कालान्तर में कुओं की मरम्मत, सफाई और पुनर्निर्माण पर जो व्यय और परिश्रम होता है वह अनाधिक होता है।

(२) अनावृष्टि अर्थात् वर्षा के अभाव वाले वर्ष जब कि पानी की अधिक आवश्यकता होती है कुएँ प्रायः सूख जाया करते हैं। यही नहीं निरन्तर पानी के खिंचाव से भी कुएँ प्रायः सूख जाते हैं।

(३) कुएँ का पानी अक्सर खारा होता है जो कि पौधों के लिए हानिकारक होता है।

(४) नदियों एवं झरनों की अपेक्षा कुएँ के पानी में धात्विक मिश्रणों की कमी होती है क्योंकि ये एक ही स्थान पर केन्द्रित होते हैं।

(५) कुओं के द्वारा केवल सीमित क्षेत्रों पर ही सिंचाई हो सकती है। इसके विपरीत नदियों, नहरों और झरनों से भी अपेक्षाकृत अधिक विस्तृत क्षेत्रों में सिंचाई हो सकती है।

(६) भारत के कुछ भू-खण्डों में पानी की सतह बहुत नीची है जहाँ पर कुएँ खोदना अनार्थिक एवं कष्टप्रद है।

नहरों द्वारा सिंचाई

सिंचाई की दृष्टि से प्राकृतिक साधन (वर्षा) के बाद नहरों का ही स्थान आता है। भारत में तो नहरें ही सबसे अधिक सिंचाई का महत्वपूर्ण साधन है। इनकी कुल लम्बाई ६७ हजार मील है। ये भारतवर्ष में अति प्राचीन काल से प्रचलित रही हैं, यद्यपि इनका आधुनिक विकास १६ वीं शताब्दी से ही प्रारम्भ होता है। इस प्रकार से इनके निर्माण का श्रेय ब्रिटिश सरकार को प्राप्त नहीं हो सकता। अनुमान है कि हमारी नहरों में ८० करोड़ अधिक रुपया लगा हुआ है। नहरें अधिकतर पंजाब, उत्तर प्रदेश, बंगाल, बिहार, मद्रास, मैसूर, हैदराबाद, बम्बई, मध्य प्रदेश और उड़ीसा में पाई जाती हैं जहाँ इनका एक प्रकार से जाल सा बिछा हुआ है। १६२१ ई० के पूर्व नहरों का वर्गीकरण इस प्रकार था :—

(१) उत्पादक नहरें (Productive Canals),

(२) रक्षात्मक नहरें (Protective Canals) तथा

(३) छोटे कार्य में आने वाली नहरें (Minor Canals)।

प्रथम वर्ग की नहरें उत्पादन को बढ़ाने की दृष्टिकोण से बनाई जाती थीं। द्वितीय वर्ग की नहरों से उत्पादन कार्य तो कम लिया जाता था परन्तु बाढ़ नियन्त्रण प्रमुख उद्देश्य होता था। इनसे आय नाम मात्र को तथा अनिश्चित होती थी। तृतीय वर्ग की नहरों को आपत्ति काल में बनवाया जाता था। इनके निर्माण के लिए किसी विशेष कोष (fund) आदि का प्रावधान नहीं था। इनकी अर्थ व्यवस्था चालू वर्ष के बजट से ही की जाती थी।

आधुनिक काल में नहरों का वर्गीकरण निम्न प्रकार किया जाता है :—

(१) बारहमासी अथवा स्थायी नहरें (Perennial Canals),

(२) मौसमी अथवा अस्थायी नहरें (Inundation Canals) तथा

(३) बाँध की नहरें (Storage Work Canals)।

(१) स्थायी नहरें

बारहमासी, धारावाहिक अथवा स्थायी नहरें वे नहरें हैं जो सदैव सिंचाई के लिए पानी बनाये रखती हैं और आवश्यकता के समय हानि से बचाती हैं। इनका निर्माण नदियों के दोनों ओर एक मजबूत बाँध बनाकर पानी को रोक कर किया जाता है। इनके द्वारा सिंचाई अधिक निश्चित, नियमित तथा समयानुकूल होती है। इस प्रकार की नहरें उत्तर प्रदेश में अधिक पाई जाती हैं। राष्ट्रीय सरकार आजकल इसी प्रकार की नहरों के निर्माण पर अधिक बल दे रही है।

(२) मौसमी नहरें

मौसमी, अनित्य वाहिनी, अस्थायी अथवा बाढ़ की वे नहरें होती हैं जिनमें केवल वर्षा ऋतु में पानी आता है। बरसात के दिनों में अथवा बाढ़ से उमड़ती हुई नदियों का अतिरेक जल इन नहरों में आ जाता है। ये नहरें केवल वर्षा काल में ही काम में लाई जा सकती हैं। इस प्रकार इन नहरों की अधिक महत्ता नहीं है क्योंकि वर्षा ऋतु में जब कि जल की बहुतायत होती है ये जल को प्रदान करती हैं परन्तु हाँ ऐसे स्थानों में जहाँ वर्षा ऋतु में भी फसलों को पर्याप्त जल नहीं मिलता इनकी महत्ता अवश्य बढ़ जाती है।

(३) बाँध की नहरें

बाँध की नहरें वे नहरें हैं जिनमें घाटियों के दोनों किनारों पर बाँध लगाकर पानी एकत्र किया जाता है और सूखे मौसम में उनका सदुपयोग किया जाता है।

नहरों से लाभ

(१) कृषि उद्योग में स्थायित्व—साल भर तक नहरों द्वारा पानी मिलने के कारण कृषि उद्योग में एक प्रकार का स्थायित्व (stability) आ जाता है और उपज की मात्रा तथा गुण में भी वृद्धि हो जाती है।

(२) बाढ़ नियन्त्रण—नदियों के आरपार बाँध बना कर जल संचित करने के कारण बाढ़ के प्रकोप का भय जाता रहता है। अनेक देशों में नहरों का निर्माण इसी उद्देश्य से किया गया है।

(३) नहरों द्वारा सिंचाई के कारण बहुत से मरुस्थल तथा बंजर भूमि लह लहाते हुए खेतों में परिणत हो जाती है। रेगिस्तानी इलाकों में सिंचाई का एक मात्र साधन यही रह जाता है।

(४) अकाल के भूत से छुटकारा मिल जाता है।

(५) नहरों के निर्माण से देश की जनसंख्या के एक बहुत बड़े भाग को रोज गार मिल जाता है।

(६) बड़ी बड़ी नहरों को यातायात के साधन के रूप में भी प्रयुक्त किया जाता है।

नहरों के दोष

(१) पानी का अपव्यय—भारतीय किसान लोग अपनी अज्ञानता एवं मूर्खता के कारण नहरों से आवश्यकता से अधिक पानी ले लेते हैं जिससे अनेक दोष उत्पन्न हो जाते हैं। नहरों द्वारा सिंचित भूमि में एक ही स्थान पर पानी भरा रहता है जो दलदल का रूप धारण कर लेता है। इससे मच्छर आदि उत्पन्न हो जाते हैं जो मलेरिया, फाय-लेरिया आदि अनेक भीषण बीमारियों को जन्म देते हैं।

(२) भूमि की उर्वरा शक्ति का ह्रास—खेतों में आवश्यकता से अधिक पानी के इकट्ठा हो जाने से भूमि की उर्वरा शक्ति नष्ट हो जाती है और उसमें लवण अथवा रेत उत्पन्न हो जाता है जो खेती को क्रमशः नष्ट कर देता है। बम्बई तथा पंजाब के क्षेत्रों में रेत के कारण हजारों एकड़ भूमि व्यर्थ नष्ट हो गई है।

(३) फसल का नष्ट होना—आवश्यकता से अधिक पानी हो जाने पर भी फसलें या तो गल जाती हैं अथवा देर में पकती हैं।

(४) प्राकृतिक वर्षा के बहाव में रुकावट—कभी-कभी नहरों के कारण वर्षा के पानी का स्वाभाविक प्रवाह रुक जाता है जो अनेक अन्य समस्याओं को जन्म देता है।

(५) ऊँची सिंचाई दर—सिंचाई की दरें प्रायः ऊँची और विभिन्न स्थानों में अलग अलग होती हैं। पानी की नाप तौल न होने के कारण किसानों को मितव्ययता करने का प्रोत्साहन नहीं मिलता।

उपरोक्त दोषों के होते हुए भी यह निर्भीकता से कहा जा सकता है कि नहरें भारतवर्ष के लिए वरदान हैं और इनकी उपयोगिता को किसी भी प्रकार चुनौती नहीं दी जा सकती है।

तालाबों द्वारा सिंचाई

तालाबों द्वारा सिंचाई की प्रथा हमारे देश में अति प्राचीन काल से चली आई है। बरसात के दिनों में वर्षा के पानी को अनेक स्थानों पर तालाबों में एकत्रित कर लिया जाता है और फिर सूखे मौसम में इसका उपयोग खेती के लिए किया जाता है। यद्यपि देश के प्रत्येक राज्य में तालाबों द्वारा सिंचाई का साधन किसी न किसी रूप में अपनाया जाता है परन्तु मध्य और दक्षिणी भारत में यह प्रथा अधिक प्रचलित है। दक्षिण भारत में, इतिहास के पन्ने पलटने से ज्ञात होता है, कि यहाँ पर कई शताब्दियों पूर्व विशाल तालाब पाये जाते थे। उनमें से कुछ तालाब तो आज भी दृष्टिगोचर होते हैं। दक्षिण भारत में तालाबों के द्वारा सिंचाई होने के कुछ विशेष कारण हैं, जैसे :—

(१) दक्षिण भारत की नदियाँ केवल वर्षा के पानी पर ही निर्भर होकर रहती हैं।

(२) वहाँ चट्टानों और पथरीली भूमि होने के कारण नहरों और कुँओं को खोदने में भी बड़ी कठिनाई होती है।

(३) चट्टानों में बरसाती पानी के सोखने की भी सामर्थ्य नहीं होती।

(४) दक्षिण भारत की जनसंख्या बिखरी हुई होने के कारण तालाब की सिंचाई प्रथा को ही अधिक उपयुक्त समझती है।

(५) पहाड़ी और टूटी फूटी भूमि में तालाबों का निर्माण आसानी से किया जा सकता है और यह अपेक्षाकृत अधिक स्थायी तथा उपयोगी सिद्ध होते हैं।

तालाब विभिन्न आकार के होते हैं। यह साधारण पोखरों से लेकर बड़ी बड़ी

भीलों के रूप में पाये जाते हैं। मद्रास में लगभग ३५०० तालाबों से लगभग ३० लाख एकड़ भूमि की सिंचाई होती है।

तालाबों का भारतीय कृषि व्यवस्था में बड़ा महत्वपूर्ण स्थान है। इनके निर्माण में नहरों तथा कुँओं की अपेक्षा कम पूँजी लगती है और इनका उपयोग भी तुरन्त होने लगता है। इसी कारण सरकार ने तालाबों को संरक्षण प्रदान किया है। बम्बई तथा मद्रास के तालाब अधिकतर सरकारी निरीक्षण में ही हैं। बहुत से पुराने तालाबों, जो कि प्रयोग में न आने के कारण टूटे-फूटे पड़े हैं, का पुनरुद्धार किया जा रहा है। पंचवर्षीय योजनाओं के अन्तर्गत भी तालाबों का निर्माण और रक्षा का कार्य जोरों से जारी है।

भारत सरकार की सिंचाई नीति

अध्ययन की सुविधा के लिए हम भारत सरकार की सिंचाई नीति को पाँच ऐतिहासिक खण्डों में विभाजित कर सकते हैं:—

(१) अति प्राचीन काल;

(२) मध्य काल;

(३) ईस्ट इंडिया कम्पनी का काल;

(४) ब्रिटिश शासन काल; तथा

(५) स्वतन्त्रता के पश्चात्।

अति प्राचीन काल

भारतवर्ष में अति प्राचीन काल से सिंचाई का कार्य होता आया है। ऐसा कहा जा सकता है कि सिंचाई का कार्य कृषि के साथ-साथ ही प्रारम्भ हुआ। अधिक धार्मिक एवं पौराणिक कथाओं में ऐसे संदर्भ मिलते हैं जिससे उक्त कथन की पुष्टि होती है। इस काल में सिंचाई के कार्य का उत्तरदायित्व राज्य के ऊपर नहीं होता था। सिंचाई के साधनों के निर्माण का कार्य शासकों की उदारता, दयालुता तथा धार्मिक भावनाओं पर निर्भर करता था। शासक लोग पुण्य कार्य के रूप में यदा-कदा कुँओं और तालाबों को बनवा दिया करते थे। अधिकतर यह कार्य वैयक्तिक हुआ करता था। फलतः कोई सिंचाई विभाग अथवा तत्सम्बन्धी प्रशासन विभाग नहीं हुआ करता था।

मध्य-काल

मध्य काल में भी सिंचाई कार्य की महत्ता को राजकीय स्तर पर स्वीकार नहीं किया गया यद्यपि प्राचीन काल की अपेक्षा इस काल में सिंचाई कार्य को अकाल निवारणार्थ अधिक महत्वपूर्ण समझा जाने लगा। मुसलमान शासकों जैसे फीरोज तुगलक, शेरशाह सूरी, अकबर तथा शाहजहाँ इत्यादि ने कुछ सिंचाई के साधनों का निर्माण करवाया। उदाहरणार्थ १४वीं शताब्दी में पश्चिमी यमुना नहर तथा पूर्वी यमुना-

नहर मुगल सम्राटों ने बनवाई थी। परन्तु यह सब कार्य अधिकांश में पुण्य एवं धर्म भावना से प्रेरित होकर किये गये थे, अतः इस काल में भी राष्ट्रीय आधार पर कोई सिंचाई नीति नहीं बनाई गई।

ईस्ट इंडिया कम्पनी का काल

सिंचाई कार्य व्यवस्था की ओर सच्चे अर्थों में ध्यान सर्वप्रथम ईस्ट इंडिया कम्पनी का ही गया। यहाँ यह कह देना अनुचित न होगा कि यह सब ध्यान स्वप्रेरित न होकर परिस्थिति-प्रेरित था। १८ वीं और उन्नीसवीं शताब्दी में घटित अकालों ने विदेशी सरकार को सिंचाई सम्बन्धी एक सुव्यवस्थित और निश्चित नीति बनाने के लिए विवश कर दिया। प्रारम्भ में कम्पनी ने केवल उत्पादक कार्यों की ओर ही ध्यान दिया परन्तु कालान्तर में रक्षात्मक कार्यों की ओर भी ध्यान देना पड़ा।

उत्पादक कार्यों के अन्तर्गत प्रारम्भ में पुराने कार्यों की मरम्मत कराई गई, तत्पश्चात् कुछ नये कार्यों का भी निर्माण किया गया। इन सब का संक्षिप्त विवरण निम्न प्रकार है :—

(अ) पुरानी नहरों का सुधार

(१) सन् १८२० में पश्चिमी यमुना नहर का सुधार किया गया, और सन् १८८३ में पश्चिमी यमुना नहर का पुनर्निर्माण किया गया।

(२) सन् १८३० में पूर्वी यमुना नहर का सुधार किया गया।

(३) सर आर्थर कॉटन ने सन् १८३६ में कावेरी ग्राट एनीकट बाँध बनाने के कार्य को अपने हाथ में लिया। सन् १८४३-४४ में इसका विस्तार तथा सन् १८६६-१६०२ में इसका पुनर्निर्माण किया गया।

(ब) नई नहरों का निर्माण

(१) सन् १८४०-५० में 'अपर गंगा कैनाल' का निर्माण किया गया।

(२) सन् १८४७-५४ में अपर बारी दोआब नहर का निर्माण किया गया।

(३) सन् १८४६ में गोदावरी नहर का निर्माण किया गया।

(४) सन् १८५२ ५४ में कृष्णा नदी बाँध का निर्माण किया गया।

उपरोक्त महत्वपूर्ण कार्यों के अतिरिक्त कम्पनी ने रेलों के प्रादुर्भाव से पूर्व अनेक छोटी मोटी नहरों का निर्माण किया। यह सब अकाल संकट के निवारण के लिए था।

ब्रिटिश शासन काल

सन् १६१६ के बाद से सिंचाई व्यवस्था का उत्तरदायित्व राज्य सरकारों को सौंप दिया गया। प्रत्येक राज्य सरकार ने अपने-अपने राज्यों में सिंचाई विभाग की स्थापना की है। अन्तर-राज्य सिंचाई व्यवस्था (Inter State Irrigation) का संचालन करने के लिए दो केन्द्रीय संस्थाएँ हैं—

(१) केन्द्रीय जलशक्ति, सिंचाई तथा जलयान आयोग (Central Water Power Irrigation and Navigation Commission), तथा

(२) केन्द्रीय सिंचाई परिषद (Central Board of Irrigation)।

इन दोनों संस्थाओं की स्थापना क्रमश १६४५ और १६३१ में हुई थी। उपरोक्त संस्थाओं के अतिरिक्त Central Ground Water Organisation (1946 47) तथा Tube Well Development Organisation (1954) नामक दो और संस्थाएँ हैं जो जल स्रोतों और नल कूपों के विकास पर काम कर रही हैं।

स्वतन्त्रता के पश्चात्

स्वतन्त्रता प्राप्त करने के पश्चात् हमारी राष्ट्रीय सरकार ने सिंचाई के महत्व को भली भांति समझा है। विशेषज्ञों का मत है कि खाद्य समस्या का पूर्ण हल करने के लिए देश के सिंचित क्षेत्रफल को दुगना करना होगा। इस कार्य के पूरा होने में १५ या २० वर्ष का समय लग सकता है। राष्ट्रीय सरकार ने सिंचाई विकास की योजनाओं को पंचवर्षीय योजनाओं में अन्तर्गत महत्वपूर्ण स्थान प्रदान किया है।

प्रथम पंचवर्षीय योजना (१६५१ ५६)

योजना के प्रारम्भ में (१६५१) ५१ ५ मि० एकड़ भूमि पर सिंचाई होती थी जो कुल खेती योग्य भूमि का १७ ५% थी। इस योजना के अन्तर्गत यह लक्ष्य रखा गया कि सींचे जाने वाले क्षेत्रफल में ४०% की वृद्धि हो जाय। इस लक्ष्य को पूरा करने के लिए नदियों, नहरों, तालाबों और कुँओं पर ४७० करोड़ रुपये व्यय करने का आयोजन किया गया। इस योजना के अन्तर्गत १७३ योजनाएं थीं। सिंचाई के नवीन निर्माण कार्यों को तीन भागों में बाँटा गया—

(१) बहुउद्देशीय योजनाएँ (Multi purpose projects)

(२) सिंचाई के बड़े निर्माण कार्य तथा

(३) सिंचाई के छोटे छोटे निर्माण कार्य।

उपरोक्त कार्यों पर व्यय किये जाने वाली धन की रकम तथा तदनुसार सिंचित क्षेत्र के क्षेत्रफल में होने वाली वृद्धि निम्न तालिका में दिखाई गई है—

निर्माण कार्य	धन राशि (करोड़ रुपये)	योजना के अन्त में सिंचित क्षेत्रफल में वृद्धि (लाख एकड़)
(१) बहुउद्देशीय योजनाएँ	२६६	२३
(२) सिंचाई के बड़े निर्माण कार्य	१६८	६७
(३) सिंचाई के छोटे निर्माण कार्य		११०
अतिरिक्त प्रावधान—		
(१) सिंचाई के छोटे निर्माण के लिए	३०	—
(२) नल कूपों के लिए	६	—
योग	४७०	२००

द्वितीय पंचवर्षीय योजना (१६५५-६१)

प्रथम योजना के प्रारम्भ में जैसा कि पहले कहा जा चुका है ५१.५ मि० एकड़ भूमि की सिंचाई होती थी, और प्रथम योजना की सफलता के फलस्वरूप यह क्षेत्रफल ६७.० मि० एकड़ हो गया; यह प्रगति वास्तव में सराहनीय है। द्वितीय पंचवर्षीय योजना में यह लक्ष्य रखा गया है कि इस दिशा में ३१% की वृद्धि और की जाय जिससे सन् १६६०-६१ में सींचे जाने वाला क्षेत्रफल बढ़ कर ८८० लाख एकड़ हो जाय। इस कार्य के लिए द्वितीय योजना में ३८१ करोड़ रुपये नियत किये गये हैं जिसमें से, अनुमान है कि १७२ करोड़ रुपये द्वितीय योजना काल में और शेष तृतीय एवं चतुर्थ योजना काल में व्यय किये जायेंगे।

द्वितीय योजना काल में १६५ नये निर्माण कार्य किये जायेंगे। इन निर्माण कार्यों पर होने वाले व्यय तथा पूर्ण होने पर सिंचित क्षेत्र में होने वाली वृद्धि का ब्यौरा निम्न तालिका में दिया गया है :—

अनुमानित लागत	योजनाओं की संख्या	कुल अनुमानित लागत	पूर्ण होने पर सिंचित क्षेत्र में वृद्धि
१० और ३० करोड़ रुपये के अन्तर्गत	१०	१६१	८४
५ और १० करोड़ रु० के अन्तर्गत	७	५४	३.५
१ और ५ करोड़ रु० के अन्तर्गत	३५	८५	३.४
१ करोड़ से कम धन राशि	१४३	४६	१.५
योग	१६५	३७६	१४.८

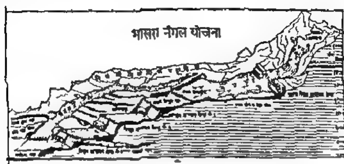
तृतीय पंचवर्षीय योजना

इस योजना के अन्तर्गत सिंचाई की बड़ी और मध्यम योजनाओं के लिए ६५० करोड़ रुपये का प्रावधान किया गया है। इसके अतिरिक्त निजी ओर से भी कुछ धन और व्यय किया जायेगा। योजना के अन्त तक सिंचाई का क्षेत्रफल ६ करोड़ एकड़ हो जायगा, जबकि दूसरी योजना के अन्त में यह ७ करोड़ एकड़ होगा। लगभग ४ करोड़ एकड़ में बरानी खेती की जायगी। १ करोड़ ३० लाख एकड़ अधिक भूमि को कटाव आदि से बचाने का काम किया जायगा। सन् १६६०-६१ तक लगभग २ लाख ६० हजार टन नेत्रजन युक्त खाद का प्रयोग होने का अनुमान है, १६६५-६६ में यह १० लाख टन हो जायगा। ७५ करोड़ एकड़ भूमि में पौधों को बचाने की व्यवस्था की जायगी।

प्रमुख बड़ी सिंचाई-परियोजनाएँ

भाखरा-नांगल योजना—इस योजना का शुभारम्भ १६४६ में हुआ था जो

१६५८ में पूर्ण हो सकी। इसकी अनुमानित लागत १७० करोड़ २ लाख रुपये है। इसके द्वारा वर्तमान समय में ६४,००० किलोवाट बिजली उपयोग में लाई जा सकती है तथा यदि आवश्यकता पड़े तो ३६००० किलोवाट तक और बढ़ाया जा सकता है यह विद्युतशक्ति ५ केन्द्रों में विभाजित कर दी जायगी।



चित्र ७—भाखरा नांगल योजना

भाखरा बाँध की ऊँचाई ७०० फीट और लम्बाई १७०० फीट है। इस बाँध में ७ ४ मिलियन एकड़ फीट पानी सगृहीत हो सकता है जिसका क्षेत्रफल ५६ ४ वर्ग मील है। इससे निकली हुई प्रमुख नहर की लम्बाई ६५२ मील है तथा सहायक नहरों की लम्बाई २,२०० मील है।

दामोदर घाटी योजना—चार बाँधों वाली इस योजना की लागत ७५ करोड़ रुपये है। इसमें से तीन पर १,५०,००० किलोवाट के जल विद्युत घर, बोकारो तथा दुर्गापुर में ३,७५,००० किलोवाट के दो थर्मल पावर स्टेशन, नहरें तथा उनकी सहायक नहरें होंगी। इसके तीन बाँध पूर्ण हो चुके हैं। इसका प्रबन्ध 'दामोदर वैली कारपोरेशन' को सौंप दिया गया है। यह योजना तिलैया, कोनार, मैठों तथा पचेट पहाड़ियों पर बाँध बना कर दामोदर तथा उसकी अन्य सहायक नदियों पर काबू पाने के लिए कार्यान्वित की गई है।

महानदी घाटी योजना—यह योजना सम्बलपुर तथा बोलनगिर के जिलों को हरा भरा करने के लिए बनाई गई है। इससे ६ ७ लाख एकड़ भूमि की सिंचाई होगी। इसके अन्तर्गत तीन बाँध—हीराकुड, टिकरपारा, तथा नारज—में बनेंगे। हीराकुड बाँध की लम्बाई (१५,७४८ फीट) संसार के सभी बाँधों से अधिक है तथा इसकी ऊँचाई १५० फीट है। इसमें ६६ लाख एकड़ फीट पानी एकत्रित हो सकेगा जिसे हम दूसरे शब्दों म २८८ वर्ग मील की झील कह सकते हैं। इसकी अनुमानित लागत ६२ करोड़ रुपये है।

तुङ्गभद्रा योजना—दक्षिण भारत की सबसे बड़ी योजना आन्ध्र और मैसूर

राज्य द्वारा प्रारम्भ की गई है। तुङ्गभद्रा नदी पर ७६४२ फीट लम्बा तथा १६२ फीट

चित्र ७—प्रमुख सिंचाई परियोजनाएँ

चौड़ा बाँध बनेगा। इसके दोनों किनारों पर जल विद्युत केन्द्र बनाये जायेंगे। इसकी क्षमता ३० लाख एकड़ फीट पानी की है। इसके दोनों ओर से नहरें निकाली जायेंगी जो

१ ३ लाख एकड़ भूमि की सिंचाई करेंगी। इस योजना की कुल लागत ६० करोड़ रुपये है। इसमें तीन विद्युत-गृह बनाये जावेंगे जिनकी उत्पादन क्षमता ६६,००० किलोवाट होगी।

कोसी योजना—१३ ६५ लाख एकड़ भूमि को लहलहा देने वाली योजना में कोसी नदी के दोनों तटों पर १५० मील लम्बी दीवारें बनाई जायेंगी, हनुमान नगर (नैपाल) से तीन मील दूर पर एक बराज बनेगा तथा बराज से पूर्वी कोसी नहर का निर्माण होगा। इस नहर की—सुपाल, प्रतापगंज, पूर्णिया तथा अररिया—शाखाएँ हैं। इस योजना में लगभग ४४ ६ करोड़ रुपया व्यय किया जायगा।

हीराकुड योजना—यह बाँध सम्भलपुर रेलवे स्टेशन से ६ मील दूरी पर होगा। उसकी लम्बाई १५,७४८ फीट तथा ऊँचाई २०० फीट होगा। इससे निकलने



चित्र ६—हीराकुड योजना

वाली नहर तथा उसकी शाखाएँ ६१५ मील और सहायक नहरों की लम्बाई ४६० मील होगी एवं जल मार्ग की लम्बाई ६,५०० मील होगी। इस योजना का लागत व्यय लगभग ७० ७८ करोड़ रुपये है।

बड़ी और मँझली सिंचाई योजनाओं का उपयोग

सन् १६५८-५६ में चार बहुमुखी नदी घाटी योजनाओं—भाखरा नागल, दामोदर घाटी निगम, तुङ्गभद्रा और हीराकुड से २५ लाख एकड़ जमीन की सिंचाई हुई। इसमें से भाखड़ा नागल योजना द्वारा पंजाब और राजस्थान में १६ लाख ५० हजार एकड़ जमीन की सिंचाई हुई। दामोदर घाटी निगम से पश्चिमी बंगाल में २३५ हजार एकड़ जमीन की और हीराकुड से उड़ीसा में २८५ हजार एकड़ जमीन की सिंचाई हुई। तुङ्गभद्रा योजना से मैसूर और आंध्र प्रदेश में १ लाख ८५ हजार एकड़ जमीन

की सिंचाई हुई। वैसे, इन चारों योजनाओं से कुल ३७ लाख एकड़ जमीन की सिंचाई हो सकती थी।

देश में सभी बड़ी और मँझली योजनाओं की कुल जितनी सिंचाई क्षमता थी, उसका ८२% उपयोग हुआ। आशा है १९५६-६१ के दो वर्षों में भी कुल सिंचाई क्षमता और वास्तविक उपयोग का यह अनुपात जारी रहेगा।

सन् १९५०-५१ में सब प्रकार के साधनों से कुल ५१५ लाख एकड़ जमीन की सिंचाई हुई थी। इसमें से २२० लाख एकड़ जमीन की सिंचाई बड़ी और मझली सिंचाई योजनाओं द्वारा हुई। इसके अलावा दूसरी पंचवर्षीय योजना के अन्त तक बड़ी और मँझली योजनाओं से ३३५ लाख एकड़ और जमीन की सिंचाई होने लगेगी।

पाँचवीं पचवर्षीय योजना के अन्त तक, अर्थात् १९७५-७६ तक लगभग १८ से १९ करोड़ एकड़ जमीन के लिए सिंचाई की सुविधाएँ कर देने का विचार है। आशा है इसमें से लगभग ९ करोड़ एकड़ जमीन की सिंचाई बड़ी और मँझली योजनाओं द्वारा होने लगेगी।

पहली और दूसरी योजना में जो बड़ी और मँझली सिंचाई योजनाएँ शामिल की गई है, उन पर लगभग १,४०० करोड़ रुपये की लागत [redacted] अनुमान है।

प्रश्न

5/ 1 State the different forms of irrigation in India What is meant by Productive and Protective works? Point out the relative importance of irrigation works in different provinces in India

(*Agra, 1949*)

2 Describe the various methods of irrigation used in India and discuss their relative merits from the point of view of agriculture

(*Punjab, 1954*)

3 Mention the principal features of the multi purpose projects undertaken by the government, and envisage their prospects

(*Agra, 1952*)

अध्याय ११

कृषि-विपणन

(Agricultural Marketing)

कृषि विपणन का महत्व

किसी भी वस्तु का विपणन अथवा विक्रय किसी देश की अर्थ-व्यवस्था में एक महत्वपूर्ण स्थान रखता है। कृषि-उत्पादन भी अन्य वस्तुओं की भाँति उस समय तक पूर्ण नहीं होता जब तक कि उसका विक्रय न हो जाय। यदि विपणन की उचित व्यवस्था नहीं है तो अति उत्तम विधि से किया गया कृषि उत्पादन भी आर्थिक दृष्टि से महत्वपूर्ण नहीं होता। आज इस तथ्य का सर्वसाधारण व्यक्ति भी स्वीकार करता है और विपणन की महत्ता दिन-प्रति दिन बढ़ती जा रही है। एक समय था जब कहा जाता था कि "अच्छे किसान की एक आँख हल पर और दूसरी आँख बाजार पर रहती है।" परन्तु आज यह कहा जाता है कि "एक अच्छा किसान अपने दोनों हाथ हल पर तथा अपनी दोनों आँखें बाजार पर रखता है।" अर्थात् आज एक किसान जितनी लगन से कृषि-उत्पादन करता है उतनी ही लगन से उसके विपणन की भी व्यवस्था करता है। वह भी एक अर्थशास्त्री की भाँति कृषि-उत्पादन की माँग और पूर्ति में सतुलन बनाये रखने की चेष्टा करता है किन्तु कुछ विवशताओं के कारण वह कृषि उत्पादन की माँग अथवा उसके सफल विपणन पर नियन्त्रण नहीं कर पाता। उसकी अशिक्षा एवं अज्ञानता उसको उचित मूल्य दिलाने में बाधक सिद्ध होती है।

भारतीय किसान के साथ कुछ प्राकृतिक तथा कुछ कृत्रिम ऐसी असमर्थताएँ होती हैं जो कृषि-विपणन को सफल बनाने में बाधक होती हैं। कृषि उत्पादन ही स्वयं बहुत कुछ दैवी अनुकम्पा पर निर्भर होता है। यदि कृषि-विपणन की व्यवस्था समुचित कर दी जाय तो निस्सन्देह कृषि उद्योग पर दैवी प्रकोप कम किया जा सकता है। इस प्रकार यदि कृषि तथा कृषक, दोनों की दशा सुधारनी है, अच्छी फसलें उत्पन्न करने के स्वप्न को पूरा करना है तो फसलों के उचित मूल्य की व्यवस्था करनी ही होगी।

कृषि-विपणन का अर्थ

कृषि-विपणन से हमारा तात्पर्य कृषक वस्तुओं की माँग और पूर्ति में सतुलन स्थापित करने से है। सरल शब्दों में कृषि वस्तुओं को कृषि उत्पादकों से लेकर उन

भोक्ताओं तक पहुँचाने में मध्यस्थों द्वारा की गई सेवाओं को विपणन-कार्य कहते हैं। कृषि-विपणन में निम्नलिखित कार्य करने पड़ते हैं :—

(१) कृषि वस्तुओं का एकत्रीकरण (Assembling)
(२) कृषि वस्तुओं का श्रेणीकरण (Grading)
(३) कृषि वस्तुओं का प्रविधिकरण (Processing)
(४) कृषि वस्तुओं का परिवहन (Transportation)
(५) कृषि वस्तुओं को सुरक्षित रखना (Storing)
(६) कृषि वस्तुओं को उपभोक्ताओं तक पहुँचाना (Retailing)
(७) कृषि वस्तुओं की समस्त क्रियाओं के लिए वित्त प्रदान करना (Financing)
(८) उपरोक्त क्रियाओं में निहित जोखिम उठाना (Risk Bearing)

भारतवर्ष में कृषि विपणन

भारतवर्ष में प्रायः कृषि वस्तुओं का विपणन किसानों के द्वारा न किया जाकर मध्यस्थों द्वारा किया जाता है। मध्यस्थों की शृंखला इतनी बड़ी है कि कृषि-उपज के लाभ का ५०% से अधिक भाग इन लोगों की जेब में चला जाता है। भारतीय गेहूँ विपणन समिति की रिपोर्ट के अनुसार निम्न प्रकार के मध्यस्थ पाये जाते हैं :—

(१) ऐसे किसान जो दूसरे किसानों से अनाज एकत्र करते हैं,
(२) जमींदार जो किसानों की ओर से गल्ला एकत्र करके बेचते हैं,
(३) महाजन अथवा गाँव का बनियाँ,
(४) ऐसे व्यापारी जो गाँव गाँव घूम कर अनाज इकट्ठा करते हैं;
(५) कच्चा अढ़तिया,
(६) पक्का अढ़तिया, तथा
(७) सहकारी समितियाँ।

बाजारों के प्रकार (Types of Markets)—भारत में कृषि विपणन के लिए विभिन्न प्रकार के बाजार पाये जाते हैं। श्रीयुत कुलकर्णी के अनुसार निम्न लिखित बाजार पाये जाते हैं :—

(१) पैंठ अथवा हाट अथवा मड़ियाँ,
(२) मंडियाँ,
(३) फुटकर बाजार (Retail markets)
(४) मेले तथा प्रदर्शनियाँ,
(५) उपज विपणन (Produce Exchange)

(१) पैंठ अथवा हाट—ग्रामों में छोटे-मोटे बाजार जीवन की आवश्यक

वस्तुओं जैसे अनाज, कपड़ा, मिट्टी के बर्तन, चूड़ियाँ, फल तथा तरकारियाँ आदि के क्रय विक्रय के लिए लगा करते हैं। कुछ प्रदेशों जैसे उत्तर प्रदेश, बिहार तथा उड़ीसा और पश्चिमी बंगाल में इन बाजारों को पैठ अथवा हाट कहते हैं तथा दक्षिणी भारत में शैन्डी (shandis) कहते हैं। ये सप्ताह में एक बार या दो बार लगती हैं। इनके लगने के दिन तथा स्थान व्यापारियों अथवा जमींदारों द्वारा निश्चित किये जाते हैं। ५-१० मील की दूरी पर एक हाट या बाजार होती है। भारतवर्ष में इस प्रकार के बाजार लगभग २२००० से अधिक हैं।

(२) मंडियाँ—मंडियाँ वस्तुतः थोक बाजार होती हैं। ये किसी निश्चित स्थान पर स्थायी रूप से लगाई जाती हैं और यहाँ पर प्रति दिन थोक में सौदे किये जाते हैं। यहाँ नित्य बहुत बड़ी मात्रा में उपज का क्रय विक्रय होता है और कुछ विशिष्ट क्रियाएँ विशिष्ट लोगों के द्वारा की जाती हैं और विशिष्ट लोग कुछ विशिष्ट नामों से पुकारे जाते हैं, जैसे तोले (weighmen), अढ़तिये तथा दलाल। ये मंडियाँ प्राय. निजी व्यक्तियों, स्थानीय संस्थाओं जैसे म्यूनिसपैलिटी, कारपोरेशन तथा जिला बोर्ड आदि के द्वारा नियंत्रित होती हैं और इनका स्वामित्व भी इन्हीं संस्थाओं के हाथ में होता है। ये मंडियाँ प्रायः १० से ४० मील की दूरी पर होती हैं और ऐसे स्थानों पर होती हैं जहाँ कि संग्रह सम्बन्धी, बैंक सम्बन्धी, यातायात सम्बन्धी सुविधाएँ उपलब्ध होती हैं।

भारतवर्ष म इन मंडियों की संख्या लगभग १७०० है। ये मंडियाँ नियमित तथा अनियमित दोनों ही प्रकार की होती हैं।

फुटकर बाजार

ये फुटकर बाजार शहर अथवा देहात के विभिन्न भागों में पाये जाते हैं। इन बाजारों में फुटकर विक्रेता और उपभोक्ता में सीधा सम्बन्ध होता है। इनका स्वामित्व फुटकर व्यापारियों के हाथ में होता है और इनका नियमन स्थानीय सरकारों जैसे जमींदारों और पंचायतों द्वारा होता है। इन बाजारों में लगभग सभी प्रकार की वस्तुओं का क्रय विक्रय होता है और आसपास के गाँवों की आवश्यकताओं की पूर्ति करते हैं। व्यापारिक दृष्टिकोण से इनका कोई विशेष महत्व नहीं है।

मेले तथा प्रदर्शनियाँ

अनादिकाल से भारतवर्ष में मेले तथा प्रदर्शनियाँ देश के विभिन्न भागों में लगते रहे हैं। प्राय. मेले धार्मिक त्योहारों के उत्सव में तीर्थ स्थानों पर लगते हैं। जैसे प्रयाग में माघ मेला, गढ़मुक्तेश्वर में कार्तिकी स्नान मेला, भृगु जी का मेला (बलिया), बटेश्वर का मेला (आगरा) आदि। अन्य मेले आर्थिक एवं व्यापारिक दृष्टिकोण से लगाये जाते हैं। भारत में १७०० से अधिक पशुओं तथा कृषि उपज के मेले

लगते हैं। इनमें से ५०% के लगभग पशु-सम्बन्धी, ४०% कृषि उपज सम्बन्धी तथा शेष १०% पशु तथा उपज सम्बन्धी होते हैं। इन मेलों तथा प्रदर्शनियों का संगठन जिला अधिकारियों, स्थानीय संस्थाओं अथवा निजी संस्थाओं द्वारा होता है।

(५) उपज विपणन

ये बाजार कृषि उपज के सबसे बड़े बाजार होते हैं यहाँ पर थोक में कृषि उपज का क्रय विक्रय होता है। ये देश के प्रमुख केन्द्रों में स्थापित हैं। इनका नियमन व्यापारिक संस्थाओं द्वारा होता है। इनका विस्तार में अध्ययन अगले पृष्ठों में किया गया है।

कृषि उपज के विपणन की विधि

भारतवर्ष में कृषि-वस्तुओं की बिक्री तीन प्रकार से होती है :—

(१) गुप्त विधि द्वारा (By Under Cover),

(२) नीलाम के द्वारा (By Auction); तथा

(३) निजी समझौतों द्वारा (By Private Agreement)

ये उपरोक्त क्रियाएँ भारतीय कृषि विपणन में प्रायः अपनाई जाती हैं चाहे कृषि विपणन की पद्धति किसी भी प्रकार की हो। बहुधा, कृषि विपणन की निम्नलिखित पद्धतियाँ भारतीय ग्रामों में अपनाई जाती हैं :—

(१) गाँव में बिक्री;

(२) किसान के द्वारा माल स्वयं गाँव से बाजार को ले जाना;

(३) मंडियों में बिक्री।

गाँव में बिक्री

नवोदित स्वतंत्र भारत का कृषक आज भी दरिद्रता की गोद में शयन कर रहा है। उसके पैतृक ऋण, सामाजिक रीति रिवाज, जैसे विवाह, मुंडन, यज्ञोपवीत आदि तथा सरकारी भूमिकर जिनमें लगान, सिंचाई आदि आते हैं, उसको अपनी फसल बेचने के लिए विवश कर देते हैं। इस विवशता का पूरा पूरा लाभ साहूकारों और जमींदारों को प्राप्त है। सच तो यह है कि ऋणी किसान अपनी उपज को केवल खेत से खलिहान तक ही लाता है और खलिहान से ही ऋण की अदायगी में उसका अधिकार छिन जाता है। गाँव में कृषि-उत्पादन का क्रय करने वाले—जमींदार, साहूकार, बनियाँ, फेरीवाले तथा अन्य महाजन हैं। कभी कभी धार्मिक त्योहारों पर लगने वाले मेलों में भी कृषि उत्पादन का क्रय विक्रय किया जाता है। अथवा वे छोटी छोटी हाटें जो सातवें या पंद्रहवें दिन लगा करती हैं, उनमें कृषि-उत्पादन का अधिकांश भाग बेच दिया जाता है। इस प्रकार से गाँव में बिक्री प्रतिकूल समय, प्रतिकूल परिस्थिति और प्रतिकूल वातावरण का ज्वलंत उदाहरण है।

(२) किसान के द्वारा माल स्वयं गाँव से बाजार को ले जाना—उन किसानों की संख्या अल्प होती है जो अपने कृषि उत्पादन को गाँव से ले जाकर बाजार में बेचते हैं। ये किसान या तो जमींदार होते हैं या बड़े पैमाने के कृषक होते हैं जिनके पास यातायात के साधन के रूप में घर की बैलगाड़ी होती है अथवा किराये पर गधे, खच्चर, ऊँट, घोड़े आदि से माल बाजार तक पहुँचाने की सामर्थ्य होती है। फिर भी सड़कों के अभाव में यातायात का व्यय इतना अधिक हो जाता है कि उत्पादन के मूल्य का २०% भाग किराये के रूप में व्यय हो जाता है। माल को इन बाजारों तक लाने में अनावश्यक मध्यस्थों का व्यय भी बढ़ जाता है।

(३) मंडियों में बिक्री—मंडियाँ दो प्रकार की होती हैं—नियमित (Regulated) तथा (२) अनियमित (Unregulated)।

नियमित मंडियाँ अनियमित मंडियों से कहीं अच्छी होती हैं। इनमें प्रमाणित बाँट होते हैं तौलनेवाले, सफाई करने वाले, तथा अन्य कार्य व्यवस्था को सुचारु रूप से बनाये रखने वाले लाइसेंस प्राप्त होते हैं। फिर भी दलाल, कच्चा अढ़तिया, पक्का अढ़तिया आदि जैसे मध्यस्थ उपज का एक बड़ा अंश अपनी जेब में रख लेते हैं।

यही नहीं अनियमित मंडियों में नाप तौल के न तो बाँट ही शुद्ध होते हैं और न उनके समय का ही निश्चय होता है। इस प्रकार की मंडियों के कार्यकर्ता को किसी प्रकार का लाइसेंस भी नहीं दिया जाता है तथा जो रकम कमीशन, दलाली, तौलाई और धर्मादा के रूप में काटी जाती है, वह भी नियमित नहीं होती है। यहाँ पर उत्पादन का मूल्य गुप्त विधि द्वारा होता है जिसका प्रमुख गुण क्रेता और विक्रेता की आँखों में धूल झोंकना होता है।

कृषि-विपणन के दोष

भारतीय कृषि विपणन की जो पद्धतियाँ इस समय अपनाई जाती हैं वे बहुत ही दोषपूर्ण एवं असंतोषजनक हैं। इन दोषों का निवारण कृषि विकास के लिए अत्यन्त आवश्यक है। कृषि विपणन के दोष निम्नलिखित हैं —

(१) संगठन का अभाव (Lack of Organisation),
(२) बलात बिक्री (Forced Sales),
(३) निरर्थक मध्यस्थ (Superfluous Middlemen),
(४) *विविध व्यय (Multiplicity of Charges),*
(५) बाजार में धोखाधड़ी (Malpractices in the Market),
(६) नाप-तौल के प्रमाणित पैमानों का अभाव,
(७) श्रेणीयन तथा प्रमापीकरण का अभाव,
(८) निम्नकोटि की उपज तथा मिलावट,

(९) मूल्य सम्बन्धी सूचनाओं का अभाव

(१०) संग्रहालय सुविधाओं का अभाव

(११) यातायात के साधनों का अभाव

(१२) वित्तीय सुविधाओं की दुर्लभता

(१) संगठन का अभाव—कृषि विपणन का सबसे महत्वपूर्ण दोष यह है कि कृषि उत्पादकों में किसी भी प्रकार का संगठन नहीं पाया जाता। कृषि उपज, विशेषकर व्यापारिक उपज जैसे जूट, कपास, तिलहन आदि के खरीदार बड़े पैमाने पर इन वस्तुओं को खरीदते हैं और भली प्रकार से संगठित होते हैं। इसके विपरीत इन फसलों के उत्पादक छोटे पैमाने पर उत्पादन करते हैं और दूर-दूर तक छितरे बिखरे होते हैं। अत इन लोगों में ऐसा कोई संगठन नहीं होता जिससे वे अपने हितों की रक्षा स्वयं कर सकें। फलत व्यापारिक लोग इन बेचारे उत्पादकों का शोषण मनमाने ढंग से करते हैं।

(२) बलात बिक्री—आर्थिक परिस्थिति शोचनीय होने के कारण किसान को अपनी उपज को प्रतिकूल स्थान पर, प्रतिकूल मूल्य पर तथा प्रतिकूल समय पर बेचना पड़ता है। इस दयनीय परिस्थिति के कारण हैं—(१) कि ऋणग्रस्त होने के कारण फसल कटते ही ऋणदाताओं को कम मूल्य पर बेंचे जाने के लिए विवश करना, (२) सन्तोषजनक यातायात एवं सन्देशवाहन के साधनों का अभाव, (३) लगान तथा अन्य व्ययों का चुकाने की शीघ्रता, तथा (४) देहातों में संग्रहालयों का अभाव होना।

(३) निरर्थक मध्यस्था की श्रृंखला—अधिकांश किसान अपनी फसल गाँव में ही बेच देते हैं। अन उस फसल को गाँव से उपभोक्ताओं तक पहुँचाने के लिए अनेक मध्यस्थों की आवश्यकता होती है और अतत मध्यस्था की संख्या इतनी अधिक होती है कि उपज का अधिकांश भाग मध्यस्थों की जेब में चला जाता है। उदाहरणार्थ एक अनुमान के अनुसार चावल के मूल्य के रूप में उपभोक्ता द्वारा दिये गये प्रत्येक रुपये में से केवल ८½ आने और गेहूँ के मूल्य के प्रत्येक रुपये में से केवल ६½ आने ही उत्पादक को मिल पाते हैं।

(४) विविध व्यय—मण्डी में उपज का बेचने के लिए किसान को अनेक प्रकार के व्यक्तियों के सम्पर्क में आना पड़ता है और विविध निरर्थक व्ययों को भी चुकाना पड़ता है। सबसे पहले किसान को एक दलाल के सम्पर्क में आना पड़ता है जो उसका परिचय कच्चे अढ़तिया से कराता है। दलाल की दलाली और अढ़तिये की आढ़त चुकाने के पश्चात् किसान को अनेक अन्य व्यय भी चुकाने पड़ते हैं जैसे, तुलाई, पल्लेदारी, गर्दा, धर्मादा, खाता तथा दाना आदि।

यू० पी० बैंकिंग जाँच समिति के अनुमान के अनुसार सौ रुपये की मूल्य की उपज में से उत्तर प्रदेश के प्रमुख बाजारों जैसे हापुड़ में २ रु० ६ आने, गाजियाबाद

में ४ रु० ३ आने, हाथरस में ४ रु० १२ आने, आगरा में ५ रु० १ आना ६ पाई तथा प्रतापगढ़ में २ रु० १३ आने व्यय के रूप में चुकाने पड़ते हैं।

(५) बाजार में धोखाधड़ी—वर्तमान कृषि उपज विपणन का एक और महान् दोष बाजार में धोखाधड़ी की क्रियाएँ हैं। यह धोखाधड़ी तीन प्रकार से की जाती है। प्रथम अढ़तिये तथा दलाल क्रेता और विक्रेता दोनों का कार्य करते हैं। अतः ये दोनों से ही अपना उल्लू सीधा करते हैं। द्वितीय परदे के अन्दर क्रेता और विक्रेताओं से छिपाकर वस्तुओं के मूल्य तय करते हैं। इस पद्धति का एक मात्र गुण क्रेता और विक्रेताओं को धोखा देना है। तृतीय बेचारे किसान, विक्रेता से अनेक प्रकार से शुल्क और खर्चे जैसे कमीशन, पल्लेदारी, तुलाई, धर्मादा, गर्दा, दाना आदि अनिवार्य रूप से वसूल किये जाते हैं और यह पूरी धन राशि उसकी रकम से पहले ही काट ली जाती है।

(६) नाप तौल के प्रमापित पैमाने का अभाव—भारतवर्ष में उत्तर से लेकर दक्षिण तक और पूर्व से लेकर पश्चिम तक कहीं पर भी नाप-तौल के पैमानों में सजातीयता नहीं पाई जाती है। कृषि पर शाही आयोग ने बम्बई प्रदेश के पूर्वी खानदेश के १६ पूर्वी बाजारों का पर्यवेक्षण करके पता लगाया कि वहाँ पर मन (maund) ११ प्रकार का पाया जाता था जो कि २१½ सेर से लेकर ८० सेर तक के प्रचलित थे। मध्य प्रदेश में नाप तौल के पैमाने 'मणि' 'किलो' तथा 'खाएडी' के नाम से प्रचलित हैं जिनका वज़न विभिन्न भागों में भिन्न भिन्न होता है। असम में चावल की नाप तौल विभिन्न प्रकार की टोकरियों द्वारा होती है।

नाप तौल के विभिन्न पैमानों का प्रभाव विभिन्न प्रकार से पड़ता है। प्रथम इसके द्वारा भोले भाले किसानों को आसानी से ठगा जा सकता है; द्वितीय इसके द्वारा एक बाजार से दूसरे बाजार के मध्य बहुत-सी निरर्थक जटिलताएँ आ जाती हैं जो कि व्यवसाय एवं वाणिज्य के हित में नहीं होतीं। तृतीय कृषि उत्पादन के मूल्य सम्बन्धी आँकड़े एकत्रित करने में कठिनाई होती है।

(७) कृषि उपज के श्रेणीयन एवं प्रमापीकरण का अभाव—कृषि उपज के श्रेणीयन तथा प्रमापीकरण के अभाव में भारतीय वस्तुओं का मान अन्य देशों की तुलना में बहुत गिरा हुआ है। निर्यात सम्वर्धन समिति १९४९ ने भी सरकार का ध्यान निम्न कोटि (quality) के भारतीय निर्यातों की ओर आकर्षित किया था। समय-समय पर अनेक समितियाँ इस दोष की ओर इंगित करती रही हैं। पिछले कुछ वर्षों से सरकार ने इस ओर ध्यान अवश्य दिया है।

(८) निम्न कोटि की उपज तथा मिलावट—भारतवर्ष में वस्तुओं को बनाते समय अनेक प्रकार की मिलावटें (adulterations) कर दिये जाते हैं।

जैसे—अनाज में पानी डाल देना, मिट्टी-कूड़ा डाल देना आदि जिससे वजन बढ़ जाये। यही नहीं वस्तुओं को उत्पन्न करते समय उसकी किस्म सुधारने की ओर भी कोई ध्यान नहीं दिया जाता।

(९) मूल्य सम्बन्धी सूचनाओं का अभाव—भारतीय कृषि विपणन का एक अन्य दोष यह भी है कि कृषि-उत्पादकों को वस्तुओं के मूल्यों में होने वाले परिवर्तनों के सम्बन्ध में शीघ्र सूचना नहीं मिल पाती। गाँव का बनिया ही अधिकांशतः सूचना का केन्द्र होता है जो कि सदैव अपने हित में ही मूल्य बताता है।

(१०) संग्रहालय सुविधाओं का अभाव—भारतीय कृषि-उत्पादकों के पास अपनी उपज को सुरक्षित रखने के लिए संग्रहालय सुविधाओं का अभाव होता है। वे प्रायः अपनी उपज को गड्ढों, खत्तियों तथा कोठियों आदि में रखते हैं। ये अवैज्ञानिक रीति से बने होने के कारण चूहे, घुन, पाई, दीमक आदि हानिकारक जन्तुओं से अनाज की रक्षा नहीं कर पाते और देश को करोड़ों रुपये का प्रति वर्ष नुकसान उठाना पड़ता है।

(११) यातायात के साधनों का अभाव—देश में अब भी यातायात के साधनों का बहुत अभाव है। अनेक ऐसे ग्राम हैं जिनके आसपास न तो कोई रेल की ही व्यवस्था है और न मोटर यातायात की ही। फलतः किसान अपनी उपज को गाँव से मंडियों तक ले जाने में असमर्थ रहता है और उसे विवश होकर गाँव के लोगों को कम मूल्य पर ही उपज बेच देनी पड़ती है।

(१२) वित्तीय सुविधाओं की दुर्लभता—कृषि-उत्पादकों को वित्तीय सहायता पहुँचाने वाली संस्थाएँ अधिकांशतः देशीय बैंकर अथवा महाजन होते हैं। ये लोग अत्यधिक ऊँची दर पर अग्रिम अथवा ऋण देते हैं जिससे कृषि उपज की लागत बढ़ जाती है और अततः कृषि उत्पादकों को हानि उठानी पड़ती है।

कृषि-विपणन का सुधार

भारतीय कृषि-विपणन में अनेक दोष आने के कारण उनमें सुधार करने की अत्यन्त आवश्यकता है। जब अन्न से भरी गाड़ी लेकर किसान गाँव से चलता है तो वह खुशी से झूम उठता है परन्तु मंडी में पहुँच कर जब खरीदार उसे मूल्य चुकाता है तो उसकी सभी आशाओं पर तुषारापात हो जाता है। इसका कारण यह है कि अधिकांश मंडियों में अनेक प्रकार की अनुचित क्रियाएँ होती हैं जिनका वर्णन विस्तार से पिछले पृष्ठों में किया जा चुका है। अतः देश के अन्नदाता किसान की सहायता करने की आवश्यकता अनुभव की जाती रही है और पिछले कुछ वर्षों से इस ओर सरकार द्वारा कुछ महत्वपूर्ण प्रयास भी किये गये हैं।

भारतवर्ष में कृषि-विपणन का विकास करने के लिए सर्व प्रथम सन् १९३५ में

सरकार ने केन्द्रीय खाद्य एव कृषि मत्रालय के अन्तर्गत विपणन एवं निरीक्षण निर्देशालय (Directorate of Marketing Inspection) की स्थापना की। यह निर्देशालय विभिन्न राज्यों में इसके प्रतिरूपों (counterparts) के माध्यम से कार्य सचालन करता है। इसका मुख्य उद्देश्य यह रहा है कि उपभोक्ता द्वारा चुकाये गये मूल्य का अधिकाश भाग किसान को मिले। इस ध्येय को पूरा करने के लिए मडियों को नियन्त्रित करने की आवश्यक कार्यवाही की जाती है और किसानों को वस्तुओं के सग्रहण (Pooling), विधायन (Processing) और वर्गीकरण (Grading) के उन्नत तरीकों के बारे में समझाया जाता है।

विपणन एव निरीक्षण निर्देशालय के कार्य (Functions of Directorate of Marketing and Inspection)

(१) यह निर्देशालय अखिल भारतीय आधार पर कृषि उत्पादनों का विपणन सम्बन्धी सर्वेक्षण करता है। इन सर्वेक्षणों के आधार पर वे सूचनाएँ तैयार की जाती हैं जिनसे विकास कार्यों की आवश्यकता की पूर्ति होती है।

(२) कृषि उत्पादन (वर्गीकरण और चिन्हाङ्कन) अधिनियम, १६३७ के अन्तर्गत वर्गीकरण प्रतिमान (Grade Standards) निश्चित करके वर्गीकरण केन्द्रों के सगठन द्वारा यह निर्देशालय वर्गीकरण को प्रोत्साहन देता है।

(३) यह निर्देशालय राज्य सरकारों को नियन्त्रित मडियों की स्थापना के सम्बन्ध में परामर्श देता है और विभिन्न राज्यों में कृषि उत्पादन विपणन अधिनियमों के परिपालन में समन्वय रखता है।

(४) यह व्यवसाय द्वारा अपनाये जाने के लिए प्रमापी (स्टैन्डर्ड) शर्तें तय करता है।

(५) यह फल उत्पादन आदेश १६५५ के अन्तर्गत फलों से बनी वस्तुओं के गुण (क्वालिटी) नियन्त्रण का कार्य करता है और फल परिरक्षण उद्योग के विकास में सहायता करता है।

(६) यह कृषि विपणन में प्रशिक्षण प्रदान करता है।

(७) यह भारत सरकार के विभिन्न मन्त्रालयों, राज्य सरकारों, भारतीय कृषि अनुसधान परिषद और खाद्य और कृषि मत्रालय की वस्तु समितियों के लिए विपणन विषयक सभी परामर्श देता है। यह अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्रीय सगठनों जैसे कि एफ० ए० ओ० (F A O) और इकाफे (ECAFE) से सम्पर्क रखता है।

सर्वेक्षण (Surveys)

सन् १६३५ में विपणन और निरीक्षण निर्देशालय की स्थापना के तुरन्त बाद बाजार की अवस्थाओं का सर्वेक्षण करने के लिए कदम उठाये गये क्योंकि यह अनुभव

किया गया था कि विपणन विकास का कोई भी कार्यक्रम देश के विभिन्न बाजारों में प्रचलित व्यवहार सम्बन्धी पूर्ण और व्यापक सूचनाओं के अभाव में न तो बनाया ही जा सकता है और न कार्यान्वित ही किया जा सकता है।

अब तक ४१ कृषि उत्पादनों सम्बन्धी रिपोर्टें प्रकाशित हो चुकी हैं। इनमें अन्न व दालें (५) पशु-धन और पशु जन्य वस्तुएँ (१२) और विशेष उपज (२४) सम्मिलित हैं। इसके अतिरिक्त १० मुख्य वस्तुओं का पुनः सर्वेक्षण हो चुका है और उन पर संशोधित रिपोर्टें जारी हो चुकी हैं। साथ ही कुछ विशिष्ट वस्तुओं के उत्पादन अथवा विपणन सम्बन्धी महत्वपूर्ण पहलुओं पर प्रकाश डालने वाले १३ विशेष बुलेटिन और फोल्डर प्रकाशित किये गये हैं।

इन रिपोर्टों में प्रत्येक वस्तु के निम्न पहलुओं पर जानकारी दी गई है :—

(१) उत्पादन;

(२) देश की आन्तरिक खपतें और निर्यात के लिए गुणात्मक एवं परिमाणात्मक माँग;

(३) कीमतें और कीमतों का फैलाव;

(४) प्रतिमानीकरण;

(५) मंडियाँ, मंडीशुल्क और मंडियों में विपणन की विभिन्न अवस्थाओं में काम करने वाले कर्मचारी;

(६) खर्चों के अनुसार वितरण व्यवस्था;

(७) बाजार व्यवहार में सुधार की सिफारिश।

ये रिपोर्टें समस्त देश में हो रहे विकास कार्यों का आधार बनाती हैं। विपणन सर्वेक्षणों से जिन अनुचित व्यवहारों का भेद खुला है उनके निवारणार्थ निम्न कानून बनाये गये हैं :—

(१) फॉरवर्ड ट्रेडिंग का नियमन;

(२) प्रमाणिक नाप-तौल लागू करना;

(३) लाइसेंस प्राप्त गोदामों की स्थापना और

(४) मंडियों का नियन्त्रण।

वर्गीकरण और प्रतिमानीकरण

वर्गीकरण से खरीदार और विक्रेता दोनों के बीच आपसी विश्वास बढ़ाने में सहायता मिलती है। उपभोक्ता को इच्छानुसार श्रेष्ठ कोटि की वस्तुएँ मिल जाती हैं और उत्पादक को उसकी उपज का उचित मूल्य। दोनों को लाभ पहुँचाने की दृष्टि से भारत सरकार ने कृषि उत्पादक (वर्गीकरण एवं विपणन) अधिनियम १९३७ पास किया जिसके अनुसार कृषि विपणन सलाहकार को अधिकार दिया गया है कि वह कृषि उत्पादों

की विभिन्न किस्मों और प्रकारों का प्रतिमान निर्धारित करे और गुण (quality) सूचक वर्गानुकूल चिन्ह निश्चित करे।

इसके अनुसार ऐसी भी व्यवस्था है कि निरीक्षण और विपणन निदेशालय उपयुक्त व्यक्तियों और सगठित सस्थाओं को निर्धारित प्रतिमान के आधार पर वर्गीकरण और चिन्हाङ्कन करने का अधिकार—प्रमाण पत्र जारी कर सके। इस प्रकार वर्गीकृत वस्तुओं पर एगमार्क लगाया जाता है।

एकत्र करने वाले, उपभोग करने वाले और वितरण करने वाले बाजारों से प्रमुख व्यावसायिक किस्मों के प्रतिनिधि नमूने लिए जाते हैं और उनके विश्लेषण परिणामों के आधार पर प्रारूप विशिष्टियाँ तैयार की जाती हैं। भारत और विदेशों के व्यापार हित रक्षकों, राज्य सरकारों और सम्बद्ध पक्षों से राय कर इन प्रारूप विशिष्टियों को अतिम रूप दिया जाता है। इस निदेशालय ने ११५ कृषि उत्पादनों के प्रतिमान तैयार कर लिये हैं। आवश्यकता पड़ने पर इन विशिष्टियों में आवश्यकतानुसार सशोधन कर लिया जाता है ताकि उनको व्यापार की नवीनतम प्रवृत्तियों के अनुकूल रखा जा सके।

देश के आतरिक उपभोग के लिए निम्न प्रमुख वस्तुओं का एगमार्क के अन्तर्गत वर्गीकरण किया गया है—घी, वनस्पति तेल, कारखानें का बना मक्खन, अण्डे, चावल, आटा, कपास, गुड़, देशी शक्कर, फल (आम, नारगी, चीकू, अगूर, सेब आदि)।

मुख्यतया निर्यात के लिए वर्गीकृत की हुई वस्तुएँ ये हैं —तम्बाकू, सन, आवश्यक तल (चन्दन, लैमनग्रास, तेल) ऊन और सुअर के बाल।

देश के आन्तरिक उपभोग के लिए काम आने वाली वस्तुओं का वर्गीकरण ऐच्छिक होता है। लेकिन निर्यात के लिए जिन विशिष्ट वस्तुओं की आज्ञा दी जाती है, 'सी कस्टम्स एक्ट १८७८' के सेक्शन १९ के अन्तर्गत उनका वर्गीकरण आवश्यक बनाया जा सकता है।

द्वितीय पचवर्षीय आयोजना में व्यवस्था की गई है कि काली मिर्च, सोंठ इलायची, वनस्पति तेल, हाथ से तोड़ी जाने वाली मूँगफलियाँ, हड्डियाँ और चमड़ा, रगा हुआ चमड़ा, सेमर की रुई और आँवला जो कि विदेश भेजने के लिए हो, का आवश्यक रूप से वर्गीकरण किया जायगा।

वर्गीकरण-कार्य के विस्तार और गुण नियत्रण की प्रभावशाली व्यवस्था बनाने के लिए यह आवश्यक हो गया है कि पृथक् प्रयोगशालाएँ स्थापित की जायें। दूसरी पचवर्षीय योजना के अन्तर्गत नागपुर में एक केन्द्रीय नियत्रण प्रयोगशाला और कानपुर, राजकोट, कोचीन, बम्बई, कलकत्ता, मद्रास, मैसूर और अमृतसर में प्रत्येक स्थान पर एक एक यानी कुल आठ क्षेत्रीय प्रयोगशालाएँ स्थापित की जा रही हैं।



देने की व्यवस्था है। राज्य सरकारों द्वारा समर्थित उम्मीदवारों को प्राथमिकता दी जाती है।

अनुबन्धों का प्रमापीकरण

केन्द्रीय कृषि विपणन विभाग द्वारा गेहूँ, तिलहन, मूँगफली, वनस्पति घी के लिए प्रमापित अनुबन्ध शर्तें निर्धारित कर दी गई हैं।

बाजार सूचना सेवा

वस्तुओं की मूल्य स्तम्भ तथा परिवर्तनों सम्बन्धी विपणन सूचनाओं को आल इंडिया रेडियो (A I R) द्वारा प्रसारित किये जाते हैं। ग्रामीण कार्यक्रम में बाजार बन्द होने के समय के मूल्य प्रसारित किये जाते हैं।

केन्द्रीय स्तर पर सूचना सेवा के अन्तर्गत निम्न सूचनाएँ दी जाती हैं —

(अ) A I R से नित्य हापुड़ मार्केट मूल्यों का प्रसारित करना,

(ब) A I R द्वारा साप्ताहिक मार्केट रिपोर्ट को प्रसारित करना,

(स) मासिक पत्रिका 'भारत में कृषि स्थिति' (Agricultural Situation in India) तथा साप्ताहिक एवं सामयिक मूल्य सम्बन्धी सूचनाओं को सरकारी उपयोग के लिए प्रकाशित करना।

समितियों की नियुक्ति

कृषि वस्तुओं के उत्पादन तथा विपणन को प्रोत्साहित करने के लिए बहुत सी केन्द्रीय समितियाँ नियुक्त की गई हैं, जैसे—

(१) इंडियन सेन्ट्रल काटेन कमेटी, बम्बई,

(२) इंडियन सेन्ट्रल जूट कमेटी, कलकत्ता,

(३) इंडियन सेन्ट्रल टोबैको कमेटी, मद्रास,

(४) इंडियन सेन्ट्रल आयल सीड्ज़ कमेटी, नई दिल्ली,

(५) इंडियन सेन्ट्रल कोकोनट कमेटी, इर्नाकुलाम,

(६) इंडियन सेन्ट्रल शुगरकेन कमेटी, नई दिल्ली,

(७) इंडियन सेन्ट्रल लेक (Lac) सेस कमेटी, राँची,

(८) इंडियन सेन्ट्रल ऐरेकोनोट कमेटी, कोजीकोडे,

(९) आल इंडिया कैटिल शो कमेटी, करनाल, पंजाब।

सग्रहालयों (Warehousing) की व्यवस्था—कृषि विपणन में सुधार लाने के उद्देश्य से कनाडा और यू० एस० ए० के आधार पर भारतवर्ष में भी सग्रहालयों की व्यवस्था की गई है। जून १९५६ में संसद द्वारा एक अधिनियम Agricultural Produce Development and Warehousing Corporation Act पास किया गया। इस अधिनियम के अनुसार Central Ware

Housing Corporation की स्थापना की गई है जो देश भर में उपयुक्त स्थानों पर संग्रहालयों की स्थापना तथा संचालन करेगा। इसके अतिरिक्त राज्य सरकारें 'स्टेट वेयरहाउजिंग कारपोरेशनज' की स्थापना करेगी जो अपने राज्यों में उपयुक्त स्थानों पर संग्रहालयों की स्थापना करेंगे। इसके अतिरिक्त प्रत्येक विपणन समिति अपने निजी गोदाम बनवायेगी। इसके लिए सरकार प्रत्येक समिति को ६६५० रुपया अनुदान और १८७५० रुपये ऋण के रूप में देगी।

इस प्रकार संग्रहालय सम्बन्धी सम्पूर्ण क्रियाएँ निम्न तीन संस्थाओं द्वारा निर्देशित होंगी—

(१) सेन्ट्रल वेयर हाउसिंग कारपोरेशन,
(२) स्टेट वेयर हाउसिंग कारपोरेशन,
(३) कोआपरेटिव सोसाइटीज।

द्वितीय पंचवर्षीय योजना—इसमें सेन्ट्रल वेयरहाउजिंग कारपोरेशन द्वारा १०० और स्टेट वेयर हाउसिंग कारपोरेशन द्वारा २५० गोदामों को स्थापित करने का लक्ष्य रखा गया है। इसके अतिरिक्त विभिन्न विपणन संस्थाओं द्वारा अनेक गोदाम खोले जावेंगे।

सहकारी विपणन (Co operative Marketing)—विपणन क्षेत्र में सहकारिता के सिद्धान्त का प्रयोग प्रत्येक दृष्टिकोण से बड़ा लाभकारी सिद्ध हुआ और धीरे धीरे सहकारी विपणन समितियाँ विकसित होती गईं। विशेषतया कृषि पदार्थों के विपणन के लिए ये समितियाँ अधिक लाभदायक सिद्ध हुईं। सहकारी विपणन का अर्थ उत्पादकों अथवा क्रेताओं के ऐसे ऐच्छिक कार्य से है जिसका निर्माण संयुक्त रूप से वस्तुओं का क्रय विक्रय करके पारस्परिक उद्देश्यों की पूर्ति करना हो।* सहकारी विपणन के अन्तर्गत व्यक्तिगत साधनों को एकत्रित करके सामूहिक रूप से प्रयोग किया जाता है जिससे विशेषज्ञों की सेवाएँ प्राप्त की जा सकें जो कि व्यक्तिगत रूप से कदाचित् सम्भव नहीं होतीं।

सहकारी विपणन के अन्तर्गत कृषि वस्तुओं के विपणन का पूर्ण उत्तरदायित्व किसानों द्वारा अपने ऊपर ले लिया जाता है जो कि सहकारिता के आधार पर संगठित होते हैं। संसार के देशों में सहकारी विपणन को महत्वपूर्ण सफलता प्राप्त हुई है। उदाहरणार्थ डेनमार्क में सहकारी विक्रय समितियाँ विपणन के अधिकांश कार्यों को पूरा करती हैं। वहाँ पर सहकारी दुग्धशालाओं (dairies) द्वारा कुल दुग्धशालाओं का ६१%

*"Co-operative marketing means the association of producers or buyers effected voluntarily to sell or to purchase the products jointly with the aim of serving the mutual ends"

दूध प्राप्त होता है और इनके द्वारा अधिकांश मक्खन निर्यात किया जाता है। नार्वे मे ८० से ९० प्रतिशत तक दुग्ध विक्रेता सहकारी दुग्धशालाओं के सदस्य थे। संयुक्त राज्य अमेरिका में लगभग २० हजार 'कृषक विपणन तथा क्रय परिषद' थे जिनकी सदस्यता ४० लाख थी। कनाडा, आस्ट्रेलिया, दक्षिणी अफ्रीका तथा न्यूजीलैण्ड में भी सहकारी विपणन का महत्वपूर्ण स्थान है।

भारत मे सहकारी विपणन समितियाँ

सर्वप्रथम भारतवर्ष में सन् १९१२ में सहकारी समिति अधिनियम पास किया गया जिसके अन्तर्गत सहकारी विपणन समितियों को स्थापित करने की व्यवस्था की गई थी। ये समितियाँ बम्बई, मद्रास और उत्तर प्रदेश में विशेष रूप से पाई जाती हैं। *उद्देश्यों के अनुसार इन समितियों को ४ भागों में विभाजित किया जा सकता है—*

(१) कृषि उपज का क्रय विक्रय करने वाली समितियाँ,

(२) कृषि उत्पादन और विक्रय समितियाँ,

(३) कृषि के अतिरिक्त अन्य प्रकार के उत्पादन और विक्रय की समितियाँ,

(४) कृषि के अतिरिक्त अन्य उत्पादन का क्रय विक्रय करने वाली समितियाँ।

यद्यपि भारतवर्ष में सहकारी विपणन समितियों का जन्म काफी देर से हुआ फिर भी आज भारत के विभिन्न राज्यों में सहकारी विपणन समितियों में काफी उन्नति हुई है। बिहार में सहकारी विपणन समितियों की संख्या सबसे अधिक है। ये समितियाँ अधिकतर गन्ने की बिक्री से सम्बन्धित हैं। उत्तर प्रदेश का स्थान बिहार के पश्चात् आता है। यहाँ गन्ने और घी की सहकारी विपणन समितियाँ सबसे अधिक हैं। सदस्यों की संख्या की दृष्टिकोण से व माल की बिक्री के आधार पर उत्तर प्रदेश सबसे अग्रणीय है और इस क्षेत्र में इसके पश्चात् बम्बई का स्थान है।

उत्तर प्रदेश में सहकारी विपणन समितियाँ

कृषि के दृष्टिकोण से उत्तर प्रदेश एक सम्पन्न राज्य है। व्यापारिक फसलों में गन्ने का एक महत्वपूर्ण स्थान है। कृषि के साथ साथ गाँव में पशुपालन प्राय. सहायक व्यवसाय के रूप अपनाया जाता है, जिससे घी और दूध की बिक्री के द्वारा हमारे राज्य के किसानों को अतिरिक्त आय प्राप्त होती है।

उत्तर प्रदेश में सहकारी विपणन समितियों को महत्वपूर्ण सफलता प्राप्त हुई है जिनमें से तीन प्रकार की समितियों को विशेष रूप से। ये समितियाँ हैं: साधारण विपणन समितियाँ, घी समितियाँ तथा गन्ना समितियाँ। *गन्ना सहकारी विपणन समितियों* को सबसे अधिक सफलता प्राप्त हुई है। शक्कर कारखानों की गन्ने सम्बन्धी कुल आवश्यकताओं का लगभग ८५% से ९९% तक गन्ने की पूर्ति इन समितियों द्वारा की जाती है। प्रत्येक कारखाने के फाटक पर एक गन्ना संघ होता है। सन् १९५७ ५८

में शक्कर कारखानों ने कुल २५.८१ करोड़ मन गन्ना पेरा, जिसका ६६.६% अर्थात् २५.०१ करोड़ मन गन्ना सहकारी संघों ने पहुँचाया। सहकारी संघों की निजी और कार्यरत पूँजी सन् १९५७-५८ में क्रमशः ३३२.७६ लाख रुपये ४७६.७२ लाख रुपये थी।

उत्तर प्रदेश में सात सहकारी दुग्ध संघ हैं जो लखनऊ, कानपुर, इलाहाबाद, वाराणसी, मेरठ, हल्द्वानी और अल्मोड़ा में स्थित हैं। सन् १९५७-५८ में दुग्ध संघों ने २.४३ लाख मन दूध इकट्ठा किया। लखनऊ, इलाहाबाद, हल्द्वानी और अल्मोड़ा के संघ प्रगतिशील हैं जब कि कानपुर, वाराणसी, मेरठ को अपने कार्य में हानि हुई है।

उत्तर प्रदेश में सहकारी घी समितियाँ भी कम महत्व की नहीं। इन समितियों का संगठन 'एक गाँव में एक समिति' के सिद्धान्त के आधार पर हुआ है। कोई भी व्यक्ति जो गाय रखता है अथवा रखने की इच्छा रखता है इन समितियों का सदस्य हो सकता है। ये समितियाँ अपने सदस्यों से घी, अनुबन्ध के आधार पर खरीदती हैं। इन समितियों की स्थापना ऐसे क्षेत्रों में की गई है जहाँ घी का उत्पादन अधिक होता है। सहकारी संघ के पास एक अनुसंधानशाला होती है जिसमें सदस्यों के घी की जाँच की जाती है। बेईमानी करने वाले सदस्यों को सजा दी जाती है।

इसी प्रकार देश के अन्य राज्यों में भी सहकारी विपणन समितियों की स्थापना की गई है जिन्होंने हमारी कृषि विपणन की व्यवस्था के अनेक दोषों को दूर कर दिया है। सहकारी विपणन समितियों द्वारा प्राप्त लाभ संक्षेप में निम्नलिखित हैं :—

(१) विपणन की लागत में मितव्ययता,

(२) उचित मूल्य प्राप्त किया जा सकता है,

(३) वस्तुओं की किस्म में सुधार,

(४) सामूहिक सौदा करने की शक्ति का लाभ,

(५) स्थाई पूर्ति और मूल्यों का स्थिरीकरण,

(६) सस्ता अर्थ व्यवस्था।

(७) किसानों को व्यवसाय सम्बन्धी ज्ञान और कुशलता की शिक्षा प्राप्त होती है।

सहकारी विपणन संस्थाओं की सफलता के लिए आवश्यक तत्व

Richard Murphy महोदय ने सहकारी विपणन संस्थाओं की सफलता के लिए अनेक महत्वपूर्ण बातों का विवेचन किया है संक्षेप में उनकी रूपरेखा इस प्रकार है :—

(१) निश्चित उद्देश्य का होना।

(२) सहकारी विपणन संस्थाओं के स्थापित करने का उचित कारण और समुचित आवश्यकता होना चाहिए।

(३) सहकारी विपणन संस्थाओं के द्वारा बेची जानेवाली वस्तुएँ सीमित होना चाहिए।

(४) सदस्यों की सद्भावना एवं स्वामिभक्ति होनी चाहिए।

(५) सहकारी विपणन समितियों के द्वारा किया जाने वाला व्यावसायिक कार्य पर्याप्त होना चाहिए जिससे प्रति इकाई लागत निम्नतम हो।

(६) ऐसी वस्तुओं का विपणन करना चाहिए जिनका बाजार देशी तथा विदेशी दोनों हो।

(७) कुशल प्रबन्ध की व्यवस्था होनी चाहिए।

(८) आदर्श एवं कुशल व्यक्तियों का नेतृत्व (leadership) होना चाहिए।

सहकारी विपणन समितियों की धीमी प्रगति के कारण

उपरोक्त लाभों के होते हुए भी इन समितियों को कुछ बाधाओं का सामना करना पड़ता है जिसके कारण देश में सहकारी विपणन समितियों का विकास पूर्णतया नहीं हो पाया है। इसके लिए उत्तरदायी प्रमुख कारण निम्नलिखित हैं :—

(१) पर्याप्त तथा कुशल तान्त्रिक सलाह का अभाव;

(२) विपणन-वित्त प्रदान करने में असुविधाएँ;

(३) सहकारी अधिकारियों में व्यापारिक योग्यता का अभाव;

(४) पर्याप्त संग्रह सम्बन्धी सुविधाओं का अभाव;

(५) नित्य प्रति के बाजार भावों की सूचना का अभाव;

(६) अपर्याप्त यातायात सुविधायें;

(७) नियन्त्रित बाजारों का अभाव;

(८) व्यापारियों द्वारा प्रतियोगिता;

(९) सदस्यों में स्वामिभक्ति का अभाव; तथा

(१०) देश में सहकारिता के सिद्धान्त की उपेक्षा।

द्वितीय पंचवर्षीय योजना में लक्ष्य

योजना काल में १० हजार से अधिक बड़े पैमाने की साख समितियों तथा १६०० विपणन समितियों की स्थापना का लक्ष्य रखा गया है। सहकारिता की तृतीय सभा (१६५६) में समितियों की स्थापना सम्बन्धी वर्षानुसार निम्न लक्ष्य निर्धारित किये गये हैं :—

वर्ष	साख समितियाँ	विपणन समितियाँ
१९५६ ५७	१,७१५	३१८
१९५७ ५८	२ ६८४	४७१
१९५८ ५९	३,६००	६००
१९५९ ६०	. ...	४११
१९६०-६१	२,४०१	...

प्रश्न

1 Mention briefly the difficulties of the Indian cultivator under which he sells his produce What r medial measures have been adopted to remove these difficulties ? *(Agra, 1960)*

2 Discuss the main problems of agricultural marketing in India Suggest suitable remedies *(Agra, 1959)*

3 What is the importance of co operative marketing in the rural economy of India ? What are the diffi-ulties in making it more widespread and successful ? Suggest remedies *(Agra, 1957)*



अध्याय १२

भारत में अकाल

(Famines in India)

अकाल का अर्थ—अकाल का अर्थ समय की गति के अनुसार परिवर्तित होता रहा है। प्राचीन काल में अकाल का अर्थ अन्न के अभाव और तद्नुसार कष्ट और मृत्यु से लगाया जाता था। सन १८६७ में स्थापित अकाल आयोग (Famine Commission) ने भी अकाल शब्द की व्याख्या इन्हीं अर्थों से प्रभावित होकर की थी। "अकाल का अर्थ खाद्यान्न के अभाव में बहुत बड़ी जनसंख्या का भूख से पीड़ित होना है।"* सामाजिक विज्ञान के विश्वकोष के अनुसार भी, "अकाल ऐसी स्थिति को कहते हैं जब कि साधारण रूप से उपलब्ध खाद्यान्न पूर्ति के अभाव के फल स्वरूप किसी क्षेत्र की जनता को तीव्र क्षुधानल का अनुभव होता है।"** इसके विपरीत आधुनिक काल में अकाल का अर्थ, वस्तुओं की मँहगाई, बेकारी, धनाभाव तथा यातायात के साधनों की अपर्याप्तता से लगाया जाता है। अधिक स्पष्ट शब्दों में क्रय शक्ति का अभाव ही अकाल का द्योतक है। आधुनिक अकाल मुद्रा के अभाव का सूचक है न कि खाद्यान्न के अभाव का, क्योंकि खाद्यान्न की कमी अन्न के आयात के द्वारा दूर की जा सकती है। आधुनिक काल में किसी क्षेत्र विशेष में यदि अकाल पड़ जाता है तो उसका प्रभाव उसी क्षेत्र तक सीमित न रहकर सारे देश में ध्वनि तरंगों की भाँति प्रसारित हो जाता है।

अकाल के कारण—अकाल के कारणों को अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से दो भागों में विभाजित किया जा सकता है—प्रत्यक्ष तथा परोक्ष।

प्रत्यक्ष कारण—इनके कारणों को तात्कालिक, आकस्मिक, प्राकृतिक तथा मूल भूत कारण भी कहते हैं। संक्षेप में इनका विवेचन इस प्रकार है :—

(१) **अनावृष्टि (Drought)**—साधारण रूप से कृषि इन्द्र भगवान की

---

* "As suffering from hunger on the part of large classes of population"—*Famine Commission, 1867*

** The state of extreme hunger on the part of large classes of population" (*Encyclopaedia of Social Sciences*) Vol V, p 85

अनुकम्पा पर आधारित होती है। भारतवर्ष में यह तथ्य एक कटु सत्य है कि 'जिस वर्ष भी वर्षा का अभाव हो जाता है, कृषि उद्योग में ताला पड़ जाता है।' यही कारण है कि भारतीय कृषि को 'मानसून का जुआ' (gamble in rains) की संज्ञा दी गई है। औसत रूप में प्रत्येक ५ वर्ष में एक वर्ष सूखा तथा प्रत्येक दस वर्ष में एक वर्ष अकाल का वर्ष होता है।

(२) अतिवृष्टि (Excessive Rains)—अकाल पड़ने का दूसरा महत्वपूर्ण कारण अतिवृष्टि है। जिस वर्ष आवश्यकता से अधिक वर्षा हो जाती है उस वर्ष खेती का सर्वनाश हो जाता है। अति वृष्टि होने से खेतों में पानी भर जाता है जो खड़ी फसल को गला देता है। भारतवर्ष में यह दृश्य साधारण रूप से दृष्टिगोचर होता ही रहता है। इस प्रकार अनावृष्टि और अतिवृष्टि दोनों ही कृषि उद्योग की समृद्धि के लिए हानिकारक हैं।

(३) बाढ़ एवं भूमि का कटाव—अतिवृष्टि के फलस्वरूप नदियों और जलाशयों में बाढ़ आ जाती है जो दूर दूर तक फसलों को नष्ट कर डालती है। इसका एक दुष्परिणाम यह भी होता है कि भूमि का कटाव तथा भूमि क्षरण प्रारम्भ हो जाता है।

(४) प्राकृतिक प्रकोप—वैज्ञानिक तथा आर्थिक क्षेत्र में पिछड़े होने के कारण कृषि के दुश्मन जैसे टिड्डी, दीमक, चूहे, घुन तथा अन्य कीड़े-मकोड़े अपना दाँव दिखाये बिना नहीं रहते। ओला, पाला तथा चक्रवात (cyclone) भी अपना परिचय कभी कभी दे जाते हैं। इसी कारण से भारतीय किसान अति प्राचीन काल से भाग्यवादी (fatalistic) बना हुआ है।

अप्रत्यक्ष कारण—इन कारणों को आर्थिक, कृत्रिम, तथा सर्वकालिक कारण कहते हैं। संक्षेप में इनका विवेचन निम्न प्रकार है —

(१) जङ्गलों की सफाई—वैज्ञानिकों ने यह सिद्ध कर दिया है कि जिन स्थानों पर जङ्गल अधिक होते हैं वहाँ वर्षा भी अधिक होती है। यही नहीं घने जङ्गल बाढ़, भूमि का कटाव तथा भूमि क्षरण को भी रोकने में सहायक होते हैं। भूमि के अभाव तथा अदूरदर्शिता के कारण जङ्गलों का बड़ी निर्दयता से विनाश किया जा रहा है। परिणामस्वरूप भूमि सूख कर मरुभूमि का रूप धारण करती जा रही है और बाढ़ तथा भूमि कटाव अपना ताण्डव नृत्य दिखलाने जा रहे हैं। जङ्गलों की उपयोगिता को समझते हुए उत्तर प्रदेश के भूतपूर्व राज्यपाल श्री के० एम० मुंशी ने वन महोत्सव प्रारम्भ किया था और अब वह एक पर्व के रूप में माना जाने लगा है।

(२) भूमि की उर्वरा शक्ति का क्रमिक ह्रास—वैज्ञानिक उपचारों का प्रतिपालन न होने के कारण भारतीय भूमि की उर्वरा शक्ति का क्रमशः ह्रास होता जा रहा

है। पिछले कुछ वर्षों से सरकार ने इस समस्या की ओर समुचित ध्यान दिया है और अब यह दोष भी धीरे-धीरे दूर होता जा रहा है।

(३) **यातायात के साधनों का अभाव**—यातायात के साधनों में पूर्ण रूप से विकास न होने के कारण भी अकाल की प्रचण्डता अनुभव की जाती है। भारत में मुख्य रूप से ग्रामीण क्षेत्रों में यातायात के साधनों का अब भी अभाव है जिसको दूर करने के लिए 'इण्डियन रोड कांग्रेस' ने अभी हाल में ही एक विस्तृत २० वर्षीय योजना बनाई है।

(४) **क्रय शक्ति का अभाव**—आधुनिक काल में जैसा कि उपरोक्त बताया गया है अकाल का अर्थ खाद्यान्न की कमी नहीं बल्कि जनता की 'संग्रह तथा क्रय शक्ति की कमी' है। इस तथ्य की पुष्टि '१८८० के अकाल आयोग' के शब्दों से होती है।* श्रीयुत रमेश दत्त के शब्दों में "भारत में अकाल प्रत्यक्ष रूप से वार्षिक वर्षा के अभाव में पड़ते हैं, किन्तु इन अकालों की दुरूहता तथा इससे उत्पन्न मृत्यु-संख्या का अधिकांश में कारण यहाँ के लोगों की दरिद्रता है।"

(५) **दोषपूर्ण भूमि-व्यवस्था**—भारतवर्ष में जमींदारी, रैयतवाड़ी तथा स्थायी बन्दोबस्त जैसी दोषपूर्ण भूमि व्यवस्था होने के कारण भी अकाल अपना सर ऊँचा उठाते रहे हैं। इस दोष के निवारणार्थ हमारी राष्ट्रीय सरकार काफी प्रयत्नशील है।

(६) **कुटीर एवं लघु उद्योगों की अवनति**—अतीत भारत के गौरवपूर्ण कुटीर एवं लघु उद्योगों, जिन पर कि जनसंख्या का एक बहुत बड़ा भाग अपनी जीविका के लिए आश्रित था, के नष्ट हो जाने के कारण जनसंख्या का भार कृषि पर दिन पर दिन बढ़ता गया जिससे फलस्वरूप कृषि उद्योग अनार्थिक हो गया। शनैः शनैः कृषि के लिए उपलब्ध भूमि छोटे छोटे टुकड़ों में विभाजित हो गई और उत्पादन की मात्रा कम होती गई। हमारी राष्ट्रीय सरकार कृषि उद्योग को पुनः विकसित करने के लिए कुटीर एवं लघु उद्योगों को भी बढ़ावा दे रही है।

(७) **ऋणग्रस्तता**—निर्धनता के कारण किसान को अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए महाजनों तथा साहूकारों से ऊँची दर पर ऋण लेना पड़ता है। महाजनों की स्वार्थपूर्ण नीति के कारण तथा किसानों की असमर्थता के कारण यह ऋण पैतृक रूप धारण कर लेता है। फलस्वरूप इच्छा होने पर भी किसान अपनी भूमि में कोई सुधार नहीं कर पाता और उपज की मात्रा कम हो जाती है।

(८) **युद्ध और लूट-खसोट**—प्राचीन काल में युद्ध और लूट-खसोट से भी

---

*"Though there was enough food in the country to feed the entire population, even in the worst years, yet people were lacking the means to purchase it". *Famine Commission of 1880.*

अकाल की स्थिति उत्पन्न हो जाया करती थी। साम्राज्य प्रसार तथा धन के प्रलोभन से प्रेरित होकर राजा महाराजा लोग अन्य राज्यों पर आक्रमण किया करते थे और विजय प्राप्त करने के उद्देश्य से खेती का नष्ट कर देते थे तथा लूट-खसोट करके वहाँ के आर्थिक जीवन को अस्त व्यस्त कर देते थे, फलतः लोग भूख से मरने लगते थे।

अकाल के प्रभाव—अकाल-जन्य प्रभावों को लेखनी बद्ध करना विनाशता की मूर्ति को साकार करना है। इसके दुष्परिणाम आर्थिक, नैतिक और सामाजिक तीनों ही क्षेत्रों में दृष्टिगोचर होते हैं। इनका संक्षिप्त विवेचन इस प्रकार है —

(१) **श्रम शक्ति का विनाश**—अकालों के परिणामस्वरूप असंख्य लोग काल के गर्त में चले जाते हैं। कहा जाता है कि १८७५ १९०० के बीच में लगभग २ करोड़ ६० लाख व्यक्तियों की मृत्यु हुई। १९०१ में अकाल आयोग ने तत्कालीन अकाल के परिणामस्वरूप कालकवलित व्यक्तियों की संख्या ५० लाख आँकी थी। यद्यपि आधुनिकतम आँकड़े उपलब्ध नहीं हैं तथापि भारी मृत्यु दर का अनुमान भली भाँति लगाया जा सकता है।

(२) **सामाजिक विघटन (Social Disintegration)**—अकाल का दुष्परिणाम केवल आर्थिक ही नहीं होता बल्कि सामाजिक भी होता है। इसके फलस्वरूप अनेक सामाजिक दोष उत्पन्न हो जाते हैं। कलकत्ता विश्वविद्यालय के पुरातत्व विभाग द्वारा १९४३ में की गई खोज के अनुसार बंगाल के २४·७% परिवारों का सामाजिक विघटन तत्कालीन अकाल के कारण हुआ। इस विभाग की रिपोर्ट पढ़ने से ज्ञात होता है कि इस अकाल में असंख्य विधवाएँ, लड़कियाँ और अनाथ लाचार से घूम रहे थे। आर्थिक एवं भावी स्थिति ने युवा, वृद्ध स्त्रियों को अपना शील विक्रय के लिए बाध्य कर दिया था। पुरुषों ने अपनी स्त्रियों को भगा दिया था, स्त्रियों ने अपने बीमार पतियों को छोड़ दिया था, बच्चों ने अपने वृद्ध एवं असहाय माँ-बापों को त्याग दिया था तथा माँ-बाप अपने घर-बार को छोड़ कर लावारी में घूम रहे थे।*

(३) **बेकारी की समस्या**—अकाल के फलस्वरूप मजदूरों को एक बहुत बड़ी संख्या में बेकार हो जाना पड़ता है और उनकी कार्यक्षमता भी कम हो जाती है।

---

* Husbands have driven away wives, and wives have deserted ailing husbands, children have forsaken aged and disabled parents, and parents have also left home in despair, brothers have turned deaf ears to the entreaties of the hungry sisters, and widowed sisters maintained for years together by their brothers have departed at the time of direct need Tales of such woes blacken the face of our records and show where civilisation stands when faced with the periodical needs of man"—*Report of the Deptt of Anthropology of Calcutta University*

अकाल में अपर्याप्त तथा अपौष्टिक भोजन मिलने के कारण अनेक भयानक रोग फैलते हैं जिससे जन सम्पत्ति की अत्यधिक हानि होती है।

(४) आर्थिक विकास में बाधा—अकाल के फलस्वरूप कृषि उद्योग में अनिश्चितता आ जाती है। कृषि सम्बन्धी क्रियाएँ लगभग समाप्त हो जाती है। किसान की क्रय शक्ति कम हो जाती है और अन्ततोगत्वा देश के आर्थिक विकास में बाधा पड़ जाती है।

(५) पशु सम्पत्ति की हानि—अकाल में न केवल खाद्यान्न का ही अभाव हो जाता है बल्कि भूसे और चारे की भी कमी हो जाती है जिसके फलस्वरूप हमारी कृषि के आधार पशुगण भी काल कवलित हो जाते हैं। कहना न होगा कि पशु सम्पत्ति की हानि आर्थिक हानि होती है।

(६) राज्य को हानि—अकाल के दुष्परिणाम केवल जनता जनार्दन को ही प्रभावित नहीं करते बल्कि सरकार को भी प्रभावित करते है। अकाल निवारणार्थ बढ़ता हुआ खर्च तथा घटती हुई आय मिल करके राज्य की अर्थ व्यवस्था को अस्त व्यस्त कर देते हैं। इसके फलस्वरूप साधारण सामाजिक विकास भी रुक जाता है।

ऐतिहासिक मीमांसा

अध्ययन की सुविधा के विचार से हम अकाल के इतिहास को पाँच विभागों में विभाजित कर सकते हैं —

(१) हिन्दू शासन काल,

(२) मुस्लिम शासन काल,

(३) ईस्ट इण्डिया कम्पनी का शासन काल,

(४) ब्रिटिश शासन काल, तथा

(५) स्वतन्त्रता के पश्चात्।

हिन्दू शासन काल—भारतवर्ष में अति प्राचीन काल से अकाल अपना परिचय देते रहे हैं। कोई भी ऐसी पीढ़ी नहीं होगी जिसने इन प्राकृतिक प्रकोपों की लीला न देखी हो। अतः भारतवर्ष को लोग कहावत के रूप में 'अकालों का देश' भी कहते हैं। हिन्दू काल में भारत में ऐसा कोई भी अकाल नहीं पड़ा जिसको देश व्यापी अकाल कहा जा सके। इस काल में सबसे पहला अकाल सन् ६५० ई० में पड़ा। इसके पश्चात् क्रमशः सन् ९४१,१०२२, तथा १०३३ में अनेक अकाल पड़े जिससे बहुत से राज्य (प्रान्त) सुनसान हो गये और मानव दानव के रूप में परिणत हो गया। दसवीं शताब्दी में कश्मीर में सन ९१७ १८ में एक बहुत ही भयंकर अकाल पड़ा जिसकी भयंकरता का अनुमान कल्हण की राजतरंगणी के वर्णन से होता है। "झेलम में पानी बिल्कुल नहीं दिखाई देता था, वह बिलकुल पटी हुई थी क्योंकि लाशें

जो दीर्घकाल से उसमें पड़ी हुई थी सड़ और फूल रही थीं। भूमि हड्डियों से घने रूप म पूर्णतया ढँकी हुई थी और वह एक श्मशान के रूप म परिणत हो गई थी, जिसको देख कर आत्मा सिहर उठती थी। राजा, मंत्री और रङ्क धनवान बन गये थे क्योंकि वे चावल की ऊँची मूल्या पर बेचते थे। राजा ऐसे व्यक्तियों को मंत्री बनाता था जो प्रजा को बेच कर उसे अधिक-से अधिक धन प्रदान कर सके।"

जब कभी देश म अकाल पड़ता था हिन्दू राजा लोग उनके निवारणार्थ अनेक साधनों को अपनाते थे। अर्थशास्त्री चाणक्य ने अपने अर्थशास्त्र में अकाल निवारण के लिए अनेक उपाय बतलाये हैं जिनम से प्रमुख निम्न हैं —

(१) कर माफ करना
(२) देश निष्कासन,
(३) राज्य कोषों से धन तथा अनाज का वितरण,
(४) कृत्रिम भीलों, तालाबों तथा कुओं का निर्माण,
(५) अनाज का आयात इत्यादि।

मुस्लिम शासन काल में अकाल—मुस्लिम शासन काल में अनेक भयंकर अकाल पड़े। इतिहासकारों ने अनेक अकालों के बारे म दयनीय कथाएँ लिखी हैं जिनमें से चार अकाल बहुत ही मार्मिक हैं। मुहम्मद तुगलक के समय म सन् १३४३ई० म बहुत ही भयंकर अकाल पड़ा जो देशव्यापी था। इस अकाल के निवारण के लिए मुहम्मद तुगलक ने "दिल्ली की सम्पूर्ण जनता के लिए छः महीने तक मुफ्त अनाज बाटने के लिए, खेती करने तथा कुएँ खोदने के लिए अग्रिम राशि देने की आज्ञा दी।"* इस अकाल म शहर और जिले मनुष्यों से खाली हो गये और मनुष्यों को अप्राकृतिक भोजन जैसे खालें, आदमियों का मांस तथा जानवरों का खून पीने के लिए बाध्य होना पड़ा।

सम्राट् अकबर के शासन म भी इसी प्रकार का भयंकर अकाल पड़ा। सम्राट् ने पूरे हिन्दुस्तान म दान बाटने की आज्ञा दी। इसके पश्चात् शाहजहाँ के शासन काल म सन् १६३० ई० म सबसे भयंकर अकाल पड़ा। सम्राट् द्वारा अत्यधिक उदारता पूर्ण नीति अपनाने के पश्चात् भी दैवी प्रकोप को कम न किया जा सका। चौथा अकाल औरंगजेब के शासन काल म सन् १६८६ म पड़ा। औरंगजेब ने भी बहुत ही उदारता का परिचय दिया परन्तु अकाल पीड़ित अभागे मनुष्यों को कोई विशेष लाभ न हुआ। इन चार वीभत्स अकालों के अतिरिक्त अनेक और भी अकाल पड़े जो हृदय को कम्पित कर देते हैं।

ईस्ट इण्डिया कम्पनी के काल में—अकाल आयोग १८१० की रिपोर्ट के

*Elliot *History of India*

अनुसार ईस्ट इंडिया कम्पनी के काल में १२ अकाल और चार तीव्र सूखे (scarcities) पड़े। इस काल में सर्वप्रथम १६३० में अकाल पड़ा जिसमें गुजरात की ⅓ जनता समाप्त हो गई और अनेक स्थान मानवरिक्त हो गये। इस काल में सबसे बड़ा अकाल १७७० में पड़ा। इस अकाल में लगभग एक करोड़ व्यक्ति मरे। १८३३ में मद्रास में एक बहुत बड़ा अकाल पड़ा जिसको गुन्टूर अकाल (Guntur famine) कहते हैं। ऐसा अनुमान है कि गुन्टूर की ५ लाख की आबादी में से २ लाख आदमी मर गये। सन् १८३७ में अनावृष्टि के कारण उत्तर भारत में एक भीषण अकाल पड़ा जिसमें ८० लाख से अधिक व्यक्ति मर गये। इस अकाल के सम्बन्ध में लार्ड लारेंस ने लिखा है कि "मैंने अपने जीवन काल में इतना विनाशकारी विध्वंस नहीं देखा है जैसा १८३७ में फैला है।"

ब्रिटिश शासन काल—सन् १८५८ में भारत का शासन पूर्णतया इंगलैंड के आधिपत्य में आ गया। इस काल में दस बड़े बड़े अकाल और अनेक छोटे मोटे अकाल पड़े। पहला अकाल सन् १८६०-६१ में पड़ा जिससे दिल्ली व आगरा के क्षेत्र प्रभावित हुए। १८६६-६७ में बहुत बड़ा अकाल पड़ा जिससे देश का लगभग प्रत्येक प्रान्त प्रभावित हुआ। सन् १८६६ में अकाल के कारण लगभग ६ करोड़ लोग भूखों मर गये। बीसवीं शताब्दी में अकालों की कुछ संख्या कम रही। सबसे भयंकर अकाल ब्रिटिश काल में सन् १६४३ में बंगाल में पड़ा जिसमें लगभग ३५ लाख व्यक्ति मरे।

बंगाल का अकाल सन् १६४३—यह अकाल बीसवीं शताब्दी का सबसे भीषण अकाल कहलाता है। लार्ड एमरी के अनुसार इस अकाल में लगभग १० लाख व्यक्तियों की मृत्यु हुई परन्तु यह संख्या गलत मालूम होती है। औसत रूप में बंगाल में लगभग ५० हजार व्यक्ति प्रति सप्ताह काल कवलित हो जाते थे। कलकत्ता विश्वविद्यालय के पुरातत्व विभाग की खोज के अनुसार इस अकाल में लगभग ३२ लाख २५ हजार व्यक्तियों की मृत्यु हुई। इस अकाल ने बंगाल के आर्थिक, सामाजिक तथा नैतिक जीवन को एकदम नष्ट कर दिया था। निर्धनता के कारण लोग स्वर्गवासी व्यक्तियों की अन्त्येष्टि क्रिया भी नहीं कर पाते थे और लाशों को नदी नालों में फेंक दिया जाता था। पुरुष, स्त्री, बच्चों का खुले आम क्रय विक्रय हुआ। छोटी छोटी बालिकाओं को वेश्यावृत्ति का पेशा अपनाना पड़ा। वेश्यालयों में बेची जाने वाली लड़कियों की दर केवल १½ रुपया थी। बंगाल नेशनल चेम्बर ऑफ कामर्स के अध्यक्ष श्री जे० के० मित्तर ने कहा था कि, "ब्रिटिश साम्राज्य का सबसे बड़ा दूसरा नगर कलकत्ता आज भूखे और नङ्गे लोगों का शिकारगाह बन रहा है।"

इस अकाल के निवारणार्थ बंगाल सरकार ने लगभग ११½ करोड़ रुपये व्यय किये। सरकार ने ५,४४२ सहायतार्थ भोजनालय खोले। परन्तु ये भोजनालय भी

अपर्याप्त थ । यही नहीं इन भोजनालयो म दिया जाने वाला भोजन भी अमानवीय था । नाम्रे कानिस्ल क अनुसार "सहायतार्थ भोजनालय ऐसी सस्था नहीं थी जो मनुष्यों को बचाती । यह केवल मृत्यु को कुछ दिनों के लिए टाल देती थी । यह केवल श्मशान की ओर पहला कदम था।"

बगाल क भीषण अकाल के कुछ विशेष कारण थे जिनकी सक्षिप्त विवेचना इस प्रकार है —

(१) सन् १९४२ म ब्रह्मा द्वारा जापान को आत्म-समर्पण,

(२) युद्ध जन्य मुद्रा स्फीति के कारण मूल्यो म वृद्धि,

(३) सामाजिक दृष्टिकोण से खाद्यान्न का सग्रह बगाल से हटाना,

(४) बगाल क बहुत स जिला की फसलो का नाश होना,

(५) केन्द्रीय सरकार द्वारा लका को चावल निर्यात किया जाना,

(६) व्यापारियों की स्वार्थपूर्ण सग्रह नीति तथा चोर बाजारी,

(७) यातायात क साधनों की दुर्लभता, तथा

(८) दोषपूर्ण सरकार की वितरण नीति ।

सन् १९४४ मे बगाल के अकाल क कारणों की जाँच करने के लिए वुडहेड आयोग की नियुक्ति की गई । इस आयोग ने कुछ महत्वपूर्ण सुझाव दिये । जैसे—

(अ) २५,००० या इससे अधिक जनसख्या वाले नगरों म तुरन्त राशनिग प्रथा लागू कर दी जाय,

(ब) अनाज क व्यापारियों को लाइसेंस देते समय सरकार को कड़ा नीति अपनानी चाहिए,

(स) 'अधिक अन्न उपजाओ' आन्दोलन को सुदृढ बनाया जाय,

(द) निश्चित सीमा से अधिक भूमि रखने वाले किसानों को सरकारा नियन्त्रण म लाया जाय और ९५ एकड़ भूमि अधिकतम सीमा निश्चित की जाय, तथा

(य) अतिरिक्त अनाज वाले स्थानों पर कड़ा नियन्त्रण किया जाय ।

स्वतन्त्रता के पश्चात्—स्वतन्त्रता के पश्चात् भारत म कोई भयकर अकाल नहा पड़ा । हा खाद्यान्न का अभाव अवश्य प्रतीत होता रहा है । सरकार की सामयिक सहायता, सतर्कता तथा बुद्धिमत्ता क कारण जनता को यह भी अधिक खला नहीं है । विगत कुछ वर्षों से भारत म खाद्य सकट आश्चर्य बना रहा है जिसके लिए प्राकृतिक और अप्राकृतिक दोनों ही कारण समान रूप से उत्तरदायी हैं । इन कारणों का विस्तार में अध्ययन खाद्य-समस्या के अन्तर्गत अध्याय १३ में किया गया है ।

अकाल निवारणार्थ प्रयत्न (Famine Relief Measures)—अकाल निवारण क प्रयत्न प्रधानत खेती का उत्पादन बढ़ाने और सर्व साधारण की क्रय शक्ति

को बढ़ाने से सम्बन्धित होना चाहिए। खेती का सर्वाङ्गीण विकास ही भारतीय अकाल की समस्या का एकमात्र उपाय हो सकता है। जनता को अकाल की आपत्तियों से सदैव वंचित रखने के लिए कुछ स्थायी सुधारों की भी आवश्यकता होगी जैसे भारतीय खेती का पुनर्गठन, सिंचाई के साधनों का विकास, खाद्यान्न के वितरण पर नियन्त्रण, यातायात के साधनों का विकास, खेती के प्राकृतिक शत्रुओं से बचाव तथा अकाल निवारण कोष की स्थापना आदि।

भारतवर्ष में प्राचीन काल में (हिन्दू और मुस्लिम शासन काल मे) अकाल निवारण की कोई समुचित एवं स्थायी नीति नहीं अपनाई गई। जब कभी अकाल का प्रकोप होता था तत्कालीन शासकगण अपने राज्यों में अस्थायी निर्माण कार्य प्रारम्भ कर देते थे उदाहरणार्थ वे नहरें और तालाब खुदवाते थे, सड़क और इमारतों का निर्माण कराते थे, सरकारी खजाने से धन और अन्न का वितरण बड़ी उदारता के साथ किया जाता था। यही नहीं वे लोग अकालग्रस्त जनता को मुफ्त भोजन, लगान में छूट तथा तकावी ऋण आदि भी दिया करते थे। ईस्ट इंडिया कम्पनी ने भी इन्हीं शासकों की नीति का अनुकरण किया। मुफ्त भोजन, अनाज व कपड़ा दिया जाता था खाद्यान्न के निर्यात पर प्रतिबन्ध लगा दिया था परन्तु फिर भी यातायात के साधनों की दुर्लभता के कारण असंख्य व्यक्तियों को अपने प्राणों की बलि देनी पड़ी।

आधुनिक सहायता कार्य—आधुनिक सहायता कार्य का संगठन सर्वप्रथम १८६० से किया गया। इस समय तक अकालों का स्वरूप बदल चुका था। अब अकाल खाद्यान्न के अभाव के कारण नहीं बल्कि क्रयशक्ति एवं रोजगार के अभाव के कारण होने लगे। सन् १८६० में आधुनिक अकाल संहिता (Modern Famine Codes) का निर्माण किया गया। इस संहिता के अनुसार जनसंख्या का विभाजन तीन श्रेणियों में किया गया। प्रथम वे लोग जो शारीरिक परिश्रम करने योग्य थे, द्वितीय वे लोग जो निर्धन और असहाय थे परन्तु कुछ कर सकते थे और तृतीय वे लोग जो बिलकुल असहाय थे। सन् १८६५-६७ में उड़ीसा के अकाल ने उपरोक्त नियमों को असफल कर दिया।

फलस्वरूप सन् १८६७ में सर जॉन कैम्पबेल की अध्यक्षता में सरकार ने अकाल जाँच आयोग की नियुक्ति की। यह प्रथम अकाल आयोग था। इस आयोग की सिफारिशों के अनुसार सरकार ने घोषित किया कि उसकी मुख्य नीति जनता के जीवन की रक्षा करना है। सन् १८८० में सर रिचर्ड स्ट्रैची की अध्यक्षता में सरकार ने एक और अकाल आयोग की स्थापना की। इस आयोग ने सरकार की भावी अकाल निवारण नीति के सिद्धान्तों की नींव डाली। इस आयोग की सिफारिशों के अनुसार सन् १८८३ में प्रान्तीय अकाल कानूनों का निर्माण किया गया। इन कानूनों का परीक्षण सन्

१८६६ ६७ तथा सन १८६६ १६०० के अकालों द्वारा किया गया। ये कानून पूर्णतया सफल निकले।

वर्तमान अकाल निवारण नीति—वर्तमान अकाल निवारण नीति के दो प्रधान अंग हैं—प्रथम अकाल पीड़ितों को तत्कालीन सहायता पहुँचाना तथा द्वितीय अकाल की पुनरावृत्ति को रोकने के लिए दीर्घकालीन प्रयत्न करना। तत्कालीन सहायता कार्य को तीन भागों में बाँटा गया है—(१) चेतावनी कार्य, (२) सुविधानुसार सहायता कार्य, तथा (३) जीवन रक्षा कार्य। सन् १९४३ में बंगाल के भीषण अकाल ने उपरोक्त सिद्धान्तों को असफल कर दिया। परिणामस्वरूप सन् १९४५ में सर जॉन वुडहेड की अध्यक्षता में एक अकाल जाँच आयोग की नियुक्ति की गई। इस आयोग ने सरकार के सम्मुख दो रिपोर्ट प्रस्तुत कीं। पहली रिपोर्ट में तो बंगाल के अकाल के कारणों का विवेचन था और दूसरी रिपोर्ट में आयोग ने भावी अकालों की रोक-थाम के लिए महत्वपूर्ण सुझावों को दिया था। इन सुझावों के सम्बन्ध में ऊपर संकेत किया जा चुका है।

स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् हमारी लोकप्रिय सरकार ने अकाल संकट को दूर करने के लिए खेती के सर्वांङ्गीण विकास पर काफी जोर दिया। खेती का विकास योजनात्मक ढंग पर किया जा रहा है और कृषि सम्बन्धी ठोस नीति को अपनाया गया है। प्रथम, द्वितीय और तृतीय योजनाओं पर क्रमशः १०१८ करोड़ रुपये, १४८१ करोड़ रुपये तथा १५०० करोड़ रुपये कृषि एवं सिचाई के विकास पर व्यय किये जाने के लिए नियत किये गये हैं। ये धनराशि योजनाओं में किये जाने वाले कुल व्यय की क्रमशः ४३.२%, ३०.८% तथा १५% है। आशा की जाती है कि इन योजनाओं के सफल हो जाने पर हमारे देश में अकाल का संकट सदैव के लिए समाप्त हो जायेगा।

प्रश्न

1. Write a short note on 'Early Famines in India' (*Agra, 1933*)

2. What were the causes responsible for the frequent outbreak of famines in this country? What measures would you suggest for preventing their recurrence in future? (*Agra, 1934*)

सख्या की समस्या और खाद्य समस्या एक दूसरे से घनिष्ट रूप से सम्बन्धित हैं। इन्स्टीट्यूट आफ टेक्नालॉजी, कैलीफोर्निया के प्राध्यापक डा० हैरीसन ब्राउन ने जनवरी १९५६ में कहा है कि "यदि संसार की जनसख्या इसी प्रकार उच्चतम दर से बढ़ती गई तो एक दिन इस धरती पर इतने अधिक मनुष्य हो जायेंगे कि उनको अपने सर पर अनाज उगाना सीखना पड़ेगा।"

यदि यह सोच लिया जाय कि भारतवर्ष में सदैव से अन्न का सकट बना रहा है तो एक असम्य भूल होगी। सन् १८८० के अकाल आयोग (Famine Commission) ने इंगित किया था कि भारत में ५० लाख टन खाद्यान्नों का आधिक्य रहता है। कुछ समय तक कदाचित सिंचाई की उन्नति ने जनसख्या की वृद्धि और उपलब्ध खाद्य पूर्ति के बीच एक प्रकार का साम्य बनाये रखा किन्तु मालूम होता है कि जन सख्या की वृद्धि ने खाद्य पूर्ति को पछाड़ दिया। ३४ वर्ष के पश्चात् अर्थात सन् १९१४ में मूल्य जाँच समिति (Prices Enquiry Committee) ने अपनी रिपोर्ट में लिखा था कि देश में जनसख्या जिस गति से बढ़ रही है, खाद्यान्नों के अन्तर्गत कृषि भूमि का क्षेत्र उसी तेजी से नहीं बढ़ रहा है जिसके फलस्वरूप जनसख्या और खाद्यान्न के पूर्ति के बीच का सतुलन समाप्त हो रहा है।

सन् १९२१ से भारतवर्ष एक शुद्ध आयातकर्ता देश बन गया। इसके पूर्व यह एक निर्यातकर्ता देश था। इस वर्ष से भारतीय कृषि के इतिहास में एक नये अध्याय का श्रीगणेश होता है। सन् १९३१ ई० में जनसख्या सूचक अक ११७ (आधार वर्ष १९०१) था, जब कि खेती किये गये क्षेत्रफल का सूचक अङ्क ११६ था। इस प्रकार जनसख्या ने खाद्य समस्या को दौड़ में पीछे पछाड़ दिया और माल्थस के सिद्धान्त की सत्यता का प्रमाण दिया। भारत सरकार ने सन् १९३३ में सर जॉन मीगा (Sir John Megaw) को आवश्यक जाँच करने के लिए नियुक्त किया। उनके अनुसार, "उस समय लगभग ४०% गाँवों की जनसख्या अन्न उत्पादन की दृष्टि से अधिक थी। उस समय ३९% जनसख्या को पूरा भोजन, ४१% जन सख्या को अधूरा भोजन, तथा शेष २०% जनसख्या के लिए भोजन मिलना या न मिलना बराबर था।" सन् १९३४ में डा० राधाकमल मुकर्जी ने "अनुमान लगाया था कि एक साधारण वर्ष में भारत की खाद्य-उपज उसकी केवल ८८% जनसख्या के लिए ही पर्याप्त होती है।

सन् १९३७ में बर्मा के देश से अलग हो जाने के कारण खाद्यान्न का और भी अभाव हो गया। बर्मा से भारत को पर्याप्त मात्रा में चावल प्राप्त होता था। फलस्वरूप चावल के अभाव को बर्मा, जापान तथा अन्य देशों के आयात से पूरा किया जाने लगा। सितम्बर १९३९ में द्वितीय महायुद्ध छिड़ जाने के कारण खाद्य समस्या का रूप और भी भयानक हो गया। देश की आवश्यकताओं के अतिरिक्त भारत पर मित्र राष्ट्रों

की सेनाओं को अन्न देने का उत्तरदायित्व दिया गया। इस प्रकार एक ओर तो अन्न की माँग बढ़ रही थी और दूसरी ओर अन्न का उत्पादन घट रहा था। सन् १९४३ म बंगाल के भीषण अकाल ने, जिसमें कि लगभग ३५ लाख व्यक्ति काल कवलित हो गये, खाद्य-समस्या को और भी गम्भीर बना दिया। इस समय तक विदेशों से खाद्यान्नों के आयात भी लगभग बन्द हो गये क्योंकि चीन, थाईलैण्ड, जावा तथा इंडोचीन जैसे देश, जिन पर कि भारतवर्ष अपने आयात के लिए निर्भर करता था, दुश्मन राष्ट्रों द्वारा अधिकार में ले लिये गये।

द्वितीय महायुद्ध के समाप्त होते ही १५ अगस्त १९४७ को देश के विभाजन ने भारत के भाग्य को एक नया मोड़ दिया। देश के बहुत से उपजाऊ भाग जैसे पंजाब का नहरों वाला क्षेत्र, जूट तथा रुई उगाने वाला अधिकांश भाग पाकिस्तानी क्षेत्र में चला गया। फलत देश में लगभग ८ लाख टन अनाज की और कमी हो गई। विभाजन के फलस्वरूप भारत को हुई क्षति का स्पष्ट ब्यौरा निम्न तालिका से ज्ञात होगा —

(आँकड़े लाखों म)

	भारत	पाकिस्तान	भारतीय क्षति
क्षेत्रफल (वर्गमील)	१२	३ ५	२२%
जनसंख्या	३,३२७	६६१	१७%
जंगल (एकड़)	६२५	५२	८%
कृषि योग्य भूमि (एकड़)	२,०६८	५५२	२१%
सिंचित भूमि (एकड़)	३६०	१६५	३३%
अन्न (टन)	४०७	१३५	२५%
गन्ना (टन)	४५	८	१५%
तिलहन (टन)	५०	२	४%
रुई (गाँठें)	२१	१४	४०%
जूट (गाँठें)	१४	६३	८२%
तम्बाकू (टन)	३	१	२५%
धान (टन)	१२०	८५	४२%
गेहूँ (टन)	५९	३१	३४%

स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् खाद्यान्न का उत्पादन और भी घट गया। सन् १९५०-५१ म खाद्यान्न का उत्पादन ४१ ७४ मि० टन था जब कि १९४९ ५०, १९४८ ४९ तथा १९४७ ४८ में यह उत्पादन क्रमश ४६ ०२, ४३ ३, तथा ४३ ७४

मिलियन टन था। अधिक अन्न उपजाओ आन्दोलन द्वारा किये प्रयत्नों के बावजूद भी खाद्यान्न उत्पादन घटता ही चला गया क्योंकि :—

(१) नई ऊसर भूमि को उपजाऊ बनाने पर अधिक जोर दिया गया और पहले से उपयोग में लाई जाने वाली भूमि का उत्पादन नहीं बढ़ाया गया।

(२) आन्दोलन के अधिकारियों तथा कार्यकर्ताओं की अकुशलता तथा बेईमानी।

(३) आन्दोलन के साथ किसानों का अपूर्ण सहयोग।

(४) खाद्यान्नों की अपेक्षा व्यापारिक फसलों पर जोर।

सन् १९४७ से सन् १९५१ तक की खाद्य स्थिति का विवेचन करना व्यर्थ ही है, क्योंकि उस समय देश में राजनीतिक उथल पुथल का समय था, जिससे भूमि सुधार करने तथा कृषि उत्पादन में सुधार लाने में सरकार कोई स्थिर तथा ठोस नीति नहीं अपना सकी।

प्रथम पंचवर्षीय योजना (१९५१-५६) काल में सिंचित भूमि के क्षेत्रफल में उत्तरोत्तर वृद्धि होती रही। इस वृद्धि के मूल कारण खाद्यान्नों पर से मूल्य नियन्त्रण का हटाया जाना और अन्न संग्रह पर से प्रतिबन्धों का अन्त किया जाना था। इस प्रकार सभी प्रतिबन्धों के अन्त किये जाने से उत्पादकों में नई आशा का संचार हुआ। उन्हें अब प्रसन्नता थी कि वे खाद्यान्नों में मूल्य वृद्धि करके खूब लाभ कमा सकेंगे। किन्तु १९५३ और १९५४ में दो लाभकारी मानसूनों ने देश की खाद्यान्न की स्थिति को बिल्कुल बदल दिया। उत्पादन इतना बढ़ा कि खाद्यान्नों का मूल्य बहुत निम्न स्तर तक गिर गया। सरकार इस स्थिति से भयभीत हो गई और उसने मूल्यों में स्थिरता बनाये रखने के लिए बाजार से अन्न की खरीद प्रत्यक्ष रूप से शुरू कर दी।

सन् १९५१ से १९५६ तक सरकार ने अन्न उत्पादन की ओर खूब ध्यान दिया। उत्पादन वृद्धि के सभी साधन जुटाये गये तथा अनेक उपाय प्रयोग में लाये गये लेकिन सन् १९५६,५७,५८ और ५९ में उत्पादन स्थिति निरन्तर बिगड़ती गई। देशवासियों की उदरपूर्ति के लिए विदेशों से अन्न का आयात करना आवश्यक हो गया, और 'राशनिंग' प्रथा को पुनः लागू करना पड़ा।

इस प्रकार स्वतन्त्रता प्राप्ति के बारह वर्ष पश्चात् भी अनेक उपाय करने पर भी खाद्यान्न की कमी को दूर नहीं किया जा सका और आज भी देश की यह दशा है कि उसे परिस्थितियों से बाध्य होकर अनाज का भारी मात्रा में लाजमी तौर पर आयात करना पड़ रहा है।

खाद्यान्नों के अभाव के परिणाम

(१) **अधिक आयात**—खाद्यान्नों के अभाव की पूर्ति के लिए विदेशों से

असंख्य मात्रा में आयात करने पड़े। समय-समय पर किये गये आयातों का अनुमान इस तालिका से होता है :—

वर्ष	आयात (लाख टनों में)
१६४४	६·४
१६४७	२३·३
१६५०	२१·३
१६५३	२०·०
१६५४	८·०
१६५५	७·०
१६५६	१४·०
१६५७	३६·०
१६५८	३१·७८
१६५६ (१५ मई तक)	१७·२२

भारत और अमरीका की सरकारों के बीच एक समझौता हुआ है, जिसके अनुसार अमरीका भारत को चार वर्ष की अवधि में ६० लाख टन गेहूँ और १० लाख टन चावल देगा। इस अन्न राशि के मूल्य और समुद्री यातायात के व्यय के रूप में भारत अमेरिका को ६०७ करोड़ रुपया देगा।

(२) **विदेशी मुद्रा का संकट**—विदेशों से असंख्य मात्रा में किये गये आयातों का प्रभाव हमारे आर्थिक साधनों पर भी पड़ा। आयातों के फलस्वरूप हमारा भुगतान का सन्तुलन (Balance of Payment) प्रतिकूल हो गया और यह आज भी प्रतिकूल बना हुआ है। अन्न संकट को दूर करने के लिए सरकार को समय-समय पर तरानियाँ अथवा अनुदान (subsidies) भी देने पड़े हैं जिन्होंने हमारे देश के वित्त व्यवस्था की रीढ़ को तोड़ दिया है।

(३) **राशनिंग प्रथा का अपनाया जाना**—खाद्यान्न के अभाव के कारण खाद्यान्न की पूर्ति पर नियंत्रण करना पड़ा जो कि राशनिंग प्रथा के नाम से अधिक प्रचलित है। १६४४ के प्रारम्भ में २४० लाख व्यक्तियों को राशनिंग के अन्तर्गत अनाज मिल रहा था। यह संख्या शनैः-शनैः बढ़ती चली गई। मार्च १६४६ में ५०० लाख व्यक्तियों को तथा दिसम्बर १६४७ तक १४५० लाख व्यक्तियों को इस योजना के अन्तर्गत अनाज प्राप्त हुआ। दिसम्बर १६४८ में यह संख्या घट कर ८०४ लाख हो गई। तदुपरान्त यह संख्या घटती-बढ़ती रही और अभी तक राशनिंग प्रथा चालू है।

(४) आन्तरिक उपभोग में कमी—असख्य मात्रा में आयात होने के बावजूद भी देश में खाद्यान्न की कमी रही। फलतः प्रति व्यक्ति खाद्यान्न का उपभोग घटता चला गया। उदाहरणार्थ १६२० में प्रति व्यक्ति खाद्यान्न की पूर्ति ४७० पौण्ड थी जो १६३०-३१, १६४० ४१, तथा १६५०-५१ में क्रमशः ४०० पौण्ड, ३२८ पौण्ड तथा ३१२ पौण्ड रह गई। १६५१ से खाद्यान्न की स्थिति में कुछ सुधार अवश्य हुआ है।

खाद्य-समस्या के कारण

(१) जनसंख्या में वृद्धि—जनसख्या की समस्या की मूल बात यह है कि इसने खाद्य पूर्ति को काफी पीछे ढकेल दिया है। पिछले कुछ वर्षों में हमारे देश में जनसख्या में अत्यधिक वृद्धि हुई है। पिछले ६० वर्षों में जनसख्या की वृद्धि इस प्रकार हुई है :—

वर्ष	जनसख्या	प्रतिशत वृद्धि
१६०१	२३·६	—
१६११	२४·६	+५·८
१६२१	२४·८	—०·३
१६३१	२७·६	+११·०
१६४१	३१·३	+१४·३
१६५१	३५·७	+१३·४
१६६१ } अनुमानित*	४१·०	+१४·६
१६७१ }	५६·०	+३६·६

अशोक मेहता समिति के अनुसार जनसख्या की वर्तमान वृद्धि से हमारी माग सन् १६६० ६१ में ७६० लाख टन हो जायेगी। इस प्रकार बढ़ती हुई जनसख्या खाद्य-समस्या को जटिल बनाये हुए हैं, क्योंकि बढ़ते हुए दाँतों के लिए पर्याप्त चने नहीं हैं।

(२) मुद्रा स्फीति (Inflation)—द्वितीय महायुद्ध से मूल्यो के स्तर में निरन्तर वृद्धि होती रही है। स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् भी इसमें कोई सुधार नहीं हुआ है। मौद्रिक आय अवश्य बढ़ी है परन्तु उसके साथ साथ मूल्यों में भी वृद्धि हुई है। मौद्रिक आय की अपेक्षा मूल्यों में वृद्धि अधिक हुई है, अतः मूल्य-निर्देशांक भी बढ़ता गया है—

*R. A. Gopalswami, *Census of India*, 1951.

(आधार १९५२-५३ = १००)

वर्ष	मूल्य निर्देशांक
१९५५-५६	६२'५
१९५६-५७	१०५'२
१९५७-५८	१०८'४
१९५८-५९	११२'६
१९५९-६०	११७'१

अनुमान था कि मूल्यों में वृद्धि से खाद्य उत्पादन बढ़ेगा परन्तु ऐसा नहीं हुआ। बढ़ी हुई आय से किसानों ने अपने पुराने ऋणों को चुकाया और शेष धन से अपने उपभोग स्तर में वृद्धि की। इस प्रकार कृषि उत्पादन विधि में कोई सुधार न हो सका और अन्न संकट अपना सर ऊँचा बनाये रहा।

(३) कृषि उत्पादन में कमी—एक ओर तो जनसंख्या द्रुतगति से बढ़ती जा रही है और दूसरी ओर प्रति व्यक्ति कृषि-क्षेत्रफल घटता जा रहा है। योजना आयोग (प्रथम योजना) के अनुसार बोये जाने वाला प्रति व्यक्ति क्षेत्रफल १९११-१२ में ०'८८ एकड़ था, जो सन् १९२१, १९३१, और १९५१ में घट कर क्रमशः ०'८३ एकड़, ० ७२ एकड़ और ०'६५ एकड़ रह गया। डा॰ लवर आँकड़ों के अनुसार जहाँ पोलैंड, चेकोस्लोवेकिया, हंगरी, रूमानिया, यूगोस्लाविया और इगलैंड में १०० एकड़ भूमि क्रमशः ३१, २४, ३०, २०, ४२ और ६ व्यक्तियों को आश्रय देती है, वहाँ भारत में उसे १४८ व्यक्तियों का भार वहन करना पड़ता है। इसीलिए यहाँ प्रति एकड़ उपज विदेशों की तुलना में बहुत कम है।

(४) अखाद्य अथवा व्यापारिक फसलों के क्षेत्रफल में वृद्धि—पिछले कुछ वर्षों से खाद्य फसलों के स्थान पर व्यापारिक फसलों (cash crops) को पैदा करने की प्रवृत्ति बढ़ती जा रही है। सन् १९१३-१४ से सन् १९४०-४१ के लगभग ३० वर्षों में खाद्य फसलों में ४% वृद्धि हुई जब कि व्यापारिक फसलों में ५३% की वृद्धि हुई है। इसका प्रमुख कारण विदेशी सरकार की उपेक्षापूर्ण कृषि नीति है।

(५) देश से बर्मा का अलग होना—सन् १९३७ में देश से बर्मा के अलग हो जाने के कारण हमारे देश में खाद्यान्न विशेषकर चावल की कमी हो गई। बर्मा से लगभग १३ लाख टन चावल हमारे देश को प्राप्त होता था। इस अभाव को दूर करने के लिए बर्मा, जापान तथा अन्य पूर्वी देशों से आयात करने पड़े।

(६) देश का विभाजन—१५ अगस्त १९४७ को भारत का विभाजन हो जाने के कारण खाद्य-समस्या ने और भी उग्र रूप धारण कर लिया। वर्मा के अलग हो जाने से तो हम केवल चावल से ही वंचित हो गये, परन्तु देश के विभाजन ने हमसे चावल और गेहूँ दोनों ही छीन लिये। पंजाब और सिंध के अत्यधिक उपजाऊ और सिंचित क्षेत्र, जो कि गेहूँ की खत्ती कहलाते थे, पाकिस्तान में चले गये। चावल के क्षेत्रफल का केवल ५६·६% और गेहूँ के क्षेत्रफल का ६६% हमें प्राप्त हुआ। इसके विपरीत अविभाजित भारत की ८०·५% जनसंख्या हमारे हिस्से में रही और शेष १६·५% जनसंख्या पाकिस्तान के हिस्से में। इस प्रकार हमारे खाद्य-उत्पादन और जनसंख्या का अनुपात बिगड़ गया।

(७) शरणार्थियों का आगमन—विभाजन के साथ-साथ पाकिस्तानी क्षेत्रों से शरणार्थियों के आगमन से समस्या और गम्भीर हो गई। अनुमान है कि लगभग ९० लाख शरणार्थी पाकिस्तानी क्षेत्र से भारत में आ चुके हैं।

(८) प्राचीन व दोषपूर्ण कृषि पद्धति—आज जब कि मानव ने लगभग सभी प्राकृतिक क्षेत्रों पर विजय प्राप्त कर ली है और विज्ञान का प्रयोग उत्पादन के सभी क्षेत्रों में आ गया है। भारतवर्ष अब भी इस अवसर का लाभ नहीं उठा सका है। भारतीय कृषि उत्पादन के साधन बहुत ही प्राचीन तथा अवैज्ञानिक हैं। राष्ट्रीय सरकार के प्रयत्नों के बावजूद भी कृषि पद्धति में सुधार वाञ्छनीय रहेगा।

(९) वर्षा पर निर्भरता—आज भी भारतीय कृषि इन्द्र भगवान की अनुकम्पा पर आधारित है। अतः कहा जाता है कि "भारतीय कृषि वर्षा का जुआ है।" वर्षा का वितरण दोषपूर्ण, असमान तथा अनिश्चित है। जब कभी अनावृष्टि हो जाती है, कृषि उद्योग में ताला पड़ जाता है। डॉ० बलजीत सिंह के अनुसार उत्तर प्रदेश में ३५ वर्ष में लगभग १६ वर्ष वर्षा कम हुई है और ६ वर्षों में सूखा रहा है। इसी प्रकार बंगाल में १० वर्षों में केवल एक वर्ष ही ऐसा होता है जब सतोषजनक वर्षा होती है और प्रति वर्ष राज्य के किसी न किसी क्षेत्र में अनावृष्टि अथवा बाढ़ का प्रकोप रहता है।

अन्य कृषि उपयोगी साधन जुटाने और खेती करने के अनेक वैज्ञानिक तरीके अपनाने पर भी पानी (सिंचाई) की समस्या हल किये बिना सब कुछ व्यर्थ है।

(१०) दोषपूर्ण संगठन—भारतीय किसान जन्म से ही निर्धन होता है और आजीवन निर्धनता की गोद में रहता है। निर्धनता के कारण वह व्यक्तिगत रूप से अपनी कृषि व्यवस्था का सगठन नहीं कर पाता। विवश होकर उसे मध्यस्थों का सहारा लेना पड़ता है जो राजयक्ष्मा (T. B) की कीटाणुओं की भाँति उसके आर्थिक जीवन को चुन डालते हैं।

(११) अलाभकारी उद्यम—दोषपूर्ण अवस्था के कारण तथा अवैज्ञानिक कृषि पद्धति के कारण कृषि-उद्योग एक अलाभकारी उद्यम मात्र रह गया है फलस्वरूप कृषक पूर्ण परिश्रम तथा प्रेरणा से कार्य नहीं करता है।

(१२) विविध—खाद्य-समस्या के उपरोक्त कारणों के अतिरिक्त अनेक अन्य कारण भी हैं, जैसे यातायात के साधनों का अभाव, कृषि-विपणन की समुचित व्यवस्था का अभाव, उत्तम खाद व सिंचाई का अभाव, पशु-शक्ति की दयनीय दशा, फसलों के रोग तथा कीटाणु, दैवी प्रकोप तथा सर्वोपरि व्यापारिक नैतिक पतन आदि।

मेहता जाँच समिति (Mehta Inquiry Committee)

खाद्य-समस्या के विभिन्न पक्षों का विस्तार में अध्ययन करने के लिए केन्द्रीय सरकार ने सन् १९५७ में श्री अशोक मेहता की अध्यक्षता में एक खाद्य जाँच समिति नियुक्त की। समिति को निम्न बातों की जाँच करनी थी —

(१) वर्तमान खाद्य स्थिति का पर्यवेक्षण करना तथा १९५५ के मध्य से खाद्यान्न के मूल्यों में निरंतर वृद्धि के कारणों की जाँच करना।

(२) अगले कुछ वर्षों में माँग और पूर्ति की प्रवृत्तियों में होने वाले परिवर्तनों को निम्न बातों को ध्यान में रखते हुए इंगित करना —

(अ) खाद्य उत्पादन को बढ़ाने के लिए किये गये अथवा किये जाने वाले उपाय,

(ब) विनियोग अनिरेक खाद्यान्नों की माँग पर पड़ते हुए विकास व्यय, जन संख्या में वृद्धि तथा शहरीकरण (urbanisation) का प्रभाव,

(स) आवश्यकता के दृष्टिकोण से विदेशी मुद्रा को ध्यान में रखते हुए खाद्यान्न प्राप्त होने की सम्भावना।

समिति के सुझाव

सन् १९५०-५१ से सन् १९५७ तक की खाद्य स्थिति की जाँच करने के पश्चात् समिति ने नवम्बर १९५७ में निम्नलिखित महत्वपूर्ण सुझाव दिये —

(१) सरकार द्वारा खाद्यान्न का क्रय विक्रय (Buffer stock Operations) करके खाद्यान्न के मूल्यों में स्थिरता रखना,

(२) अनाज के थोक व्यापार का शनैः शनैः समाजीकरण,

(३) परिवार नियोजन के लिए देश व्यापी आंदोलन,

(४) सहायक (subsidiary) खाद्यान्नों का उपयोग, तथा

(५) एक पृथक् खाद्यान्न स्थिरीकरण संगठन (Foodgrains Stabilisation Organisation), मूल्य स्थिरीकरण बोर्ड (Price Stabilisation Board), केन्द्रीय खाद्य परामर्शदात्री समिति (Central Food Advisory Council) तथा मूल्य जाँच विभाग (Price Intelligence Division) की स्थापना करना।

तृतीय पंचवर्षीय योजना—इसके लेखकों का कहना है कि "खाद्य-उत्पादन स्थिर रहने का प्रमुख कारण यह है कि अभी तक भूमि से उत्पादन बढ़ाने के लिए कोई गहन प्रयत्न नहीं किया गया है। भारतवर्ष में प्रति एकड़ उपज संसार में सबसे कम है। जापान में प्रति एकड़ उपज ३,७५० पौण्ड है, चीन में २,३८७ पौण्ड तथा संयुक्त राज्य अमेरिका में ३,००० पौण्ड है जब कि भारतवर्ष में केवल ७०० पौण्ड ही है। गेहूं की प्रति एकड़ उपज ६०० पौण्ड ही है जब कि जापान में १८०० पौण्ड। अतः आधारभूत समस्या भूमि की उत्पादन शक्ति बढ़ाने की है।"

भूमि की उत्पादन शक्ति को बढ़ाने के लिए योजना में निम्न चार सुझाव रखे गये हैं :—

(१) सिंचाई तथा जल की सुविधाओं की व्यवस्था,

(२) उर्वरकों की पर्याप्त पूर्ति तथा उनका विभिन्न प्रकार की भूमि में उपयोग

(३) खेती का यन्त्रीकरण तथा ट्रैक्टरों का उपयोग, तथा

(४) किसानों को उत्तम बीज प्रदान करने की व्यवस्था।

अन्तर्राष्ट्रीय बैंक के अध्यक्ष श्री यूजिन ब्लेक के परामर्श से तीन अर्थ विशारदों का एक मण्डल भारत और पाकिस्तान आया। उसने भारत में घूम घूम कर सम्पूर्ण स्थिति का अध्ययन किया और हाल ही में उसने भारत की विकास योजनाओं के बारे में अपनी रिपोर्ट दे दी है।

इस रिपोर्ट में निम्नलिखित बातों पर विशेष बल दिया गया है :—

(१) कृषि उत्पादन में वृद्धि की आवश्यकता

(२) निर्यात व्यापार की विविध क्षेत्रों में प्रगति

(३) योजना में लोच बनाये रखने की आवश्यकता तथा

(४) कृषि उत्पादन के खाद के कारखाने को स्वावलम्बी बनाने सरकार के विभिन्न भागों में समन्वय स्थापित करने तथा कृषि यन्त्रों को सुचारु रूप से क्रियान्वित करने की आवश्यकता।

२—खाद्य-समस्या का गुणात्मक पक्ष
(Qualitative Aspect of Food Problem)

इस समस्या को गुणात्मक स्वरूप और भी भयङ्कर है यह असंदिग्ध सत्य है कि मनुष्य को केवल पर्याप्त भोजन ही नहीं मिलना चाहिये, बल्कि उस भोजन में पर्याप्त प्रोटीन, मिनरल साल्ट और विटामिन्स भी होने चाहिए। भारतवर्ष में जनता को केवल खाने को ही भरपेट नहीं मिलता बल्कि उस भोजन में पोषक तत्वों का भी बहुत अभाव होता है। हमारे भोजन में अनेक पौष्टिक पदार्थों जैसे दूध, घी, मक्खन, दही, मांस मछली, आटा, दालें, सब्जियाँ तथा फल आदि की बहुत कमी है। अतः हमारी खुराक असंतुलित रहती है जिसके फलस्वरूप हमारी कार्य क्षमता कम हो जाती है

और लोग यह कहने के लिए विवश हो जाते हैं, "भारतवर्ष के निवासी रहते नहीं, बल्कि रह लेते हैं।"

सन् १९३३ में कृषि एवं खाद्य-पंडित सर जॉन मीगा (Sir John Megaw) ने भारत का सर्वेक्षण करके बताया था कि भारत में केवल ३९% व्यक्तियों को पर्याप्त रूप में पोषक तत्व मिलते हैं, ४१% को अल्प मात्रा में पोषण तत्व मिलते हैं, और २०% को बहुत कम पोषण तत्व मिलते हैं। संयुक्त राष्ट्र संघ (U N.O) के खाद्य तथा कृषि-संघ (F A O) के एक प्रकाशन के अनुसार सन् १९४८-४९ में भारत में प्रति व्यक्ति प्रति दिन औसतन १६२१ कैलोरीज का उपभोग किया जाता है जब कि संयुक्त राज्य अमेरिका में ३१२८ कैलोरीज और कनाडा में ३०६२ कैलोरीज का उपभोग किया जाता था। देश की प्रमुख पत्रिका 'ईस्टर्न इकनॉमिस्ट' में विभिन्न देशों के सम्बन्ध में दिये हुए आंकड़ों से भी उक्त कथन की पुष्टि होती है।

कैलोरीज और प्रोटीन का उपभोग

(प्रति व्यक्ति, प्रति दिन)

देश	कैलोरीज की संख्या		प्रोटीन (ग्राम में)	
	युद्ध के पूर्व	५४-५५	युद्ध के पूर्व	५४-५५
अमरीका	३,१५०	३,०९०	८६	९२
इंगलैण्ड	३,११०	३,२३०	८०	८६
आस्ट्रेलिया	३,३०५	३,०४०	१०३	९१
जापान	२,१८०	२,१६५	६४	५८
भारत	१,९७०	१,८४०	५६	५०

पोषणहीन भोजन अथवा अपर्याप्त पोषण वाले भोजन का स्वाभाविक दुष्परिणाम यह होता है कि देश में अनेक प्रकार की बीमारियाँ जैसे सूखा, बेरीबेरी, खून की कमी तथा रिकैट (बच्चों की बीमारी) आदि फैलती हैं। जिसके फलस्वरूप जनता की कार्यक्षमता कम हो जाती है। यही नहीं मृत्यु दर और जन्म दर दोनों ही बढ़ जाती है। कांग्रेस द्वारा प्रकाशित 'आर्थिक समीक्षा' में यह बताया गया है कि जिन देशों के भोजन में प्राणीय प्रोटीन अधिक मात्रा में होते हैं, वहाँ जनसंख्या की वृद्धि का परिमाण धीमा होता है इसके विपरीत जिन देशों में प्राणीय प्रोटीन का उपभोग कुछ कम होता

हे वहाँ जनसख्या कुछ तेजी से बढ़ती है। निम्न आकड़े उक्त कथन की पुष्टि करते हैं* —

देश	जन्म दर	प्राणीय प्रोटीन का दैनिक भोजन मे परिमाण (ग्रामों मे)
फारमोसा	४५.६	४ ७
मलय राज्य	३६.७	८ ५
भारत	३३.६	८ ७
जापान	२७.०	६ ७
यूनान	२३.५	१५ २
इटली	२३ ४	१५ २
जर्मनी	२०.०	३७ ३
आयरलैंड	१६.१	४६ ३
आस्ट्रेलिया	१८.०	५६ ६
संयुक्त राज्य अमेरिका	१७ ६	६१ ४
स्वीडन	१५.०	६२ ६

भारतवर्ष में अपर्याप्त पोषण के तीन प्रमुख कारण हैं। प्रथम देश में पोषक खाद्यों की बहुत कम उत्पत्ति होती है, द्वितीय देश वासियों के रहन-सहन का स्तर निम्न होने के कारण वे पोषक पदार्थों का उपभोग भी नहीं कर पाते हैं, तथा तृतीय अधिकांश जनता अशिक्षित होने के कारण विभिन्न खाद्य पदार्थों के पोषक तत्वों के बारे में अनभिज्ञ है।

३—प्रशासकीय पक्ष

(Administrative Aspect)

जब देश में खाद्यान्न का अभाव होता है, तब खाद्य समस्या का प्रशासकीय पक्ष भी महत्वपूर्ण हो जाता है। प्रशासकीय शिथिलता से खाद्यान्न की समस्या और भी गम्भीर हो जाती है। ऐसे समय में देश में उत्पन्न किये गये खाद्यान्नों के विक्री योग्य आधिक्य (marketable surplus) को किसान और व्यापारी बाजार में नहीं डालते। वे खाद्यान्नों का अनुचित संग्रह करके अवसर का फायदा उठाना चाहते हैं। फलस्वरूप खाद्य समस्या और भी गम्भीर हो जाती है और मूल्य दिन प्रति दिन बढ़ते चले जाते हैं यहा तक कि वे गगनचुम्बी हो जाते हैं। इस प्रकार सरकार के सामने तीन समस्याएँ उत्पन्न होती हैं :—

(१) मूल्य नियन्त्रण (control) द्वारा मूल्यों को स्थिर रखना,

*ईस्टर्न इकनॉमिस्ट वार्षिकांक १९५६—पृष्ठ ६८७

(२) राशनिंग पद्धति के द्वारा खाद्यान्न का समान वितरण, तथा

(३) उपरोक्त दायित्वों को पूरा करने के लिए पर्याप्त खाद्य भंडार को बनाए रखना।

सरकार द्वारा किये गये प्रयत्न

स्वतन्त्रता के पूर्व सरकार ने खाद्य समस्या को हल करने के लिए दीर्घकालीन और अल्पकालीन दोनों ही प्रकार के प्रयत्न किये।

दीर्घकालीन हल—सन् १९४७ में श्रीयुत कृष्णमाचारी जी की अध्यक्षता में एक खाद्य जाँच समिति नियुक्त की गई। इस समिति ने खाद्य पदार्थों के निर्यात को रोकने, बड़े शहरों में राशनिंग लागू करने तथा 'अधिक अन्न उपजाओ' आन्दोलन को चालू करने की सिफारिश की, जिसके अन्तर्गत विस्तृत तथा गहन खेती की जाय, अखाद्य पदार्थों के बजाय खाद्य पदार्थों को उत्पन्न करने के लिए भूमि का उपयोग किया जाय, सिंचाई की सुविधाएँ तथा उन्नत खाद और उन्नत बीज दिए जायें। दुर्भाग्यवश उचित संगठन के अभाव के कारण यह आन्दोलन सफल न हो सका।

अल्पकालीन हल—खाद्य-समस्या को तुरन्त हल करने के लिए ब्रिटिश सरकार ने खाद्य नियंत्रण लगाये, अनाज वसूल कर इकट्ठा किया तथा राशनिंग और अनाज के मूल्यों एवं आवागमन पर नियंत्रण किया। उस समय भ्रष्टाचार तथा चोर बाजारी का बोलबाला था।

स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात्

स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् भी खाद्य समस्या सरकार के लिए एक चिन्ता का विषय बनी हुई है। राष्ट्रीय सरकार इस समस्या को केवल आत्मनिर्भरता के स्तर पर ही हल नहीं करना चाहती, वरन् बढ़ती हुई जनसंख्या और उन्नत जीवन स्तर को ध्यान में रखते हुए आवश्यकता से अधिक उत्पादन करके हल करना चाहती है। हमें जीवन स्तर को उन्नत करना है, लेकिन साथ ही साथ परिवार नियोजन द्वारा बढ़ती हुई जनसंख्या को भी रोकना है। यह बड़ी विचित्र स्थिति है कि अधिक उत्पादन के यत्न के साथ साथ खाद्यान्नों का अभाव होता जा रहा है और उनके मूल्यों में वृद्धि हो रही है। यह स्थिति अत्यन्त चिन्ता का कारण है। इसी स्थिति के कारण अन्न के राजकीय व्यापार का निश्चय किया गया है।

खाद्यान्न का राजकीय व्यापार

८ और ९ नवम्बर, १९५८ को राष्ट्रीय विकास परिषद की एक बैठक हुई थी उसमें यह निर्णय किया गया कि सरकार अन्न का थोक व्यापार अपने हाथ में ले ले। इस योजना के अनुसार किसानों से फालतू अन्न सेवा सहकारी समितियाँ, ग्राम्य स्तर पर इकट्ठा करेंगी और वह क्रय विक्रय सहकारी समितियाँ, उच्च क्रय विक्रय सहकारी

समितियों और उपभोक्ता सहकारी समितियों द्वारा वितरित होगा। अंतिम ध्येय की प्राप्ति तक अभी अन्तरिम काल में खाद्यान्न का व्यापार सहकारी समितियाँ सँभालेंगी।

इस अन्तरिम काल में थोक व्यापारियों को लाइसेंस दिए जाएँगे और उन्हें अन्न खरीदने की आज्ञा होगी। परन्तु सरकार को अधिकार होगा कि वह निर्धारित मूल्य पर उस अन्न भण्डार में से जितना चाहे खरीद ले। शेष बचा हुआ अन्न थोक व्यापारी फुटकर व्यापारियों को बेच सकेंगे परन्तु उसका मूल्य भी निर्धारित मूल्य से अधिक नहीं होगा। सरकार बाजार के अधिक से अधिक अतिरिक्त अन्न को खरीदकर बाजार को अपने अधिकार अथवा नियन्त्रण में लेने का प्रयत्न करेगी। सस्ते गल्ले की दुकानें काम जारी रखेंगी और जहाँ आवश्यक समझा जायगा इनका क्षेत्र व्यापक कर दिया जायगा ताकि उपभोक्ता को खाद्यान्न सही मूल्य पर मिल सके।

अभी आरम्भ में यह राजकीय व्यापार गेहूँ और चावल तक ही सीमित रहेगा। यदि कोई राज्य सरकार स्थानीय महत्व के किसी और अन्न को खरीदना चाहे तो वह खरीद सकती है।

खाद्य उत्पादन की वर्तमान स्थिति

खाद्य विभाग की वार्षिक रिपोर्ट देखने से ज्ञात होता है कि सन् १९५९ में खाद्य उत्पादन ७३.५ मिलियन टन हो जाने के कारण सामान्य खाद्य स्थिति में सुधार हुआ। सन् १९५७-५८ में खाद्यान्न का उत्पादन ६२.५ मिलियन टन हुआ था।

खाद्यान्नों के मूल्य जो कि सन् १९५८ से बढ़ना शुरू हुए थे, सितम्बर १९५८ से खरीफ के अनाजों के लिए तथा फरवरी १९५९ के बाद रबी के अनाजों के लिए गिरने लगे।

खाद्यान्न भंडारों का महत्व

भयावह अन्न संकट का सामना करने में निरन्तर रत भारत के सम्मुख उत्पन्न अन्न की आवश्यक बरबादी की समस्या कम चिन्तनीय नहीं है। हमारे देश में जहाँ एक ओर कम उत्पादन के विरुद्ध अभियान की भावना का अभ्युदय हो चुका है वहीं दूसरी ओर उत्पन्न अन्न तथा अन्य खाद्य सामग्रियों को सुरक्षित रखने और उसकी देखभाल की आवश्यकता के प्रति जागरूक हो उठना भी अस्वाभाविक नहीं है।

कृषि उत्पादनों की बरबादी रोकने और ग्रामीण मितव्ययता के विकास के लिए सम्बन्धित क्षेत्रों से भण्डार-गृहों में ठीक ढंग से अन्न संग्रह का कार्य राष्ट्रीय कार्यक्रम के अन्तर्गत स्वीकार कर लिया गया है। यह कार्यक्रम वैज्ञानिक प्रणाली से भण्डार-गृहों में अन्न रखने, सरल शर्तों पर कृषकों को अन्न उधार मिलने तथा उन्हें अन्न की अच्छी कीमत प्राप्त होने में सहायता देने के त्रिपदीय हितों पर आधारित है। केवल समुचित ढंग से अन्न को भंडारों में न संग्रह करने के कारण भारत में प्रति वर्ष ३,०००,०००

टन अन्न नष्ट हो जाना ही इस तथ्य की पुष्टि करता है कि हमारे देश में अन्न तथा कृषि उत्पादनों को सुरक्षित रखने के लिए वैज्ञानिक सिद्धान्तों पर निर्मित भंडार गृहों की कितनी आवश्यकता है।

भारत में भंडार गृहों की आवश्यकता की ओर सर्वप्रथम रिजर्व बैंक आफ इण्डिया द्वारा कृषकों तथा ग्रामीणों को उधार देने की सुविधाओं के विकास पर अन्वेषण करने के लिए १९५१ में नियुक्त 'रैम्पुल सर्वे क्रेडिट कमेटी' का ध्यान आकृष्ट हुआ। इस कमेटी ने राष्ट्रीय स्तर पर देश भर में भंडार गृहों की क्रिया प्रणाली में सुधार करने का प्रस्ताव रखा जिसके परिणामस्वरूप १९५६ में भारतीय संसद में कृषि उत्पादन (विकास एवं भंडार गृह) निगम कानून 'एग्रीकल्चरल प्रोड्यूस' (डेवलपमेंट ऐण्ड वेयर हाउसिंग) कारपोरेशन एक्ट पास हुआ, जिसके अन्तर्गत राष्ट्रीय सहकारी विकास और भंडार गृह मंडल (नेशनल कोआपरेटिव डेवलपमेंट एण्ड वेयरहाउसिंग बोर्ड), केन्द्रीय भंडार गृह निगम (सेंट्रल वेयरहाउसिंग कारपोरेशन) तथा प्रान्तीय स्तर पर विभिन्न राज्यों में प्रान्तीय भंडार गृह निगम (स्टेट वेयरहाउसिंग कारपोरेशन) की स्थापना हुई।

प्रश्न

1 Write a short note on "The Food Problem" (*Agra, 1937*)

2 Describe briefly the present food crisis in India Examine some of the main recommendations made by the Ashok Mehta Committee (*Agra, 1939*)

3 What are the main factors which are impeding the solution of the food problem in India? What measures would you recommend for these impediments? (*Punjab, 1939*)



अध्याय १४

भारत में ग्राम्य वित्त-व्यवस्था

(Rural Finance in India)

फ्रांसीसी लोकोक्ति है "साख किसान को उसी प्रकार सहायक होती है जैसे फाँसने वाले की डोर किसी वस्तु को फाँसने में सहायक होती है।"* श्री निकल्सन का कथन है कि "रोम से स्काटलैंड तक कृषि का इतिहास, यह पाठ सिखाता है कि साख कृषि के लिए अनिवार्य है।" भारतीय लोग भी उसी ग्राम को रहने योग्य समझते हैं जिसमें "एक महाजन हो जिससे आवश्यकता के समय धन उधार लिया जा सके, एक वैद्य हो, जो बीमारी में इलाज कर सके, एक ब्राह्मण पुजारी हो, जो भूमि की व्यवस्था कर सके तथा एक ऐसा जल स्रोत हो, जो ग्रीष्म ऋतु में भी न सूखे।" ये शब्द महाजन (साख) की महत्ता को व्यक्त करने के लिए पर्याप्त हैं।

परन्तु कृषि साख जब प्राप्त होती है तब भी एक समस्या है और यदि प्राप्त नहीं होती तब भी एक समस्या है क्योंकि "साख एक अच्छा सेवक है पर एक बुरा स्वामी।" एक बार जब भोलाभाला किसान निर्दयी महाजन के चंगुल में फँस जाता है तो उसका महाजन से जीवनपर्यन्त छुटकारा पाना असम्भव हो जाता है और उसके द्वारा लिया हुआ ऋण एक पैतृक ऋण बन जाता है। इसीलिए कहा जाता है कि 'भारतीय कृषक का जन्म ऋण में होता है, ऋण में जीवन व्यतीत करता है और इसी ऋण में उसकी मृत्यु भी हो जाती है।" अत भारतीय कृषि व्यवस्था में साख का एक महत्वपूर्ण स्थान है और इसके विशेष अध्ययन की आवश्यकता है।

ऋण का परिमाण

(Magnitude of Indebtedness)

भारतीय कृषि ऋण के परिमाण के सम्बन्ध में समय समय पर अनुमान निकाले गये हैं। प्रमुख आँकड़ों की सूची अग्रलिखित है —

---

*Credit supports the farmer as the hangman's rope supports the hanged —*French proverb*

वर्ष	ऋण करोड़ रुपयों में	लेखक
१६११	३००	सर एडवर्ड मैकलागन
१६२४	६००	सर माल्कम डार्लिङ्ग
१६३०	६००	जे० सी० बी० ई० समिति
१६३५	१,२००	डा० राधाकमल मुकर्जी
१६३८	१,८००	ई० वी० यस मैनियम

विगत कुछ वर्षों से खाद्यान्नों के कारण, जमींदारी प्रथा के अन्त हो जाने के कारण तथा सामाजिक विकास के कारण, ग्रामीण ऋण में अब कुछ कमी हो गई है। निश्चित आँकड़े उपलब्ध न होने के कारण कुछ कहा तो नहीं जा सकता है परन्तु वर्तमान परिस्थितियों को देखने से इस सम्बन्ध में अनुमान अवश्य लगाया जा सकता है। पहले की अपेक्षा किसानों की अवस्था कहीं अच्छी है। किसान लोग खेती के साथ-साथ मजदूरी का कार्य भी करने लगे हैं और मजदूरी में वृद्धि होने के साथ-साथ उनकी आर्थिक अवस्था में सुधार हो रहा है।

कृषक की साख सम्बन्धी आवश्यकताएँ

भारतीय किसान को तीन प्रकार के ऋणों की आवश्यकता होती है :—

(१) अल्प कालीन ऋण (Short-term Credit)

(२) मध्य कालीन ऋण (Middle-term Credit)

(३) दीर्घ कालीन ऋण (Long-term Credit)

अल्प कालीन ऋण

अल्प कालीन ऋण अथवा साख की आवश्यकता अल्प काल (१२ माह से १५ माह तक) के लिए होती है जिसका भुगतान अगली फसल में कर दिया जाता है। यह आमतौर पर बीज, खाद, फसल काटने, फसल बेचने, लगान चुकाने तथा दैनिक व्यय के सम्बन्ध में होती है।

मध्य कालीन ऋण

यह ऋण अथवा साख १५ माह से ५ वर्षों तक की अवधि के लिए ली जाती है। इसका उपयोग सामान्यतः कृषि यन्त्रों के खरीदने, पशुओं को खरीदने, खेत पर छोटे मोटे सुधार करने, तथा सिंचाई की व्यवस्था करने आदि के लिए होता है।

दीर्घ कालीन ऋण

यह ऋण ५ वर्ष से ३० वर्ष की अवधि तक के लिए लिये जाते हैं। इनका उपयोग भूमि में स्थायी सुधार करने के लिए होता है। जैसे भूमि खरीदने, कृषि सम्बन्धी औजार खरीदने, पुराने ऋणों को चुकाने, कुँओं तथा मकान आदि बनवाने में किया जाता है।

ग्राम्य वित्त प्राप्ति के साधन
(Sources of Rural Finance)

अखिल भारतीय ग्रामीण साख सर्वेक्षण समिति (१६५१-५२) के अनुसार भारत में ग्रामीण साख प्रदान करने वाली संस्थाएँ तथा उनसे प्राप्त होने वाले ऋण का तुलनात्मक प्रतिशत निम्न प्रकार है :—

साख संस्थाएँ	ऋण का प्रतिशत अनुपात
संस्थागत स्रोत	
सरकार	३·३
सहकारी संस्थाएँ	३·८
व्यापारिक बैंक	०·६
योग	७·२
निजी संस्थाएँ	
सम्बन्धी	१४·२
जमींदार	१·५
कृषक ऋणदाता	२४·६
पेशेवर ऋणदाता	४४·८
व्यापारी तथा कमीशन एजेन्ट	५.५
अन्य	१·८
योग	१००·०

उपरोक्त तालिका से स्पष्ट है कि कुल साख अथवा ऋणों का लगभग ६३% भाग निजी संस्थाओं से प्राप्त होता है और लगभग ७% सरकारी अथवा सार्वजनिक संस्थाओं से। विभिन्न साख प्रदान करने वाली संस्थाओं का वर्गीकरण उनकी तुलनात्मक महत्ता के अनुसार इस प्रकार दिया जा सकता है :—

(१) महाजन,

(२) सहकारी संस्थाएँ,

(३) सरकार,

(४) रिजर्व बैंक ऑफ इन्डिया,

(५) अन्य स्रोत—

(अ) देशी बैंकर,

(ब) व्यापारिक बैंक,

(स) ऋण कार्यालय,

(द) निधियाँ व चिट कोष आदि।

महाजन (Moneylenders)

ग्रामीण साख प्रदान करने वाले स्रोतों में सबसे महत्वपूर्ण स्रोत ग्रामीण महाजन है। अनादि काल से यह हमारे ग्रामीण भाइयों की साख सम्बन्धी आवश्यकताओं की पूर्ति करते आये हैं। आज भी इनकी महत्ता कम नहीं है। अखिल भारतीय ग्रामीण साख सर्वेक्षण समिति की खोज के अनुसार ये अब भी हमारी कृषि सम्बन्धी साख आवश्यकताओं की लगभग ७०% पूर्ति करते हैं।

महाजन दो प्रकार के होते हैं—(अ) पेशेवर (Professional) तथा (ब) गैर पेशेवर (Non-Professional)।

पेशेवर महाजन वे होते हैं जो रुपये में लेन-देन करने के साथ-साथ व्यापार भी करते हैं। ग्रामीण साख की दृष्टि से यह अधिक महत्वपूर्ण हैं।

गैर पेशेवर प्रायः जमींदार, ताल्लुकेदार, समृद्ध किसान, अवकाश प्राप्त (रिटायर्ड) धनवान व्यक्ति तथा सम्पन्न परिवार की विधवा स्त्रियाँ होती हैं। इनका मुख्य ध्येय रुपये का लेन-देन करना तो नहीं है परन्तु अच्छी धरोहर की प्रतिभूति पर परिचित व्यक्तियों को बहुधा रुपया उधार दे देते हैं।

उपरोक्त प्रणाली में शनैः-शनैः अनेक दोष आ गये हैं जिनके द्वारा हमारे ग्रामीण समाज का शोषण होने लगा है। अत्यधिक शोषण की अवस्था में भारतीय मृतप्राय किसान को बचाने के लिए हमारी सरकार ने महाजनों के ऊपर अनेक वैधानिक प्रतिबन्ध लगाये हैं। प्रत्युत दोषों का निराकरण पूर्णतया नहीं हो पाया। महाजन आज भी देश के लिए एक समस्या बने हुए हैं।

महाजनों के दोष

भारतीय केन्द्रीय बैंकिंग जाँच समिति (१६३१) ने अपनी रिपोर्ट में महाजनों के निम्न दोषों को दर्शाया है :—

(१) महाजन लोग ऋण देते समय ही ऋण दिये जाने वाले धन में से आगामी वर्ष तक का ब्याज काट लेते हैं और किसान से पूरा धन प्राप्त करने की रसीद ले लेते हैं। महाजन द्वारा ब्याज प्राप्त होने की किसान को कोई रसीद न दिये जाने के कारण ब्याज को साल के अन्त में पुनः माँगा जा सकता है।

(२) महाजन किसान (ऋणी) से ऋण देते समय कोरे (bank) कागज पर दस्तखत अथवा अँगूठे का निशान लगवा लेते हैं और बाद में नियमित रूप से ब्याज के प्राप्त न होने पर मनमाने धन की राशि को लिख लेते हैं।

(३) महाजन प्रायः अपने बही खाते अथवा रजिस्टर में वास्तव में दी हुई धन राशि से कहीं अधिक लिखते हैं।

(४) ब्याज प्राप्त होने अथवा किस्त के प्राप्त होने पर महाजन द्वारा किसान को

कोई रसीद नहीं दी जाती। फलतः दी गई धन की राशि पूर्ववत बनी रहती है। बेचारे किसान को ऋण देते समय ब्याज के अतिरिक्त अनेक अनुचित खर्चे भी चुकाने पड़ते हैं जैसे गिरह खुलाई, गद्दी खर्चा, सलामी, कटौती, बट्टाखाता आदि।

(५) कभी कभी ऋणी किसान से यह शर्त भी कर ली जाती है कि वह अपनी उपज महाजन को ही बेचेगा। महाजन उपज को सदैव बाजार मूल्य से कम मूल्य पर खरीदते हैं इस प्रकार उनको दुहरा लाभ होता है।

गाडगिल समिति के सुझाव

कृषि वित्त उपसमिति, जो गाडगिल समिति के नाम से प्रसिद्ध है, ने महाजनों के दोषों दूर करने के लिए अपनी रिपोर्ट में अनेक महत्वपूर्ण सुझाव दिये हैं जिनमें से प्रमुख निम्नलिखित हैं —

(१) महाजनों का अनिवार्य पंजीयन (रजिस्ट्रेशन),

(२) महाजनों को लाइसेंस देना,

(३) निर्धारित विधि के अनुसार लेखे तैयार करना,

(४) लेखों का खुला प्रदर्शन,

(५) ऋण लेने वालों को सामयिक ब्यौरा देना,

(६) ऋण लेने वालों से प्रत्येक प्राप्त किये गये धन की रसीद देना,

(७) ब्याज की दर सीमित करना,

(८) अनुचित धन लेने के विरुद्ध प्रतिबन्ध,

(९) ऋण लेने वालों को महाजनों द्वारा दिये जाने वाले कष्टों अथवा हानियों के विरुद्ध वैधानिक सुरक्षा,

(१०) प्रत्येक राज्य में महाजनों की कार्य विधियों की जाँच करने के लिए निरीक्षण करने वाली संस्थाओं की स्थापित करना।

उपरोक्त सिफारिशें कार्यान्वित न हो सकीं क्योंकि ये व्यावहारिक नहीं है। इनके दोषों को दूर करने का एक मात्र उपाय यही है कि साख सुविधा प्रदान करने वाली अन्य संस्थाओं को बढ़ावा दिया जाय।

(२) सहकारी संस्थाएं*

सहकारी समितियों के अन्तर्गत सहकारी साख संस्थाओं, जिनमें भूमि बंधक बैंक भी सम्मिलित हैं, को ग्रामीण बैंकिंग के लिए तथा महाजनों को प्रतिस्थापित करने के उद्देश्य से स्थापित किया गया था। परन्तु इनकी सफलता एवं प्रगति के आँकड़ों को देखने के पश्चात् यही ज्ञात होता है कि यह आन्दोलन हमारे अभीष्ट उद्देश्य की पूर्ति

*विस्तृत अध्ययन के लिए पुस्तक का अध्याय "सहकारी अन्दोलन" देखिये।

करने में सफल नहीं हुआ है। इन संस्थाओं ने बैंकिंग के सिद्धान्तों को पूर्णतया नहीं अपनाया है यद्यपि ये ग्रामीण बैंकिंग का कार्य करती हैं। ये व्यवसाय के लिए अल्प एवं मध्यकालीन निक्षेपों (deposits) तथा ऋणों को प्राप्त करते हैं परन्तु इनके द्वारा दिये गये ऋण साधनों के अनुकूल नहीं होते हैं। ऋण वापस लेने में शिथिलता, अनुत्पादक ऋण तथा क्षमता से अधिक ऋण देने के कारण अल्पकालीन ऋणों की वापसी भी निश्चित समय में नहीं हो पाती और वे स्वतः दीर्घकालीन ऋण बन जाते हैं। दिये गये ऋणों की अधिकांशतः वापसी नहीं हुई है।

डाक्टर ई० हाग (Dr E. Hough) ने सहकारी आन्दोलन के सफल न होने के कारणों को अपनी पुस्तक 'भारत में सहकारी आन्दोलन' में इस प्रकार दिया है, "निर्धनता तथा अपौष्टिक भोजन, (malnutrition), विस्तृत ऋण-ग्रस्तता, निरक्षरता का अत्यधिक ऊँचा प्रतिशत, व्यापारिक ज्ञान का अभाव, अनार्थिक कृषि की इकाई तथा प्राचीन कृषि प्रणाली, अपर्याप्त यातायात तथा संग्रह सुविधा, प्रमापित नाप-तौल के पैमाने का अभाव, अत्यधिक मूल्यों में उतार-चढ़ाव, नियमित बाजारों का अभाव तथा महाजनों एवं मध्यस्थों के द्वारा शोषण।"*

सहकारी योजना समिति (C E C) ने सहकारी आन्दोलन की मंदगति के मुख्य कारणों को इन शब्दों में व्यक्त किया है, "सरकार की मुक्त व्यापार (Laissez faire) नीति, लोगों की अज्ञानता, जनता का असहयोग, प्रारम्भिक इकाई का छोटा आकार होना तथा निःशुल्क सेवाओं पर अत्यधिक विश्वास ही आन्दोलन के प्रबन्ध की अकुशलता के कारण हैं।"

उपरोक्त व्यक्त की गई कठिनाई को यदि दूर कर भी दिया जाय, फिर भी हमारी साख समितियाँ दीर्घ कालीन ऋण नहीं दे सकतीं क्योंकि :—

(१) इन समितियों के आर्थिक साधन सीमित हैं।

(२) दीर्घ कालीन ऋण केवल भूमि की जमानत पर ही दिया जा सकता है। और यदि इसके स्थान पर वैयक्तिक जमानत ली जाय तो सहकारिता के सिद्धान्तों की अवहेलना होने लगेगी।

(३) भूमि सम्बन्धी जमानतों का मूल्यांकन तथा तत्सम्बन्धी अधिकारों की जाँच करने के लिए विशेष तान्त्रिक ज्ञान की आवश्यकता होती है जिसका कि साधारण सहकारी समितियों के पास अभाव होता है।

(४) निश्चित तिथि पर दीर्घकालीन ऋणों की अदायगी न होने पर इन समितियों की सम्पत्ति समाप्त हो जाती है।

*Dr. E. Hough, *The Co-operative Movement of India*, 1953 p p 284-85.

(५) प्रबन्धक लोगों की स्वार्थपरता अथवा अकुशलता के कारण सहकारी वित्त अलोच, लाल फीता तथा अपर्याप्तता जैसे दुर्गुणों से ग्रसित रहती है।

जब तक उपरोक्त दोषों को दूर नहीं किया जायगा सहकारी समितियाँ ग्राम वित्त को प्रदान करने में सहायक नहीं हो सकतीं।

सरकार (The Government)

सरकार भी कई प्रकार से ग्रामीण वित्त को प्रदान करती है। १९वीं शताब्दी में किसानों को साख सुविधाएँ पहुँचाने के लिए सरकार ने दो महत्वपूर्ण अधिनियम पास किये—

(१) भूमि सुधार अधिनियम १८८३ (Land Improvement Act 1883), तथा

(२) कृषक ऋण अधिनियम १८८४ (Agriculturists' Loans Act, 1884)।

प्रथम अधिनियम के अन्तर्गत किसान को ऋण केवल भूमि में स्थायी सुधार करने के लिए दिया जाता है और यह दीर्घ कालीन ऋण होता है। इस ऋण की अवधि अधिनियम के अनुसार अधिक से अधिक ३५ वर्ष की होती है परन्तु व्यवहार में ऋण प्राय २० वर्ष से अधिक अवधि के लिए नहीं दिये जाते हैं। ऋण का भुगतान वार्षिक किस्तों में ब्याज सहित होता है।

द्वितीय अधिनियम के अन्तर्गत किसान की चालू आवश्यकताओं जैसे बीज खरीदना, खाद व पशु खरीदना, औजार खरीदना आदि के लिए अल्प तथा माध्यमिक काल के लिए ऋण दिये जाते हैं। इन ऋणों की अदायगी फसल कटने के बाद की जाती है।

उपरोक्त दोनों ऋणों को तकावी ऋण कहा जाता है। इस समय सरकार प्रति वर्ष लगभग ९५ करोड़ रुपये के तकावी ऋण देती है। इनमें से ३५ करोड़ रुपये प्रथम अधिनियम के अन्तर्गत और ६० करोड़ रुपये द्वितीय अधिनियम के अन्तर्गत दिये जाते हैं।

तकावी ऋण के दोष

(१) तकावी ऋणों पर ब्याज की दर अपेक्षाकृत अधिक होती है। यह प्राय ६$\frac{1}{4}$% वार्षिक होती है जब कि सहकारी संस्थाएँ केवल ६% ब्याज लेती हैं। आलोचकों का कहना है कि सरकार को सहकारी संस्थाओं से कम ब्याज की दर पर ऋण देने चाहिए।

(२) ऋणों को प्राप्त करने में अनेक वैधानिक उपचार करने पड़ते हैं।

(३) ऋण मिलने में समय भी बहुत लगता है। प्राय ऋण ऐसे समय पर मिलता है जब ऋण की आवश्यकता नहीं रहती।

(४) ऋण वसूल करने में सरकारी कर्मचारियों द्वारा कठोरता का व्यवहार किया जाता है।

उपरोक्त दोषों के कारण किसान को अपनी कृषि साख सम्बन्धी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए महाजन की शरण में ही जाना पड़ता है जो उनका शोषण करने में नहीं चूकता।

तकावी ऋणों को अधिक उपयोगी बनाने के लिए दो सुझाव दिये जा सकते हैं —

(१) तकावी ऋणों के प्रशासन की कठोरता को कम करना चाहिए तथा ऋण देने में विलम्ब एव ऋण वापस लेते समय की जाने वाली कठोरता को दूर करना चाहिए।

(२) सरकार द्वारा दी जाने वाली ऋण सम्बन्धी शर्तों एव सुविधाओं को अधिक से अधिक जनता में प्रसारित करना चाहिए जिससे वे अधिकतम उपयोग कर सकें।

रिजर्व बैंक आफ इण्डिया

(Reserve Bank of India)

हमारी कृषि अर्थ-व्यवस्था में रिजर्व बैंक आफ इण्डिया का प्रारम्भ से एक महत्वपूर्ण स्थान रहा है और जब से बैंक का राष्ट्रीयकरण हुआ है तब से उसका महत्व और भी बढ़ गया है। यद्यपि बैंक ग्रामीण साख सुविधाओं को प्रत्यक्ष रूप से प्रदान नहीं करता है परन्तु इसके द्वारा अप्रत्यक्ष रूप से दी जाने वाली सहायता कम महत्व पूर्ण नहीं है। इससे भी अधिक महत्वपूर्ण कार्य उसके द्वारा विभिन्न सहकारी संस्थाओं को उनकी ऋण नीति एव सगठन के सम्ब ध में सलाह देना है।

प्रारम्भ से लेकर आज तक बैंक ने ग्रामीण वित्त प्रदान करने में प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से जो कार्य एव सेवाएँ की हैं उनका सक्षिप्त ब्यौरा इस प्रकार है—

(१) कृषि साख विभाग की स्थापना—बैंक की स्थापना के समय ही रिजर्व बैंक आफ इण्डिया, अधिनियम, १९३४ के अन्तर्गत यह आयोजन किया गया था कि वह ग्रामीण एव कृषि साख प्रदान करने वाली विभिन्न संस्थाओं के कार्यों का समुचित सगठन एव एकीकरण करे। इसी उद्देश्य से एक विशेष विभाग—कृषि साख विभाग खोला गया, जिसके दो उद्देश्य हैं —

(१) कृषि साख सम्बन्धी समस्याओं के अध्ययन के लिए विशेषज्ञ रखना तथा समय-समय पर केन्द्रीय एव राज्य सरकारों को राज्य सहकारी बैंकों अथवा अन्य बैंकिंग सस्थाओं को सलाह देना तथा उनका उचित मार्ग प्रदर्शन करना।

(२) अपनी क्रियाओं को कृषि साख से सम्बन्धित रखना तथा कृषि साख से सम्बन्धित राज्य सहकारी बैंकों तथा अन्य बैंकिंग संस्थाओं को संगठित करना।

(२) **रिजर्व बैंक और सहकारी साख**—रिजर्व बैंक आफ इन्डिया एक्ट, १६३४ के अन्तर्गत कृषि को सहकारी आन्दोलन के द्वारा साख प्रदान करने का कार्य भी रिजर्व बैंक आफ इन्डिया को ही सौंपा गया था। इसके अनुसार यह बैंक राज्य (प्रान्तीय) सहकारी बैंकों को दो प्रकार से अल्पकालीन साख प्रदान करता है

(अ) राज्य सहकारी बैंकों या अनुसूचित बैंकों की प्रतिभूति पर अल्पकालीन अग्रिम (advances) देकर, तथा

(ब) राज्य सहकारी बैंकों या अनुसूचित बैंकों को विनिमय विपत्रों (B/E) अथवा वचन पत्रों (P/N) को पुन भुना कर अथवा उनकी प्रतिभूति पर अग्रिम (advances) देकर, यदि ये प्रतिभूतियाँ (securities) १५ माह के अन्दर परिपक्व (mature) हो जायें और यदि ये मौसमी (seasonal) कृषि क्रियाओं या फसलों के विपणन को धन प्रदान करने के लिए लिखी गई हों।

सन् १६५१ के पश्चात्

सन् १६५१ से पूर्व उपरोक्त प्रावधानों का राज्य सहकारी बैंकों द्वारा बहुत कम प्रयोग किया जाता था। इसका एकमात्र कारण यह था कि रिजर्व बैंक की ऋण देने की शर्तें बहुत कठोर थीं। स्वतन्त्रता के पश्चात् राष्ट्रीय सरकार द्वारा प्रगतिशील कृषि नीति अपनाने और सन् १६४६ में रिजर्व बैंक का राष्ट्रीयकरण हो जाने से तथा विशेष रूप से सन् १६५१ में हुए संशोधन के पश्चात् ग्रामीण साख पहुँचाने में रिजर्व बैंक का पार्ट अधिक महत्वपूर्ण रहा है।

सन् १६५१ में रिजर्व बैंक एक्ट में किये गये संशोधन के अनुसार :—

(१) रिजर्व बैंक द्वारा मौसमी कृषि क्रियाओं और फसलों की बिक्री के लिए दी जाने वाली अल्पकालीन साख की अवधि ६ माह की जगह १५ माह कर दी गई है।

(२) अनुसूचित बैंकों को विनिमय विपत्रों (B/E) और वचन पत्रों (P/N) को खरीदने, बेचने और पुनः भुनाने की जो सुविधाएँ रिजर्व बैंक द्वारा दी जाती थीं वे अब राज्य सहकारी बैंकों को भी दी जाने लगी हैं।

(३) रिजर्व बैंक को मिश्रित खेती (mixed farming) तथा फसलों के विधायन (processing) के लिए अल्पकालीन साख देने का अधिकार प्राप्त हो गया है।

(४) रिजर्व बैंक ने राज्य सहकारी बैंकों को साख देने की विधि में महत्वपूर्ण परिवर्तन कर दिये हैं।

(५) यद्यपि नवम्बर, १६५१ में बैंक दर को ३% से बढ़ाकर ३½% और फिर

मई १९५७ में ३½% से बढ़ाकर ४% कर दिया गया था तब भी सहकारी संस्थाओं को कृषि के लिए पूर्ववत् १½% की दर पर ही ऋण दिये जा रहे हैं।

(६) ग्रामीण बैंकिंग जाँच समिति के सुझाव के अनुसार १ सितम्बर, १९५१ से कोषों के एक स्थान से दूसरे स्थान पर भेजे जाने की दर घटा दी गई है।

(७) देश के सभी राज्यों (जम्मू और कश्मीर छोड़कर) में सहकारी साख आन्दोलन के पुर्नसगठन की योजना बनाने में रिजर्व बैंक द्वारा सहायता दी गई है।

अखिल भारतीय ग्रामीण साख पर्यवेक्षण समिति, १९५१

(All India Rural Survey Committee, 1951)

अगस्त सन् १९५१ में श्री ए० डी० गोरेवाला की अध्यक्षता में ग्रामीण साख का पर्यवेक्षण करने के लिए एक समिति नियुक्त की गई। इस समिति ने सम्पूर्ण भारत की ग्रामीण साख का पर्यवेक्षण (Random Sampling) के आधार पर किया। समिति ने अपनी रिपोर्ट सन् १९५४ में प्रेषित की। प्रमुख सिफारिशें निम्नलिखित हैं—

(१) रिजर्व बैंक का अधिक से अधिक सहयोग—ग्रामीण क्षेत्रों में सहकारी साख का विकास करने के लिए सरकार का रिजर्व का अधिक से अधिक सहयोग आवश्यक है। ग्रामीण साख को संगठित करने के लिए एक 'ग्रामीण साख समन्वीकरण योजना' (*Integrated Rural Credit Scheme*) होनी चाहिए। समिति के अनुसार योजना का उद्देश्य यह है कि ऐसी स्थिति उत्पन्न की जाय जिसमें सहकारी संस्थाएँ तथा ग्रामीण क्षेत्रों में कार्य करने वाली संस्थाएँ अपने व्यक्तिगत सकुचित दृष्टिकोण एवं लाभ को छोड़ कर किसान की आर्थिक स्थिति को सुदृढ़ बनाने में सलग्न हों। सरकार को इस योजना को सफल बनाने के लिए विभिन्न संस्थाओं के साझे में कार्य करना चाहिए। यह साझा इन क्षेत्रों में होगा—

(अ) सहकारी साख के क्षेत्र में,

(ब) खेती सम्बन्धी संग्रह, सतुलन तथा वितरण के कार्यों में,

(स) संग्रहालयों (Warehouses) तथा गोदामों की सुविधाएँ देने में, तथा

(द) व्यापारिक बैंकों के कार्य क्षेत्र में सहयोग देना।

(२) बैंकों का सुधार—बैंकों को सुधारने तथा उनके समुचित विकास के लिए समिति ने निम्न सुझाव दिये हैं—

(अ) केन्द्रीय क्षेत्र में आर्थिक, प्रशासन तथा तात्रिक सहायता को सुसगठित करना,

(ब) विभिन्न क्षेत्रों की आर्थिक प्रगति के अनुसार उक्त सगठन की जिलों में व्यवस्था करना,

(स) ग्रामीण क्षेत्रों में खोली गई बैंकों की शाखाओं को प्रत्येक स्तर पर भूमि बंधक बैंकों द्वारा पूर्ण सहयोग प्राप्त होना चाहिए।

(द) नवीन भूमि बंधक बैंक तथा ग्राम सहकारी समितियों का बड़े पैमाने पर पुनर्संगठन।

(३) विभिन्न कोषों का निर्माण—योजना को सफल बनाने के लिए तथा पूर्ण-रूप से कार्यान्वित करने के लिए समिति ने निम्न कोषों के निर्माण की सिफारिश की है;

(अ) रिजर्व बैंक के अधीन

(क) राष्ट्रीय कृषि साख (दीर्घ कालीन) कोष;

(ख) राष्ट्रीय कृषि साख (स्थिरीकरण) कोष;

(ब) केन्द्रीय खाद्य एवं कृषि मंत्रालय के अधीन

(क) राष्ट्रीय कृषि साख (सहायतार्थ तथा गारन्टी) कोष

(स) राष्ट्रीय सहकारिता एवं संग्रहालय विकास परिषद् (Board) के अधीन

(क) राष्ट्रीय सहकारिता विकास कोष

(ख) राष्ट्रीय संग्रहालय विकास कोष

(द) स्टेट बैंक के अधीन

(अ) समग्रीकरण तथा विकास कोष

(य) राज्य सरकार के अधीन

(क) राज्य कृषि साख (सहायतार्थ तथा गारन्टी) कोष; तथा

(ख) राज्य सहकारिता विकास कोष।

(र) राज्य सहकारी बैंकों तथा केन्द्रीय बैंक के अधीन

(क) कृषि साख स्थिरीकरण कोष

(४) इम्पीरियल बैंक तथा अन्य राज्य बैंकों को मिश्रित करके एक 'स्टेट बैंक आफ इण्डिया' नामक केन्द्रीय बैंक की स्थापना की जाय।

(५) प्रत्येक स्तर पर तथा विभिन्न राज्यों में एक केन्द्रीय समिति द्वारा सहकारी प्रशिक्षण की व्यवस्था करना जो सहकारी विभाग तथा सहकारी संस्थाओं के कर्मचारियों को उचित शिक्षा प्रदान करे।

समिति की सिफारिशों पर सरकार द्वारा की गई कार्यवाही

(१) इम्पीरियल बैंक का राष्ट्रीयकरण—१६ अप्रैल सन् १९५५ को स्टेट बैंक आफ इण्डिया बिल लोक सभा में प्रस्तुत किया गया। यह दोनों सदनों (Houses) द्वारा पास कर दिया गया। राष्ट्रपति ने भी इस पर अपनी अनुमति ८ मई सन् १९५५ को दे दी। फलस्वरूप १ जुलाई १९५५ से स्टेट बैंक आफ इण्डिया कार्य करने लगा। इस बैंक को ५ वर्ष के अन्दर ४०० शाखाएँ ग्रामीण क्षेत्रों में खोलने का उत्तरदायित्व सौंपा गया।

(२) विभिन्न कोषों की स्थापना—सन् १९५५ में रिजर्व बैंक एक्ट में संशोधन करके दो कोषों की स्थापना की गई—

(अ) राष्ट्रीय कृषि साख (दीर्घ कालीन) कोष, तथा

(ब) राष्ट्रीय कृषि साख (स्थिरीकरण) कोष।

प्रथम कोष की स्थापना १० करोड़ रुपये से की गई है। यह धनराशि राज्य सरकारों तथा भूमि बंधक बैंकों को दीर्घ कालीन ऋण और अग्रिम (advances) देने के काम में लाई जा रही है।

द्वितीय कोष की स्थापना १ जुलाई १९५६ को एक करोड़ रुपये से की गई है, जिसमें ३० जून १९६१ तक वार्षिक एक करोड़ रुपये जमा होते जायँगे। इसका उद्देश्य राज्य सहकारी बैंकों को मध्यकालीन ऋण की सुविधाएँ देना है।

(३) सहकारी प्रशिक्षण—सहकारिता की शिक्षा का प्रबन्ध करने के लिए रिजर्व बैंक तथा सरकार के संयुक्त प्रयत्नों से एक केन्द्रीय सहकारिता प्रशिक्षण की स्थापना हुई है जिसमें सभी श्रेणी के कर्मचारियों के लिए एक विस्तृत योजना बनाई जायगी।

इस योजना के अन्तर्गत उच्च पदाधिकारियों की शिक्षा के लिए पूना में एक प्रशिक्षण केन्द्र खोला गया है। मध्य श्रेणी के कर्मचारियों के लिए ५ प्रशिक्षण केन्द्र पूना, मद्रास, पूसा, इन्दौर तथा मेरठ में खोले गये हैं।

(४) पोस्ट आफिस सेविंग्स बैंक में खातों की सुविधा—नये-नये डाकखानों की स्थापना की जा रही है और उनमें सेविंग्स बैंक में खाते खोलने की सुविधा भी अधिक से अधिक दी जा रही है। इसके अतिरिक्त कलकत्ता, बम्बई, मद्रास और नई दिल्ली के प्रधान कार्यालयों में सेविंग्स बैंक के खातों में से प्रति सप्ताह दो बार रुपये निकालने और अधिकतम रकम १ सप्ताह में १००० रुपये तक निकालने की योजना चालू की गई है।

(५) ऋण-पत्रों की मान्यता—रिजर्व बैंक आफ इण्डिया ने यह निश्चित कर लिया है कि अखिल भारतीय औद्योगिक अर्थ प्रबन्धन कारपोरेशन (I F. C.) तथा राज्य अर्थ प्रबन्धन कारपोरेशनों (S F C) तथा भूमि बंधक बैंकों के ऋण-पत्र सरकारी प्रतिभूतियों के समान, उधार लेने के सम्बन्ध में, प्रतिभूति समझी जायगी।

(६) बैंक के *कर्मचारियों का प्रशिक्षण*—देश में बैंकिंग कार्य को सुचारु रूप से चलाने के लिए तथा योग्य एवं कुशल व्यक्तियों की पूर्ति के लिए सन् १९५४ में बम्बई में रिजर्व बैंक आफ इण्डिया ने एक बैंकर्स ट्रेनिंग कालेज स्थापित किया है।

देशी बैंकर

ग्रामीण अर्थ व्यवस्था में देशी बैंकों का भी एक महत्वपूर्ण स्थान है। बड़ी बड़ी

संस्थाओं के होते हुए भी हमारे किसान अपनी धन सम्बन्धी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए देशी बैंकरों की सहायता लेते हैं। ये देशी बैंकर लगभग प्रत्येक गाँव, कस्बे तथा नगर में होते हैं। इनके द्वारा ऋण दिये जाने की शर्तें बहुत ही सरल एवं आकर्षक होती हैं। अनेक गुणों के साथ-साथ इनकी पद्धति में बहुत से भयानक दोष भी आ गये हैं। इन दोषों का अध्ययन हम विस्तार में 'महाजनों' के अन्तर्गत कर चुके हैं। सरकार ने भी इनकी पद्धति को सुधारने के लिए निष्फल प्रयत्न किये हैं। यदि इनके दोषों का निराकरण हो जाता है तो निस्सन्देह ये हमारी ग्रामीण वित्त व्यवस्था में एक प्रतिष्ठित स्थान प्राप्त कर सकते हैं।

व्यापारिक बैंक

देश में व्यापारिक बैङ्क, स्टेट बैङ्क ऑफ इण्डिया तथा विनिमय बैङ्कों सहित प्रत्यक्ष रूप से ग्रामीण साख प्रदान करने में बहुत कम महत्व रखते हैं। अनुमान है कि कुल ग्रामीण साख की आवश्यकता का एक प्रतिशत भाग इनके द्वारा प्रदान किया जाता है। ये बैंकें ग्रामीण वित्त प्रदान करना अपने व्यापारिक क्षेत्र का अङ्ग नहीं समझते हैं क्योंकि इनका सगठन ग्रामीण दीर्घ एवं अल्पकालीन साख आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए नहीं होता है। हाँ ये अप्रत्यक्ष रूप से व्यापारियों तथा व्यवसायियों द्वारा ग्रामीण वित्त में सुधार करते हैं। परन्तु मध्यस्थों द्वारा यह प्रत्यक्ष वित्त-व्यवस्था बहुत महँगी पड़ती है। कभी-कभी इनकी शर्तें इतनी कड़ी तथा ब्याज की दर इतनी ऊँची होती है कि भारतीय किसान इनकी अपेक्षा महाजनों अथवा देशी बैंकरों से ऋण लेना अधिक हितकर समझता है।

ऋण कार्यालय

इस प्रकार के कार्यालय बगाल में बहुत प्रसिद्ध हैं। ये प्रारम्भ में भूमि बंधक बैङ्कों के आधार पर सगठित किये जाते थे। इनकी सख्या लगभग १ हजार तथा पूँजी करीब १० करोड़ रुपये है। ये कार्यालय अपना कार्य जनता से प्राप्त राशि में ही करते हैं, तथा इस प्रकार की जमा पर ४% से ८% तक ब्याज देते हैं। ये कार्यालय भूमि, जेवर तथा कभी कभी व्यक्तिगत साख पर भी जमींदारों तथा किसानों को ऋण दिया करते हैं।

निधियाँ तथा चिट कोष

इस प्रकार की सस्थाएँ मुख्यतः मद्रास राज्य में पाई जाती हैं। प्रारम्भ में ये सस्थाएँ पारस्परिक ऋण समितियों की भाँति थीं। परन्तु अब वे शनैः-शनैः अर्धबैङ्किंग सस्थाओं के रूप में विकसित हो गई हैं। इन सस्थाओं का रजिस्ट्रेशन भारतीय कम्पनी कानून के अन्तर्गत होता है। इनका मुख्य उद्देश्य अपने सदस्यों में बचत की भावना को जाग्रत करना, पुराने कर्जों से छुटकारा दिलाना तथा सदस्यों की दैनिक ऋण-

सम्बन्धी आवश्यकताओं की ऋण पूर्ति के लिए एक कोष की स्थापना करना है। इन संस्थाओं में भी कुछ दोष हैं यदि ये दोष दूर हो जाते हैं तो निस्सदेह ये संस्थाएँ भी भारतीय ग्राम्य ऋण प्रदान करने में सहायक सिद्ध हो सकेंगी।

पंचवर्षीय योजनाओं में ग्रामीण ऋण

प्रथम पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत सहकारी तथा सरकारी संस्थाओं द्वारा ग्राम्य वित्त व्यवस्था में प्रति वर्ष १ अरब रुपये के वितरण का लक्ष्य निर्धारित किया गया था। योजना के अन्तिम तीन वर्षों में योजना आयोग द्वारा ग्रामीण वित्त प्रदान करने वाली संस्थाओं को ५ करोड़ रुपये और अधिक देने की व्यवस्था की गई थी।

द्वितीय योजना के अन्तर्गत ग्रामीण ऋण प्रदान करने के लक्ष्य पहली योजना की अपेक्षा में कहीं अधिक निर्धारित किये गये। इस योजना काल में सहकारी संस्थाओं द्वारा अल्पकालीन ऋणों की मात्रा पहली योजना में नियत ३० करोड़ रुपये से बढ़ा कर १५० करोड़ रुपये, मध्यकालीन ऋण की मात्रा १० करोड़ रुपये से बढ़ा कर ५० करोड़ रुपये और दीर्घकालीन ऋणों की मात्रा ३ करोड़ रुपये से बढ़ा कर २५ करोड़ रुपये कर दी गई है। इस कार्य के लिए रिजर्व बैंक द्वारा प्रदान की जाने वाली आर्थिक सहायता के अतिरिक्त सरकार भी ४८ करोड़ रुपये की सहायता प्रदान करेगी।

सहकारिता आन्दोलन का विभिन्न राज्यों में विकास*

सन् १९५७-५८ में रिजर्व बैंक ऑफ इन्डिया द्वारा देश के दस राज्यों में से ११ जिलों में आयोजित (First Rural Credit Follow Up Survey) की जाँच के अनुसार बम्बई, मैसूर, मद्रास, आन्ध्र प्रदेश, पंजाब, मध्य प्रदेश तथा पश्चिमी बंगाल में ५०% से अधिक ग्राम प्रारम्भिक साख समितियों (Primary Credit Societies) के अन्तर्गत आ गये थे। राजस्थान, बिहार तथा उत्तर प्रदेश में यह अनुपात क्रमशः १३% २७% तथा ३९% था। प्रारम्भिक साख समिति में औसत न्यूनतम कार्यशील पूँजी प्रति सदस्य ३८ रु० बिहार में थी और अधिकतम कार्यशील पूँजी २२१ रु० बम्बई में थी। मध्य प्रदेश, पंजाब, आन्ध्र प्रदेश तथा मद्रास में यह १२० रु० और १६० रु० के बीच तथा उत्तर प्रदेश, पश्चिमी बङ्गाल, मैसूर तथा राजस्थान में यह ५० रु० और १०० रुपये के बीच थी।

दस राज्यों में राज्य सरकारों द्वारा सहकारी संस्थाओं को ऋण तथा अग्रिम देने में महत्वपूर्ण स्थान क्रमशः मद्रास (९ रु० प्रति व्यक्ति), बम्बई (७ रु० प्रति व्यक्ति) आन्ध्र प्रदेश तथा उत्तर प्रदेश (६ रु० प्रति व्यक्ति) आदि का था। साख न देने वाली

*रिजर्व बैंक आफ इन्डिया, 'बुलेटिन' मई १९६०, पृष्ठ ६८३-८४

समितियों (Non Credit Societies) को राज्य सरकारों द्वारा अधिकतम ऋण दिये गये। राज्य तथा केन्द्रीय बैंकों का स्थान इसके पश्चात् आता है।

प्रश्न

1 What are the main agencies at work in the provision of agricultural finance in India ? Examine their adequacy, along with your suggestions, if any *(Rajputana, 1952, 1955)*

2 Examine the existing agencies for financing agriculture in India What have been their limitations ? What steps have been taken in recent years to remove them ? *(Patna, 1956)*

3 What are your suggestions for the reorganisation of rural credit in this country ? Has the role of the Reserve Bank of India in the provision of agricultural credit been satisfactory ?



अध्याय १५

भारतीय कृषि नीति का विकास

(Evolution of Indian Agricultural Policy)

कृषि ही भारतवर्ष की आधार शिला है। यही उसकी विशाल जनसंख्या के लगभग ७०% भाग की रोटी-रोजी की समस्या को हल करती है। दूसरे शब्दों में, भारत के राष्ट्रीय ढाँचे में कृषि का स्थान सर्वोपरि है और हमारी आर्थिक उन्नति उसके विकास पर ही निर्भर है। परन्तु यह सब होते हुए भी भारतीय कृषि पिछड़ी हुई अवस्था में है। डॉ० क्लाउस्टन के शब्द "भारत में दलित जातियाँ हैं, दलित उद्योग भी हैं, और दुर्भाग्य से कृषि उनमें से एक है" अक्षरशः सत्य हैं। भारतीय कृषि के विकास के प्रति विदेशी सरकार की नीति भी बहुत सराहनीय नहीं रही है। समय समय पर जो कदम उठाये गये, वे केवल भारतीय कृषकों के आँसू पोंछने के तुल्य रहे हैं। विदेशी सरकार अपने शासनकाल में ऐसी कृषि नीति को अपनाती रही है जो उसके हित में थी।

प्लासी के युद्ध के ठीक ३० वर्ष पश्चात् सन् १७८७ ई० में ईस्ट इंडिया कम्पनी ने Dr Hove को भारतीय कपास व्यापार तथा कपास के पौधों का अध्ययन करने के लिए भेजा क्योंकि कम्पनी भारत में उत्पन्न की जाने वाली कपास के गुण (quality) में रुचि (interest) रखती थी। कपास के गुण के अनुसार ही उसके द्वारा बनाये जाने वाले कपड़े के गुण का भी निर्धारण होता था। कम्पनी तथा तत्पश्चात् ब्रिटिश सरकार का यह दृष्टिकोण स्वतन्त्रता के पूर्व तक चलता रहा। यद्यपि ब्रिटिश शासकों द्वारा निर्मित कृषि नीति में अन्य महत्वपूर्ण उद्देश्य भी समय समय पर सम्मिलित होते गये। यह कहना गलत होगा कि ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने ब्रिटिश उद्योगपतियों के हित में भारतीय हितों को हानि पहुँचाई। कम्पनी का उद्देश्य केवल लाभ कमाना था। अतः कम्पनी ने ब्रिटिश उद्योगपतियों के विरोध के बावजूद भी भारतीय उद्योगों को बढ़ाने की पूरी पूरी कोशिश की। जब ब्रिटेन में सूती वस्त्र उद्योग का पूर्णतया विकास हो गया और भारतीय वस्त्र उनका मुकाबला न कर सके, तब भारत कम्पनी को अपना रुख बदलना पड़ा।

सन् १८०५ में तत्कालीन गवर्नर जनरल लार्ड वेलेजली (*Lord Wellesley*)

ने कम्पनी के सचालकों को कपास के किस्म को सुधारने के सम्बन्ध में आदेश दिया। सन् १८३८ में इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए अमेरिका से कुशल कपास उत्पादक विशेषज्ञों को आमन्त्रित किया गया। इसी प्रकार के प्रयत्न नील, तम्बाकू, गन्ना इत्यादि के उत्पादन में विकास करने के लिए किये गये। वर्षा की अनिश्चितता, अकाल के प्रकोपों की ओर भी कम्पनी का ध्यान आकर्षित हुआ। इनके निवारणार्थ आवश्यक प्रकोप तथा अन्य दैवी कार्य भी किये गये।

१९ वीं शताब्दी के अन्त तक सरकार की कृषि नीति का स्वरूप निश्चित सा हो गया। सन् १८७५ में संयुक्त प्रान्त (उत्तर प्रदेश) में एक कृषि सचालक की नियुक्ति की गई और १८८० के अकाल आयोग की सिफारिशों पर इस प्रकार के सचालकों की नियुक्ति अन्य राज्यों ने भी की। एक केन्द्रीय कृषि विभाग की स्थापना की भी सिफारिश की गई। सन् १८८९ में Dr Voelcker को भारतीय कृषि के विकास के सम्बन्ध में भारत सरकार को सलाह देने के लिए बुलाया गया। Dr Voelcker ने भारतीय अर्थ व्यवस्था के बारे में पहली बार क्रमिक विवरण दिया। कालान्तर में अनेक अकाल आयोग तथा सिंचाई आयोग की नियुक्ति हुई। इनने भी कृषि के विकास और अनुसधान की आवश्यकता पर जोर दिया। इन आयोगों की सिफारिशों के अनुसार उचित कदम उठाये गये।

भारतीय कृषि पर शाही आयोग १९२६

सन् १९२६ में Lord Linlithgow की अध्यक्षता में शाही आयोग की स्थापना की गई। इस आयोग ने सर्वप्रथम भारतीय कृषि के सम्बन्ध में विस्तृत जाँच की और कृषि के सर्वाङ्गीण विकास के लिए अनेक महत्वपूर्ण सुझाव दिये। इसकी सिफारिशों के अनुसार किसानों को अपना संकुचित दृष्टिकोण बदलकर अधिक उदार तथा विशाल बनाना पड़ा। सरकार ने भी अपना दृष्टिकोण बदला। सन् १९२७ में सरकार ने शाही कृषि अनुसधान परिषद (Imperial Council of Agricultural Research) की स्थापना की।

भारत एक आयातकर्ता के रूप में—१९ वीं शताब्दी के अन्त तक तथा २० वीं शताब्दी के प्रारम्भ तक भारत एक निर्यातकर्ता देश रहा। हमारे निर्यातों में खाद्यान्नों तथा कच्चे माल की प्रचुरता होती थी। २० वीं शताब्दी के तीसरे व चौथे दशक (decade) में भारत अत्यधिक जनसंख्या बढ़ जाने के कारण एक खाद्यान्न आयातकर्ता देश हो गया। सन् १९३७ में बर्मा के भारत से अलग हो जाने के कारण खाद्यान्न की देश में और भी कमी हो गई। बर्मा से लगभग २० लाख टन चावल प्रति वर्ष प्राप्त होता था।

खाद्य उत्पादन परिषद १९४२—द्वितीय महायुद्ध के प्रारम्भ हो जाने से

भारतीय सरकार के ऊपर खाद्यान्न की पूर्ति का दोहरा दायित्व आ गया। एक ओर तो देश के नागरिकों की और दूसरी ओर युद्ध में लगे हुए व्यक्तियों की आवश्यकताओं की पूर्ति करनी थी। खाद्यान्न की पूर्ति के अभाव ने भारतीय सरकार को फरवरी सन् १६४२ में प्रथम खाद्य उत्पादन परिषद् को बुलाने के लिए विवश किया। इस परिषद् की सिफारिशों के आधार पर ही 'अधिक अन्न उपजाओ आन्दोलन (Grow More Food Campaign) १६४३ ४७ में निर्माण हुआ। सन् १६४७ में केन्द्रीय सरकार ने कृषि विकास तथा खोज की योजनाओं को चलाने के लिए राज्य सरकारों को आर्थिक अनुदान (Financial Grants) देना प्रारम्भ कर दिया।

खाद्यान्न नीति समिति १६४४—खाद्यान्न नीति समिति जो कि Gregory Committee के नाम से प्रसिद्ध है, ने अपनी रिपोर्ट में तत्काल खाद्य उत्पादन बढ़ाने के लिए अधिक अन्न उपजाओ योजना की सिफारिशों के परिचालन पर जोर दिया। समिति ने तरकारियों तथा फलों के उत्पादन को बढ़ाने की भी सिफारिश की। खेती में सुधार करने के तथा उत्पादन बढ़ाने के लिए अनेक तान्त्रिक सुझाव दिये। केन्द्रीय तथा राज्य सरकारों की कृषि सम्बन्धी योजनाओं में समन्वय स्थापित करने का सुझाव दिया जिससे खाद्यान्नों पर नियन्त्रण आसानी से रखा जा सके।

खरेगाट रिपोर्ट (The Kharegat Report 1944)—Imperial Council of Agricultural Research की एक विशेष समिति जिसके अध्यक्ष Sir Pheroze Kharegat थे, ने भारतीय कृषि विकास के सम्बन्ध में १६४४ में एक रिपोर्ट प्रेषित की। इस समिति ने कृषि नीति के अतिरिक्त भूमि संरक्षण, ऊसर भूमि को उपजाऊ बनाने तथा जल शक्ति के प्रयोग में भी महत्वपूर्ण सुझाव दिये। सिंचाई तथा बहुउद्देशीय बाँधों के निर्माण पर अत्यधिक जोर दिया।

बंगाल अकाल जाँच आयोग १६४५—बंगाल अकाल जाँच आयोग १६४५ ने अपनी रिपोर्ट में सरकार को अनेक महत्वपूर्ण सुझाव दिये। सिफारिशों पर पूर्णतया विचार करने के पश्चात् सरकार ने जनवरी १६४६ में अपनी खाद्य एवं कृषि नीति को घोषित किया। नीति के अनुसार सरकार का उद्देश्य केवल अकाल के प्रकोपों को दूर करना ही न होगा बल्कि वह किसान की समृद्धता को बढ़ा कर उपभोग के स्तर को ऊँचा करेगी तथा एक स्वस्थ एवं कुशल श्रम शक्ति का निर्माण करेगी।

पुरुषोत्तमदास ठाकुरदास समिति रिपोर्ट १६४७ व ४८

सितम्बर १६४७ में सर पुरुषोत्तमदास ठाकुरदास की अध्यक्षता में खाद्यान्न नीति समिति नियुक्त की गई थी। इस समिति ने अपनी अन्तरिम रिपोर्ट नवम्बर १६४७ में तथा अंतिम (Final) रिपोर्ट मई १६४८ में घोषित की। इस समिति का उद्देश्य देश के विभाजन द्वारा उत्पन्न कृषि एवं खाद्य संकट का अध्ययन करना था। अंतरिम

रिपोर्ट का सम्बन्ध मुख्यतया नियंत्रण तथा अनियंत्रण (decontrol) के प्रश्न से था। अंतिम रिपोर्ट में कृषि नीति के सम्बन्ध में सुझाव थे। अंतिम रिपोर्ट में 'अधिक अन्न उपजाओ योजना' (१९४३-४७) की अक्रियशीलता की आलोचना की गई थी। समिति ने इस अक्रियशीलता के दो कारण—उद्देश्यों की विभिन्नता तथा अपर्याप्त प्रयत्न बताये हैं। इसलिए खाद्यान्न में आत्मनिर्भरता प्राप्त करने के लिए एक कृषि विकास की क्रमिक पंचवर्षीय योजना बनाने का सुझाव दिया, जिससे तीन वर्षों में (१९५१ तक) प्रति वर्ष अतिरिक्त १० मिलियन टन अन्न उत्पन्न हो सके।

लार्ड बॉयड ओर के सुझाव (Lord Boyd Orr's Recommendations)—१९४८-४९ में कृषि उत्पादन की गिरती हुई स्थिति का अध्ययन करने के लिए F. A. O. के खाद्य और कृषि विभाग के पंडित Lord Boyd Orr को आमंत्रित किया गया। इन्होंने अन्न उत्पादन के कार्यक्रम में आकस्मिक भावना को जारी करने, केन्द्रीय तथा राज्य सरकारों के कार्यक्रमों के परिचालन में समन्वय स्थापित करने तथा प्रत्येक किसान में देश को खाद्यान्न में आत्मनिर्भर बनाने की भावना जाग्रत करने की आवश्यकता पर बल दिया।

खाद्य एवं कृषि नीति १९४९ (Food and Agriculture Policy 1949)—उपरोक्त सिफारिशें केन्द्रीय सरकार के आदेश के साथ राज्य सरकारों के विचार के लिए भेज दी गई जिससे वे अपनी अपनी पंचवर्षीय योजनाएँ तथा केन्द्रीय तथा राज्य के खाद्य उत्पादन सम्बन्धी एकीकृत (integrated) कार्यक्रमों के लिए तैयार हो जायें। इन राज्य सरकारों द्वारा दी गई योजनाओं तथा कार्यक्रमों की जाँच करने के पश्चात् केन्द्रीय सरकार ने जून १९४९ में अपनी खाद्य तथा कृषि नीति को घोषित किया। इस नीति की प्रमुख विशेषताएँ निम्नलिखित थीं—(१) खाद्य समस्या को युद्ध के स्तर पर अपनाना चाहिए और कार्यक्रम में चतुर्दिक (all round) आकस्मिकता की भावना होनी चाहिए। (२) केन्द्रीय तथा राज्य सरकारों की क्रियाओं का निकट तथा निरन्तर समन्वय होना चाहिए। इस उद्देश्य के लिए केन्द्रीय स्तर पर एक खाद्य आयुक्त (Food Commissioner) नियुक्त होना चाहिए और राज्य सरकारों को भी अपने अपने राज्यों में खाद्य तथा विकास आयुक्त नियुक्त करने चाहिए। (३) किसान को उसका उत्तरदायित्व बताना होगा और उस उत्तरदायित्व को निभाने के लिए सहायता करनी होगी।

'अधिक अन्न उपजाओ' योजना के कार्यक्रम

योजना के कार्यक्रमों को निम्न वर्गों में बाँटा जा सकता है —

(१) छोटे सिंचाई के कार्य,

(२) भूमि सुधार के कार्य,

(३) बीज खाद व उर्वरकों की पूर्ति की योजनाएँ, और

(४) विविध योजनाएँ।

(१) छोटे सिंचाई के कार्य (Minor Irrigation Works)—इसके अन्तर्गत कुँओं की मरम्मत कराना, नये कुएँ खुदवाना, तालाब बनवाना, पुराने तालाबों की सफाई व मरम्मत करवाना तथा ट्यूब वेल लगवाना आदि है।

(२) भूमि सुधार के कार्य (Land Reclamation Work)—इसके अन्तर्गत ऊसर भूमि को खेती योग्य बनाना, भूमि क्षरण के लिए मेड़ बनवाना तथा यान्त्रिक खेती करवाना आदि हैं।

(३) बीज खाद व उर्वरकों की पूर्ति की योजनाएँ—इसके अन्तर्गत उन्नत बीजों, खाद, उर्वरक आदि को लोकप्रिय बनाने के लिए आर्थिक सहायता (subsidies) देते हैं। इसके अतिरिक्त अल्प कालीन ऋण दिये जाते हैं।

(४) विविध योजनाएँ (Miscellaneous Schemes)—इसके अन्तर्गत सरकार सहायक खाद्य पदार्थों जैसे चुकन्दर, केला, आलू तथा अन्य सब्जियों की उत्पत्ति को बढ़ाने के लिए प्रोत्साहन देती है। फसलों को बीमारियों से बचाने, जंगली जानवरों से बचत करने आदि की योजनाएँ सम्मिलित हैं। ऐसी योजनाएँ भी अपनाई गई हैं जिससे किसानों को अपने खेतों पर उपज बढ़ाने के लिए प्रोत्साहन मिले।

'अधिक अन्न उपजाओ' का संशोधित पंचवर्षीय कार्यक्रम—इस प्रकार से 'अधिक अन्न उपजाओ' का संशोधित नया पंचवर्षीय कार्यक्रम लागू हुआ। अगस्त १९४९ में भारतीय सरकार के खाद्य आयुक्त ने कार्यक्रम की व्याख्या विस्तार में की। आयुक्त ने नवीन अधिक अन्न उपजाओ योजना को सरकार द्वारा निश्चित युद्ध-स्तर पर चलाने पर जोर दिया और इस उद्देश्य को प्राप्त करने के लिए आवश्यक कार्यक्रम व योजनाएँ बनाईं। प्रत्येक राज्य (State) में खाद्य आयुक्त (Food Commissioner) के साथ कैबिनेट की एक समिति होगी और इस समिति का मन्त्री खाद्य आयुक्त होगा। इस समिति का उत्तरदायित्व नवीन अधिक अन्न उपजाओ कार्यक्रम को चलाने का होगा। प्रत्येक जिले में एक जिला अधिकारी (District Officer) होगा जिसका कर्तव्य विभिन्न विभागों की क्रियाओं का समन्वय करना होगा। गैर सरकारी संगठन भी होगा जो कि किसानों से व्यक्तिगत रूप में सम्पर्क स्थापित करेंगे और उनके उत्तरदायित्व को निभाने की सलाह देंगे।

कृषि नीति की घोषणा में राज्यों (States) को 'अधिक अन्न उपजाओ' कार्यक्रम के अन्तर्गत उदार अनुदान (grants-in-aid) देने की शर्तें भी बताई गईं। बेकार अथवा ऊसर भूमि को पुनः खेती योग्य बनाने के लिए ऋण देने की व्यवस्था भी की गई। केन्द्रीय सरकार ने स्वयं अपना 'केन्द्रीय ट्रैक्टर संगठन'

(Central Tractor Organisation) स्थापित कर लिया है और इसके परिणाम भी बहुत संतोषजनक रहे हैं।

'नवीन अधिक अन्न उपजाओ' कार्यक्रम लोचपूर्ण था और इसमें आवश्यकतानुसार समय समय पर उद्देश्यों तथा विधियों में संशोधन कर दिया जाता था। १९५० में रुपये के अवमूल्यन (devaluation) तथा अन्य समस्याओं के कारण जूट तथा कपास का संकट उत्पन्न हो गया। पाकिस्तान से आयात लगभग बन्द हो गये। अतः जून १९५० में खाद्य उत्पादन के साथ साथ जूट तथा कपास के उत्पादन को बढ़ाने की भी घोषणा की गई। कालान्तर में नवीन अधिक अन्न उपजाओ' कार्यक्रम के अन्तर्गत समुद्री तथा आन्तरिक मत्स्य उद्योग (fishery) तथा सहायक खाद्य पदार्थों का उत्पादन बढ़ाने की योजनाएँ भी सम्मिलित कर ली गई। खाद्य पदार्थों के स्थानान्तरण (transportation) को सुगम बनाने के लिए एक विशिष्ट 'पूर्ति तथा गति संगठन' (Supply and Movements Organisation) (जैसा कि लार्ड बायड ओर ने सुझाव दिया था) स्थापित किया गया। लार्ड बायड ओर ने एक यह भी सिफारिश की थी कि व्यक्तिगत रूप से किसान को खाद्य उत्पादन बढ़ाने के उत्तरदायित्व को समझाना चाहिए। तदनुसार इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए फसल उत्पादन प्रतियोगिता तथा पुरस्कार को आयोजित किया गया है। इस योजना ने आगे बढ़कर 'राष्ट्रीय विस्तार सेवा' (N E S) तथा अन्य सहायक योजनाओं का रूप धारण कर लिया।

'अधिक अन्न उपजाओ' कार्यक्रम के परिणाम तथा विवेचना

१९५०-५१ के अन्त में केन्द्रीय खाद्य एवं कृषि मन्त्रालय ने 'अधिक अन्न उपजाओ' योजना के परिणामों की विवेचना (review) करवाई। Indian Council of Agricultural Research ने भी इस सम्बन्ध में जाँच की। केन्द्रीय सरकार ने उक्त समस्याओं द्वारा की गई विवेचना के अनुसार 'अधिक अन्न उपजाओ' नीति में निम्न संशोधन किये —

(१) सुनिश्चित वर्षा तथा सिंचाई वाले क्षेत्रों में बीज तथा खाद की योजनाओं का केन्द्रीयकरण।

(२) सिंचाई की छोटी योजनाओं तथा भूमि सुधारों के लिए समिष्ट (compact) क्षेत्रों का चुनाव।

(३) केन्द्रीय सरकार द्वारा चालित तथा अर्थप्रबन्धित (financed) नल कूपों (tub wells) के निर्माण का विशेष कार्यक्रम।

(४) स्थायी परिणाम देने वाली योजनाओं पर जोर देना।

(५) राज्य अनुदान (subsidies) की अपेक्षा ऋणों के द्वारा भूमि सुधार योजनाओं को बढ़ावा देना।

(६) 'अधिक अन्न उपजाओ' कार्यक्रम के अन्तर्गत पशु तथा मछली उद्योग की योजनाओं को सम्मिलित करना।

पंचवर्षीय योजनाओं के अन्तर्गत कृषि नीति

प्रथम पंचवर्षीय योजना ने सरकार देश की खाद्य तथा कृषि नीति में, जो कि अब १६४८ में अपनाई जा रही थी, और विस्तार कर दिया। नीति का उद्देश्य सम्पूर्ण देश के लिए पर्याप्त खाद्यान्न उत्पन्न करना था जो कि न केवल मात्रा में ही अधिक हो, बल्कि गुण (quality) में भी। योजना के प्रारम्भ होने के पूर्व देश में खाद्य व अखाद्य फसलों का उत्पादन आवश्यकता से कम होता था। प्रथम योजना का मुख्य उद्देश्य देश के आय और उपभोग के स्तर को द्वितीय महायुद्ध के समय प्रचलित स्तर पर लाना था। खाद्यान्न की समस्या के अतिरिक्त देश में युद्ध तथा विभाजन के कारण आधारभूत कृषि कच्चे माल की समस्या भी थी। अतः नीति के विस्तृत ढाँचे के अन्तर्गत योजना को देश के खाद्यान्नों के तथा कुछ मुख्य अखाद्य फसलों जैसे कपास, जूट, गन्ना तथा तिलहन के उत्पादन की ओर भी विशेष ध्यान देना पड़ा।

योजना के प्रारम्भ में देश में तीस लाख टन खाद्य पदार्थों की कमी थी। उस कमी को दूर करने के लिए प्रथम पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत निम्न लक्ष्य निर्धारित किये गये—

वस्तु	उत्पादन में वृद्धि के लक्ष्य	प्रतिशत वृद्धि
खाद्यान्न	७.६ मि० टन	१४
तिलहन	०.४ मि० टन	८
गन्ना	०.७ मि० टन	१२
कपास	१.३ मि० गाँठें	४५
पटसन	२.१ मि० गाँठें	६४

प्रथम योजना में कृषि और सामुदायिक विकास पर ३५७ करोड़ रुपये तथा सिंचाई और शक्ति पर ६६१ करोड़ रुपये व्यय किये जाने थे, जो कुल व्यय के क्रमशः १५.१% और २८.१% थे। ये दोनों मिल कर प्रथम योजना के लगभग आधी व्यय के बराबर हो जाते हैं। इस प्रकार कहा जाता है कि प्रथम योजना एक कृषि प्रधान योजना थी। इस योजना में सिंचाई तथा विद्युत उत्पादन के साथ साथ कृषि के विकास को सबसे अधिक प्राथमिकता दी गई।

योजना की प्रगति—योजना के अन्तर्गत निर्धारित लक्ष्य योजना काल के पूर्व ही प्राप्त हो गये। निम्न तालिका में कृषि उत्पादन में हुई वृद्धि का स्पष्ट विवरण दिया गया है :—

वस्तु	इकाई	१९५१ ५२	५२ ५३	५३ ५४	५४ ५५	५५ ५६
खाद्यान्न	मि० टन	५ १२	५ ८३	६ ८७	६ ५५	६ ५०
तिलहन	मि० टन	० ४९	० ४७	०·५३	० ५६	० ५५
गन्ना (गुड़)	मि० टन	० ६१	०·५०	० ४४	० ५५	० ५८
कपास	मि०गाँठ	०·३१	० ३२	० ३९	० ४३	० ४२
जूट	मि०गाँठें	० ४७	० ४६	० ३१	० २९	० ४०

द्वितीय पंचवर्षीय योजना—अनुमान है कि वर्तमान उपभोग की मात्रा के आधार पर द्वितीय योजना के अन्त में देश को लगभग ७०५ लाख टन खाद्यान्न की आवश्यकता होगी। इसके अतिरिक्त प्रगतिशील औद्योगीकरण के कारण अधिक कृषि सम्बन्धी कच्चे माल की भी आवश्यकता हुई। योजना काल में कृषि उत्पादन के प्रमुख लक्ष्य निम्न प्रकार निर्धारित किये गये—

वस्तु (Commodities)	इकाई (Units)	१९५५ ५६ में अनुमानित उत्पादन	१९६० ६१ में अनुमानित उत्पादन	प्रतिशत वृद्धि
खाद्यान्न	लाख टन	६५०	७५०	१५
तिलहन	,,	५५	७०	२७
गन्ना (गुड़)	,,	५८	७१	२२
कपास	लाख गाँठ	४२	५५	३१
पटसन	,,	४०	५०	२५

उक्त लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए द्वितीय योजना काल में कृषि तथा सामुदायिक विकास पर ५६८ करोड़ रुपये व्यय किये जायँगे, जो कि कुल व्यय के ११ ८% है। इस ५६८ करोड़ रुपये में से ३४१ करोड़ रुपये कृषि कार्यक्रमों पर और शेष २२७ करोड़ रुपये सामुदायिक विकास योजनाओं आदि पर व्यय किये जायेंगे। योजना के प्रकाशित होते ही देश के कुछ अर्थशास्त्रियों ने योजना की आलोचना करते हुए कहा कि देश में कृषि की अपेक्षा उद्योगों पर अधिक जोर दिया गया। उद्योगों पर व्यय की जाने वाली धन राशि ८९० करोड़ रुपये जो कुल व्यय की १८ ५% थी। फलस्वरूप

राष्ट्र परिषद् ने कृषि उत्पादन पर अधिक जोर दिया। जब योजना की उपयुक्तता के सम्बन्ध में वादविवाद अधिक बढ़ने लगा तो नेहरू जी ने स्पष्ट शब्दों में कहा कि "वस्तु स्थिति हमारे सम्मुख है, हमें दो में से एक को चुनना है—कृषि उत्पादन बढ़ाकर योजना को सफल बनाना या योजना को ही छोड़ देना। इसके अलावा कोई तीसरा रास्ता नहीं है।"

फलस्वरूप योजना के कृषि सम्बन्धी लक्ष्यों को पहले से २८ प्रतिशत बढ़ा दिया गया है। इसमें से खाद्यान्न का लक्ष्य पहले से २५% अधिक है और अखाद्य अथवा व्यापारिक (cash) फसलों का लक्ष्य ३४% अधिक है। संशोधित लक्ष्य प्रारम्भिक लक्ष्यों के साथ साथ निम्न तालिका में दर्शाये गये हैं—

वस्तु (Commodities)	इकाई Units	१९५५-५६ का उत्पादन	योजना के प्रारम्भिक लक्ष्य	संशोधित लक्ष्य	वृद्धि का प्रतिशत: योजना के अनुसार	वृद्धि का प्रतिशत: संशोधित
खाद्यान्न	लाख टन	६५.०	७५.०	८०४	१६	२४ ६
तिलहन	,,	५५	७०	७६	२७	३७ ०
गन्ना (गुड़)	,,	५८	७१	७८	२२	३३ ९
कपास	लाख गाँठ	४२	५५	६५	३१	५५ ६
पटसन	,,	४०	५०	५५	४३	५८ १

योजनाओं पर व्यय

प्रथम और द्वितीय योजनाओं के अन्तर्गत क्रमशः २४० करोड़ और ३४१ करोड़ रुपये कृषि सम्बन्धी विभिन्न कार्यक्रमों पर व्यय करने की व्यवस्था की गई थी। इस धन राशि में सामुदायिक विकास योजना तथा राष्ट्रीय प्रसार सेवा के व्यय सम्मिलित नहीं हैं। प्रथम और द्वितीय योजनाओं के अन्तर्गत विभिन्न मदों-पर व्यय की जाने वाली धन राशि तथा उसका प्रतिशत निम्न तालिका से ज्ञात होगा—

विकास के मद	प्रथम योजना: करोड़ रुपये	प्रथम योजना: योग का प्रतिशत	द्वितीय योजना: करोड़ रुपये	द्वितीय योजना: योग का प्रतिशत
कृषि	१९६	८१·७	१७०	४९ ९
पशु पालन	२२	९ २	५६	१६·४
वन और भूमि संरक्षण	१०	४ २	४७	१३ ८
मछली	४	१·६	१२	३·५
गोदाम एव विपणन तथा सहकारिता	७	२ ९	४७	१३ ८
अन्य	१	० ४	९	२ ६
योग	२४०	१०० ०	३४१	१०० ०

द्वितीय योजना में कृषि विकास के उद्देश्य—प्रथम योजना का मुख्य उद्देश्य खाद्यान्न उत्पादन में वृद्धि तथा ग्रामोत्थान करना था। द्वितीय योजना में खाद्यान्न के साथ व्यापारिक (cash) फसलों की वृद्धि तथा सहायक खाद्य वस्तुओं की वृद्धि पर भी जोर दिया गया है। योजना में कृषि विकास सम्बन्धी प्रमुख उद्देश्य निम्न हैं—

(१) कृषि उत्पादन में १८% वृद्धि का लक्ष्य रखा गया है, जब कि प्रथम योजना में १५% था।

(२) कृषि उत्पादन में विभिन्नता।

(३) जैसे जैसे जीवन स्तर में उन्नति होगी और औद्योगिक कलेवर विकसित होगा, वैसे वैसे व्यापारिक फसलों और सहायक खाद्य वस्तुएँ तथा तरकारी, फल, दूध के पदार्थ, मछली, गोश्त और अण्डे के उत्पादन की ओर अधिक ध्यान देना होगा।

(४) अधिक कुशलता से भूमि का उपयोग एवं प्रबन्ध करने के लिए संस्थात्मक व्यवस्था (institutional arrangement) के निर्माण की ओर अधिक ध्यान दिया जायेगा, जिससे भूमि पर निर्भर जनसंख्या के साथ अधिकतम सामाजिक न्याय हो सके।

द्वितीय योजना में कृषि नियोजन की विशेषताएँ—प्रमुख विशेषताएँ निम्न लिखित हैं:—

(१) भूमि के प्रयोग करने की योजना बनाना।

(२) कृषि उत्पादन के दीर्घकालीन व अल्पकालीन लक्ष्यों को निर्धारित करना।

(३) उत्पादन लक्ष्यों में सरकारी सहायता, विकास कार्यक्रम तथा भूमि प्रयोग योजनाओं को एक दूसरे से सम्बद्ध करना।

(४) उपयुक्त मूल्य नीति का निर्धारण करना।

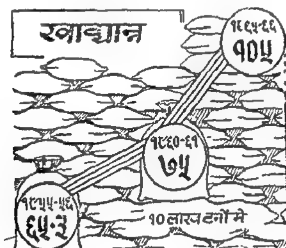
योजना के कार्यान्वन में जो बाधाएँ आई हैं, उनसे योजना का पुनर्मूल्यांकन दो बार किया जा चुका है। सन् १९५८ के खाद्य संकट के पुनर्मूल्यांकन के समय खाद्य उत्पादन के लक्ष्य में संशोधन किया गया है, जिसके अनुसार १०० लाख टन की जगह अब ११५ लाख टन की वृद्धि की जायगी।

योजनाओं की सफलता

योजना के प्रथम दस वर्षों में कृषि के उत्पादन में आशातीत प्रगति रही है जैसा कि हम पिछले पृष्ठों में देख चुके हैं। कृषि उत्पादन का सूचनांक भी वर्ष प्रति वर्ष बढ़ता ही चला गया है। अग्रतालिका में १९५०-५१ से १९६०-६१ तक की कृषि उत्पादन की वृद्धि दिखाई गई है:—

कृषि उपज का सूचनांक (१९४९-५०=१००)

	१९५०-५१	१९५५-५६	१९५८-५९	१९६०-६१
सभी जिन्स	९५·६	११६·९	१३२·०	१३५·०
फसलें	९०·५	११५·३	१३०·०	१३१·०
अन्य फसलें	१०५·९	१२०·१	१३६·०	१४२·०



चित्र १०—प्रथम व द्वितीय योजना में खाद्य उत्पादन

तृतीय पंचवर्षीय योजना में कृषि नीति

५ जुलाई १९६० को योजना आयोग ने तृतीय पचवर्षीय योजना की रूपरेखा प्रकाशित की है, जिसके अनुसार देश के विकास में १०,२०० करोड़ रुपये व्यय किये जायँगे। इनमें से ६२०० करोड़ रुपये सार्वजनिक क्षेत्र में तथा ४०० करोड़ रुपये निजी क्षेत्र में लगेंगे। योजना में कृषि को प्रथम स्थान दिया गया है। खाद्यान्न में आत्म-निर्भरता और उद्योगों तथा निर्यात के लिए कच्चे माल की पैदावार बढ़ाना तृतीय योजना का मुख्य उद्देश्य है। अतः कृषि और सामुदायिक विकास योजनाओं के लिए सार्वजनिक क्षेत्र मे १०२५ करोड़ रुपये तथा सिंचाई की बड़ी और मध्यम योजनाओं के लिए ६५० करोड़ रुपये रखे गये हैं। इसके अतिरिक्त अनुमान है कि जनता अपनी ओर से भी इन कार्यों पर ८०० करोड़ रुपये लगायेगी। खेती की पैदावार में ३० से ३३ प्रतिशत वृद्धि की जायगी अर्थात् खाद्यान्न का उत्पादन ७५ करोड़ टन से बढ़

कर १० करोड़ ५० लाख टन हो जायगा। प्रमुख फसलों के उत्पादन के लक्ष्य इस प्रकार हैं—

घरेलू व्यवहार की वस्तुएँ	वार्षिक उत्पादन	
	१९६०-६१ (अनुमानित)	१९६५-६६ (लक्ष्य)
खाद्यान्न (लाख टनों में)	७५०	१०००-१०५०
तिलहन (,, ,, ,,)	७२	९२-९५
गन्ना (गुड़ के रूप में) (ला० ट० में)	७२	९०-९२
कपास ,, ,, ,,	५४	७२
पटसन (लाख गाँठों में)	५५	६५

खाद्यान्न की पैदावार बढ़ाने का लक्ष्य इस हिसाब से रखा गया है कि प्रति व्यक्ति प्रति दिन औसत १५ औंस अनाज और ३ औंस दाल, खाने को मिल सके और संकट के समय के लिये भी कुछ अनाज बच जाय। कपास की पैदावार का जो लक्ष्य है उससे प्रति वर्ष औसत १७½ गज के हिसाब से कपड़ा मिल सकेगा और निर्यात के लिए भी कुछ बचेगा।

इसके अतिरिक्त फल, शाक, दूध, मछली, मांस, अंडा, नारियल, सुपारी, काजू, कालीमिर्च, तम्बाकू, चमड़ा और लकड़ी आदि की भी पैदावार बढ़ाने की पूरी कोशिश की जायगी।

तृतीय योजना के अन्त तक सिंचाई का क्षेत्रफल ९ करोड़ एकड़ हो जायगा, जब कि दूसरी योजना के अन्त में यह ७ करोड़ एकड़ होगा।

प्रश्न

१. Write a short note on the 'State and Agriculture' (*Agra, 1957*)

२. State the role which the State should play in the agricultural development of India (*Agra, 1955*)

3. Describe the attempts made so far to meet the long-term needs of agriculture To what extent have these been successful in achieving their objective ? (*Punjab, 1958*)

अध्याय १६

सामुदायिक विकास योजनाएँ तथा राष्ट्रीय प्रसार सेवा

(Community Development Projects and National Extension Service)

भारत ग्रामों का एक देश है। कुल जनसंख्या का ८२.७% भाग ५,५८,०८६ ग्रामों में रहता है और शेष १७.३% नगरों में। इसीलिए महात्मा गांधी ने कहा था कि 'भारत ग्रामों में बसा है।' ग्रामों का बहुमुखी विकास देश की सुख समृद्धि के लिए उचित ही नहीं वरन् अनिवार्य है। ग्रामोत्थान की कल्पना से विहीन राष्ट्रीय विकास की किसी भी योजना का चित्र अधूरा ही रहेगा। भारत का ग्राम्य जीवन आर्थिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक सभी दृष्टिकोणों से अत्यन्त पिछड़ा हुआ तथा नैराश्यपूर्ण है। निर्धनता, पूर्ण व आंशिक बेकारी, निरक्षरता, अन्ध विश्वास तथा रूढ़िवादिता आदि भारतीय ग्राम्य जीवन की प्रमुख विशेषताएँ हैं। एक प्रगतिशील मङ्गलकारी राज्य में इन दोषों को दूर कर सुखी तथा सम्पन्न समाज की स्थापना करना अत्यन्त आवश्यक है। आज यह सर्वमान्य है कि भारत की समृद्धि ग्राम्य जीवन की उन्नति में है। स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् राष्ट्रीय सरकार ने ग्रामोत्थान का बीड़ा उठाया और प्रथम पञ्चवर्षीय योजना के अन्तर्गत उक्त उद्देश्य की पूर्ति के लिए सामुदायिक विकास योजनाएँ तथा राष्ट्रीय प्रसार सेवाएँ प्रारम्भ की। निःसंदेह ये योजनाएँ साधारण भारतीय कृषक के सर्वाङ्गीण विकास के लिए सबसे अधिक महत्वपूर्ण प्रयास हैं।

सामुदायिक विकास योजनाओं तथा राष्ट्रीय प्रसार सेवाओं का उद्देश्य है कि "जनता के दृष्टिकोण में परिवर्तन हो और उसे जीवन के उच्चतम स्तर पर पहुँचाने के लिए प्रेरणा मिले तथा भारतीय ग्रामों के सात करोड़ परिवारों में उच्च जीवन स्तर बनाने की इच्छा उत्पन्न हो।"

परिभाषा एवं अर्थ

सामुदायिक योजनाओं को शब्दों की परिधि के अन्तर्गत बाँधना एक दुरूह

कार्य है यद्यपि आमतौर पर इसका अर्थ सभी समझते हैं। विभिन्न देशों में इसका अर्थ विभिन्न प्रकार से लगाया जाता है। कुछ लोग इसे 'भौतिक प्रगति का द्योतक' कहते हैं जब कि अन्य लोग इसका अर्थ 'आंदोलन' तथा 'प्रशासन के पक्ष' (aspect of administration) से लगाते हैं। सामुदायिक विकास शब्द की उत्पत्ति सम्भवतः सामूहिक शिक्षा (mass education) शब्द से हुई है। सामूहिक शिक्षा (mass education) का प्रयोग सर्व प्रथम सन् १९४४ में अफ्रीका में हुआ था, जब कि वहाँ 'Mass Education in African Society' नामक रिपोर्ट सलाहकार शिक्षा समिति द्वारा प्रकाशित की गई थी। सामूहिक शिक्षा का तात्पर्य केवल शिक्षालय के कक्ष के अन्तर्गत दी जाने वाली शिक्षा से नहीं था बल्कि साक्षरता योजनाओं (mass literacy campaigns), सिनेमा, पोस्टरों, प्रदर्शनों, गश्ती पत्रों, समाचार पत्रों तथा रेडियो वार्तालाप के द्वारा दी जाने वाली शिक्षा से था।

महत्वपूर्ण परिभाषाएँ

(१) "सामुदायिक विकास किसी समुदाय के लोगों के सक्रिय सहयोग तथा पहल (initiative) पर आधारित एक मूल आन्दोलन है जिसका उद्देश्य सम्पूर्ण समुदाय के लोगों के रहन सहन को ऊँचा उठाना है।"*

(२) "सामुदायिक विकास शब्द अन्तर्राष्ट्रीय प्रयोग में आ गया है और ऐसी विधियों की ओर संकेत करता है जिसके अनुसार जन समुदाय के प्रयत्न स्वतः राजकीय अधिकारियों के प्रयत्नों से मिश्रित होकर समुदायों की आर्थिक, सामाजिक तथा सांस्कृतिक दशाओं को सुधारते हैं तथा इन समुदायों को राष्ट्रीय जीवन से सम्बन्धित करते हैं, जिससे वे पूर्णतया राष्ट्रीय सहायक हो सकें।"**

योजना आयोग (प्रथम पंचवर्षीय योजना) के अनुसार, "सामुदायिक योजनाएँ ग्रामों के आर्थिक एवं सामाजिक जीवन में काया पलट करने की योजनाएँ हैं और ग्राम विकास सेवा इस उद्देश्य को प्राप्त करने का साधन है।"

---

*"Community development is a movement and designed to promote better living for the whole community with the active participation and on the initiative of the community."

(The Ashridge Conference of Social Development 1954)

**The term community development has come into international usage to denote the processes by which the efforts of the people themselves are united with those of governmental authorities to improve the economic, social and cultural condition of the community to integrate these communities into the life of the nation and to involve them to contribute fully to national progress."

The 20th REPORT TO ECOSOC of the United Nations Administrative Committee on Co ordination, 1956

सामुदायिक विकास योजनाओं का महत्व

सामुदायिक विकास कार्यक्रम एक सजीव आंदोलन है। इस कार्यक्रम के द्वारा राष्ट्रीय धन के असमान वितरण पर शांत रूप से आक्रमण किया जा रहा है और अमीर और गरीब के बीच की खाँई को पाटा जा रहा है। संयुक्त राष्ट्र संघ के टेक्निकल को आपरेशन एडमिनिस्ट्रेशन (T C A) के उपसंचालक श्री लाशबॉ (Lechbough) के शब्दों में 'यह एक महान विकास की समस्या के लिए संगठित तथा नियोजित पहुँच है।' इस कार्यक्रम का उद्देश्य विशाल ग्रामीण समुदाय को वास्तविक स्वतन्त्रता का आभास कराने का संदेश है। हमारे देश की ग्रामीण जनता को नवीन योग्यता तथा नवीन जीवन की राहें प्राप्त होगी और पूर्ण एवं समृद्धशाली जीवन को प्राप्त करने की प्रेरणा मिलेगी। वास्तव में इस कार्यक्रम का उद्देश्य अन्त तक ऐसी व्यवस्था को बनाना है जिससे संविधान में निहित लक्ष्य 'कल्याणकारी राज्य' को प्राप्त करना है। इसका उद्देश्य ग्रामीण क्षेत्रों में ऐसी क्रान्ति को प्रारम्भ करना है जिससे लोगों के दृष्टिकोण तथा विधियों में शान्तमय परिवर्तन हो जाय। श्री नेहरू ने ठीक ही कहा है कि "सामुदायिक विकास कार्यक्रम एक ऐसी क्रान्ति को लावेगा जिसके अन्तर्गत कोई उथल पुथल, कोई रक्तपात अथवा अराजकता न होगी। यह क्रान्ति सहकारिता के द्वारा होगी।*

सामुदायिक विकास मन्त्री श्री एस० के० डे ने इनका महत्व बताते हुए कहा था कि "सामुदायिक योजना एक ऐसा उद्यान है जिसका परिपालन एक चतुर माली अत्यन्त सावधानी से करता है। यह योजना एक ऐसे जंगल के समान नहीं है जिसमें मुक्त व्यापार की तरह वृक्ष तथा वनस्पतियाँ भी हों।" प्रधान मन्त्री पंडित नेहरू ने इसके महत्ता की व्याख्या करते हुए कहा है कि "समस्त भारत में मानव क्रियाओं के ये केन्द्र ऐसे प्रकाश स्तम्भ हैं जो गहन अन्धकार में प्रकाश फैला रहे है। यह प्रकाश उस समय तक फैलता रहेगा, जब तक समस्त भारत भूमि आलोकित न हो उठे।" राष्ट्रपति डाक्टर राजेन्द्र प्रसाद ने भी आशा प्रकट करते हुए कहा है कि "ये योजनाएँ ऐसे छोटे बीज की तरह हैं जो एक दिन विशाल वृक्ष में परिणित हो जायगा।"

ऐतिहासिक विकास

सामुदायिक विकास कार्यक्रमों का प्रारम्भ सन् १९४४ से होता है जब कि मध्य प्रदेश में सेवाश्रम नामक स्थान पर, बम्बई में सर्वोदय केन्द्रों तथा मद्रास में फिरका

*Community development programme would usher in a revolution that would not see any upheaval any bloodshed or chaos It would be a revolution through co operation —*Sri Nehru*

विकास योजना (Firca Development Scheme) के अन्तर्गत तथा उत्तर प्रदेश में इटावा, फैजाबाद तथा गोरखपुर के Pilot Projects में गहन ग्रामीण विकास सम्बन्धी प्रयोग (experiments) किये गये। इन प्रयोगों के फल बहुत ही प्रेरणात्मक थे। फलत राष्ट्रीय सरकार ने प्रथम पचवर्षीय योजना के अन्तर्गत सामुदायिक विकास योजना तथा राष्ट्रीय प्रसार सेवाओं को महत्वपूर्ण स्थान दिया।

स्वतन्त्रता के पश्चात्

सामुदायिक विकास कार्यक्रम जिसका उद्देश्य भारत की विशाल ग्रामीण जन सख्या का व्यक्तिगत तथा सामूहिक कल्याण करना है, महात्मा गाधी के जन्म दिवस २ अक्तूबर, सन् १६५२ को चुने हुए ५५ योजना कार्य क्षेत्रों में आरम्भ किया गया था। प्रत्येक योजना कार्य म ५०० वर्ग मील के क्षेत्रफल म फैले हुए लगभग २ लाख की जनसख्या के लगभग ३०० गाँव आते हैं। यह कार्यक्रम 'अपनी सहायता स्वय करने' का कार्यक्रम है जिसका आयोजन तथा क्रियान्वन स्वय ग्रामीणों को ही करना है। सरकार की ओर से केवल प्राविधिक मार्गदर्शन तथा वित्तीय सहायता मिलेगी। पचायतों, सहकारी समितियों, और विकास मण्डलों जैसे लोक सगठनों द्वारा सामूहिक चिंतन तथा सामूहिक कार्य को प्रोत्साहन दिया जाता है।

इस कार्यक्रम म कृषि को सर्वाधिक प्राथमिकता दी गई है। इसकी गतिविधियों में उत्तम सचार साधनों की व्यवस्था करना, स्वास्थ्य तथा सफाई की सुविधाओं म सुधार करना, उत्तम आवास की व्यवस्था करना, शिक्षा का प्रसार करना, नारी तथा बाल कल्याण कार्य करना और कुटीर तथा छोटे पैमाने के उद्योगों का विकास करना सम्मिलित है।

यह कार्यक्रम खडों के रूप म कार्यान्वित किया जाता है। प्रत्येक खड में सामान्यत १५० वर्गमील म फैले तथा ६० ७० हजार की जनसख्या से युक्त १०० गाँव आते है। कुछ ही समय पूर्व तक यह कार्यक्रम तीन अलग अलग चरणों में किया जाता रहा।

अप्रैल, १६५८ म इस पद्धति के स्थान पर दो चरणों म कार्य करना आरम्भ किया गया। पाच वर्ष भरपूर विकास किये जाने के बाद प्रत्येक खण्ड के दूसरे चरण का कार्यकाल आरम्भ होता है। दूसरे चरण का विकास कार्य अगले पाच वर्षों तक कुछ कम व्यय के साथ किया जाता है।

३१ दिसम्बर, १६५८ तक इस कार्यक्रम के अन्तर्गत लगभग १६ ५० करोड़ की जनसख्या के ३,०२,६४७ गाँवों से युक्त २,४०५ खण्ड आ चुके थे। सामुदायिक विकास कार्यक्रम को कार्यान्वित करने की इस परिवर्तित पद्धति का प्रयोग किये जाने के फलस्वरूप अक्तूबर, १६६३ तक सम्पूर्ण देश इस कार्यक्रम के अन्तर्गत आ जायगा।

सामुदायिक विकास योजनाओं के शुभारम्भ के ठीक एक वर्ष पश्चात् २ अक्टूबर १६५३ को 'राष्ट्रीय प्रसार सेवा' (National Extension Service) का सचालन हुआ। राष्ट्रीय प्रसार सेवा के भी उद्देश्य सामुदायिक योजनाओं की भांति ही है, अन्तर केवल कार्यक्रमों के पैमाने का है।

सामुदायिक विकास योजनाओं तथा राष्ट्रीय प्रसार सेवाओं में अन्तर— चूँकि दोनों योजनाएँ एक दूसरे की पूरक एवसम्बन्धित तथा सहगामी हैं अत ये केन्द्रीय तथा राजकीय दोनों ही स्तरों पर एक ही संस्था के अन्तर्गत हैं। योजना आयोग के डिप्टी चेयरमैन श्री वी० टी० कृष्णामाचारी ने दोनों योजनाओं का सम्बन्ध इस प्रकार व्यक्त किया है —

"राष्ट्रीय प्रसार सेवा एक स्थायी संगठन है और सम्पूर्ण देश को आच्छादित कर लेगा। इसके अन्तर्गत आधारभूत संगठन सरकारी तथा गैर सरकारी तथा विकासार्थ न्यूनतम अर्थ व्यवस्था का प्रावधान है। अधिक धन की पूर्ति केन्द्रीय सरकार तथा राज्य सरकारों के निजी साधनों के द्वारा की जायगी। राष्ट्रीय प्रसार सेवा एक जिनमें सन्तोषजनक परिणाम रहे हैं और जिनमें अधिकतम जन सहयोग प्राप्त हुआ है, गहन विकास के लिए तीन वर्ष की अवधि के लिए चुने जाते हैं। इनको सामुदायिक योजनाएँ (Community Projects) कहते हैं। इन योजनाओं में विकास कार्यक्रम अधिक व्यापक होता है।"

योजना आयोग के शब्दों में "सामुदायिक विकास एक प्रणाली है और राष्ट्रीय विस्तार सेवा एक प्रविधि (process) है, जिसके ग्रामीण निर्माण के लिए सफल और सर्वाङ्गीण प्रयत्न किया जा रहा है। यह 'सेवा योजना' सामान्य निर्माण की सभी चालू योजनाओं की अपेक्षा अधिक व्यापक और बहुमुखी है। निम्न स्तर के देहातों के उत्थान के लिए यह एक महत्त्वपूर्ण बुनियादी योजना है।

अब राष्ट्रीय प्रसार सेवा तथा सामुदायिक विकास योजनाओं की क्रियाओं की इकाई एक समान (uniform) है, जिसको 'विकास खण्ड' (Development Block) कहते हैं। इस खण्ड के अन्तर्गत औसतन १०० ग्राम आते हैं, जिनका क्षेत्रफल १२५ से १७० वर्ग मील तथा ६०,००० से ७०,००० तक की जनसंख्या आती है। परन्तु राष्ट्रीय प्रसार खण्ड उतनी गहनता से विकसित नहीं किये जाते जितना कि सामुदायिक विकास योजना के क्षेत्रों का किया जाता है। समय समय पर राष्ट्रीय विकास सेवा खण्डों का पर्यवेक्षण किया जाता है और इनमें से सबसे अधिक विकसित खण्डों को चुन लिया जाता है। इन चुने हुए खण्डों को ही सामुदायिक विकास खण्ड (C D Blocks) कहते हैं।

कार्यान्वन का समय (Timing of Operations)

एक सामुदायिक विकास योजना के पूरे होने के समय की अवधि ३ व है। इस अवधि को ५ अवस्थाओं (stages) में विभाजित किया गया है :—

(१) विचार निर्माण (Conception)—इस अवस्था की अवधि तीन माह होती है। इस अवधि के अन्तर्गत प्रत्येक विकास योजना (D P) की स्थानीय परिस्थितियों का अध्ययन करने के पश्चात् उसकी प्रारम्भिक विकास रूपरेखा बनाई जाती है।

(२) कार्यारम्भ (Initiation)—इस अवस्था की अवधि ६ माह होती है। इस अवधि के अन्तर्गत प्रत्येक विकास योजना (D P) म कार्य प्रारम्भ हो जाता है।

(३) कार्यान्वन (Operation)—इस अवस्था के लिए ८ माह का समय होता है। इस अवधि म खूब जोर शोर से कार्य किया जाता है।

(४) सघनन (Consolidation)—इस अवस्था की अवधि ६ माह होती है। इस अवधि क अन्तर्गत कर्मचारियों तथा अधिकारियों द्वारा किए गए कार्यों को सगठित किया जाता है तथा इस क्षेत्र क प्रशासन को स्वावलम्बी बनाया जाता है।

(५) परिसमापन (Finalisation)—इस अवस्था की अवधि ३ माह है। जब क्षेत्र के प्रशासन में स्वावलम्बन आ जाता है तब केन्द्रीय और राज्य सरकार के निर्देशन तथा अधिकारी क्षेत्र के प्रशासन को स्थानीय अधिकारियों को सौंप कर दूसरे क्षेत्र में चले जाते हैं।

सामुदायिक विकास योजना के ३ वर्षीय कार्यक्रम को तीन दशा (phases) म विभाजित किया गया है—

(१) विस्तृत विकास अवस्था (Extensive development stage),

(२) गहन विकास अवस्था (Intensive development stage), तथा

(३) गहन उत्तर विकास अवस्था (Post intensive development stage)

श्री बलवन्त मेहता समिति ने अपनी रिपोर्ट, जो कि नवम्बर १९५७ को प्रकाशित हुई, म उपरोक्त विभाजन का जोरदार शब्दों म विरोध किया है। समिति ने विकास योजना को छ छ वर्ष की दो अवस्थाओं (stages) म विभाजित करने की सिफारिश की है। समिति ने यह भी इंगित किया कि विकास योजनाओं को द्वितीय पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत सम्पूर्ण देश म प्रसारित करना अविवेकपूर्ण है।

इन सिफारिशों को केन्द्रीय समिति तथा राष्ट्रीय विकास परिषद (N D C) द्वारा क्रमश अप्रैल और मई १९५८ म कुछ संशोधन करके स्वीकार कर लिया गया है। नवीन योजना, जो कि १ अप्रैल, १९५८ म लागू हो गई है, के अनुसार राष्ट्रीय

प्रसार सेवा (N. E. S) खंडों और सामुदायिक विकास योजना (C. D. P.) खंडों में कोई अन्तर नहीं है और न अब गहन-उत्तर विकास अवस्था (post-intensive development stage) ही है। कार्यक्रम को पाँच-पाँच वर्ष की दो अवस्थाओं में क्रियान्वित किया जायगा और उन पर क्रमशः १२ लाख रुपये और ५ लाख रुपये व्यय किए जाएँगे। पूर्ण विस्तार (coverage) अक्टूबर १९६३ तक हो जावेगा।

विकास कार्यक्रम की प्रमुख विशेषताएँ
(Main Features of the Programme)

विशेषताएँ

(१) ग्रामों का सर्वांगीण विकास;

(२) कृषि की उन्नति;

(३) जन सहयोग, श्रमदान, द्रव्यदान और स्वयं सेवा; तथा

(४) ग्राम सेवक।

कार्यक्रम

कार्यक्रम के अन्तर्गत निम्न क्रियाएँ आती हैं :—

(१) कृषि तथा कृषि सम्बन्धी क्षेत्र में

(अ) उपलब्ध ऊसर एवं बेकार भूमि को उपजाऊ बनाना;

(ब) सिंचाई के लिए नहरों, नलकूपों, कुँओं, तालाबों तथा झील आदि के द्वारा पानी की व्यवस्था करना;

(स) उन्नतिशील, कृषि सम्बन्धी प्रविधियों, बीजों, औजारों, विपणन तथा साख सम्बन्धी सुविधाओं, भूमि अनुसंधान, खाद, तथा पशु चिकित्सा एवं गर्भाधान केन्द्रों आदि की व्यवस्था करना,

(द) आन्तरिक मछली उद्योग, फल तथा तरकारी की खेती तथा वृक्षारोपण आदि का विकास करना; तथा

(य) प्रमुख ग्रामीण योजनाओं को चलाना।

(२) सहकारी समितियाँ

नवीन सहकारी समितियों को स्थापित करना तथा वर्तमान समितियों को सुदृढ़ बनाना, जिससे क्षेत्र का प्रत्येक सदस्य इसके अन्तर्गत आ जाए।

(३) रोजगार

(अ) सहकारिता के आधार पर नियोजित वितरण, व्यापार, सहायक तथा मंगलकारी सेवाओं के द्वारा रोजगार को बढ़ावा देना;

(ब) कुटीर, माध्यम तथा छोटे पैमाने के उद्योगों को प्रोत्साहन देना।

(४) संवादवाहन एवं यातायात

(अ) कच्ची तथा पक्की सड़कों की व्यवस्था करना;

(ब) मोटर यातायात को बढ़ावा देना;

(स) पशु यातायात का विकास करना।

(५) शिक्षा

(अ) प्रारम्भिक, माध्यमिक एवं सामाजिक शिक्षा की अनिवार्य तथा निःशुल्क व्यवस्था करना,

(ब) पुस्तकालयों की व्यवस्था करना,

(स) व्यवसाय सम्बन्धी तथा प्राविधिक शिक्षा (technical) पर विशेष जोर देना।

(६) स्वास्थ्य

(अ) स्वच्छता तथा सार्वजनिक स्वास्थ्य की व्यवस्था करना;

(ब) बीमारी, प्रसूतिका तथा दाइयों की सेवाओं की व्यवस्था करना।

(७) प्रशिक्षण

(अ) वर्तमान कारीगरों के स्तर को ऊँचा करने के लिए रिफ्रेशर्स कोर्स (Refrecher ' Courses) की व्यवस्था करना, तथा

(ब) विकास योजनाओं (D P) के लिए आवश्यक प्रशिक्षित व्यक्तियों को तैयार करना।

(८) आवास व्यवस्था

ग्रामीण तथा शहरी क्षेत्रों में भवन निर्माण के लिए उन्नति प्रविधियों (techniques) तथा डिजाइनों की व्यवस्था करना।

(९) सामाजिक कल्याण

(अ) व्यक्तियों की योग्यता तथा संस्कृति (culture) का प्रयोग करके तथा दृश्य एवं श्रवणीय प्रणाली (Audio-Visual aids) की सहायता से सामुदायिक मनोरंजन की व्यवस्था करना, तथा

(ब) स्थानीय खेलों, मेलों, तमाशों तथा प्रदर्शनियों का सहकारिता के आधार पर संगठन करना।

उद्देश्य

योजना आयोग के डिप्टी चेयरमैन श्री० वी० टी० कृष्णमाचारी ने सामुदायिक विकास योजनाओं तथा राष्ट्रीय प्रसार सेवाओं के निम्न चार उद्देश्य बतलाये हैं—

(१) ग्रामीण जनता को अर्ध बेकारी से पिण्ड छुड़ाकर पूर्ण रोजगार दिलाना।

(२) वैज्ञानिक योग्यता का प्रयोग करके ग्रामीण जनता को कृषि के निम्न उत्पादन से बचाकर पूर्ण उत्पादन की ओर ले जाना।

(३) ग्रामीण परिवारों को साख योग्य (creditworthy) बनाने के सहकारिता के सिद्धान्तों को अधिकतम प्रसारित करना।

(४) सार्वजनिक हितकारी केन्द्रों जैसे ग्रामीण सड़कों, तालाबों, कुँओं, स्कूलों, मनोरंजन केन्द्रों आदि के लिए सामूहिक प्रयत्नों को बढ़ावा देना।

संक्षेप में इन योजनाओं का उद्देश्य हमारे ग्रामीण भाइयों को तीन प्रकार के अधिकार देना है —

(अ) जीवित रहने का अधिकार

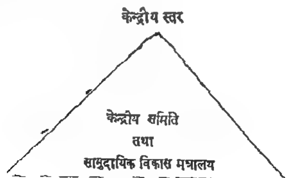
(ब) जीविका कमाने का अधिकार तथा

(स) अर्जित धन को पाने का अधिकार।

स्मरण रहे कि सामुदायिक विकास योजनाओं तथा राष्ट्रीय प्रसार सेवाओं का उद्देश्य केवल यही नहीं है कि हमारे ग्रामीण भाइयों को अधिक भोजन, वस्त्र, आवास, स्वास्थ्य तथा स्वच्छता सम्बन्धी अधिक सुविधाएँ प्राप्त हों। इससे भी अधिक महत्वपूर्ण बात यह है कि उनकी विचारधारा में परिवर्तन हो, उनमें श्रेष्ठतर जीवन बिताने की भावना का विकास हो तथा उनकी क्षमता को इस प्रकार विकसित किया जाय जिससे वे चीजों को स्वयं अपने हित में अपना सकें। उक्त योजनाओं को लोक योजना (People's programme) कहते हैं। यह योजना जनता की, जनता के द्वारा तथा जनता के लिए है। हाँ! इसमें सरकार भाग अवश्य लेती है परन्तु यह केवल पहल तथा प्रेरणा प्रदान करने के उद्देश्य से।

योजनाओं का प्रशासन

सामुदायिक विकास योजनाओं का प्रशासन केन्द्रीय स्तर से लेकर ग्राम स्तर तक विभिन्न संस्थाओं एवं समितियों के द्वारा होता है। इसका सजीव चित्रण निम्न चार्ट में दर्शाया गया है —



राज्य स्तर



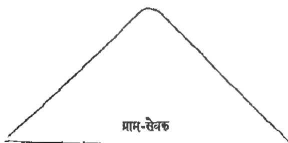
जिला स्तर



खण्ड स्तर



ग्राम स्तर



केन्द्रीय स्तर पर—शीर्ष पर योजनाओं के प्रशासन के लिए एक केन्द्रीय समिति होती है जिसके सदस्य योजना आयोग के सदस्य खाद्य एवं कृषि मंत्रालय तथा सामुदायिक विकास मंत्रालय के मंत्रीगण होते हैं। इस समिति का चेयरमैन प्रधान मंत्री होता है। केन्द्रीय समिति का कार्य मुख्य नीतियों को बनाना तथा साधारण निरीक्षण करना होता है। २० सितम्बर १९५६ तक केन्द्रीय समिति के अन्तर्गत 'सामुदायिक योजना प्रशासन' (Community Projects Administration) होता था। २० सितम्बर १९५६ से सामुदायिक योजनाओं के लिए एक पृथक् मंत्रालय (सामुदायिक विकास मंत्रालय) बना दिया गया है। इसके मंत्री श्री० एस० के० डे हैं। पृथक मंत्रालय हो जाने पर भी 'सामुदायिक योजना प्रशासन' बनाये रखा गया है जिससे प्रशासन में कोई भ्रम न पड़े।

राज्य स्तर पर—विकास कार्यक्रम को वास्तव में चलाने का दायित्व राज्य सरकारों पर है। राज्य स्तर पर एक राज्य विकास समिति होती है। इस समिति का चेयरमैन मुख्य मन्त्री व इसके सदस्य विकास विभागों के मंत्रीगण होते हैं। विकास आयुक्त इस समिति का सचिव होता है। यह आयुक्त (commissioner) राज्य के सभी विकास विभागों की क्रियाओं का समन्वय करता है।

जिला स्तर पर—जिले के स्तर पर एक जिला नियोजन अथवा विकास समिति होती है। इसका चेयरमैन कलेक्टर होता है। कुछ राज्यों में जिला नियोजन अधिकारी होते हैं। कलेक्टर या जिला नियोजन अधिकारी ही मुख्य प्रशासक होते हैं। कलेक्टर की सहायता के लिए खंड विकास अधिकारी(Block Development Officers) होते हैं।

खण्ड स्तर पर—खण्ड स्तर पर एक खंड विकास अधिकारी (B D O.) होता है जो अपने खंड के सम्पूर्ण विकास कार्य क्रम को संचालित करता है। इसकी सहायता के लिए कृषि, सहकारिता, पशुपालन, कुटीर उद्योग आदि के विशेषज्ञ होते हैं।

ग्राम स्तर पर—अन्त में ग्राम स्तर पर ग्राम स्तर कार्यकर्त्ता (Village level Worker) अथवा ग्राम सेवक होता है जो कि बहुउद्देशीय मनुष्य की भाँति कार्य करता है। इसके अधिकार में सामुदायिक विकास खंडों के ७ ग्राम तथा राष्ट्रीय प्रसार सेवा खंडों के लगभग १० ग्राम होते हैं। विभिन्न तान्त्रिक विशेषज्ञ उसको निर्देशन तथा सहायता करते हैं। यह व्यक्ति राष्ट्रव्यापी ग्राम विकास के प्रशासन की कड़ी का अन्तिम प्रशासन अधिकारी होता है।

उपरोक्त संगठन के अनुसार यद्यपि सामान्य प्रशासन होता है परन्तु राज्यों में स्थानीय दशाओं तथा आवश्यकताओं के अनुसार इस संगठन में कुशलता तथा स्निग्धता लाने के लिए उपयुक्त परिवर्तन कर दिया जाता है। यही नहीं इस कार्यक्रम के परिपालन में गैर सरकारी सहयोग का भी स्वागत किया जाता है।

योजना की अर्थ व्यवस्था

सामुदायिक विकास कार्यक्रम को चलाने के लिए आवश्यक आर्थिक साधना की पूर्ति करने का उत्तरदायित्व केन्द्रीय तथा राज्य सरकारों पर है। सरकार के अलावा जनता से भी आर्थिक साधन प्राप्त किये जाते हैं। प्रत्येक योजना क्षेत्र के लिए कार्य क्रम यह निश्चित करता है कि वहा के लोगो से एक निश्चित मात्रा में एच्छिक रूप में धन, श्रम और वस्तुओं को मिलना चाहिए। जनता का अंशदान एक राज्य से दूसरे राज्य तथा एक विकास खण्ड से दूसरे विकास खंड में भिन्न भिन्न होता है।

इन विकास योजनाओं के लिए जहा राज्य आर्थिक सहायता प्रदान करता है वहा अनावर्ती (non recurring) खर्चों का ७५% केन्द्रीय सरकार और २५% राज्य सरकार देती है तथा आवर्ती (recurring) खर्चा का ५०% केन्द्रीय सरकार और ५०% राज्य सरकार देती है। ऋण पूर्णतया केन्द्रीय सरकार को देना होता है परन्तु इस ऋण का पुनर्भुगतान पूर्णतया ब्याज सहित होता है।

विदेशी सहायता

इस कार्यक्रम को चलाने के लिए भारतीय सरकार को, संयुक्त राज्य अमेरिका से प्राविधिक सहकारिता समझौते के अन्तर्गत तथा Ford Foundation से आर्थिक सहायता मिलती है। सन् १९५७ ५८ के अन्त तक संयुक्त राज्य अमरिका से इस सम्बन्ध में १४ २७ करोड़ डालर की सहायता प्राप्त हो चुकी है।

योजनाओं के लक्ष्य एवं प्रगति

प्रथम पंचवर्षीय योजना—जैसा कि अध्याय कहा जा चुका है कि सामुदायिक विकास योजनाओं का उद्घाटन महात्मा गांधी के जन्म दिवस २ अक्तूबर १९५२ को राष्ट्रपति डा० राजेन्द्रप्रसाद के कर कमलों द्वारा सम्पन्न हुआ। इस तिथि को ५५ विकास क्षेत्रों में एक साथ विद्युत तरंग की भांति कार्य प्रारम्भ किया गया। सन् १९५३ ५४ में अतिरिक्त विकास खंडों को चुना गया और शनैः शनैः प्रति वर्ष इनकी संख्या में वृद्धि होती गई। प्रारम्भ से लेकर योजना के अन्त तक प्रत्येक अवस्था पर लिये गये विकास खंडों का ब्यौरा अगले पृष्ठ की तालिका से ज्ञात होगा।

वर्ष	निर्धारित खंडों की संख्या	खंडों की संख्या जिन पर कार्य प्रारंभ किया गया	खंडों के अन्तर्गत आने वाले ग्रामों की संख्या	जनसंख्या (मिलियन)
सामुदायिक विकास				
१९५२ ५३	१६७[1]	१६७	२७,३८८	१६ ४
१९५३ ५४	५३	५३	८,६८२	४ ४
१९५५ ५६	१५२	१५२	२०,८१७	१२
राष्ट्रीय प्रसार योग				
१९५३ ५४	११२[2]	११२	१५,३३६	८ ४
१९५४ ५५	२४५	२४५	३४,७०४	१७·४
१९५५ ५६	२५९	२५९	३३,२२०	१८ ५
	१७२		१७,२७०	११·१
योग	११६०	९८८	१,५७,३४७	८८ ८

विकास कार्यक्रमों के लिए प्रथम पंचवर्षीय योजना में ९० करोड़ रुपये का प्रावधान किया गया था। लगभग १० करोड़ रुपये राज्य सरकारों द्वारा ग्रामीण विकास के लिए व्यय किये जाने थे। प्रथम योजना के अन्तर्गत सामुदायिक विकास तथा राष्ट्रीय प्रसार सेवाओं पर कुल ४६ ०२ करोड़ रुपये व्यय किये गये। विभिन्न मदों के अन्तर्गत प्रथम योजना काल में किये गये व्यय का ब्यौरा इस प्रकार है :—

	करोड़ रुपये
१ कृषि तथा सम्बन्धित क्षेत्र	४ २६
२. सिंचाई	७·३४
३. स्वास्थ्य एवं ग्रामीण स्वच्छता	४·५२
४. शिक्षा एवं सामाजिक शिक्षा	४·६०
५· संवादवाहन	६·१४
६. ग्रामीण कला, दस्तकारी तथा उद्योग	१·७८
७. राज्य तथा प्रोजेक्ट हेडक्वार्टर्स	९·६२
८. आवास (प्रोजेक्ट कर्मचारी एवं ग्रामीण)	·३६
९ आयात किये गये सामान की लागत	४·३०
१०. विविध	२·६०
	योग ४६·०२

1 Considered equivalant to 247 Blocks

2 88 Blocks of 1953-54 and 98 and Blocks of 1954-55 were converted.

द्वितीय पंचवर्षीय योजना—सितम्बर १९५६ में 'राष्ट्रीय विकास परिषद' ने निश्चय किया कि द्वितीय योजना काल में सम्पूर्ण देश में राष्ट्रीय विस्तार सेवाओं का जाल बिछ जाना चाहिए और राष्ट्रीय विस्तार सेवा खण्ड का कम से कम ४०% भाग सामुदायिक विकास खण्ड में परिणत हो जाना चाहिए। द्वितीय योजना काल में राष्ट्रीय विस्तार सेवाओं के अन्तर्गत ३,८०० अतिरिक्त विकास खण्ड को लिया जाना था और इनमें से १,१२० खण्डों को सामुदायिक विकास खण्डों में परिणत किया जाना था। विस्तृत ब्यौरा इस प्रकार है —

वर्ष	रा० प्र० सेवा खंड	सा० वि० खंडों में परिवर्तन
१९५६ ५७	५००	
१९५७ ५८	६५०	२००
१९५८ ५९	७५०	२६०
१९५९ ६०	९००	३००
१९६० ६१	१०००	३६०
योग	३,८००	१,१२०

उपरोक्त कार्यक्रम को क्रियान्वित करने के लिए योजना में २०० करोड़ रुपये का प्रावधान किया गया है। इस धनराशि में से १२ करोड़ रुपये केन्द्रीय स्तर पर तथा १८८ करोड़ रुपये राज्य स्तर पर व्यय किये जायेंगे।

योजना की प्रगति

३० सितम्बर, १९५८ तक २८७३ विकास खंडों की प्रगति सम्बन्धी प्रस्तुत आँकड़े योजना की सफलता को दर्शाते हैं —

कृषि

(अ) उत्तम बीजों का वितरण	१,५७,९८,००० मन
(ब) रासायनिक उर्वरकों का वितरण	३,००,३९,००० मन
(स) उत्तम औजारों का वितरण	११,७५,०००
(द) कृषि सम्बन्धी किये गये प्रदर्शन	४८,५१,०००
(य) कम्पोस्ट गड्ढे खोदे गये	५०,१५,०००
(र) हरी खाद के अन्तर्गत क्षेत्र	४०,१५,००० एकड़

पशुपालन

(अ) दिये गये उत्तम पशु	४५,६००
(ब) दी गई उत्तम चिड़ियाँ	६२७
(स) जानवर बधिया किये गये (Animals castrated)	४,२८१
(द) जानवर प्रयुक्त किये गये (Animals treated)	३०,०४२

सामाजिक सेवा

(अ) प्रौढ़ साक्षरता केन्द्र	८७
(ब) साक्षर बनाये गये प्रौढ़	२,६६८
(स) वाचनालय खोले गये	४५१
(द) सामुदायिक केन्द्र प्रारम्भ किये गये	१०३
(य) युवक एवं कृषक क्लब	८४७

महिला समितियाँ

(अ) संख्या	१६,१००
(ब) ग्राम शिविर	२०,५६२
(स) प्रशिक्षित ग्रामवासी	१०,१४,०००

ग्रामीण स्वास्थ्य एवं स्वच्छता

(अ) ग्रामीण शौचालय	५,०७,०००
(ब) नालियाँ बनाई गईं	१,८६,१५,००० गज
(स) कुँए बनाये गये	१,२६,०००
(द) पुनर्निर्मित कुँए	१,६५,०००

यातायात

(अ) कच्ची सड़कें बनाई गईं	७८,६००
(ब) वर्तमान कच्ची सड़कें सुधारी गईं	६१,४००
(स) पुलियाँ बनाई गईं	५१,१००

सहकारिता

(अ) सहकारी समितियाँ	१,२७,०००
(ब) सहकारी समितियों के सदस्य	८७,८८,०००

सामान्य

(अ) सरकारी व्यय	१०,३३८ लाख रु०

(ग) जनता का अशदान ६,५६६ लाख रु०

(ख) जनता के अशदान का प्रतिशत ६४

प्रथम पचवर्षीय योजना म सबसे महत्वपूर्ण बात यह हुई कि सामुदायिक विकास कार्यक्रम के अन्तर्गत देश भर म विस्तार सेवा शुरू करने का निश्चय किया गया।

दूसरी योजना के अन्त तक विस्तार कार्यक्रम के अन्तर्गत विस्तार खडों तथा गाँवों म लगभग ३१ हजार ग्राम सेवक और लगभग २८ हजार विकास अधिकारी कृषि, पशुपालन तथा अन्य क्षेत्रों में विकास के लिए काम कर रहे होंगे। लेकिन सामुदायिक विकास योजनाओं के नय मूल्याकन से स्पष्ट है कि हम सन्तोषजनक प्रगति नही कर सके और जनता का बहुत कम सहयोग प्राप्त कर सके हैं।

सामुदायिक विकास कार्यक्रम से ग्रामीणों को लाभ

सामुदायिक विकास तथा सहकारी मत्रालय (सामुदायिक विकास विभाग) की वार्षिक रिपोर्ट, १६५६ ६० म कहा गया है कि इस वर्ष देश के गावों के लगभग १७ करोड ६० लाख व्यक्ति यानी ६१% जनता सामुदायिक विकास कार्यक्रम से लाभान्वित होने लगी।

१६५२ म इस कार्यक्रम के प्रारम्भ होने के बाद से ३० सितम्बर, १६५६ तक जनता ने श्रम, धन तथा सामग्री के रूप म ७६७८ लाख रुपये दिये। सरकार ने इस कार्यक्रम पर १ अरब ५३ करोड ६७ लाख रुपये खर्च किये। इसम से १०,७०६ लाख रुपये दूसरी पचवर्षीय योजना के पहले ३½ सालो म व्यय किये गये। इस वर्ष सामुदायिक विकास कार्यक्रम की सबसे स्मरणीय घटना पचायत राज योजना का लागू होना है। खडो म पचायत समितियों और जिला म जिला परिषदों की स्थापना से धीरे धीरे सामुदायिक विकास कार्य की योजना और अमल की सारी जिम्मेदारी ग्रामीण जनता के हाथ म सौंपी जा रही है। राजस्थान म पचायत राज कानून लागू हो गया है और अन्य राज्यों म इस प्रकार के कानून शीघ्र ही बन जायेंगे।

इस वर्ष गावों में १ लाख २ हजार मील लम्बी कच्ची सड़कें बनाई गईं। ग्राम सहायकों की शिक्षा को आकर्षक बनाने के लिए लगभग ५,८०० ग्राम सहायकों को भारत-दर्शन की सुविधा दी गई। इसी प्रकार देश के भिन्न भिन्न राज्यों के विकास खण्डों से लगभग २० हजार किसान विश्व कृषि प्रदर्शनी देखने लाये गये।

तृतीय पचवर्षीय योजना

तृतीय योजना में खेती को पहला स्थान दिया गया है। इसलिए खेती और सामुदायिक विकास के लिए सार्वजनिक क्षेत्रों में १,०२५ करोड रुपये तथा सिंचाई की बड़ी और मध्यम योजनाओं के लिए ६५० करोड रुपये रखे गये हैं। इसके अलावा अनुमान है कि निजी क्षेत्र की ओर से इन कार्यों पर ८०० करोड रुपये लगाये जायेंगे।

सन् १९६३ तक ये योजनाएँ सम्पूर्ण देश में इस प्रकार फैल जाएँगी—

	विकास खंड (Development Blocks)	प्रसार-पूर्व खंड (Pre Extension Blocks)
१-९-१९५९ तक आवंटित खंड	२५५७	३४०
अक्टूबर १९५९	१४५	१६८
अप्रैल १९६०	७०७	२५१
अक्टूबर १९६०	१६८	२५२
तृतीय योजना में	३६००	—

प्रश्न

1. What are the main features of Community Development Projects launched in the country? Examine their usefulness as an instrument of rural reconstruction. *(Bombay, 1953)*

2. What are community projects? How far have they succeeded in your state? *(Punjab, 1955)*

3. Write short notes on —
   Community Development Projects
   National Extension Service. *(Punjab, 1958; Delhi, 1955)*



अध्याय १७

भूदान-यज्ञ की महिमा

(The Miracle of Bhoodan Yajna)

भूदान देश की सामाजिक, आर्थिक तथा नैतिक क्रान्ति का एक शान्तिपूर्ण तथा अनूठा प्रयास है। इससे न केवल भारत के भूमिहीन किसानों की समस्या हल होगी बल्कि भारतवासियों के जीवन में एक नये प्रकाश का उदय होगा। इस नवीन योजना ने न केवल भारत के लोगों को बल्कि संसार के लोगों को आश्चर्यचकित कर दिया है। भारत में चलाये गये इस अहिंसात्मक आन्दोलन की प्रशंसा आज समस्त संसार में हो रही है। यह एक ऐसी क्रांति है जो भारत जैसे महान् एवं गौरवपूर्ण देश की प्राचीन सभ्यता एवं परम्परा की पुष्टि करती है। भूदान एक ऐसा हृदयस्पर्शी तथा शान्तिपूर्ण कार्यक्रम है जिसने देशवासियों को मानवता का एक नया सन्देश दिया है। आज विनोबा जी का यह महान् कार्यक्रम भारत में अति लोकप्रिय हो रहा है। उनके शब्दों में "यह काम साधारण दान का काम नहीं भूदान का है। अगर हम किसी को एक रोज भी खाना खिलाते हैं तो बहुत पुण्य मिलता है। अगर एक रोज के अन्नदान का इतना मूल्य है तो एक एकड़ जमीन का जिससे कि एक आदमी की सारी जिन्दगी बसर हो सकती है, कितना मूल्य होगा? इसलिए दरिद्र नारायण के वास्ते सभी से कुछ न कुछ मिलना ही चाहिए।"

भूदान एक नई क्रान्ति—वैसे तो संसार के अन्य देशों में भी समय समय पर क्रान्ति होती आई है परन्तु भारत में भूदान द्वारा होने वाली क्रान्ति सबसे भिन्न है। रूस, चीन तथा अन्य देशों में हिंसा के बल पर होने वाली क्रांति द्वारा देश में सामाजिक तथा आर्थिक परिवर्तन लाये जा सके परन्तु जो क्रांति इस समय भारत में हो रही है उसका आधार प्रेम तथा अहिंसा है। भारत में वर्तमान समय में जो सामाजिक एवं आर्थिक समस्याएँ हैं, उनका निवारण ऐसा मार्ग अपनाकर भी हो सकता है जिन्हें संसार के अन्य देशों ने अपनाया है। परन्तु क्या यह मार्ग भारत जैसे देश के लिए उपयुक्त होगा? यदि हम भारत में सामाजिक एवं आर्थिक समानता लानी है, और यदि धनी एवं निर्धनों के अन्तर को मिटाना है तो उसके लिए एक नये रास्ते को अपनाना होगा। वह रास्ता कौन सा है? यह रास्ता प्रेम का है। यह प्रेम का मार्ग

यही है जिसे हमारे राष्ट्रपिता बापू ने अपनाया था। विनोबा जी के शब्दों में "भगवान सबको समान बनाना चाहते हैं यह उनका प्रेम है— द्वेष नहीं। मैं जो काम करता हूँ वह भगवान का काम है। मैं बड़ों का अहङ्कार दूर करना चाहता हूँ और छोटों को ऊँचा उठाना चाहता हूँ। बड़ों से जमीन लेकर भूमिहीन गरीबों को आजीविका के लिए देना चाहता हूँ। इसका मतलब यह नहीं लगाया जाना चाहिये कि बड़ों के साथ मेरी शत्रुता है मैं तो उनकी सम्मान वृद्धि करना चाहता हूँ, उनके पास से जमीन लेकर उन्हें गरीबों का पवित्र प्रेम दिलवाना चाहता हूँ।"

भूदान यज्ञ का अर्थ—भारत में प्राचीन काल से यज्ञ का महत्व चला आ रहा है। कदाचित ही ऐसा कोई व्यक्ति हो जो इसके अर्थ व महत्व से परिचित न हो। यज्ञ, पूजा अथवा ईश्वर स्तुति का एक रूप है। भारत में समय समय पर भिन्न भिन्न प्रकार के यज्ञ होते आये हैं—अश्वमेध यज्ञ, राजसूय यज्ञ। इसी प्रकार हमें गीता में भी विभिन्न प्रकार के यज्ञों का उल्लेख प्राप्त होता है, जैसे द्रव्य यज्ञ, तपो यज्ञ, योग यज्ञ ज्ञान यज्ञ, इत्यादि। परन्तु भूदान यज्ञ भी ऐसा ही एक यज्ञ है, यद्यपि इसका उल्लेख हमें प्राचीन ग्रन्थों में प्राप्त नहीं होता। वरन् फिर भी वर्तमान समय में एक महान् आन्दोलन होने के कारण हम सभी इसके नाम से भली भाँति परिचित हैं। आज हमारे देश में भूमिहीन किसानों की एक भारी संख्या है। जो खेती करना जानते हैं और उनकी खेती करने की इच्छा होते हुए भी इन भूमिहीन दरिद्रों के पास भूमि नहीं है और जिन्हें अपनी जीविका के लिए दूसरों के खेत जोतने पड़ते हैं जिससे प्राप्त होने वाली मजदूरी उनकी जीविका का साधन है। भूमिदान ऐसे ही लोगों के लिए एक अपार सुख एवं आनन्द का सन्देश लाता है और भूदान यज्ञ में प्राप्त भूमि इन निर्धनों में बाँट दी जायेगी। विनोबा जी ने भूदान का प्रयोग अन्त शुद्धि के लिए किया है। उनके अनुसार जब कभी कोई सार्वजनिक यज्ञ प्रारम्भ किया जाता है तो उसमें हर एक को भाग लेना पड़ता है। इस भूदान यज्ञ में भी हर एक का हिस्सा होना चाहिए। कारण इसका उद्देश्य यह है कि सबकी अन्त शुद्धि हो जाये। इसलिए जिनके पास थोड़ी ही जमीन हो थोड़ी ही दें।

विनोबा जी द्वारा यज्ञ के तीन महान स्वरूप एवं उद्देश्य बताये गये हैं। जो है—क्षयपूर्ति, शुद्धि करण एवं संगठन। भूदान द्वारा यज्ञ के इन तीनों महान् उद्देश्यों की पूर्ति हो जाती है। इसलिए संक्षेप में महान्, शान्तिपूर्ण क्रान्तिकारी आन्दोलन का नाम भूदान यज्ञ रखा गया है। भूदान से देश में बेकारी, गरीबी, भूमि की समस्याओं एवं प्राचीन कुटीर उद्योगों के विनाश तथा ऐसे लोगों के हाथों में भूमि चले जाने से जो स्वयं खेती नहीं जानते, इन कारणों से जो क्षति हुई है, भूदान इस क्षति को पूरा करने का एक सफल साधन है। त्याग, प्रेम एवं समाज सेवा की पवित्र भावनाओं को जन्म देकर भूदान यज्ञ दान देने वाले व्यक्ति का चित्त शुद्ध करने का एक प्रयास है। भूदान

एक ऐसा महानतम् सगठन का प्रयास है जिसके द्वारा समाज म समानता एव त्याग की भावना लाई जा सकेगी।

भूदान का उद्देश्य—जैसा कि विदित है भूदान का उद्देश्य केवल यही नहीं है कि ऐसे लोगों से जिनके पास भूमि अधिक मात्रा म है उनसे भूमि लेकर भूमिहीन किसानों म वितरित कर दी जाये वरन् भूदान यज्ञ एक महान् प्रयोग है जिसका उद्देश्य भारत म एक वर्ग रहित, शोषणहीन सर्वोदय समाज की स्थापना करना है। केवल भूमि हीन किसानों की आर्थिक स्थिति सुधारना ही इस यज्ञ का उद्देश्य नहा है। भूदान यज्ञ सम्पूर्ण देश म आर्थिक, राजनैतिक, सामाजिक, एव नैतिक परिवर्तनों का एक शान्तिपूर्ण परन्तु क्रान्तिकारी आन्दोलन है। विनोबा जी ने भूदान-यज्ञ के उद्देश्यों की विवेचना करते समय उसके सप्तसूत्री उद्देश्या की ओर ध्यान आकर्षित किया है। वे हैं —*

(१) गरीबी का नाश।

(२) भूमि के मालिकों के हृदय म प्रेम भाव का विकास करना और उसके फलस्वरूप देश का नैतिक वातावरण उन्नत करना।

(३) एक ओर भूमि स्वामियों और दूसरी ओर सर्वहारा भूमि हीन गरीबों—इन दोनों के बीच जो श्रेणीगत विद्वेष दिखाइ पड़ता है वह भूदान यज्ञ के द्वारा दूर होगा, परस्पर प्रेम और सद्भावना का बन्धन दृढ़ होगा। परिणामस्वरूप समाज शक्तिशाली बनेगा।

(४) यज्ञ, दान, और तप—इन तीनों के अपूर्व दर्शन के आधार पर जो भारतीय संस्कृति तैयार हुई थी उसका पुनरुत्थान और उन्नति होगी। मनुष्य का धर्म एव विश्वास दृढ़ होगा।

(५) देश म शान्ति स्थापित होगी।

(६) देश म शान्ति स्थापित होने से विश्व शांति स्थापना म बहुत सहायता मिलेगी।

(७) भूदान यज्ञ के द्वारा विभिन्न राजनैतिक दल परस्पर निकट आयेंगे। और एक साथ मिलने एव मिलकर काम करने का सुअवसर पायेंगे। इसके फलस्वरूप देश सभी ओर से शक्ति प्राप्त करेगा।

भूदान यज्ञ का मूल तत्व (Essence of Bhoodan)

समाज में एक शान्तिपूर्ण क्रान्ति लाने के लिए यह आवश्यक है कि हम उसके अनुकूल विचार प्रचारित करें। विचार परिवर्तन ही क्रान्ति का रहस्य है। भूदान समाज में एक ऐसी विचारधारा जाग्रत करता है जिसके द्वारा समाज म शोषण तथा आर्थिक

* C C Bhoodan, *Bhoodan Yajna Kya aur Kyon* p 29

और सामाजिक विषमता के अन्त करने में सहायता मिलेगी जो व्यक्ति भूमि का दान करता है उसके हृदय में परिवर्तन आता है। लदन परिवर्तन के पश्चात् उसके जीवन में परिवर्तन आ जाता है इस प्रकार अन्य लोग जब भूमि दान के लदर तथा उसकी महिमा से प्रभावित होकर इस दान में भाग लेंगे तो जन समुदाय के जीवन में और अन्त में सम्पूर्ण समाज में यह विचारधारा प्रतिष्ठित हो जाती है। जिस प्रकार चोरी को समाज में घृणा की दृष्टि से देखा जाता है वैसे ही यदि अधिक संग्रह करने को भी हम एक असामाजिक तथा अनैतिक कार्य समझ लें तो ऐसा करने वालों के प्रति समाज में वही भावना जाग्रत हो जायेगी जैसा कि इस समय किसी चोर के लिए। वास्तव में अधिक धन संग्रह करना चोरी जैसा ही पाप है यह धर्म विचार हमें ग्रहण करना पड़ेगा।" प्रत्येक व्यक्ति को चाहिए कि वह अपने मन में यह विचार करे कि संसार में सब कुछ ईश्वर का है और संसार की प्रत्येक वस्तु का ईश्वर ही एक मात्र स्वामी है। जब हमारे मन में ऐसा विचार आ जायेगा तब हम सब कुछ परमात्मा को अर्पित कर देंगे और जो कुछ ईश्वर की कृपा से हमें प्राप्त होगा उसे हम ईश्वर का प्रसाद समझ कर सन्तोषपूर्वक ग्रहण करेंगे। इस प्रकार के विचार रखने वाला व्यक्ति समाज का शोषण नहीं कर सकता। उसे किसी के धन की तनिक भी अभिलाषा न होगी फिर वह क्या और किसके लिए धन संग्रह करेगा। विनोबा जी के शब्दों में "असंग्रह और अपरिग्रह केवल ऋषियों और साधू के लिए आचरणीय है ऐसा ही अब तक माना गया है किन्तु यह साधारण लोगों का भी, गृहस्थों का भी जीवन का मूल आधार होना चाहिए ऐसा न होने से शोषण का अन्त नहीं होगा। इस धर्म विचार को सामाजिक निष्ठा के रूप में प्रतिष्ठित करना होगा।

"मैं न्याय और प्रेम दोनों को एकत्र करना चाहता हूँ इसे सूर्य-चन्द्र कह लीजिए दोनों ही ईश्वर के दो नेत्र हैं। दोनों चक्षुओं के एक साथ मिलने से ही सम्पूर्ण तेज प्रकट होगा।" विनोबा जी के इन शब्दों से भूदान यज्ञ का मूल तत्व स्पष्ट है।

भूदान आन्दोलन का क्षेत्र (Scope of Bhoodan Movement)

भूदान आन्दोलन का केवल यही लक्ष्य नहीं है कि कुछ लोगों से जमीन लेकर निर्धन भूमिहीन किसानों में वितरित कर दी जाये। बल्कि भूदान एक शान्तिपूर्ण ढंग से सद्भावना द्वारा सामाजिक, आर्थिक तथा नैतिक क्रान्ति का एक साधन भी है। अत इसका क्षेत्र बड़ा व्यापक है। इसके अन्तर्गत ग्रामदान, सम्पत्ति दान जीवनदान, श्रम दान जैसी अनेक चीजें सम्मिलित हैं। जैसा कि स्पष्ट है केवल भूमि दान द्वारा ही देश की क्या स्वयं भूमिहीन किसानों के जीवन की भी समस्त समस्याएँ हल नहीं की जा सकतीं। भूमि द्वारा वह अपने लिए एक जीविकोपार्जन का साधन तो अवश्य प्राप्त कर लेता है परन्तु किसी व्यक्ति अथवा समाज के सम्पूर्ण एवं सर्वाङ्गीण

विकास के लिए केवल भूमि दान का मन्त्र ही पर्याप्त नहीं। ग्राम दान द्वारा समस्त ग्रामीण भूमि को गाँव के निवासियों में वितरित कर दी जायेगी। सर्वोदय के सिद्धान्त पर ग्रामदान द्वारा ग्रामीण जीवन का रूप ही बदल जायेगा।

सम्पत्ति दान द्वारा धनी व्यक्ति अपनी सम्पत्ति का कुछ भाग निर्धनों में बाँट देंगे। इससे भूमि हीन कृषक के पास भूमि प्राप्त करने के पश्चात् खेती के लिए आवश्यक यन्त्र तथा सुविधाओं को एकत्र करने की क्षमता तो आयेगी ही साथ में सम्पत्ति के उचित वितरण तथा गरीब और अमीर के बीच रहने वाली दूरी को कम करने का महत्व भी समझ में आ जायेगा।

निम्न तालिका में हम दिसम्बर सन् १९५७ तक हुई सम्पत्ति दान की प्रगति प्रदर्शित कर रहे हैं।

	प्रान्त	सम्पत्ति दान (रुपये)	सम्पत्ति दाता (संख्या)
१	असम	३५१७	१२४
२	आन्ध्र प्रदेश	५७१७३	९९८
३	उत्कल	४११२०९	२६८१
४	उत्तर प्रदेश	६६११३९	२४१८
५	केरल	९५६८	५०८
६	दिल्ली	१८८९९	३८
७	पंजाब हिमाचल	६२०८०	१६०५
८	बंगाल	३८७४९	१७४८
९	बम्बई	१४९०३५	१०११
१०	गुजरात	७५६१६	१०३८
११	महाराष्ट्र	८२१८२	८५४५
१२	बिहार	१७०११०	३४००४
१३	मद्रास	३४५३४७	—
१४	मध्य प्रदेश	२९९५४	१२८७
१५	मैसूर	१६७८१	३७६
१६	राजस्थान	८१५०८	२७१५
	कुल योग	१२७३८६५	६००९६

सम्पत्तिदान के पश्चात् श्रमदान का उदय होता है जिसका महत्व अधिक होने के साथ साथ उसका अर्थ भी बड़ा गम्भीर है। जब कोई व्यक्ति इतना निर्धन होता है कि वह इस योग्य नहीं कि दूसरों को कुछ दे सके, अपनी सम्पत्ति का कुछ भाग

दान कर सके, तो ऐसे लोगों के पास शारीरिक शक्ति और सामर्थ्य तो होगी ही जिससे वह दान दे सकता है। शारीरिक श्रम द्वारा वह अनेक बार सेवा कर सकता है। सम्पत्ति दान करने के पश्चात् दाता के पास कुछ नहीं रहता परन्तु श्रमदान देने वाले आजीवन प्रति दिन दान दे सकते हैं। वास्तव में श्रमदान का बड़ा गूढ़ अर्थ है यही नहीं कि केवल कुछ समय के लिए प्रति दिन सेवा अथवा शारीरिक श्रम कर दिया जाये वरन् इसका अर्थ यह भी है कि जो भूमि दान में प्राप्त हो भूमि पाने वाले का यह कर्त्तव्य हो जाता है कि उस पर वह अधिक से अधिक परिश्रम करके उससे ज्यादा से ज्यादा उत्पादन प्राप्त करे। श्रमदान द्वारा समाज में शारीरिक श्रम का महत्व (dignity of manual labour) बढ़ जायेगा और उसकी मर्यादा की प्रतिष्ठा बनी रहेगी।

भूदान, सम्पत्ति दान तथा श्रमदान द्वारा मनुष्य अपने जीवन में एक नये सुख का अनुभव करने लगता है। यह ऐसा सुख है जिसका आभास उनको प्राप्त होता है जो निर्धनों तथा भूमि हीनों की सहायता तथा उनका जीवन रहने योग्य बनाने के लिए अपना सब कुछ अर्थ दान के रूप में दे देते हैं। ऐसा करने के बाद व्यक्ति के मन में यह विचार उठता है कि हमने जो कुछ भी अभी तक किया है उस पर वास्तव में हमारा कोई भी अधिकार नहीं था। सारी भूमि समाज की है। और समाज के प्रत्येक व्यक्ति का उस पर अधिकार होना ही चाहिये। तो क्या यह जिन्दगी हमारी है? क्या हमारे जीवन का यही उद्देश्य है कि हम इस अमूल्य निधि को अपने दैनिक जीवन की आवश्यक लक्ष्यों तथा स्वार्थ पूर्ति में ही समाप्त कर दें। नहीं यह जीवन ईश्वर का दिया हुआ है और ईश्वर की बनाई हुई अन्य वस्तुओं की तरह केवल हमारा ही अधिकार हमारे जीवन पर नहीं है। वास्तव में यह जीवन तो समाज सेवा के लिए ही अर्पित कर दिया जाना चाहिए। इस महान् अवदान का नाम विनोबा जी ने 'जीवन दान' रखा। उनके शब्दों में—"आज नवीन मनुष्य, नवीन समाज तैयार करना होगा। इसीलिए भूदान, सम्पत्ति दान, श्रमदान, आदि आन्दोलन शुरू किये गये हैं। इस काम के लिए ऐसी विचारधारा उत्पन्न करनी होगी जिससे लोग जीवन समर्पित करने की ओर अग्रसर हों।"

ग्रामदान वास्तव में भूमिदान का विकसित रूप है। जब विनोबा जी प्रत्येक व्यक्ति से थोड़ी थोड़ी भूमि न माँग कर गाँव के समस्त निवासियों से भूदान यज्ञ में समस्त भूमि की आहुति की प्रार्थना करते हैं तो ये श्रमदान का रूप ले लेता है। ग्रामदान के पश्चात् अथवा जब सारी भूमि दान के रूप में दे दी जाती है तो इस भूमि पर गाँव के किसी व्यक्ति विशेष का अधिकार नहीं रहता। श्रमदान द्वारा व्यक्तिगत अधिकार समाप्त हो जाता है। अतः सामूहिक रूप से समस्त गाँव का ऐसी भूमि पर अधिकार हो जाता है। जैसा विनोबा जी कहते हैं, "मैं छोटा परिवार नहीं चाहता

इसलिये बड़े परिवारों की रचना करने जा रहा हूँ मैं सम्पूर्ण गाँव को एक परिवार में बदलना चाहता हूँ।"

विनोबा जी को ग्रामदान में मिलने वाला सबसे पहला ग्राम उत्तर प्रदेश का मँगरौठ ग्राम था। इसके बाद बिहार में १३ ग्राम, उड़ीसा में २५ ग्राम ग्रामदान में प्राप्त हुए। इस प्रकार ग्रामदान द्वारा प्राप्त भूमि पर सम्पूर्ण ग्राम का अधिकार रहता है। यद्यपि व्यक्तियों के पास उसकी मालकियत नहीं रहती फिर भी वे इसी भावना से उस भूमि का प्रयोग करते हैं जैसे वह भूमि स्वयं उनकी हो। विनोबा जी ने ग्रामदान को कितने सुन्दर ढंग से समझाया है "...यद्यपि पिता पुत्र के बीच अटूट सम्बन्ध रहता है तथापि कोई पिता ऐसा नहीं कहता कि "मैं अपने पुत्र का मालिक हूँ।" पिता कहता है कि "मालिक भगवान है हम दोनों ही उसके सेवक हैं" अर्थात् उसे अपनी सन्तान के प्रति ममता तो है किन्तु उस पर मालिकाना अधिकार नहीं है। इसी प्रकार जमीन के प्रति ममता तो रहेगी किन्तु उस पर मालिकाना अधिकार नहीं रहेगा। जमीन की बिक्री नहीं होगी। भला कोई अपने बच्चे को बेचता है। बच्चे को किसी की सहायता के लिये दिया जा सकता है। जमीन का मूल्य पैसे से नहीं चुकाया जा सकता है। वह अमूल्य वस्तु है।"

ग्रामदान का अर्थ वास्तव में बड़ा गम्भीर है और इससे महत्वपूर्ण सुपरिणाम होने की आशा की जा सकती है। सारांश में भूदान विनोबा जी द्वारा वर्गहीन शोषण रहित सर्वोदय समाज की दो सीमाएँ कही जा सकती हैं। भूदान द्वारा देश में कोई भी भूमिहीन न रहेगा। ग्रामदान द्वारा कोई भूमि का मालिक न रहेगा और उस समय समस्त भूमि का समाजीकरण अथवा ग्रामीणीकरण हो जायेगा।

ग्रामदान के प्रभाव तथा लाभ—सम्पूर्ण ग्रामदान से होने वाले अनेक आर्थिक, सांस्कृतिक, नैतिक तथा आध्यात्मिक प्रभावों का वर्णन हम नीचे करेंगे—

(१) **आर्थिक लाभ**—ग्रामदान से आर्थिक क्रान्ति होने से तथा गाँव की आर्थिक स्थिति सुधारने में बड़ी सहायता मिल सकती है। कारण यह है कि गाँव में खेती की एक संगठित व्यवस्था होगी। उसकी उन्नति के लिए अनेक प्रयत्न किये जायेंगे। किसानों को ऋण की आवश्यकता न होगी। इससे गाँव की आर्थिक समृद्धि में वृद्धि होगी।

(२) **सांस्कृतिक लाभ**—गाँव में जब ग्रामदान द्वारा सारी भूमि पर सामूहिक अधिकार हो जायेगा और गाँव की समस्त आबादी एक परिवार के रूप में जीवन व्यतीत करेगी तो उनमें आपस में सद्भावना प्रेम, एवं भाईचारे की भावना का उदय होगा। विनोबा जी के शब्दों में—"गाँव के एक परिवार के रूप में रहने से परस्पर प्रेम और सौहार्द्र में वृद्धि होगी, सुख या दुख में अन्य के साझीदार होने से सुख बढ़ता है और दुख घटता है।"

(३) नैतिक लाभ—सारी भूमि के ग्रामीणीकरण होने के फलस्वरूप व्यक्तिगत स्वामित्व की भावना का विनाश होगा। जैसा कि हम सभी जानते हैं यही भावना समाज के नैतिक पतन और व्यक्तिगत स्वार्थ का मूल कारण है। ग्रामदान से सर्वोत्कृष्ट परिणाम यह होगा कि गाँववासी अपने और संकीर्ण स्वार्थपूर्ण जीवन को त्यागकर समाज सेवा एवं निष्काम भावना से प्रेरित होकर सारे समाज के लिए कार्य करने लगेंगे। पारस्परिक, द्वेष, झगड़ा व्यभिचार, चोरी, पर निन्दा एवं दूसरों को हानि पहुँचाने की भावना से मुक्त होकर समाज का नैतिक स्तर ऊँचा उठेगा।

(४) आध्यात्मिक लाभ—ग्रामदान से समाज का आध्यात्मिक हित एवं कल्याण भी होने का सद्भावना है। व्यक्तिगत सम्पत्ति जब होती है तब प्रत्येक व्यक्ति 'मैं', 'मेरा', 'अपनी' इत्यादि शब्दों का प्रयोग कर अपने स्वामित्व का प्रदर्शन करता है और इस प्रकार सदैव इस 'मैं' व 'मेरी' का दास बना रहता है। ग्रामदान उसे इस दूषित भावनाओं से मुक्त करा सकता है। जैसा कि विनोबा जी ने कहा है, "लोग जब बोलते हैं तो कहते हैं—'यह मेरा घर है', 'यह मेरी जमीन है' आदि जब मनुष्य 'मैं' और 'मेरा' के रूप में सोचना बन्द कर देगा और यह समझेगा कि संसार में जो कुछ है वह हर किसी का है और ऐसा कुछ भी नहीं है जो केवल मेरे भोग के लिए है तब वह शीघ्र ही मुक्ति लाभ कर लेगा 'मैं सबके लिए' और 'सब मेरे लिए' ऐसा विचार करने से ही मुक्ति मिल सकेगी।"

ग्रामदान की प्रगति—निम्न तालिका में हम दिसम्बर सन् १९५७ तक भारत के विभिन्न प्रान्तों में हुए ग्रामदान की प्रगति का लेखा प्रस्तुत करते हैं —

क्रमसंख्या	प्रान्त	ग्रामदान
१	आसाम	७७
२	आन्ध्र	२६६
३	उत्कल	१६११
४	उत्तर प्रदेश	३६
५	केरल	४३७
६	बंगाल	९
७	गुजरात	२०
८	महाराष्ट्र	२९०
९	बिहार	१००
१०	मद्रास	२२३
११	मध्य प्रदेश	१०७
१२	मैसूर	२१
१३	राजस्थान	१९
	कुल योग	३५४१

भूदान यज्ञ का उदय (Rise of Bhoodan Movement)

भूदान यज्ञ को प्रारम्भ करने का श्रेय बापू के आदर्शों पर पूर्णरूपेण चलने वाले उनके परम शिष्य आचार्य विनोबा भावे को है। महात्मा गांधी के इस आध्यात्मिक उत्तराधिकारी का जन्म ११ दिसम्बर सन् १८९५ को महाराष्ट्र के कोलाबा जिला के गागोदा ग्राम के एक ब्राह्मण परिवार में हुआ था। इनके पिता का नाम नरहरि भावे एवं माता का नाम रुकमणी देवी अथवा 'रखुमाई' था। विनोबा जी का पूरा नाम 'विनायक नरहरि भावे' है परन्तु घर में उन्हें 'विन्या' कहकर पुकारा जाता था। परन्तु गांधी जी के आश्रम में प्रवेश करने के बाद महात्मा जी ने उनका नाम विनोबा रख दिया। विनोबा जी का बचपन उनके पितामह शम्भूराव के उदार धर्मपरायण तथा तेजस्वी वातावरण में व्यतीत हुआ। सच तो यह है कि विनोबा जी के प्रारम्भिक जीवन पर सबसे गहरी छाप डालने वाली उनकी माता रुकमणी तथा पितामह शम्भूराव जी थे, परन्तु गांधी जी के सम्पर्क में आने से उनका सम्पूर्ण जीवन ही परिवर्तित हो गया।

विनोबा जी के भूदान यज्ञ का जन्म वास्तव में उनकी धर्मपरायणता तथा भूमि जैसी वस्तु पर उनके विशेष विचारों का ही परिणाम है। विनोबा जी की दृष्टि में भूमि भी प्रकृति की एक स्वतन्त्र देन है। जिस प्रकार वायु, प्रकाश तथा जल पर किसी का अधिकार नहीं होता, उसी प्रकार भूमि भी सब की है। उस पर किसी व्यक्ति विशेष का अधिकार होना सर्वथा अनुचित है। ईश्वर ने भूमि सब के हित के लिए बनाई है। विनोबा जी के भूमि सम्बन्धी विचारों के अध्ययन से हम भूदान जैसे महान आन्दोलन की वास्तविक पृष्ठभूमि का ज्ञान होता है। अतः हम विनोबा जी के भूमि सम्बन्धी विचारों का निरूपण करेंगे। ये विचार उनके समय समय पर दिये गये प्रवचनों में निहित हैं जैसे—

(१) **हवा, पानी के समान जमीन भी सबकी**—[१] "जैसे हर एक को हवा चाहिये लेकिन किसी को हवा मिलती है तो हम उसे श्रीमान् नहीं कहते। पानी भी हर एक को चाहिये लेकिन पानी के द्वारा हम किसी की सम्पत्ति नहीं नापते। जैसे हवा और पानी है वैसे ही जमीन है। जिन्दा रहने के लिये भूमि आधार है।" इसी प्रकार जब विनोबा जी ने ग्रामदान का कार्य प्रारम्भ किया तो उससे पहले उनके मन में यही विचार उठा था कि जमीन और सम्पत्ति गाँव की ही होनी चाहिये। जमीन व्यक्तिगत स्वामित्व का विषय नहीं। उनके शब्दों में, "जैसे वर्षा का पानी और सूर्य का प्रकाश सबके लिए है वैसे आपका यह सारा गाँव सबका होना चाहिये। सब गाँव वालों को

[१]नीरेगुडेम (२८-४-५१)

एक हो जाना चाहिये और समझना चाहिये कि सारी जमीन सबकी है। सिर्फ भूमि ही नहीं बल्कि अपने पास जो भी सम्पत्ति है सब की सब गाव की है।"[1]

(२) भूमि सब की माता है—विनोबा जी ने भूमि को सब की माता कहकर सम्बोधित किया है। वह कहते हैं, "भूमि सब की माता है तो फिर कुछ लड़कों का उस पर हक है और कुछ उसके पास पहुँच भी न सके, यह हो नहीं सकता, इसलिये जाहिर है कि जमीन बँट जानी चाहिये दसीलिये मैंने एक नया प्रयोग शुरू किया है म गरीबों के लिये भूमिदान माँग रहा हू।"[2]

(३) सब्ब भूमि गोपाल की—विनोबा जी का यह प्रिय वाक्य भूदान में निहित उनके दर्शन का परिचायक है। उनका कथन है "सब्ब भूमि गोपाल की है," दरिद्रनारायण की है और उसे वह मिलकर रहेगी। सूर्य घर घर पहुचता है। उसकी रोशनी जितनी राजा को मिलती है उतनी ही भंगी को। भगवान कभी अपनी चीजों का विषम बँटवारा नहीं कर सकता। अगर उसने हवा, पानी, प्रकाश और आसमान के वितरण में कोई भेद भाव नहीं किया तो यह कैसे हो सकता है कि वह जमीन ही सिर्फ मुट्ठी भर लोगों के हाथ में रहने दे? इसलिये मैं चाहता हू कि आप अपनी जमीन पर से अपना स्वामित्व छोड़ दें। जमीन पर मालकियत रखना न तो उचित है और न न्याय ही।"[3]

(४) विनोबा जी के समय-समय पर दिये गये प्रवचनों से लिये गये भूमि के सम्बन्ध में उनके उपरोक्त विचार भूदान आन्दोलन के लिए आवश्यक विचारधारा को स्पष्ट करते हैं। इन्हा विचारों की पृष्ठभूमि में भूदान क्रान्ति का वातावरण उत्पन्न किया गया है। भूदान का जन्म १८ अप्रैल सन् १९५१ को तेलगाना क्षेत्र के जिला नालगुंडा के 'पोचमपल्ली' ग्राम में हुआ था। यहाँ सबसे पहले विनोबा जी को १०० एकड़ भूमि का दान मिला था। भूमि दाता का नाम श्री रामचन्द्र रेड्डी था। घटना इस प्रकार है। जब १९५१ में आचार्य विनोबा भावे हैदराबाद राज्य के तेलगाना प्रदेश का दौरा कर रहे थे उसी समय उस गाँव के हरिजन लोग उनसे मिलने आये। उन की दशा बड़ी ही दयनीय थी। अब वे विनोबा जी को अपनी दुख भरी कहानी सुना कर उनसे आर्थिक सहायता के हेतु कुछ भूमि की याचना कर रहे थे। उस समय तेलगाना में भूमि की समस्या बड़ी जटिल थी और भारी रक्तपात होने के कारण सारे प्रदेश में आतक छाया हुआ था। कम्युनिस्टों ने इस समस्या को हल करने का जो उपाय अपनाया था वह हिंसा तथा भारी रक्तपात का मार्ग था। जबरदस्ती शक्ति के बल पर जमींदारों से उनकी जमीन छीनी जा रही थी जिसका भूमिहीन निर्धन किसानों में वितरण किया जा रहा था। ऐसे आतंकपूर्ण, हिंसक तथा रक्तपात के वातावरण से विनोबा के हृदय में भारी

---

[1]पेद्दमुगल (२६-४-५१)। [2]सिरियाल गुडा। [3]परमधाम पवनार (सितम्बर '५१)

क्षुब्ध उत्पन्न हुआ। दो वर्ष के भीतर उस क्षेत्र में २० व्यक्तियों की हत्या की जा चुकी थी। नालगुण्डा और वारंगल नामक जिलों में ऐसी अनेक घटनाएँ हो चुकी थीं और दिन प्रति दिन कम्युनिस्टों का उपद्रव बढ़ता चला जा रहा था। उनके इस प्रकार के कार्य से गाँव की भूमि समस्या का हल होना असम्भव था। यदि समस्या हल भी हो जाती तो उससे वास्तविक सन्तोष व आनन्द कैसे प्राप्त हो सकता था। विनोबा जी का रास्ता तो प्रेम का है। वे तो सद्भावना एवं प्रेम द्वारा समस्या को हल करना चाहते थे। गाँव के हरिजनों की दुर्दशा तथा उनकी अत्यन्त गरीबी का दृष्टान्त सुनकर विनोबा को अत्यन्त क्षोभ हुआ। गाँव के हरिजनों की दशा वास्तव में बड़ी दयनीय थी। उनके पास न तो जमीन थी और न भर पेट भोजन के अन्य साधन। वे तो दूसरों की जमीन पर काम करते थे जिसके बदले में फसल का तीसरा भाग, एक कम्बल और एक जोड़ा जूता दिया जाता था। उन हरिजनों ने विनोबा जी से कम से कम ८० एकड़ भूमि की प्रार्थना की जो उनकी जीविका के लिये पर्याप्त थी। वे लोग एक साथ खेती करना चाहते थे। विनोबा जी ने उनसे इस सम्बन्ध में एक आवेदन पत्र देने को कहा और सरकार द्वारा उनको सहायता दिलवाने का भी वचन दिया। उस समय विनोबा जी के पास गाँव के कुछ और लोग भी आकर जमा हो गये थे। भीड़ में एकत्रित लोगों से विनोबा जी ने भूमि की माँग की। तुरन्त श्री रामचन्द्र रेड्डी नामक जमींदार युवक ने विनोबा जी के समक्ष आकर १०० एकड़ भूमि दान देने का वचन दिया। यह विनोबा जी को मिलने वाला प्रथम दान था। इसकी घोषणा उन्होंने सायंकाल को होने वाली प्रार्थना सभा में की। यह भूमि भूमिहीन हरिजनों को दे दी गई।

इस दान के पश्चात् विनोबा जी ने कहा, "यह क्या हुआ? जहाँ मनुष्य तीन कट्ठा जमीन के लिए लड़ाई झगड़ा करता है वहाँ माँगने से ही १०० एकड़ भूमि कैसे मिल गई? जरूरत थी ८० एकड़ जमीन की और मिली १०० एकड़ जमीन। तब क्या आज भगवान ने श्री रामचन्द्र रेड्डी के माध्यम से भारत की मूल समस्या के समाधान के लिए संकेत दिया है? तब क्या महात्मा गांधी की आत्मा ने श्री रामचन्द्र रेड्डी में प्रविष्ट होकर भूमि समस्या के शान्तिमय ढंग से समाधान के लिए निर्देश दिया है।" विनोबा जी को वास्तव में इस प्रथम दान को पाकर अपार प्रसन्नता हुई थी जिसने उन्हें शान्तिपूर्ण ढंग से भूमिहीन किसानों की समस्या को हल करने की प्रेरणा दी। उन्होंने इसका नाम भूदान यज्ञ रख दिया। प्रारम्भ में विनोबा जी को भूदान द्वारा सफलता मिलने में सन्देह हुआ, परन्तु दैवी शक्ति तथा आत्मिक प्रेरणा के फलस्वरूप वे अपने लक्ष्य की ओर बढ़ते गये। एक प्रार्थना प्रवचन में बोलते हुए विनोबा जी कहते हैं "जिस दिन मुझे पहला दान मिला उस रात मैं सोचने लगा—क्या इस तरह भूमि माँग माँग कर मैं सभी भूमिहीनों की समस्या का समाधान कर सकूँगा? मुझे साहस नहीं मिल रहा था क्योंकि इतिहास में इस तरह का कोई उदाहरण उपलब्ध नहीं था किन्तु

भीतर से शक्ति मिली, अन्दर से आवाज आई, 'डरो मत। भूमि मांगते चलो।' तब मेरे मन में यह बात आई कि जब 'वे' मुझे भूमि मांगने की प्रेरणा दे रहे हैं तब 'वे' अवश्य ही दूसरों को भूमिदान करने की भी प्रेरणा देंगे क्योंकि वे भी अधूरा काम नहीं कर सकते।"

विनोबा जी का उद्देश्य केवल भूमि प्राप्त करना ही नहीं था। वे केवल यही नहीं चाहते थे कि उन्हें भूमि देने वाला बिना सोचे समझे, बिना भूमिदान का महत्व एवं उसमें निहित उद्देश्य को भली भांति जाने, भूमि का दान दे दे। उन्होंने भूमिदान के नैतिक पक्ष को सदैव सर्वोपरि रखने का प्रयास किया। उनका उद्देश्य केवल निर्धनों के लिए भूमि मांगना ही नहीं था वरन् दान देने वाले के हृदय तथा भावना में क्रान्ति लाना भूदान यज्ञ की सफलता का सबसे बड़ा चिह्न था। इसी कारण उन्होंने भूमिदान के सम्बन्ध में तीन आवश्यक बातों को ध्यान में रखने के लिए जोर दिया है। विनोबा जी कहते हैं, "हमारे तीन सूत्र हैं —

(१) हमारी बात सुनने के बाद भी यदि कोई भूमि न दे तो हमें दुःख नहीं होगा, क्योंकि हमारा ख्याल है कि आज जो लोग नहीं दे रहे हैं, वे कल देंगे। विचार बीज अंकुरित न हो ऐसा नहीं हो सकता।

(२) हमारी बात समझ कर यदि कोई भूमि देता है तो हमें आनन्द होता है क्योंकि उससे फलस्वरूप सद्भावना की सृष्टि होती है।

(३) हमारी बात न समझ कर यदि किसी प्रकार का दबाव पड़ने के कारण कोई दान देता है तो इससे हमें दुःख होगा क्योंकि कैसे भी हो जमीन इकट्ठा करना हमारा उद्देश्य नहीं है। हमें सर्वोदय मनोवृत्ति की सृष्टि करनी होगी।"

सर्वोदय समाज—विनोबा जी द्वारा चलाये गये भूदान यज्ञ केवल भूमि हीन निर्धन किसानों को कुछ मुट्ठी भर लोगों से भूमि मांग कर बांट देने का नाम नहीं है। यह केवल ग्राम वासियों की आर्थिक स्थिति सुधारने का ही साधन नहीं है वरन् भूदान द्वारा देश में सर्वोदय समाज की स्थापना की जायगी। गांधी जी द्वारा बताये गये सर्वोदय के सिद्धान्तों के आधार पर जब समाज का जीवन संगठित किया जाय तो उससे सर्वोदय समाज की स्थापना हो सकती है। सर्वोदय समाज में प्रत्येक के लिए अपार सुख होगा। सब बराबर होंगे। ऊँच नीच के भेद भाव का कोई स्थान न होगा। राष्ट्र-पिता महात्मा गांधी ने ऐसे शोषणमुक्त, श्रेणीहीन अहिंसक समाज की स्थापना के लिए एक विस्तृत कार्यक्रम की रूपरेखा बनाई थी। जिसके अन्तर्गत निम्नलिखित १८ बातें जानने योग्य हैं:—

(१) हिन्दू मुस्लिम व साम्प्रदायिक एकता की स्थापना, (२) अस्पृश्यता निवारण, (३) मादक द्रव्य निषेध, (४) खादी, (५) अन्यान्य ग्राम उद्योग, (६) ग्रामों की

स्वास्थ्य व्यवस्था, (७) नई बुनियादी तालीम, (८) प्रौढ़ शिक्षा, (६) महिलाओं का उद्धार, (१०) स्वास्थ्य रक्षा सम्बन्धी शिक्षा, (११) राष्ट्र भाषा प्रचार, (१२) मातृ भाषा के प्रति श्रद्धाभाव, (१३) आर्थिक साम्य प्रतिष्ठा के लिए चेष्टा, (१४) काग्रेस सगठन (स्वाधीनता युद्ध के लिए राष्ट्रीय राजनैतिक सस्था), (१५) किसान सगठन, (१६) मजदूर सगठन, (१७) छात्र सगठन और (१८) कुष्ट रोगी सेवा और कुष्ट रोग प्रतिकार।*

गाधी जी द्वारा कल्पित इस सर्वोदय समाज का आदर्श वास्तव मे बड़ा सराहनीय है। ऐसे समाज म प्रत्येक को अपनी उन्नति के लिए समान अवसर प्राप्त होगा। किसी प्रकार के भेदभाव के बिना प्रत्येक व्यक्ति अपने जीवन में उच्चतम शिखर पर पहुँचने की कल्पना कर सकता है। निर्धनता अथवा किसी निम्न श्रेणी मे जन्म लेने से उसके विकास एव उन्नति के मार्ग म कोई बाधा नहीं आ सकती। विनोबा जी के शब्दो मे "गाधी जी के बाद सर्वोदय सिद्धान्त मानने वाले हम कुछ लोगों ने एक समाज बनाया है जिसम कोई किसी से द्वेष नहीं करता। सब सबसे प्रेम भाव रखते हैं। कोई किसी का शोषण नहीं करता। मेरा विश्वास है कि जब ही हम शोषण रहित समाज निर्माण कर सकेंगे। हिन्दुस्तान के लोगो की प्रतिभा प्रकट हुए बिना नहीं रहेगी।"

गाधी जी द्वारा बताये गये सर्वोदय समाज की प्रेरणा उन्हें प्रसिद्ध अग्रेज लेखक रस्किन (Ruskin) के सुप्रसिद्ध ग्रन्थ 'अन टू दिस लास्ट (Unto this Last) से प्राप्त हुई जिसका उन्होंने स्वय अनुवाद किया था। महात्मा जी ने इस ग्रन्थ का नाम ही सर्वोदय रक्खा था परन्तु विनोबा जी ने इस सर्वोदय शब्द को एक मत्र मानकर कार्य प्रारम्भ किया। उनके विचार से लोगों को सर्वोदय का मन्त्र तो अवश्य मिल गया है परन्तु उस मन्त्र का उस समय तक कोई वास्तविक प्रभाव लोगों के जीवन पर नहीं पड़ सकता जब तक कि उस मन्त्र का साक्षात् दर्शन प्राप्त करने के लिए एव हृदय से उसकी साकार मूर्ति बनाने के लिए वे किसी कार्य मे तन मन धन से न लग जाये। विनोबा जी सर्वोदय द्वारा लोगो के जीवन म शान्तिपूर्ण क्रान्ति एव परिवर्तन लाने के लिए सदैव कोई ऐसा कार्य ढूढ़ते रहे, और यह कार्य उन्हे मिल भी गया। तेलगाना मे १८ अप्रैल १९५१ म १०० एकड भूमि का दान उन्हें क्या मिला जैसे उन्हें एक अमूल्य निधि मिल गई हो ऐसी निधि जिसके द्वारा सारे देश का कल्याण कर सकते है। वह है 'भूदान यज्ञ'। जैसा विनोबा जी ने स्वय कहा है—"सारे समाज के लिए जब विचार प्रेरक मन्त्र लिया जाता है तब पत्थर की मूर्ति या ग्रन्थ नहीं बल्कि जीवन म परिवर्तन लाने की कोई क्रिया चाहिए। तब उस मन्त्र को आकार आ जाता

*Bhandari, C C, *Bhoodan Kya aur Kyon*, p. 40.

है। इस तरह का कोई कार्य म ढूंढ रहा था जो कि तेलगाना में वह मेरे हाथ आया। तब से मै उस चीज को पकड़ हुए हू।"*

सर्वोदय समाज की स्थापना करना आज के युग म अत्यन्त आवश्यक है। जब चारो ओर ससार म अशान्ति की भावना फैली हो, पारस्परिक द्वेष तथा भेद का बोल बाला हो, राष्ट्र के बीच तनातनी का वातावरण हो, ऐसी स्थिति म मानव जीवन कैसे सुखी रह सकता है। ऐसे अशान्तिपूर्ण वातावरण म मानव की आत्मा म शान्ति कैसे आ सकती है और बिना शान्ति के वह जीवन के लक्ष्य को कैसे प्राप्त कर सकता है। ऐसी अवस्था म सर्वोदय के प्रकाश द्वारा ही ससार का कल्याण सम्भव है तथा मानव जाति को सुख व शान्ति की आशा हो सकती है।

भूदान एव कानून—जब सर्वोदय सिद्धान्तो के अनुसार विनोबा जी ने देश की भूमि समस्या के समाधान करने का बीड़ा उठाया उस समय राष्ट्र आश्चर्यचकित हो गया। कुछ लोगो के हृदय म यह आशका उत्पन्न हुई कि जिस कार्य के लिए दुबले पतले वयोवृद्ध विनोबा जी गाव गाव पैदल घूमते फिरते है क्या वह कार्य कानून द्वारा नहीं किया जा सकता? इस सम्बन्ध म विनोबा जी का कहना है "सरकार अपना काम करेगी म अपना काम करूँगा। मेरा जन शक्ति पर ही भरोसा है। इसलिए मैं जन शक्ति को ही जाग्रत करने का काम कर रहा हू लेकिन सरकार को गरीबो के हित म कानून बनाने से कौन रोकता है। कानून बनाना तो उसी का काम है। लेकिन मेरा कानून पर विश्वास नही, जनशक्ति पर है। मै मानता हू कि कानून से कुछ मसले हल हो सकते हैं।" यह अवश्य सत्य है कि कानून बनाकर हम देश की भूमि समस्या को हल करने म बहुत हद तक सफल हो सकते हैं परन्तु दोनो मार्गों म बहुत अन्तर है। भूदान द्वारा प्रेम एव सद्भावना का वातावरण तैयार करके हम लोगो को अपनी भूमि का कुछ भाग दूसरों के कल्याण एव सुख के लिए दे देने की प्रेरणा प्रदान करते हैं जब कि कानून उनसे जबरदस्ती यह काम करा लेगा। उन्हें अपनी भूमि दे देने के लिए बाध्य करेगा। परन्तु इस कार्य को कानून द्वारा पूरा किये जाने से आवश्यक नैतिक वातावरण कदापि उत्पन्न नही हो सकता। भूमि समस्या को हल करने के लिए कानून व भूदान यज्ञ दो विभिन्न मार्गों म सुस्पष्ट निम्नलिखित अन्तर स्मरणीय है —

(१) सरकार कानून के बल पर जमीन छीन ले सकती है किन्तु जमीन लेने की यह पद्धति मनुष्य के हृदय म प्रेम की सृष्टि नही कर सकती।

(२) भूदान यज्ञ के द्वारा हृदय के साथ हृदय का मिलन होता है किन्तु कानून से वह सम्भव नही है बल्कि उससे कटुता बढ़ती है।

---

*लोहरदगा २४ ११ ५२

(३) भूदान यज्ञ के द्वारा जनता की शक्ति जागेगी और वह समाज को सर्वांगिक क्रान्ति के पथ पर अग्रसर करेगी। कानून वह शक्ति जगाने में अक्षम है।

(४) भूदान यज्ञ समाज में विचार क्रान्ति की सृष्टि करेगा। भूदान यज्ञ का सर्वाधिक क्रान्तिकारी सुफल होगा, स्वामित्व विसर्जन भावना के द्वारा जमीन छीनी जा सकने पर भी स्वामित्व विसर्जन की मनोवृत्ति पैदा कर सकना सम्भव नहीं है क्योंकि कानून निषेधक शक्तिहीन होता है। अधिक से अधिक कानून खराब कामों को रोक सकता है परन्तु सत्प्रेरणा उत्पन्न करने में वह अक्षम है।

(५) भूदान यज्ञ में धनी गरीब का कोई भेद न रखते हुए सबसे जमीन ली जाती है। किन्तु कानून के द्वारा निर्धारित सीमा से अधिक जमीन मात्र ही ली जा सकती है।*

उपरोक्त परिणामों से यह स्पष्ट है कि जो कार्य हम भूदान द्वारा करने में सफल हो सकते हैं, कानून से वह सफलता मिलना असम्भव है। भूदान यज्ञ द्वारा हम समाज में हृदय परिवर्तन ला सकते हैं, उन्हें सद्व्यवहार, प्रेम, सहानुभूति, सद्भावना तथा पड़ोसी धर्म की शिक्षा दे सकते हैं। हम उन्हें ऐसा मार्ग बता सकते हैं जिससे वह स्वेच्छा द्वारा समाज एवं विनोबा की सहायता के पावन कार्य में हाथ बँटा सकते हैं।

भूदान एवं साम्यवाद
(Bhoodan and Communism)

विनोबा जी ने जब भूदान यज्ञ का कार्य प्रारम्भ किया तो भूमिहीन किसानों की आर्थिक समस्या के हल के साथ साथ उनके मन में समाज में हृदय परिवर्तन की बात अवश्य आई होगी तभी तो उन्होंने केवल बाहरी परिवर्तन की ओर ध्यान न देकर मनुष्य के आन्तरिक परिवर्तन की बात सामने रखी। इस बाहरी और आन्तरिक परिवर्तन के लिये सर्वोदय के सिद्धान्त पर चलाये गये भूदान यज्ञ से बढ़कर और कोई मार्ग क्या हो सकता है। साम्यवादियों ने भी इस समस्या के हल का कार्य शुरू किया परन्तु उनका मार्ग हिंसा का मार्ग था। ऐसे हिंसात्मक संघर्ष, अशान्ति और रक्तपात से होने वाली क्रान्ति से हम केवल समाज में बाह्य परिवर्तन लाने में ही सफल हो सकते हैं। इसके द्वारा आर्थिक एवं आन्तरिक क्रान्ति की बात सोचना व्यर्थ है और न इन तरीकों से हम प्रेम की अपूर्व शक्ति जाग्रत करने में ही समर्थ हो सकते हैं। बिना विचार क्रान्ति के जबरदस्ती किसी की भूमि का बँटवारा करने से समाज में सद्भावना, प्रेम, सहानुभूति एवं पारस्परिक मित्रता एवं स्नेह की भावना का सचार कदापि नहीं हो सकता। भूदान यज्ञ हमें शान्ति और प्रेम का मार्ग बताता है। यही केवल ऐसा मार्ग है जिसके द्वारा बाहरी एवं आन्तरिक दोनों परिवर्तन लाये जा सकते हैं। उपराष्ट्रपति

*Ibid., p. 115

सर्वपल्ली राधाकृष्णन ने भूदान यज्ञ को "सहमति से क्रान्ति" (Revolution by consent) कहकर सम्बोधित किया है।

भूदान के पांच सोपान—विनोबा जी ने भूदान यज्ञ के पाँच सोपानों की व्याख्या की है जो निम्न हैं—

(१) अशान्ति दमन—इसके अन्तर्गत तेलंगाना में सर्वत्र फैली हुई अशान्ति को समाप्त कर शान्तिपूर्ण वातावरण उत्पन्न किया गया।

(२) ध्यान आकर्षण—तेलंगाना की सफलता से सम्पूर्ण देश का ध्यान भूदान की महिमा ने आकर्षित कर लिया। यही भूदान का दूसरा सोपान है।

(३) निष्ठा निर्माण—भूदान के तीसरे सोपान में किया गया सबसे महत्व पूर्ण कार्य था—कार्य कर्ताओं के मन में आत्मविश्वास की भावना जाग्रत करना जिसके बिना भूदान जैसे देशव्यापी आन्दोलन को चलाने में सफलता मिलना असम्भव था।

(४) व्यापक भूमिदान—भूदान यज्ञ के इस चौथे सोपान में इस बात के अनुभव की आवश्यकता प्रतीत हुई कि किस प्रकार किसी एक प्रान्त अथवा प्रदेश में जमीन के मालिकों से उनकी भूमि का छठा भाग प्राप्त किया जा सकता है।

(५) भूमि क्रान्ति—भूदान यज्ञ की निरन्तर प्रगति के फलस्वरूप जब इस विचारधारा का विकास होता है कि भूमि सब की है, अतः इस पर व्यक्तिगत अधिकार होना उचित नहीं है, ग्राम की समस्त भूमि पर सम्पूर्ण ग्राम वासियों का आधिपत्य होना चाहिये जिसके फलस्वरूप सारा गाँव एक परिवार के रूप में परिणत हो जाये तब भूदान यज्ञ अपने पाँचवे सोपान पर पहुँच जायगा।

भूदान आन्दोलन की कार्यप्रणाली

(Technique of Bhoodan Movement)

भूदान-यज्ञ सम्बन्धी समस्त कार्य आचार्य विनोबा जी के निर्देशन में 'अखिल भारतीय सर्वसेवा संघ' के तत्वावधान में चल रहा है। इस कार्य के लिए देश के प्रत्येक प्रान्त के जिले तथा ग्राम में भूदान समितियों का संगठन किया गया है। पैदल गाँव गाँव चलकर भूदान यज्ञ के कार्यकर्ता प्रत्येक व्यक्ति तक विनोबा जी का संदेश पहुँचाते हैं और उनसे उनकी भूमि के छठवें भाग को भूमिहीन किसानों में बाँटने के लिये प्रार्थना करते हैं। इस प्रकार दान में प्राप्त हुई भूमि को इन निर्धन तथा भूमिहीन किसानों में बाँट दिया जाता है और आवश्यक कानूनी लिखा पढ़ी कर दी जाती है। भूदान द्वारा प्राप्त भूमि कैसी है ? इसके लिये मौके पर भूमि जाँच कर ली जाती है और जितनी भूमि होती है उसके आधार पर कुछ निर्धन भूमिहीन किसानों को उस भूमि को प्राप्त करने के लिये चुन लिया जाता है। इस प्रकार दान में प्राप्त होने वाली भूमि उनके लिये जीवकोपार्जन का साधन बन जाती है परन्तु वे उसको बेच नहीं सकते

और यदि भूमि प्राप्त होने के दो वर्ष तक भूमि पर खेती नहीं की गई है तो उस भूमि को किसान से लेकर दूसरे भूमिहीन किसान को दी जा सकती है परन्तु यदि वह भूमि ऐसी है जिसे पहले नहीं जोता गया है तो ऐसी भूमि को प्रयोग करने के लिये तीन साल का समय दिया जाता है। भूदान द्वारा प्राप्त भूमि को मिलाकर यदि एक बड़े 'चक' अथवा 'खेत' बनाने की आवश्यकता हो तो उसके लिये आपस में किसानों को भूमि अदल बदल करने की स्वतन्त्रता दी जाती है।

भूमि वितरण की समस्यायें—साधारणतया भूदान यज्ञ में जो भूमि किसी गाँव में प्राप्त होती है उसे उसी गाव के भूमिहीन किसानों में बाँटा जाता है परन्तु यदि भूमि इतनी है जो उनमें बाटने के बाद बच जाती है तो अन्य गाँव के भूमिहीनों में भी उसे बाँटा जा सकता है और दूसरे गाव से लाकर हरिजन परिवारों को उस भूमि पर बसाया जा सकता है। वास्तव में भूदान यज्ञ में सबसे जटिल कार्य भूमि वितरण का है। आन्दोलन के प्रारम्भ काल में भूमि वितरण की ओर अधिक ध्यान नहीं दिया गया। इस सम्बन्ध में विशेष प्रगति 'बोध गया' सम्मेलन के पश्चात् ही हुई है। एक जटिल तथा दायित्वपूर्ण कार्य होने के कारण भूमि वितरण का कार्य सफलतापूर्वक चलाने के लिए कार्यकर्ताओं में कुछ विशेष गुणों की आवश्यकता है। एक क्रान्तिकारी दृष्टिकोण के साथ साथ उनमें न्याय परायणता तथा निरपेक्ष भावना का होना अनिवार्य है। तभी तो वितरण सम्बन्धी विनोबा जी द्वारा निर्धारित सिद्धान्तों का पूर्ण रूप से पालन करके भूदान यज्ञ के उद्देश्य की पूर्ति में सफल हो सकेंगे। भूमि वितरण के सम्बन्ध में निम्नलिखित आवश्यक बातें बड़ी महत्वपूर्ण हैं।

भूमि वितरण के सिद्धान्त

(Principles of Land Distribution)

(१) भूमि वितरण का समस्त कार्य गाँव की सार्वजनिक सभा में होना चाहिये। (२) गाँव के प्रत्येक व्यक्ति को भूमि वितरण सम्बन्धी समस्त जानकारी देने के लिये वितरण का कार्य प्रारम्भ होने से एक सप्ताह पूर्व सम्पूर्ण गाँव में इसकी घोषणा कर देनी चाहिये। (३) भूमि वितरण का समस्त कार्य ग्रामवासियों अथवा भूमिहीनों की सर्व सम्मति से होनी चाहिये। यदि कोई मतभेद हो तो उसके लिये पर्ची डाल देनी चाहिए। (४) कार्यकर्ताओं का मुख्य कार्य भूमि वितरण में एक सहायक अथवा गवाह के रूप में होना चाहिये। (५) जहाँ तक हो सके दान में प्राप्त भूमि का ⅓ भाग हरिजन भूमिहीनों में ही वितरित की जाये। (६) जिस गाँव में जमीन दान में मिली हो उसे उसी गाँव के भूमिहीनों में वितरित करनी चाहिये परन्तु अगर उनको दे देने के बाद जमीन का कुछ भाग बच जाता है तो पास के अन्य गाँव के भूमिहीनों में उसे बाँट देनी चाहिये।

भूमि वितरण के सम्बन्ध में उत्पन्न होने वाली एक समस्या यह है कि भूदान

से प्रत्येक को मिलने वाली भूमि के टुकड़े टुकड़े हो जायेंगे। अतः ऐसी स्थिति में उनका उत्पादन कम हो जायेगा। विनोबा जी ने इस सम्बन्ध में उठने वाली आशंका को दूर करते हुए कहा है, "किन्तु भाइयो आज हृदय के टुकड़े-टुकड़े हो गये हैं यह क्या आपको अच्छा लग रहा है? आज सब के हृदय खण्ड खण्ड हो गये हैं। यदि हृदय के टुकड़े जुड़ जायेंगे तो जमीन के टुकड़े भी सहज ही जुड़ जायेंगे। गरीबों को जब जमीन दी जा चुकेगी तब उन्हें सहकारिता की शिक्षा देना विशेष कष्ट साध्य नहीं होगा यदि हृदय जुड़ जाये तो क्या जमीन को जोड़ सकना कठिन होगा? किसे पहले जोड़ना होगा यह तो बुद्धि की बात है।"

भूदान का आलोचनात्मक अध्ययन—भूदान यज्ञ के सम्बन्ध में अधिक जानकारी न होने के कारण कुछ व्यक्तियों ने आन्दोलन की वास्तविक प्रगति पर सन्देह प्रगट किया है। इन आलोचकों का कहना है कि प्रायः भूदान में लोग ऐसी जमीन दान के रूप में दे देते हैं जो बंजर अथवा खेती के लिए अयोग्य होने के कारण उनके लिए अनुपयोगी है। कभी कभी झगड़े की जमीन को भी दान में दे दिया जाता है। ऐसी स्थिति में जमीन पाने वाले को भूमि से क्या लाभ होगा? कुछ व्यक्तियों ने भूदान यज्ञ की इसलिये भी आलोचना की है कि इससे भूमि का अनावश्यक खण्डीकरण होता है तथा खेती में सुधार एवं उन्नत विधियों के प्रयोग के लिये प्रोत्साहन देने के बजाय खेती के पिछड़े हुए अथवा हानिकारक तरीकों को बढ़ावा मिलता है। इसके अतिरिक्त अन्य आलोचकों ने भूदान की प्रगति पर भी सन्देह प्रगट किया है। उनके विचार से भारत एक विशाल देश है जिसकी भूमि समस्या अत्यन्त जटिल है जिसे सुलझाना भूदान का काम नहीं है। भूदान द्वारा हम इतनी भूमि कदापि नहीं प्राप्त कर सकते जो कि देश की सम्पूर्ण भूमिहीन निर्धन किसानों की समस्या को सुलझाने के लिए पर्याप्त हो। इतनी जटिल एवं विशाल समस्या केवल गाँव गाँव के लोगों से भीख के द्वारा माँगी हुई भूमि से यह समस्या कदापि हल नहीं हो सकती। यदि इस तरह भारत की भूमि समस्या का हल किया गया तो शताब्दियाँ लग जायेंगी। परन्तु यदि हम आलोचकों की इन बातों को एवं उनके मन में उठे इन सन्देहों को भली भाँति सोचें तो स्पष्ट हमें इस बात का अनुभव होगा कि ये आलोचनाएँ निरर्थक हैं अथवा उनकी शंकाएँ निराधार हैं।

यह कहना कदापि सत्य नहीं है कि भूदान में जो भी भूमि प्राप्त हुई है वह बंजर होने या अन्य किसी कारण से खेती के लिए अनुपयुक्त है। विनोबा जी ने अपने अथक परिश्रम द्वारा अब तक लगभग ४४ लाख एकड़ भूमि का दान प्राप्त किया है जिसकी अधिकांश भूमि ऐसी है जिस पर खेती करके भूमिहीन निर्धनों के जीवन में नये सुख एवं आनन्द का संचार हुआ है। कुछ भूमि यदि खराब भी है तो इस कारण हमें भूदान आन्दोलन के प्रति सन्देह नहीं करना चाहिये। जहाँ तक भूमि के खण्डीकरण की समस्या

का हल है यह सन्देह भी पूर्णतया निराधार है जैसा कि विनोबा जी ने कहा है कि "जब हृदय मिल जायेंगे तो भूमि के टुकड़े में भी कोई कठिनाई न होगी। इस कारण यदि भूमि का थोड़ा बहुत उपखण्डन भी हुआ है तो भूमि वितरण के पश्चात् लोगों में सहकारिता की भावना को जाग्रत कर सहकारी कृषि द्वारा इस समस्या को हल करने में कोई कठिनाई न होगी। और फिर यथासम्भव खण्डित भूमि को एक बड़े जोत में परिवर्तन करने के लिये आवश्यक सुविधायें प्रदान करने से यह समस्या हल होते मुश्किल नहीं दीखती। जिन लोगों ने भूदान की प्रगति पर सन्देह किया है उनसे हमारा नम्र निवेदन है कि वे निराश न हों। भारत में इस समय जिस तेजी के साथ भूदान आंदोलन की प्रगति हो रही है उससे समस्या के सफल निवारण में बिल्कुल सन्देह नहीं करनी चाहिये।

आज भारत के समक्ष केवल भूमि हीन किसानों की ही समस्या नहीं है वरन् सम्पूर्ण देश में नैतिकता एवं चरित्र निर्माण की समस्या है। भूदान यज्ञ का सबसे बड़ा फल यही नहीं कि देश की भूमिहीन एवं निर्धन जनता को एक नये सुखी जीवन का सन्देश मिल रहा है और धीरे धीरे उनकी आर्थिक स्थिति सुधरती जा रही है। आन्दोलन की सबसे बड़ी देन यह है कि आज सम्पूर्ण देश में प्रेम, सद्भावना एवं शान्तिपूर्ण क्रान्ति का एक सुखद वातावरण उत्पन्न हो गया है ऐसे वातावरण में भूमिहीनों की एक समस्या क्या भारत की अनेक आर्थिक, सामाजिक, राजनैतिक तथा नैतिक समस्याओं का हल बड़ी आसानी से हो जायेगा। आवश्यकता थी पृष्ठभूमि की, वातावरण की और विचार परिवर्तन की, सो यह काम भूदान यज्ञ ने कर दिखलाया। आज पूज्य गांधी जी द्वारा निर्देशित सर्वोदय के सिद्धान्त का जितना महत्व लोगों की समझ में आ रहा है उतना शायद इससे पहले कभी नहीं समझा गया था। आज देश में एक अनूठी शान्तिपूर्ण क्रान्ति सजग हो उठी है।

भूदान आन्दोलन की प्रगति—सन् १९५१ में आचार्य विनोबा जी द्वारा चलाये गये भूदान में निरन्तर प्रगति हो रही है। इस प्रगति ने देश को क्या सारे संसार को चकित कर दिया है हमारे देश में जून १९५८ तक दान में प्राप्त होने वाली कुल भूमि लगभग ४४ लाख एकड़ थी तथा ग्राम दान में प्राप्त होने वाली सम्पूर्ण ग्रामों की संख्या ४५७० थी। सबसे अधिक भूमि लगभग २१ लाख १४ हजार केवल बिहार राज्य में ही प्राप्त हुई। इसके पश्चात् उत्तर प्रदेश का नम्बर आता है। जिसमें ५·८८ लाख एकड़ भूमि का दान प्राप्त हुआ है। इसके पश्चात् राजस्थान और उड़ीसा का नाम उल्लेखनीय है जहाँ ४.९५ लाख एकड़ भूमि का दान प्राप्त हुआ है। भूमि वितरण का कार्य अभी जोरों से नहीं चल रहा है। अतः अब तक कुल भूमि का केवल १८ प्रतिशत भाग अर्थात् ७ लाख ८३ हजार एकड़ भूमि ही को भूमिहीन किसानों में वितरित किया जा सका है। भूदान आन्दोलन एक विशाल आयोजन है इसके द्वारा लगभग एक करोड़ भूमिहीन किसानों के लिए ५ करोड़ एकड़ भूमि दान प्राप्त करने

का लक्ष्य रखा गया है। उद्देश्य यह है कि प्रत्येक भूमिहीन किसान को उसके तथा उसके परिवार के जीवन निर्वाह के लिए ५ एकड़ भूमि अवश्य प्राप्त हो। निम्न तालिका में हम जून १९५८ तक भारत के विभिन्न प्रान्तों में भूदान आन्दोलन की प्रगति का विस्तृत विवरण प्रस्तुत कर रहे हैं :—

भूदान में प्राप्त भूमि तथा उसका वितरण

राज्य अथवा प्रदेश	दान में प्राप्त भूमि (एकड़)	वितरित की गई भूमि (एकड़)
असम	२३,१६६	२२५
आन्ध्र प्रदेश	२,४१,६५०	८३,०६०
उड़ीसा	४,२४,६३५	१,११,७८५
उत्तर प्रदेश	५,८७,६३०	७७,७५८
केरल	२६,०२१	२,१२६
दिल्ली	३६६	१५७
पंजाब	१६,६२६	५,६५३
पश्चिमी बंगाल	१२,६८१	३४६३
बम्बई		
(१) गुजरात	४७,४८६	११,५२७
(२) महाराष्ट्र	६४,३६०	१०,५६१
(३) विदर्भ	८६,७७८	४५,०००
(४) सौराष्ट्र	३१,२३७	८,१८५
बिहार	२१,१३,६३८	२,८६,२८६
मद्रास	७०,८२३	२,३४६
मध्य प्रदेश	१,७८,८१६	६२,४५०
मैसूर	१६,६७३	२,५२७
राजस्थान	४,२६,४८८	६६,३६२
हिमाचल प्रदेश	१,५६८	२१
योग	४४,००,६०५	७,८२,५२५

भूदान आन्दोलन की देन

(Contribution of Bhoodan Movement)

भारत में आचार्य विनोबा जी द्वारा चलाये गये भूदान यज्ञ से देश को अनेक आर्थिक, सामाजिक एवं नैतिक लाभ हुए हैं। वास्तव में यह शान्तिपूर्ण क्रान्तिकारी आंदोलन सर्वथा भारत की सांस्कृतिक सभ्यता तथा परम्परा के सर्वथा अनुकूल है। जिस प्रकार प्राचीन समय से हमारा देश आध्यात्मिक तथा नैतिक क्षेत्र में संसार का नेतृत्व

करता चला आ रहा है उसी प्रकार आज विनोबा जी के निर्देशन में भारत को अपने अतीत के गौरव को प्राप्त करने का अवसर मिल रहा है। भूदान यज्ञ ने जिस प्रकार भारत के आर्थिक, सामाजिक एवं नैतिक परिवर्तन का बीड़ा उठाया है, संसार के विचारकों एवं नेताओं को इससे आश्चर्य होना स्वाभाविक ही है। अब हम भूदान द्वारा प्राप्त आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक एवं नैतिक लाभों की विवेचना करेंगे।

आर्थिक लाभ—भूदान का सबसे पहला लाभ यह हुआ है कि उसने इस ओर जनता का ध्यान आकर्षित कराया है कि भूमि भी प्रकृति की अन्य स्वतन्त्र देनों (free gifts of nature) में से एक है। अतः जिस प्रकार वायु, प्रकाश तथा जल पर किसी का अधिकार नहीं है उसी प्रकार जमीन भी सबकी होनी चाहिये। भूमि व्यक्तिगत अधिकार की वस्तु (private property) नहीं है। भूदान ने आर्थिक क्षेत्र में आर्थिक शक्ति के केन्द्रीकरण (concentration of economic power) के विरुद्ध आवाज उठाकर धन के समान वितरण तथा आर्थिक विषमता की ओर आवश्यक प्रयत्न करने का महत्व दर्शाया है। देश की भूमि तथा भूमिहीनों की जटिल समस्या की ओर ध्यान आकर्षित करा के भूदान ने सहकारी-कृषि तथा कृषि के सुधार में महत्वपूर्ण योग दिया है। ग्रामीण क्षेत्रों में बसे हुए निर्धन तथा भूमिहीनों की आर्थिक तथा सामाजिक स्थिति को सुधारने की आवश्यकता पर बल देकर भूदान ने फिर इस ओर ध्यान आकर्षित किया है कि भारत जैसे कृषि प्रधान देश में उसकी कृषि की उन्नति कृषकों की आर्थिक एवं सामाजिक समृद्धि पर ही निर्भर करती है (The prosperity of agriculture depends upon the prosperity of the agriculturist.)

सामाजिक लाभ—सामाजिक क्षेत्र में भी भूदान आन्दोलन का महत्वपूर्ण योग है। इसके द्वारा ग्रामवासियों में सद्भावना, प्रेम, सद्व्यवहार तथा भाई-चारे की भावना जाग्रत हुई है, प्रत्येक अपनी ही उन्नति में सन्तुष्ट न रहकर दूसरे की उन्नति में भी सहायक हों, इसका पाठ फिर से भूदान ने दुहराया है। सम्पूर्ण ग्राम में प्रेम की दृढ़ भावना का जन्म देकर ग्रामवासियों को एक परिवार के रूप में रहने की प्रेरणा दी। ग्रामदान का उद्देश्य ही सारे गाँव को एक परिवार में परिणत कर देना है।

सांस्कृतिक लाभ—सांस्कृतिक दृष्टि से भी भूदान आन्दोलन का महत्व कम नहीं है। ग्रामवासियों में प्रेमपूर्वक सामूहिक जीवन की प्रेरणा देकर भूदान ने भारत के ग्रामों को स्वर्ग बना दिया है। समय-समय पर गाँव में आयोजित होने वाले खेल-कूद, संगीत, प्रार्थना तथा प्रवचनों के आयोजन होने से देशवासियों के हृदयों में भारत के प्राचीन संस्कृति के अंकुर पुनः फूट उठे हैं। भूमि क्रांति के पश्चात् भारत के ग्रामों में चारों तरफ सुख शांति की वर्षा होने लगी है जिससे उनका सांस्कृतिक जीवन लहलहा उठा है।

नैतिक लाभ—भूदान आन्दोलन से भारत के नैतिक जीवन में क्रान्ति आ गई है। शान्तिपूर्ण तथा अहिंसा द्वारा भूदान यज्ञ ने भारतवासियों के हृदय में नैतिकता की वृद्धि कर दी है। प्रेम, त्याग एवं समाज सेवा की भावना जगाकर भूदान ने देश के नैतिक स्तर को ऊँचा उठाने में बड़ा योग दिया है। धन संग्रह के विरुद्ध तथा अपनी आवश्यकता से अधिक किसी वस्तु को न रखने का पाठ हमें भूदान ही ने दिया है। चोरी, डकैती, मारपीट तथा हिंसात्मक कार्यों से दूर रहने की प्रेरणा भूदान का प्रमुख नैतिक परिणाम है।

उपसंहार—भूदान सम्बन्धी उपरोक्त अध्ययन से यह पूर्णतया स्पष्ट हो जाता है कि यदि आधुनिक भारत में कोई सबसे महत्वपूर्ण एवं रचनात्मक कार्य हो रहा है तो वह है भूदान आन्दोलन जिसका उद्देश्य भारत की विशाल भूमिहीन, निर्धन जन संख्या के जीवन में आर्थिक तथा सामाजिक उन्नति लाना है। इस क्षेत्र में वास्तव में काफी प्रगति भी हुई है जैसा कि इस अध्याय में स्थान-स्थान पर दिये गये आँकड़ों से स्पष्ट है। परन्तु हमारे मन में यह प्रश्न उठना स्वाभाविक ही है कि क्या भूदान यज्ञ द्वारा हम भारत की कृषि तथा भूमिहीनों की समस्या हल कर सकेंगे? देश में जनसंख्या की निरन्तर वृद्धि होती जा रही है जिससे भूमि पर भार बढ़ता जा रहा है जिसके कारण एक ओर तो भूमिहीन किसानों की संख्या बढ़ती जा रही है दूसरी ओर कृषि की अनेक समस्याएँ उत्पन्न होती जा रही हैं। इस स्थिति में भारत की समस्त आर्थिक तथा सामाजिक समस्याओं के लिये हम भूदान पर पूर्णतया निर्भर नहीं रहना चाहिये। इस समय भारत में लगभग एक करोड़ भूमिहीन निर्धन किसान हैं। तो क्या भविष्य में इनकी संख्या बढ़ती न जायेगी? इसलिये इस कारण जहाँ एक ओर इस समस्या के हल के लिये हम भूदान आन्दोलन की ओर निहार सकते हैं वहाँ दूसरी ओर हमें अन्य प्रयत्नों का भी सहारा लेना होगा। भूदान का महत्व केवल देश की ग्रामीण समृद्धि तथा भूमिहीन किसानों तक ही सीमित नहीं है वरन् हम तो भूदान द्वारा उत्पन्न ऐसे वातावरण की सहायता प्राप्त है जिसमें ग्रामोत्थान तथा ग्रामीण जनता की सामाजिक, आर्थिक, नैतिक एवं सांस्कृतिक उन्नति की अनेक योजनाएँ सरलतापूर्वक कार्यान्वित की जा सकती हैं। प्रधान मन्त्री श्री नेहरू के शब्दों में—"इस आन्दोलन के द्वारा एक ऐसा अनुकूल मनोवैज्ञानिक वातावरण समाज में होता जा रहा है जिसने हमारी भावी समस्याओं को बहुत कुछ सरल बना दिया है।"

प्रश्न

1. Assess the economic significance of the 'Bhoodan Movement' and indicate how it is going to help the landless labourers of the country. (*Patna, 1944*)

2. "The Bhoodan approach is unsuitable in the context of land policy appropriate to a plan of economic development." Comment. (*Bombay, 1955*)

खण्ड ५

सहकारिता

१. भारत में सहकारिता आन्दोलन

अध्याय १८

सहकारिता आन्दोलन

(Co operative Movement)

ससार का प्रत्येक व्यक्ति स्वार्थ पूर्ति म लगा हुआ है। परतु क्या वह अपनी समस्त आवश्यकताओ तथा लक्ष्यों को पूरा करने की सामर्थ्य रखता है? उसके स्वार्थ पूर्ण इस जीवन म दो कठिनाइया आती हैं। पहली कठिनाइ स्वय उसकी शक्ति, समय तथा साधनों के सीमित होने से उत्पन्न होती है। दूसरी कठिनाई तब आती है जब उसके सामने पारस्परिक विरोधी लक्ष्य उपस्थित हो जात है। स्वार्थी व्यक्ति सहकारी जीवन को मानव प्रकृति के सर्वथा प्रतिकूल समझता है। परतु वास्तविकता यह है कि सहकारिता ही एक ऐसा साधन है जिसके द्वारा वह अपने सीमित साधनों एव सामर्थ्य के कारण उत्पन्न होने वाली अनेक कठिनाइया पर विजय प्राप्त कर लेता है। अत सहकारिता व्यक्तिगत दुर्बलताओं पर विजयी होने और समाज के निर्बल, शक्तिहीन एव असहाय व्यक्तिया क लिए शक्ति का एक अपार स्रोत है। सहकारिता पूर्ण मानव जीवन और सभ्यता के उच्चतम विकास क लिए अवश्यम्भावी है। अत पारस्परिक सहयोग एव साहचर्य के मार्ग में आने वाली समस्त बाधाओ को दूर करना अनिवार्य है। प्रसिद्ध विद्वान् एल्टन मेयो (Elton Mayo) के शब्दा म "Civilized society can destroy itself if fails to understand intelligently and to control the aids and deterrents to co operation "*

सहकारिता का अर्थ

(Meaning of Co operation)

सहकारिता का अर्थ मिलकर काम करना है। अत जब दो या दो से अधिक व्यक्ति किसी सामान्य उद्देश्य के लिए मिलकर कार्य करते हैं तो सहकारिता के अर्थ का

* Hence co operat on is a method of conquering individual weaknesses and a source of profound strength to weaker strengthless and helpless members of society'—*Dr J N Nigam, Economics Bulletin* 1954

स्पष्टीकरण होता है। इस प्रकार का सहयोग एव सहकार्य हम जीवन के विभिन्न क्षेत्रों म देखने को मिलता है। खेल कूद क क्षेत्र म दल भावना (team spirit) पर्वतारोहा दल म लक्ष्य की एकता (unity of purpose) तथा चोरी तथा लूटमार करने वाला क सयुक्त प्रयत्न (joint efforts), इन सभी उदाहरणों म हमें सहकारिता का चित्र दृष्टिगोचर होता है। परन्तु अर्थशास्त्र म इसका अर्थ इसके साधारण अर्थ से भिन्न है। दोना म मुख्य अन्तर उसक नैतिक पक्ष के कारण उत्पन्न होता है जब कि उपरोक्त अर्थानुसार व्यक्तियों क पारस्परिक सहयोग का कोई नैतिक पक्ष नहीं है अर्थात् किसी भा काय को पूरा करने की दृष्टि से अथवा कोई लक्ष्य प्राप्त करने क लिय चाहे वह अच्छा हो या बुरा, मिलने वाले कुछ व्यक्तियों क कार्य को हम सहकारिता कह सकते हैं परन्तु अर्थशास्त्र म सामान्य उद्देश्य की पूर्ति क साथ साथ लक्ष्या का नैतिक पक्ष भी अत्यन्त महत्वपूर्ण है। इस दृष्टि से किसी भी सामान्य आर्थिक उद्देश्य की पूर्ति के लिए समानता क आधार पर स्वतन्त्रता तथा स्वेच्छापूर्वक कार्य करने वाले व्यक्तिया के सगठन को सहकारिता कहा जा सकता है। सहकारिता में प्रत्येक व्यक्ति 'सबके लिए' और 'सब प्रत्येक के लिए" कार्य करते हैं। यही सहकारिता का प्रमुख सिद्धान्त है। सहकारिता म प्रत्येक को समान अधिकार प्राप्त होते हैं।

किसी पर अनुचित प्रभाव एव दबाव म पड सकने के कारण प्रत्येक अपना मत व्यक्त करने क लिये स्वतन्त्र रहता है। सहकारिता द्वारा किसी भी प्रकार शोषण नहीं हो सकता है। यही कारण है कि सहकारिता मानव की प्रगति एव सभ्यता के विकास का एक सरल एव शान्तिपूर्ण उपाय है। सहकारिता व्यक्तिगत स्वार्थ तथा निजी लाभ की भावना का अन्त कर मानव सद्व्यवहार, सहयोग एव मित्रतापूर्वक कार्य करने की प्रेरणा देता है यही मानव कल्याण का रहस्य है। समाज की आर्थिक एव नैतिक उन्नति का इससे उत्तम कोई साधन नहा। इसके अन्तर्गत व्यक्ति दूसरों के साथ सहयोग कर स्वय अपना भी हित करने म सफल होता है।

भारत के लिए सहकारिता कोई नवीन वस्तु नहीं है। प्राचीन काल से ही भारत क ऋषि मुनि तथा विद्वान् देशवासियों को सहकारिता का पाठ पढाते चले आये हैं। आधुनिक भारत म इस ओर ध्यान आकर्षित करने तथा सहकारिता के महत्व को समझाने का श्रेय राष्ट्रपिता महात्मा गाधी को भी है जिन्होंने सदैव भारतवासियों को मिलकर तथा आपस म सहयोग द्वारा कार्य करने की शिक्षा दी है। भारत जैसे निर्धन एव अधोविकसित देश क लिए सहकारिता अत्यन्त आवश्यक है। सहकारिता का स्पष्ट अर्थ समझने के लिए आवश्यक है कि हम कुछ परिभाषाओं का अध्ययन करें —

परिभाषाएँ
(Definitions)

विभिन्न विद्वानों तथा अर्थशास्त्रियों ने सहकारिता की विभिन्न परिभाषाएँ दी हैं।

कुछ निम्न परिभाषाओं से सहकारिता का अर्थ स्पष्ट हो जावेगा। उदाहरण के लिए प्रो० सेलिगमैन (Prof Seligman) ने सहकारिता की परिभाषा करते हुए कहा है कि "सहकारिता का पारिभाषिक अर्थ वितरण और उत्पादन में प्रतियोगिता का परित्याग कर समस्त प्रकार के मध्यस्थों को दूर करना है।"[1]

सर हारेस प्लंकेट के अनुसार "संगठन द्वारा प्रभावशील बनाया गया स्वावलम्बन" ही सहकारिता कहलाती है।[2] सर्वश्री एल० एस० गार्डन (L. S. Garden) और सी० ओ० ब्रियन (C O. Bren) ने सहकारिता की परिभाषा करते हुए कहा है कि "यह आर्थिक संगठन एक विशिष्ट रूप है जिसके अन्तर्गत लोग सुनिश्चित व्यावसायिक नियमों के अनुसार निश्चित व्यावसायिक उद्देश्यों के लिए मिलकर कार्य करते हैं। सहकारिता का आधार व्यापार और नीतिशास्त्र का वह सम्बन्ध है जो हमारी वर्तमान औद्योगिक प्रणाली की आवश्यक व्यावसायिक ईमानदारी से श्रेष्ठतर है।[3]

सहकारिता के मूल लक्षण

स्ट्रिकलैण्ड (Strickland) के अनुसार किसी सहकारी संगठन की दो प्रमुख विशेषताएँ होती हैं—स्वेच्छापूर्ण सदस्यता एवं जनतान्त्रिक संगठन। परन्तु विभिन्न विद्वानों तथा अर्थशास्त्रियों द्वारा दी गई सहकारिता की उपरोक्त परिभाषाओं के अध्ययन से सहकारिता के कुछ मूल लक्षणों का ज्ञान होता है जो इस प्रकार हैं—

---

1 'Co operation in its technical sense means abandonment of competition in distribution and production and elimination of middlemen of all kinds"—*Seligman*

2 "Self help made effective by organisation"—*Sir Horace Plunkett*

3 It is a special form of economic organisation in which the people work together for definite business purposes under certain definite rules The root of the co operative idea is a relation between business and ethics which is greater than the necessary commercial honesty of our present industrial system

सहकारिता की कुछ अन्य महत्वपूर्ण परिभाषाएँ :—

Co operation is a form of organisation wherein persons voluntarily associate together as human beings on a basis of equality for the promotion of the economic interests of themselves"—*H Calvert*

'Co operation brings in mutual help with a view to end in a common competence'—*Myrick*

"Co operation is a resultant system of economy It is a synthesis combining the desirable qualities of the laissez faire economy and the planned economy In so far as it is possible, the undesirable features inherent in the two older systems are not transmitted to the new system of co operation"—*H H Bakken and M A Schaars*

(१) सहकारिता सामान्य आर्थिक हित की प्राप्ति का अमूल्य साधन है ।

(२) स्वेच्छापूर्ण सदस्यता ।

(३) प्रत्येक सदस्य को समान अधिकार प्राप्त होते हैं ।

(४) लोकतन्त्रात्मक प्रबन्ध एवं व्यवस्था ।

(५) इसमें प्रतिस्पर्धा (competition) का कोई स्थान नहीं होता है । पारस्परिक सहयोग इसका आदर्श है ।

(६) नैतिक पक्ष भी उतना ही महत्वपूर्ण है जितना कि इसका आर्थिक पक्ष ।

(७) सहकारिता का शिक्षात्मक प्रभाव (educative effect) इसकी सबसे प्रमुख विशेषता है ।

सहकारिता का महत्व
(Importance of Co operation)

सहकारिता हमारे जीवन के लिए एक महत्वपूर्ण सिद्धान्त है । व्यक्तिगत एवं राष्ट्रीय जीवन को सुखी एवं समृद्धिशील बनाने का सहकारिता एक सफल उपाय है । सहकारिता एक ऐसी प्रणाली है जिसके अन्तर्गत स्वार्थ तथा निजी सम्पत्ति की भावना को त्याग कर व्यक्ति पारस्परिक सहयोग एवं सद्भावना द्वारा अन्य लोगों के साथ मिल जुल कर कार्य करके अपनी तथा समाज की उन्नति करता है । सहकारिता के सिद्धान्तों से सहमत होने वाले प्रत्येक व्यक्ति के लिए इसके द्वार खुले रहते हैं । स्वेच्छा एवं समानता के सिद्धान्त पर आधारित मानव का यह सहकारी संगठन आर्थिक लोकतन्त्र (economic democracy) का एक सुन्दर उदाहरण है । सहकारिता पूँजीवाद की विषमताओं से मुक्त है । इसके द्वारा समाज के निर्बल एवं निर्धन व्यक्तियों का मध्यस्थों एवं पूँजीपतियों द्वारा किये जाने वाले शोषण से रक्षा होती है । सहकारिता गरीब, शक्तिहीन तथा साधनहीन व्यक्तियों में भी आत्मविश्वास तथा स्वावलम्बन जैसी महान् भावनाओं को जाग्रत कर, उन्हें अपने पैरों पर खड़े होकर अपनी रक्षा अपने आप करने की प्रेरणा देती है । छोटे छोटे तथा सीमित साधन वाले उत्पादकों एवं व्यवसायियों के लिए जैसे सहकारिता दैवी देन तुल्य है । पारस्परिक सहयोग एवं मिल-जुल कर कार्य करने से इनमें सहयोग की भावना जाग्रत होती है जो विभिन्न उत्पादकों के द्वारा की जाने वाली प्रतियोगिता को चुनौती देती है ।

भारत में सहकारिता की आवश्यकता
(Need of Co-operation in India)

भारत में सहकारिता का अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है । एक निर्धन एवं विशाल जनसंख्या वाले देश में उसकी आर्थिक सामाजिक एवं नैतिक प्रगति के लिए सहकारी आन्दोलन अनेक प्रकार से उपयोगी सिद्ध हो सकता है । भारत जैसे शान्तिप्रिय,

अहिंसावादी तथा सहअस्तित्व के सिद्धान्तों पर चलने वाले राष्ट्र के लिए देश की शांतिपूर्ण सामाजिक, आर्थिक एवं नैतिक क्रान्ति लाने के लिए सहकारिता से उत्तम और कोई माध्यम ही नहीं हो सकता। देश की जनसंख्या में निरन्तर प्रगति के कारण उत्पन्न होने वाली कृषि की अनेक समस्याएँ जैसे—खेती योग्य भूमि का विभाजन तथा भूमिहीन कृषकों की समस्याएँ इत्यादि जैसी समस्याओं को सुलझाने के लिए हमें सहकारिता की ही शरण लेनी होगी।

एक अर्द्धविकसित राष्ट्र के लिए देश की अर्थव्यवस्था को सुदृढ़ बनाने, देशवासियों के जीवन-स्तर को ऊँचा उठाने तथा कृषि व्यवसाय में लगी हुई जनशक्ति की आर्थिक स्थिति सुधारने के लिए सहकारिता प्रणाली अपनाई जाती है। इसी कारण भारत में सहकारिता का एक विशेष महत्व है। कारण यह है कि हमारे देश में अधिकांश जनता खेती में लगी हुई है। कृषि व्यवसाय में लगी इस जनसंख्या का अधिकांश भाग छोटे-छोटे *किसानों का तथा ऐसे खेतिहर मजदूरों का है जो खेती* करना जानते हैं परन्तु भूमि न होने के कारण दूसरों के खेतों पर मेहनत-मजदूरी करके अपनी जीविका कमाते हैं। सहकारिता के आधार पर इन्हें भूमि प्रदान कर तथा अवशिष्ट भूमिहीनों को अनेक घरेलू उद्योगों एवं व्यवसायों में लगाकर उनकी बहुत-सी समस्याओं का हल किया जा सकता है। ग्रामीण क्षेत्र में किसानों को समय-समय पर आवश्यक ऋण दिलाने का काम सहकारी समितियों द्वारा किये जाने से साहूकार द्वारा लिये गये अनुचित ब्याज की दर पर ऋण की समस्या दूर की जा सकती है। हमारे देश में ग्रामीण ऋणग्रस्तता, चकबन्दी तथा कृषि विपणन जैसे अनेक क्षेत्रों में सहकारिता ने महत्वपूर्ण योग प्रदान किया है। इसी प्रकार छोटे-छोटे उत्पादकों एवं कारीगरों को अच्छे किस्म का कच्चा माल दिलाकर, उन्हें समय-समय पर वित्तीय सहायता प्रदान करके तथा उनके द्वारा निर्मित वस्तुओं का उचित मूल्य दिलाकर सहकारी आन्दोलन ने उनकी आर्थिक स्थिति सुधारने में बड़ा सक्रिय भाग लिया है। सहकारिता हमारे देश के लिए अत्यन्त महत्वपूर्ण एवं उपयोगी प्रणाली है जिसके द्वारा भारत की अनेक आर्थिक, सामाजिक एवं नैतिक समस्याएँ सुगमता से हल की जा सकती हैं।

सहकारिता आन्दोलन का उदय
(Rise of Co-operative Movement)

सबसे पहले सहकारिता आन्दोलन का उदय जर्मनी में हुआ था। इंगलैंड के औद्योगिक क्रान्ति का प्रभाव संसार के विभिन्न राष्ट्रों पर पड़ा। जर्मनी में श्रमिकों एवं छोटे-छोटे कारीगरों की आर्थिक स्थिति बिगड़ जाने से उनकी अवस्था बड़ी शोचनीय हो गयी थी। कम वेतन, काम की लम्बी अवधि, एवं प्रतिकूल कार्य की दशाओं के कारण मजदूरों के स्वास्थ्य एवं जीवन पर बड़ा हानिकर प्रभाव पड़ा। इन समस्याओं को हल करने के लिए जर्मनी में सहकारिता आन्दोलन का श्रीगणेश हुआ था।

डेनमार्क के किसानों की अवस्था कुछ कम खराब न थी, उन्हें अपने खेती सम्बन्धी अनेक कार्यों के लिए समय समय पर ऋण की आवश्यकता होती थी जिसके लिए वे साहूकार एवं महाजनों की शरण में जाते थे। भारी ब्याज के कारण चतुर महाजन सीधे सादे किसानों को अपने चंगुल में फाँस लेते थे। मजदूरों एवं किसानों का विभिन्न प्रकार से शोषण किये जाने से ही सहकारिता आन्दोलन के जन्म के लिए आवश्यक पृष्ठभूमि तैयार हुई थी। अतः जर्मनी के शुल्जे डेलिज (Schulze Delitzsch) तथा रैफिसन (Raiffeisen) नामक व्यक्तियों ने अपने देश में सहकारिता आन्दोलन की नींव रक्खी। सहकारिता के इन अग्रदूतों (pioneers) ने—रैफिसन ने ग्रामीण क्षेत्रों में तथा शुल्जेडेलिज ने शहरी क्षेत्रों में—सहकारी साख समितियों की स्थापना की जिसकी अपूर्व सफलता ने सहकारी आन्दोलन को बड़ा लोकप्रिय बना दिया है। संसार के विभिन्न देशों में सहकारिता का जन्म तथा विकास सम्बन्धी अध्ययन बड़ा ही रोचक है। अतः हम नीचे कुछ प्रमुख देशों में सहकारिता आन्दोलन के सम्बन्ध में आवश्यक विवरण प्रस्तुत करेंगे जो इस प्रकार है :—

इंगलैंड—इंगलैंड में सहकारिता आन्दोलन के प्रारम्भ का श्रेय **सर राबर्ट ओवेन** (Sir Robert Owen) को है जिन्होंने देश में सहकारिता के सिद्धान्तों के विकास में महत्वपूर्ण योग दिया। सहकारी आन्दोलन के क्षेत्र में इंगलैंड की प्रमुख देन उसके उपभोक्ता भण्डार (consumers' stores) हैं। सन् १८४४ में चार्ल्स हावर्थ (Charles Howarth) के नेतृत्व में 'राकडेल पायनियर्स' (Rochdale Pioneers) ने उपभोक्ता भण्डारों (consumer's stores) की स्थापना की थी जिनका उद्देश्य अपने सदस्यों को उचित मूल्य पर उपभोग की विभिन्न आवश्यक वस्तुओं को प्रदान करना था।

फ्रान्स—सहकारिता के क्षेत्र में जो कार्य इंगलैंड में राबर्ट ओवेन द्वारा किया गया था फ्रांस में सम्भवतः वही कार्य **चार्ल्स फोरियर** (Charles Fourier) ने किया था। फ्रान्स में होने वाली क्रान्ति के फलस्वरूप उत्पन्न आर्थिक एवं सामाजिक जीवन का फोरियर तीव्र आलोचक था। उसको व्यक्तिगत स्वतंत्रता अति प्रिय थी। उसने एक ऐसी आदर्श बस्ती की रूपरेखा तैयार की थी जिसमें लोग सहकारिता के सिद्धान्तों पर अपना जीवन व्यतीत करेंगे तथा उस बस्ती में रहने वाले परिवारों के सुख एवं शान्ति के लिए आवश्यक सुविधाएँ उपलब्ध होंगी। पारस्परिक प्रतियोगिता न होने के कारण लोगों में आपसी मतभेद तथा द्वेष की भावना न होगी। सहकारिता के क्षेत्र में चार्ल्स फोरियर की सबसे प्रमुख देन सम्बद्ध सहकारिता (Integral Co-operation) थी।

इटली (Italy)—औद्योगीकरण से पूर्व इटली की अर्थ व्यवस्था पूर्णतः कृषि पर आधारित थी। ग्रामीण क्षेत्रों में कृषकों की आर्थिक दशा बड़ी मार्मिक थी। उनका

जीवन कठिनाई एवं संघर्ष का एक दृष्टान्त था। कृषि की पद्धति पिछड़ी एवं दोषपूर्ण होने के कारण किसानों की दशा बिगड़ती जा रही थी। निर्धन किसानों को अपनी आवश्यकता के लिये भारी ब्याज पर ऋण लेना पड़ता था। ब्याज की यह दर ५० से लेकर ६० प्रतिशत तक थी। ऐसी अवस्था में इटली में लुज्जाटी (Luzzatti) तथा डा० वोलेनबर्ग (Dr. Wollenborg) ने देशवासियों को विभिन्न आवश्यकताओं के लिए ऋण देने की सुविधा प्रदान करने के लिए सहकारी साख समितियों तथा ग्रामीण बैंकों की स्थापना की परन्तु फासिज्म (Fascism) के आगमन के पश्चात् देश का सहकारी आन्दोलन फासिज्म के नवीन सिद्धान्तों पर संगठित किया गया।

रूस (Russia)—रूस के सहकारिता आन्दोलन का अध्ययन विशेष महत्व का है। देशव्यापी क्रान्ति में सहकारिता आन्दोलन देश वासियों के जीवन में अपना महत्वपूर्ण स्थान रखता है। रूस में सहकारिता के सिद्धान्तों पर चलाई जाने वाली ग्रामीण ऋण समिति, (Rural Loan Society) १८६५ में स्थापित की गई थी। प्राचीन सहकारी समितियों में मजदूरों एवं कारीगर संघ (Labour Cartels), कृषि समितियाँ, उपभोक्ता समितियाँ, साख एवं ऋण समितियाँ एवं सहकारी संघ (Co-operative Unions) विशेष उल्लेखनीय हैं। सन् १९१७ में होने वाली क्रान्ति के पश्चात् सहकारिता आन्दोलन का पुनर्संगठन हुआ और सहकारी उपभोक्ता समितियों पर विशेष महत्व दिया गया जिनके द्वारा देशवासियों में उपभोग की विभिन्न आवश्यक वस्तुओं को वितरित करने का कार्य किया जाता था। वर्तमान समय में रूस के ग्रामीण एवं शहरी क्षेत्रों में सहकारिता आन्दोलन द्वारा महत्वपूर्ण कार्य हो रहे हैं।

रैफिसन तथा शुल्जेडेलिज प्रणाली—रैफसन तथा (Raiffeisen and Schulze-Delitszch System) शुल्जे डेलिज नामक दो व्यक्तियों ने जर्मनी में सहकारी समितियों की स्थापना की थी। रैफिसन ने अपने देश के ग्रामीण क्षेत्रों में तथा शुल्जेडेलिज ने अपने देश के शहरी क्षेत्रों में सहकारी समितियों की स्थापना करके संसार के समक्ष दो प्रकार की सहकारी समितियों के प्रतिस्थापन सम्बन्धी सिद्धांत रक्खे। इन्हीं सिद्धान्तों पर अन्य देशों में सहकारी समितियों की स्थापना की जाती है। अतः सहकारी समितियों के यही दो प्रमुख प्रकार जाने जाते हैं। रैफिसन तथा शुल्जेडेलिज पद्धति पर स्थापित की जाने वाली सहकारी समितियों में पर्याप्त अंतर है। अगले पृष्ठ पर हम इन दोनों प्रणालियों का तुलनात्मक अध्ययन करेंगे :—

रैफिसन तथा शुल्ज़े डेलिज समितियों की तुलना

	रैफिसन	शुल्ज़े डेलिज
क्षेत्र (Area)	(१) इस प्रकार की समितियाँ ग्रामीण क्षेत्रों में स्थापित की जाती हैं।	(१) यह समितियाँ शहरी क्षेत्रों में कार्य करती है।
कार्य क्षेत्र (Area of operation)	(२) समिति का कार्य क्षेत्र सीमित होता है।	(२) समिति का कार्य क्षेत्र व्यापक होता है।
दायित्व (Liability)	(३) समिति के सदस्यों का दायित्व असीमित (Unlimited Liability) होता है। इस कारण समिति को हानि होने पर किसी भी सदस्य से पूरी रकम वसूल की जा सकती है।	(३) इनका दायित्व सीमित (Limited-Liability) होता है। अर्थात् हानि होने पर सदस्य अपने हिस्से तक का ही देनदार होता है।
अंश पूँजी (Share capital)	(४) इन समितियों में अंश पूँजी का अधिक महत्व नहीं होता है। अंश छोटे मूल्य के होते हैं।	(४) अंश पूँजी का अधिक महत्व होता है और अंशों का मूल्य प्रायः अधिक होता है।
ऋण का उद्देश्य (Object of loan)	(५) यह समितियाँ केवल अपने सदस्यों को ही ऋण देती हैं। और वह दीर्घकालीन ऋण केवल उत्पादक कार्यों के लिए ही देती हैं।	(५) ऐसी समितियाँ सदस्यों के अतिरिक्त अन्य व्यक्तियों को भी उत्पादक अथवा अनुत्पादक किसी भी कार्य के लिये अल्पकालीन ऋण प्रदान करती हैं।
रक्षित कोष (Reserve fund)	(६) संकट के समय में भी अपना कार्य सुचारु रूप से चलाने के लिए यह समितियाँ रक्षित कोष रखती हैं। इस कारण लाभ सदस्यों में न वितरित होकर रक्षित कोष में जमा कर दिया जाता है।	(६) यह समितियाँ प्रति वर्ष अपने सदस्यों में लाभ बाँट देती हैं और लाभ का बहुत छोटा भाग ही रक्षित कोष में जमा किया जाता है।
पदाधिकारी (Office bearers)	(७) ऐसी समितियों में पदाधिकारी अवैतनिक होते हैं।	(७) इन समितियों में पदाधिकारियों को वेतन मिलता है।
उद्देश्य (Object)	(८) ऐसी समितियाँ सदस्यों के आर्थिक एवं नैतिक दोनों प्रकार की उन्नति करने के उद्देश्य से कार्य करती हैं। इस कारण समितियाँ उनके ऐसे कार्य करती हैं जिनसे सदस्यों का चरित्र निर्माण एवं नैतिक सुधार होता है, जैसे शिक्षा प्रसार आदि।	(८) यह समितियाँ व्यापारिक दृष्टिकोण से चलाई जाती हैं। इनका मुख्य उद्देश्य सदस्यों की आर्थिक उन्नति ही करना है, अतः वे नैतिक उन्नति की ओर अधिक ध्यान नहीं देती हैं।

सहकारी समितियों का वर्गीकरण

जर्मनी में सहकारिता आन्दोलन के जन्म के पश्चात संसार के अन्य देशों में सहकारिता का विकास बड़ी तेजी से हुआ। और मानव के आर्थिक जीवन के प्रायः सभी क्षेत्रों में कृषि, उद्योग, उत्पादन एवं उपभोग, यही नहीं, देश के विभिन्न क्षेत्रों जैसे ग्रामीण तथा शहरी क्षेत्रों में बसे हुए व्यक्तियों की समस्याओं को हल करने के लिए सहकारिता के सिद्धान्तों का सफलतापूर्वक उपयोग किया जाने लगा और समय समय पर विभिन्न देशों में अनेक प्रकार की सहकारी समितियाँ स्थापित की जाने लगीं। इस कारण सहकारी समितियों के वर्गीकरण का कार्य बड़ा जटिल हो गया। विभिन्न देशों में विद्वानों ने विभिन्न प्रकार से सहकारी समितियों का वर्गीकरण किया है। इगलैंड में केवल सहकारी उपभोक्ता समितियों की ही प्रधानता थी और इसी कारण इगलैंड उपभोक्ता समितियों (Consumers' Co-operatives) के लिए प्रसिद्ध है। दूसरी ओर रूस में अनेक प्रकार की सहकारी समितियाँ कार्य कर रही हैं। जैसे सहकारी उपभोक्ता समितियाँ, सहकारी गृहनिर्माण समितियाँ, उत्पादकों की सहकारिता, इत्यादि। अतः सहकारी समितियों के वर्गीकरण के सम्बन्ध में अध्ययन करने से सहकारी समितियों के उद्देश्य एवं कार्य का सही अनुमान लग जाता है। नीचे हम विभिन्न प्रकार से किये गये वर्गीकरण का अध्ययन करेंगे।

रोम की अन्तरराष्ट्रीय कृषि संस्था (International Institute of Agriculture at Rome) द्वारा सहकारी समितियों का वर्गीकरण :—

साख समिति, उत्पादन समिति, क्रय समिति, विक्रय समिति, बीमा-समिति तथा अन्य समितियाँ।

प्रो० सी० आर० फे (Prof. C. R Fay) के अनुसार वर्गीकरण :—

(१) सहकारी बैंक (Co-operative Banks)
(२) सहकारी कृषि समिति (Co-operative Agricultural Society)
(३) सहकारी कारीगर समिति (Co-operative Workers' Society)
(४) सहकारी भंडार (Co-operative Stores)

प्रो० नाश (Prof Nash) का वर्गीकरण :—

(१) साधन समितियाँ (Resources societies)
(२) उत्पादन समितियाँ (Producers' societies)
(३) उपभोक्ता समितियाँ (Consumers' societies)
(४) गृह समितियाँ (Housing societies)
(५) साधारण समितियाँ (General societies)

भारत में सहकारिता
(Co-operative Movement in India)

भारत में सहकारिता का विकास—जब कि संसार के अन्य देशों में सहकारिता के युग का उदय बहुत समय पूर्व ही हो गया था, भारतवर्ष में २०वीं सदी के आरम्भ में ही सहकारिता आन्दोलन का श्रीगणेश हो सका। यद्यपि सहकारिता भारत के लिए कोई नई चीज नहीं है, क्योंकि प्राचीन भारत के आर्थिक तथा सामाजिक जीवन में संयुक्त कुटुम्ब प्रणाली, पंचायत, जाति प्रथा जैसी अनेक ऐसी संस्थाओं का महत्त्वपूर्ण स्थान था जिनमें पारस्परिक सहयोग एवं सहकारिता की भावना विद्यमान है, तथापि एक आन्दोलन के रूप में हमारे देश में इसका जन्म सन् १९०४ में ही हुआ जब "सहकारी साख समिति अधिनियम" पास हुआ था। वैसे तो एक कृषि प्रधान देश होने के कारण भारत के कृषकों के समक्ष अनेक कृषि सम्बन्धी समस्याएँ आती रहीं किन्तु १९ वीं शताब्दी के अन्तिम भाग में हमारे ग्राम निवासियों और किसानों की आर्थिक एवं सामाजिक दशा बड़ी दयनीय हो गई थी। किसानों को खेती सम्बन्धी अनेक आवश्यक कार्यों के लिए ऋण की आवश्यकता पड़ती थी। अन्य कोई साधन न होने के फलस्वरूप गाँव के साहूकार और महाजन ही उनके लिए ऋण का एकमात्र साधन थे जिनसे भारी ब्याज पर किसानों को ऋण मिलता था।

इसका परिणाम यह हुआ कि हमारे देश के किसान एवं ग्रामीण ऋणग्रस्त हो गये। उनकी इस दयनीय दशा ने न्यायमूर्ति रानाडे (Justice Ranade) तथा सर विलियम वेडरबर्न (Sir W Wedderburn) जैसे महानुभावों का ध्यान अपनी ओर आकर्षित किया जिन्होंने भारत की ग्रामीण ऋण की समस्या हल करने के उद्देश्य से ग्रामीण क्षेत्रों में ऐसे बैंकों की स्थापना करने का सुझाव दिया जिनसे किसानों को आवश्यकता के समय उचित ब्याज पर ऋण की सुविधा प्राप्त हो सके। परन्तु भारत सरकार इस सुझाव को कार्यान्वित करने में असमर्थ रही। फलस्वरूप देश के कृषकों तथा ग्रामीण निवासियों की ऋणग्रस्तता की समस्या वैसी ही बनी रही। जैसा कि विदित है भारत की ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था का सबसे प्रमुख लक्षण ग्राम निवासियों की चिरकालीन निर्धनता है जिसके कारण बराबर ऋण लेते रहने से किसान ऋण की बेड़ियों में पूर्णतया जकड़ जाता है। दुःख की बात यह है कि यह ऋण सदैव उत्पादक कार्यों तथा खेती में सुधार किये जाने ही के लिए नहीं दिये जाते वरन् अनेक बार निर्धन किसान को धार्मिक एवं सामाजिक रीति-रिवाजों को पूरा करने के लिए भी अनुत्पादक ऋण लेने की आवश्यकता पड़ती है'। सन् १८७५ में पूना में होने वाले दंगों का कारण भी भारतीय किसान की ऋणग्रस्तता के फलस्वरूप उसकी बिगड़ती हुई आर्थिक एवं सामाजिक दशा ही थी जिसने इस समस्या की ओर ध्यान आकर्षित करने में महत्वपूर्ण योग दिया। परिणामस्वरूप १८८३ में भूमि

सुधार ऋण अधिनियम (Land Improvements Loans Act 1883) पास किया गया। सन् १८६२ में सर फ्रेडरिक निकलसन (Sir Frederick Nicholson) ने भूमि तथा कृषि बैंकों (Land and Agricultural Banks) द्वारा ग्रामीण ऋण की समस्या के हल करने की सम्भावनाओं के सम्बन्ध में मद्रास सरकार को अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत की। उनकी रिपोर्ट का सारांश था "रैफिसन को ढूँढ़ो" (Find Raiffeisen) जिसका अर्थ है कि ग्रामीण ऋण की समस्या के लिए रैफिसन पद्धति के आधार पर ग्रामीण साख सहकारी समितियों की स्थापना की जाये। परन्तु निकलसन की रिपोर्ट में निहित सुझाव मद्रास सरकार को प्रभावित न कर सके। उत्तर प्रदेश में समस्या के अध्ययन के लिए सरकार ने मिस्टर डूपरनेक्स (Mr Dupernex) नामक अधिकारी को नियुक्त किया था जिन्होंने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक "Peoples' Banks for Northern India" लिखकर पुनः कृषि साख समितियों की स्थापना द्वारा ग्रामीण ऋण की समस्या हल करने का सुझाव दिया। इसी समय एडवर्ड मैक्लेगन (Edward Meclagan) ने भी सहकारी साख समितियों की आवश्यकता पर जोर दिया। इन विद्वानों एवं विशेषज्ञों के अध्ययन तथा सुझावों के द्वारा देश में सहकारिता आन्दोलन के लिए आवश्यक पृष्ठभूमि तैयार हो गई। १६०१ में भारत सरकार ने कृषि बैंकों के सगठन सम्बन्धी समस्याओं के अध्ययन के लिए एक समिति नियुक्त की। सन् १६०४ का सहकारी साख समिति अधिनियम (Co-operative Credit Societies Act of 1904) इसी समिति की रिपोर्ट का परिणाम है। अतः हमारे देश में सहकारिता आन्दोलन का शुभारम्भ २५ मार्च १६०४ को होता है।

उपरोक्त अधिनियम के अन्तर्गत समस्त देश में ग्रामीण साख समितियों की स्थापना का कार्य तेजी से आरम्भ हुआ। इस ऐक्ट का मुख्य उद्देश्य किसानों एवं सीमित साधन वाले व्यक्तियों तथा कारीगरों में मितव्ययता, स्वावलम्बन तथा सहकारिता की भावना जाग्रत करना था। अतः देश के ग्रामीण क्षेत्रों में छोटी-छोटी साख समितियों की स्थापना की गई। इस ऐक्ट द्वारा जर्मनी की रैफिसन पद्धति के आधार पर असीमित दायित्व वाली ग्रामीण समितियों तथा शुल्जेडेलिश पद्धति पर शहरी समितियों का सगठन किया गया। १६११-१२ तक भारत में लगभग ८ हजार समितियाँ स्थापित हो गई थीं जिनकी कार्यशील पूँजी तथा सदस्यों की संख्या क्रमशः ३·३६ करोड़ तथा ४ लाख थी। आन्दोलन के सगठन और १६०४ के अधिनियम के अन्तर्गत स्थापित की जाने वाली सहकारी समितियों के नियंत्रण एवं कार्य संचालन की दृष्टि से प्रान्तीय सरकारों को विशेष अधिकारी की नियुक्ति की अनुमति प्रदान की गई थी। यह अधिकारी रजिस्ट्रार (Registrar of Co-operative Societies) कहलाता था। परन्तु १६०४ के सहकारी समिति अधिनियम में अनेक दोष होने के कारण सहकारिता आन्दोलन की प्रगति न हो सकी। दोष इस प्रकार थे—

(१) अधिनियम के अन्तर्गत केवल साख समितियों की स्थापना की ही व्यवस्था है अतः अन्य कार्यों जैसे वितरण पूर्ति आदि के कार्यों के उद्देश्य से स्थापित की जाने वाली सहकारी समितियों को कानूनी मान्यता प्राप्त न थी।

(२) इन प्राथमिक साख समितियों की देख भाल एवं निरीक्षण के लिये १९०४ के अधिनियम के अन्तर्गत कोई ऐसी केन्द्रीय संस्था स्थापित नहीं की गई थी जो इस कार्य को कर सकती।

(३) समितियों का वर्गीकरण बड़ा अवैज्ञानिक एवं असुविधाजनक था। समितियों को 'ग्रामीण' और "शहरी" समितियों में विभाजित करने से भी कठिनाई उत्पन्न होती थी।

(४) ग्रामीण समितियों के लाभ को सदस्यों में बाँटे जाने पर प्रतिबन्ध लगा देने से १९०४ के अधिनियम ने सहकारिता आन्दोलन की प्रगति में बाधा उपस्थित की।

उपरोक्त दोषों के कारण एक नये अधिनियम की आवश्यकता प्रतीत हुई जिससे सहकारी आन्दोलन में आने वाली कठिनाइयों को दूर किया जा सके और साथ ही उसकी प्रगति के लिये उपयुक्त वातावरण उत्पन्न हो सके। इसी कारण १९१२ में दूसरा "सहकारी समिति अधिनियम" पास किया गया। इस अधिनियम की मुख्य बातें निम्न थीं —

(१) साख समितियों के अतिरिक्त अन्य कार्यों, जैसे क्रय, विक्रय, उत्पादन, बीमा, आदि के लिए स्थापित होने वाली समितियों को भी वैधानिक मान्यता दे दी गई।

(२) इस अधिनियम के अन्तर्गत सहकारी समितियों की देखभाल निरीक्षण एवं वित्तीय सहायता के लिए निम्न तीन प्रकार की केन्द्रीय संस्थाओं की व्यवस्था की गई —

(१) प्राथमिक समिति के संघ (Unio)

(२) केन्द्रीय बैंक (Central Bank)

(३) प्रान्तीय बैंक (Provincial Bank)

(३) समितियों का वर्गीकरण अब नये प्रकार से किया गया। ग्रामीण तथा शहरी समितियों के स्थान पर परिमित एवं अपरिमित दायित्व वाली समितियाँ स्थापित की जाने लगीं।

(४) इस अधिनियम की एक प्रमुख विशेषता यह है कि इसके द्वारा असीमित दायित्व वाली समितियाँ लाभ के ७५ प्रतिशत भाग को रक्षित कोष में जमा कर शेष भाग को सदस्यों में लाभांश के रूप में बाँट सकती थीं और सिद्धान्तिक कार्यों के लिए भी समितियाँ अपने लाभ के दस प्रतिशत भाग को अलग रख सकती थीं।

सहकारिता आंदोलन के प्रारम्भिक काल में आने वाली अनेक कठिनाइयों तथा बाधाओं को १६१२ के अधिनियम द्वारा दूर करने का भरसक प्रयत्न किया गया। उपरोक्त परिवर्तनों के फलस्वरूप भारत में सहकारिता आंदोलन में पर्याप्त प्रगति हुई। परन्तु अब भी देश में आंदोलन के मार्ग में अनेक बाधाओं के कारण होने वाली प्रगति अत्यन्त संतोषजनक नहीं कही जा सकती। सरकार ने आंदोलन के विकास सम्बन्धी समस्याओं के अध्ययन के लिए सर एडवर्ड मैक्लेगेन (Sir Edward Meclegan) की अध्यक्षता में एक समिति नियुक्त की जिसने आंदोलन की प्रगति के लिए कुछ महत्वपूर्ण सुझाव दिये। जैसे—

(१) आन्दोलन को सुदृढ़ स्तर पर लाने के पश्चात् ही नई नई समितियों को खोलने का प्रयत्न किया जाय।

(२) सहकारिता आंदोलन में सरकारी हस्तक्षेप कम से कम हो और जनता स्वयं आंदोलन की प्रगति में सक्रिय भाग ले। इसके लिए यह आवश्यक है कि सहकारिता के सिद्धान्तों का खूब विकास हो।

(३) समिति द्वारा दिये गये ऋण का दुरुपयोग न हो। इस कारण ऋण देने से पूर्व प्रार्थी की आर्थिक स्थिति की जाँच पड़ताल कर लेनी चाहिए।

(४) सट्टा सम्बन्धी कार्यों के लिए समिति द्वारा ऋण न दिया जाय।

(५) समिति के कुशलतापूर्वक कार्य के लिए समय समय पर उसकी जाँच पड़ताल होते रहना आवश्यक है।

(६) जहां तक सम्भव हो ऋण केवल थोड़े समय के लिए ही दिये जायें।

Meclegan Committee के उपरोक्त सुझावों पर अभी सरकार पूर्णरूप से विचार भी न कर पाई थी कि प्रथम महायुद्ध छिड़ गया और सरकार का ध्यान युद्ध सम्बन्धी कार्यों में केन्द्रित हो गया। १६१६ के माण्टेग्यू चेम्सफोर्ड सुधार (Montagu Chelmsford Reforms) के कारण सहकारिता एक प्रान्तीय विषय बना दिया गया। प्रान्तीय सरकारों ने सहकारी आंदोलन में काफी रुचि ली जिसके कारण सहकारी आंदोलन में काफी प्रगति हुई। १६२६-३० में समितियों की संख्या लगभग ६४,००० थी जिनमें ३६ लाख सदस्य थे और जिनकी कार्यशील पूँजी लगभग ७५ करोड़ रुपये थी।

परन्तु सहकारी आन्दोलन में निरन्तर होने वाली प्रगति में एक बहुत बड़ी बाधा आ गई। देश में सन् १६२६ से १६३२ तक जैसी आर्थिक स्थिति रही उससे सहकारी आंदोलन की प्रगति में बाधा आ गई। विश्वव्यापी आर्थिक मन्दी के कारण कृषि पदार्थों के मूल्य में भारी कमी हो गई। किसानों की आय कम हो जाने के कारण वे अपने पुराने ऋणों का भुगतान करने में असमर्थ हो गये। अतः सहकारी समितियों के कार्य में बड़ी कठिनाई उपस्थित होने लगी। इस कारण यह आवश्यक समझा जाने

लगा कि आन्दोलन का पुर्नसगठन किया जाये जिससे सहकारिता के विकास में उपस्थित कठिनाइयों को दूर कर उसकी प्रगति म.प्रोत्साहन मिल सके।

१६३५ में 'रिजर्व बैंक आफ इंडिया' (Reserve Bank of India) की स्थापना हो गई जिसमें कृषि साख विभाग (Rural Credit department) के खोले जाने से सहकारिता आन्दोलन को अनेक प्रकार से सहायता मिली। १६३७ ई० म प्रान्तीय स्वायत्त शासन (Provincial Autonomy) के स्थापित होने से प्रातीय सरकारा न सहकारिता आन्दोलन क विकास क लिये भारी प्रयत्न किए और आन्दोलन की बिगडी अस्त व्यस्त स्थिति सुधरने लगी।

१६३६ म द्वितीय महायुद्ध क कारण आवश्यक वस्तुप्रा क मूल्य म निरन्तर वृद्धि होने लगी। कृषि पदार्थों क मूल्य भी बढ़ गये जिसका परिणाम यह हुआ कि किसाना की आर्थिक स्थिति में सुधार होने से उनमें अपने पुराने ऋणा को चुकता करने की फिर से सामर्थ्य आ गई। परिणामस्वरूप आन्दोलन को नवीन शक्ति एव स्फूर्ति प्राप्त होने से निरन्तर सहकारिता का विकास होता गया। महायुद्ध के समय म सबसे बड़ी कठिनाई लोगा को अपने दैनिक उपयोग की वस्तुओं को प्राप्त करने में होती थी। इस कारण इस काल म सहकारी आन्दोलन के जिस क्षेत्र ने विशेष प्रगति की, वह थी उपभोक्ताओं की सहकारिता (Consumers' Co operation)। इसी कारण उपभोक्ता सहकारिता समितियों का बहुत विस्तार हुआ।

सरकार ने १२ सितम्बर १६४४ को प्रो० डी० आर० गैडगिल (Prof D R Gadgil) की अध्यक्षता मे एक कृषि वित्त उपसमिति (Agricultural Finance Sub committee) की स्थापना की जिसका मुख्य कार्य ऋण सम्बन्धी समस्याओं का अध्ययन कर सुझावों को प्रस्तुत करना था। १८ जनवरी १६४५ को रजिस्ट्रारों का १४ वा सम्मेलन बुलाया गया जिसने देश के सहकारिता आन्दोलन को सगठित करने की दृष्टि से सरकार से एक समिति नियुक्त करने की जोरदार सिफारिश की। फलस्वरूप श्री आर० जी० सरैया (Shri R G Saraiya) की अध्यक्षता में एक सहकारी आयोजना समिति (Co operative Planning Committee) की नियुक्ति की गई जिसने देश म सहकारी आन्दोलन की प्रगति एव विकास के लिए महत्वपूर्ण सिफारिशें प्रस्तुत की। इस समिति ने प्राथमिक समितिया को केवल ऋण प्रदान करने क कार्य क बजाय बहुउद्देशीय कार्यों को सम्पन्न करने का सुझाव दिया। समिति क विचार से भारत के लिये बहुउद्देशीय समितियाँ अधिक उपयोगी होगी। सरैया कमेटी तथा गैडगिल कमेटी की सिफारिशों पर विचार करने के लिए रजिस्ट्रारों का १५वाँ सम्मेलन बुलाया गया जिसम इन समितियों के सुझावो के अतिरिक्त देश के सहकारी आन्दोलन सबधी अन्य विषयों पर भी विचार किया गया।

१५ अगस्त १९४७ को देश स्वतन्त्र हुआ। देश के विभाजन से आन्दोलन के क्षेत्र में अनेक नई समस्याएँ प्रस्तुत हुईं। भारी संख्या में शरणार्थियों को बसाने के लिये भी सहकारी आन्दोलन की शरण लेनी पड़ी। राष्ट्रीय सरकार ने स्वतन्त्रता के पश्चात् सहकारी आन्दोलन की प्रगति के लिये अनेक महत्वपूर्ण कदम उठाये हैं। राष्ट्रपिता गाँधी ने ग्रामोत्थान एवं कृषि सम्बन्धी समस्याओं के हल के लिये सहकारिता के महत्व पर जोर दिया।

निम्न तालिका में हम १९४७ से प्रथम पंचवर्षीय योजना के पूर्व तक होने वाली सहकारी आन्दोलन की प्रगति को स्पष्ट कर रहे हैं—

वर्ष	समितियों की संख्या (हजारों में)	प्रारम्भिक समितियों की सदस्य सं० (लाखों में)	समस्त प्रकार की समितियों की कार्यशील पूँजी (करोड़ रुपया में)
१९४७-४८	१४९·७७	१०४·७	१७१·०६
१९४८-४९	१६१·८८	१२७·०७	२१६·४९
१९४९-५०	१७८·०६	११२·६१	२३३·१०

नियोजित अर्थ-व्यवस्था में सहकारी आन्दोलन
(Cooperation in Planned Economy)

एक नियोजित अर्थ-व्यवस्था में सहकारिता आन्दोलन का क्या स्थान है? यह एक बड़ा रोचक विषय है। जैसा कि स्पष्ट है कि सहकारिता आन्दोलन की प्रगति के लिए यह आवश्यक है कि देश में जिम्मेदार लोकतन्त्रीय सरकार की स्थापना हो। एक स्वतन्त्र देश के निवासियों में ही व्यक्तिगत प्रयास एवं उत्तरदायित्व की भावना पाई जा सकती है जिसका होना सहकारी आन्दोलन की सफलता के लिए अत्यन्त आवश्यक है। भारत में भी स्वतन्त्रता के पूर्व देश के सहकारी आन्दोलन की स्थिति अत्यन्त सन्तोषजनक नहीं कही जा सकती। स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् राष्ट्रीय सरकार के अथक प्रयत्नों से सहकारिता के क्षेत्र में जो प्रगति हुई वास्तव में वह बड़ी सराहनीय है। देश की आर्थिक स्थिति को सुधारने के लिए एक नियोजित अर्थ-व्यवस्था की आवश्यकता प्रतीत हुई। अतः पंचवर्षीय योजनाओं द्वारा देश की अर्थ व्यवस्था को सुधारने के प्रयत्न होने लगे। आर्थिक नियोजन में सहकारिता का क्या स्थान है? यह जानना अत्यन्त आवश्यक है। वैसे तो हमारे देश की पंचवर्षीय योजनाओं का मुख्य आधार ही सहकारिता है परन्तु फिर भी एक नियोजित अर्थ व्यवस्था तथा सहकारिता में पारस्परिक मतभेद ध्यान रखने योग्य है। सहकारिता में किसी प्रकार का दबाव नहीं होता। यह एक स्वेच्छापूर्ण सदस्यता के आधार पर कार्य करने की प्रणाली है। उन

सभी व्यक्तियों के लिए सहकारिता के द्वार खुले रहते हैं जो सहकारिता के सिद्धान्तों के आधार पर कार्य करने के इच्छुक हैं। यह ऐसे निर्बल एवं शक्तिहीनों का संगठन है जिसके द्वारा वह अपने सामान्य हितों को प्राप्त कर सकते हैं। अतः प्रत्येक को सामान्य हित को दृष्टि में रखते हुए कार्य करने की पूर्ण स्वतन्त्रता होती है। सहकारिता व्यक्तियों में अनेक नैतिक एवं सामाजिक गुण जैसे—सच्चाई, स्वावलम्बन, ईमानदारी, सद्भावना साहस एवं पारस्परिक सहयोग के विकास में सहायता देती है। परन्तु आर्थिक नियोजन के अन्तर्गत एक केन्द्रीय संस्था द्वारा देश के आर्थिक जीवन में हस्तक्षेप होना अनिवार्य है। बिना केन्द्रीय नियन्त्रण एवं निर्देशन के कोई योजना सफल नहीं हो सकती। इस कारण एक नियोजित अर्थ व्यवस्था में व्यक्तिगत स्वतन्त्रता एवं स्वेच्छापूर्ण आर्थिक कार्य करने के लिए प्रत्येक व्यक्ति को पर्याप्त छूट नहीं रहती।

प्रथम पंचवर्षीय योजना में सहकारिता की प्रगति—प्रथम पंचवर्षीय योजना का कार्य सन् १९५१ में प्रारम्भ हुआ। १९५६ में यह योजना समाप्त हो गई थी। इस अवधि में देश के सहकारी आन्दोलन में काफी प्रगति हुई। प्रथम योजना में इस क्षेत्र में होने वाला सबसे प्रमुख कार्य था रिजर्व बैंक द्वारा नियुक्त "अखिल भारतीय ग्रामीण साख सर्वेक्षण समिति" (All India Rural Credit Survey Committee)* द्वारा किया गया देश के सहकारी आन्दोलन की प्रगति का सर्वेक्षण। इस समिति ने अपनी रिपोर्ट सन् १९५४ में प्रकाशित की। सन् १९५६-५७ ई० के अन्त में भारत में सब प्रकार की केवल २,४४,७६६ सहकारी समितियाँ थीं जिनमें लगभग १,६०,००,००० सदस्य थे। १९५१-५२ में सहकारी समितियों की संख्या केवल १,८५,६५० थी। इससे स्पष्ट है कि प्रथम पंचवर्षीय योजना काल में देश में सहकारी आन्दोलन ने काफी प्रगति की। प्रथम योजना काल में स्थापित होने वाली समितियों में अधिकांश समितियाँ प्राथमिक समितियाँ (primary societies) थीं जो किसानों को स्वल्प छोटी रकम के कर्ज ही देने का कार्य करती थीं। इस कारण किसानों को मिलने वाले ऋण का केवल ४ प्रतिशत भाग ही इन समितियों द्वारा प्राप्त होता था और अपनी आवश्यकता के ७० प्रतिशत भाग के लिए अब भी किसानों को ग्रामीण जनता एवं साहूकारों की शरण लेना पड़ता है।

अ० भा० ग्रा० साख सर्वेक्षण समिति के मुख्य सुझाव

(Main Recommendations of the All India Rural Survey Committee)

समिति ने ग्रामीण साख की समस्या के अध्ययन से जो निष्कर्ष निकाला उनका साराश यह है कि देश में सहकारी आन्दोलन की धीमी प्रगति का मुख्य कारण सरकार

*Under the Chairmanship of Mr *A D Gorwala I C S*

का सहकारी समितियों के साथ पर्याप्त सहयोग न करना है। अतः सहकारिता आन्दो के क्षेत्र में सरकार को सक्रिय भाग लेना चाहिये। इस सम्बन्ध में मुख्य सुझाव यह हैं :—

(१) विभिन्न स्तर पर स्थापित सहकारी संस्थाओं में सरकार को एक प्रमुख साझेदार के रूप में कार्य करना चाहिये।

(२) साख, विपणन एवं अन्य समितियों में पूर्ण सहयोग होना चाहिये।

(३) प्राथमिक समितियों का दायित्व सीमित हो और उनका आकार काफी बड़ा हो।

(४) राष्ट्रीय एवं प्रदेशीय गोदाम निगमों की सहायता से बहुत से गोदामों का निर्माण करा लेना चाहिये।

(५) सहकारिता के क्षेत्र में कार्य करने वालों के प्रशिक्षण के लिये पर्याप्त सुविधाएँ हों।

(६) इम्पीरियल बैंक आफ इंडिया (Imperial bank of India) को स्टेट बैंक आफ इंडिया (State bank of India) में परिवर्तित कर दिया जाये।

भारत सरकार ने समिति के अधिकांश सुझावों को मान लिया तथा उन्हें कार्यान्वित करने के लिये अनेक महत्वपूर्ण कदम उठाये। सहकारी समितियों को वित्तीय सहायता प्रदान करने के लिए रिजर्व बैंक आफ इंडिया ऐक्ट में आवश्यक संशोधन किया गया। फरवरी १९५६ में एक राष्ट्रीय कृषि साख कोष (National Agricultural Credit Fund) की स्थापना की गई। १ जुलाई १९५५ को इम्पीरियल बैंक का राष्ट्रीयकरण कर दिया गया तथा उसके स्थान पर 'स्टेट बैंक आफ इंडिया' ने अपना कार्य प्रारम्भ कर दिया जिसकी ४०० नई शाखाओं को ग्रामीण क्षेत्रों में खोलने का लक्ष्य रक्खा गया। यह लक्ष्य प्राप्त किया जा चुका है।

द्वितीय पंचवर्षीय योजना में प्रगति—द्वितीय पंचवर्षीय योजना में देश भर में १०,४०० बड़े आकार वाली सहकारी समितियाँ तथा १८०० प्राथमिक विपणन समितियाँ (primary marketing societies) के खोलने का लक्ष्य रक्खा गया। १९५७-५८ तक २६७५ बड़ी समितियाँ तथा ४७६ विपणन समितियाँ कार्य कर रही थीं। इसके अतिरिक्त १४५० गोदामों का निर्माण भी हो चुका था। जैसा कि स्पष्ट है कि द्वितीय पंचवर्षीय योजना का लक्ष्य भारत में एक समाजवादी ढंग के समाज (socialist pattern of society) की रचना करना है जिसमें सहकारिता का महत्वपूर्ण स्थान होना अनिवार्य है। यही कारण है ग्रामोत्थान सम्बन्धी समस्त योजनाओं का लक्ष्य केवल यही है कि भारत में सहकारी ग्राम प्रबन्ध (co-operative village management) का स्वप्न साकार हो।

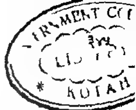
निम्न तालिका मे दूसरी पचवर्षीय योजना काल मे सहकारिता के विकास का कार्यक्रम स्पष्ट किया गया है।

		लक्ष्य
साख सम्बन्धी (Credit)	बड़े आकार वाली समितियाँ (Large sized societies)	१०४००
	अल्पकालीन साख (Short term credit)	१५० क० रु०
	मध्यकालीन साख (Medium term credit)	५० क० रु०
	दीर्घ कालीन साख (Long term credit)	२५ क० रु०
विक्रय एवं परिनिर्माण सम्बन्धी (Marketing and Processing)	प्राथमिक बिक्री समितियाँ (Primary marketing societies)	१८००
	सहकारी चीनी फैक्ट्रियाँ (Co operative sugar factories)	३५
	सहकारी कपास जिनिंग फैक्ट्री (Co operative cotton gins)	४८
	अन्य (Others)	११८
माल गोदाम एवं भण्डार सम्बन्धी (Ware houses and Storage)	केन्द्रीय तथा राज्य निगमों के माल गोदाम (Warehouses of Central and State Corporations)	३५०
	बिक्री समितियों के गोदाम (Godowns of marketing societies)	१५००
	बड़े आकार वाली समितियों के गोदाम (Godowns of larger sized societies)	४०००

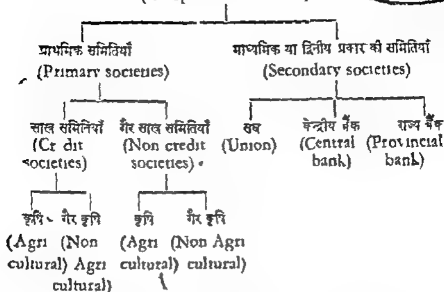
जुलाई १९५९ मे मसूरी में होने वाले राज्य मन्त्रियों के द्वितीय सम्मेलन में विक्रय तथा परिनिर्माण समितियों के क्षेत्र में और विस्तार किया गया। फलस्वरूप विक्रय समितियो की सख्या बढ़ाकर १९०८, चीनी मिलों की ६० तथा काटन जिनिंग फैक्ट्रियो की सख्या १०० कर दी गई। ऐसा अनुमान लगाया गया है कि १९६०-६१ तक १०,४०० बड़े आकार वाली समितियों की स्थापना का कार्य पूरा हो जायगा।

भारत मे सहकारी आन्दोलन का सगठन

भारत मे सहकारी आन्दोलन के सगठन को समझने के लिए देश मे सहकारी समितियों के वर्गीकरण का अध्ययन अत्यन्त आवश्यक है। अग्र पृष्ठ पर दिये गये रेखा चित्र में हम सहकारी समितियो का वर्गीकरण प्रस्तुत कर रहे हैं—



सहकारी समितियाँ
(Co operative societies)



जैसा कि उपरोक्त तालिका से स्पष्ट है भारत में सहकारी समितियों का वर्गीकरण उनके द्वारा किये गये कार्यों के आधार पर किया गया है। इस प्रकार भारत में सहकारी आन्दोलन के दो पक्ष (aspects) हैं। पहला तो साख सम्बन्धी सहकारिता, जिसके अन्तर्गत साख अथवा ऋण देने का कार्य सम्पन्न होता है। दूसरे, गैर साख सम्बन्धी सहकारिता, जिसके अन्तर्गत साख अथवा ऋण प्रदान करने के अतिरिक्त अन्य आर्थिक एवं सामाजिक कार्य किये जाते हैं। इस उद्देश्य से विभिन्न समितियों की स्थापना की जाती है। इन समितियों का वर्गीकरण दो प्रकार से किया जाता है। पहले तो वह सहकारी समितियाँ जिनके सदस्य मुख्यतया खेती सम्बन्धी व्यवसाय में संलग्न होते हैं। ऐसी समितियों को हम 'कृषि समिति' (Agricultural societies) कहते हैं। दूसरे प्रकार की समितियों के सदस्य अन्य आर्थिक कार्यों द्वारा अपनी जीविका प्राप्त करते हैं। ऐसी समितियों को गैर कृषि समितियाँ (Non agricultural societies) कहते हैं। इस प्रकार समस्त सहकारी समितियाँ निम्न प्रकार की होती हैं—

(१) कृषि साख समितियाँ (Agricultural credit societies)

(२) कृषि गैर साख समितियाँ (Agricultural non credit societies)

(३) गैर कृषि साख समितियाँ (Non agricultural credit societies)

(४) गैर कृषि गैर साख समितियाँ (Non agricultural non credit societies)

प्राथमिक समितियाँ

(Primary societies)

कृषि समितियाँ (Agricultural societies)—कृषि समितियाँ दो प्रकार की होती हैं—(अ) कृषि साख समितियाँ, (ब) कृषि गैर साख समितियाँ।

कृषि साख समिति—हमारे देश में सहकारिता आन्दोलन का जन्म किसानों की आवश्यकता के समय उचित ब्याज पर ऋण देने के लिये प्रारम्भ किया गया था। इसी कारण प्रारम्भिक काल से ही भारत में सहकारिता का ध्यान मुख्यतः साख सम्बन्धी कार्यों में ही केन्द्रित रहा। यद्यपि गत कुछ वर्षों में आन्दोलन ने अन्य समस्याओं को हल करने का भी प्रयास किया। परन्तु अब भी भारत का सहकारी आन्दोलन एक साख प्रधान आन्दोलन कहा जा सकता है।

निर्माण—प्राथमिक कृषि साख समिति की स्थापना (constitution) के लिये कम से कम १० और अधिक से अधिक १०० सदस्यों की आवश्यकता होती है। ऐसी समिति अपना कार्य प्रायः एक गाँव तक में ही सीमित रखती है। इसका मुख्य कारण यह है कि एक गाँव में रहने वाले व्यक्तियों में परस्पर सम्पर्क के साथ साथ समिति के कार्यों के नियन्त्रण में भी सरलता होती है। समिति की स्थापना के पश्चात् सहकारी समितियों के रजिस्ट्रार (Registrar of Co-operative Societies) द्वारा समिति का पंजीयन (registration) करा लेना चाहिये। ऐसी समितियों का दायित्व असीमित होता है। इसका मुख्य लाभ यह होता है कि प्रत्येक सदस्य समिति के कार्यों में रुचि लेता है। इस पारस्परिक नियन्त्रण के फलस्वरूप समिति के कार्यों में कुशलता आ जाती है।

पूँजी—समिति कार्यशील पूँजी (working capital) दो साधनों से प्राप्त करती है—आन्तरिक साधन, जिसमें समिति के सदस्यों द्वारा दिया गया प्रवेश शुल्क (entrance fee), हिस्सा पूँजी (share capital) तथा उनके द्वारा जमा की गई धन राशि अर्थात् जमा पूँजी, (deposits) सम्मिलित होते हैं। समिति की पूँजी का दूसरा स्रोत बाह्य साधन है—जिसमें सरकार—केन्द्रीय, प्रान्तीय अथवा रिजर्व बैंक द्वारा प्राप्त पूँजी सम्मिलित है। जहाँ तक हिस्सा पूँजी का सम्बन्ध है, इसका महत्व केवल मद्रास, पंजाब और उत्तरप्रदेश जैसे प्रान्तों में अधिक है जहाँ सहकारी समितियों के लिये हिस्सा पूँजी एक प्रमुख स्रोत है। अन्य प्रान्तों में हिस्सा पूँजी पर इसलिये अधिक जोर नहीं दिया जाता जिससे निर्धन एवं सीमित साधन वाले व्यक्ति भी सहकारी समितियों की सदस्यता से वंचित न रह जायें। जो कि सहकारिता की भावना के सर्वथा प्रतिकूल होगा।

ऐसी समितियों में रक्षित कोष का महत्व अधिक होता है। सहकारी अधिनियम

के अन्तर्गत प्रत्येक सहकारी समिति एक रक्षित कोष बनाती है जिसमें अपने लाभ का कम से कम २५ प्रतिशत भाग जमा करना पड़ता है।

ऋण तथा ब्याज (Loan and interest)—प्राथमिक साख समितियां जिन उद्देश्यों की पूर्ति के लिये अपने सदस्यों को ऋण दे सकती हैं वे हैं—

(१) उत्पादक कार्यों के लिए।
(२) अनुत्पादक कार्यों के लिए।
(३) पुराने ऋण को चुकता करने के लिए।

सदस्य खेती तथा कृषि भूमि में सुधार करने, अनेक सहकारी नकरो के भुगतान इत्यादि कार्यों के लिए उत्पादक ऋण लेने की आवश्यकता का अनुभव करता है। अनुत्पादक कार्यों के लिए, लिये जाने वाले ऋण अनेक सामाजिक रीति रिवाज, शादी, विवाह, आदि के लिए लिये जाते हैं। पुराने ऋण के भुगतान के लिये प्राप्त ऋण मुख्यतया भूमिबन्धक बैंकों ही से प्राप्त होते हैं परन्तु प्राथमिक सहकारी समितियाँ भी इस प्रकार के ऋण देने का कार्य करती हैं। सदस्यों द्वारा लिये गये ऋण तीन प्रकार की अवधि के होते हैं—

(१) अल्पकालीन,
(२) मध्यकालीन,
(३) दीर्घकालीन।

जहाँ तक सम्भव हो समितियों द्वारा ऋण केवल उत्पादक कार्यों के लिए तथा अल्प समय के लिए ही दिये जाने चाहिए। परन्तु ग्रामीण जनता को साहूकार के कठोर पंजों से मुक्त कराने के लिए समय समय पर उसके अनेक सामाजिक एवं धार्मिक कार्यों के लिए भी ऋण देना अनिवार्य हो जाता है। ऐसा करने पर ही उनके आर्थिक, सामाजिक एवं नैतिक जीवन में वास्तविक सुधार की आशा की जा सकती है। समिति द्वारा दिये गये ऋण की कितनी मात्रा हो? यह एक महत्वपूर्ण प्रश्न है। भारत में प्राथमिक सहकारी साख समिति की कार्य प्रणाली का सबसे बड़ा दोष यह है कि उनकी कार्यशाहक पूँजी कम होने के कारण वह सदस्यों को बड़ी थोड़ी मात्रा में ही ऋण दे सकने की क्षमता रखती है। सहकारिता के उद्देश्य को पूरा करने तथा साख से वास्तविक लाभ पहुँचाने के लिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि समिति द्वारा दिये गये ऋण की मात्रा इतनी अवश्य हो जिससे किसान को अपनी आवश्यकता के लिए साहूकार का मुँह न ताकना पड़े। सदस्यों को ऋण देते समय उसकी साख प्राप्त करने की योग्यता (credit worthiness) की भली भांति जानकारी कर लेना चाहिए और जहाँ तक हो सके व्यक्तिगत जमानत के आधार पर ही ऋण देना चाहिए।

ऋण लौटाने के सम्बन्ध में समितियों को सख्ती से कार्यवाही करनी चाहिए।

कारण, समिति के सफलतापूर्वक कार्य संचालन के लिए ऋण का ठीक समय पर भुगतान करना अत्यन्त आवश्यक है। कृषि साख समितियों का प्रबन्ध लोकतन्त्रीय ढंग से किया जाता है। प्रत्येक सदस्य को एक वोट देने का अधिकार होता है। समिति के कार्यकर्ता तथा अधिकारियों को वेतन नहीं दिया जाता। प्रत्येक समिति में एक साधारण समिति होती है, जिसमें सब सदस्य सम्मिलित होते हैं। इस समिति का मुख्य कार्य होता है समिति की कार्य सम्बन्धी नीति निर्धारित करना। एक वैतनिक मंत्री की भी नियुक्ति की जाती है, जो समिति के अनेक दैनिक कार्यों को करता है। साधारण समिति के अतिरिक्त एक प्रबन्ध समिति अथवा कार्यकारिणी समिति भी होती है जिसकी सदस्य संख्या ५ से ६ तक होती है। साधारण समिति की वार्षिक सभा में कार्यकारिणी समिति का निर्वाचन होता है। यही समिति साख समिति के प्रबन्ध का कार्य करती है।

लाभ का वितरण—वैसे तो लाभ के बँटवारे के सम्बन्ध में प्रत्येक राज्य में एक से नियमों की व्यवस्था नहीं है। फिर भी १६१२ के सहकारी समिति अधिनियम के अनुसार प्रत्येक सहकारी समिति को प्रत्येक वर्ष अपने विशुद्ध लाभ का कम से कम एक चौथाई भाग रक्षित कोष में जमा कर देना पड़ता है। यदि रजिस्ट्रार की अनुमति प्राप्त हो जाये तो शेष का १० प्रतिशत भाग धर्मार्थ एवं शिक्षा सम्बन्धी कार्यों में व्यय किया जा सकता है। लाभ के शेष भाग को समिति अपने सदस्यों में लाभांश के रूप में वितरित कर सकती है।

सहकारी समितियों को सहकारिता के सिद्धान्तों पर चलाने तथा ठीक से काम करने के लिए यह अत्यन्त आवश्यक है, कि समय-समय पर सहकारी समितियों के रजिस्ट्रार द्वारा उनका निरीक्षण एवं लेखा परीक्षण (audit) होता रहे जिससे उनके कार्य प्रणाली में आये हुए दोषों एवं त्रुटियों की ओर समिति का ध्यान आकर्षित किया जा सके।

प्रगति—निम्न तालिका में प्राथमिक सहकारी साख समितियों की प्रगति का विवरण दिया जाता है :—

	१६५१-५२	१६५६-५७
प्राथमिक कृषि सहकारी साख समितियाँ	१,०७,६२५	१,६१,५१०
इन समितियों की सदस्यता	४७,७६,८१६	६१,१६,८८६

कार्य प्रणाली में दोष—भारत के ग्रामीण जीवन में प्राथमिक कृषि सहकारी समितियों का अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है। इन समितियों द्वारा ही किसान को अपनी

कृषि सम्बन्धी तथा आकस्मिक आवश्यकताओं के लिए आवश्यक ऋण प्राप्त होता है। अतः भारतीय कृषि के जीवन में इन समितियों का केन्द्रीय स्थान है। परन्तु पिछले कुछ वर्षों में इनकी सख्या मे निरन्तर प्रगति होते हुए भी इन समितियों के क्रियाकरण में अनेक दोष आ गये हैं जिनके कारण समितियाँ अपना कार्य अधिक सतोषजनक नहीं कर पाती। इस कारण इन दोषों को दूर करना आवश्यक है। यह दोष हैं :—

(१) सदस्यों को ऋण लेने मे बड़ी कठिनाई होती है। कारण यह है कि समिति के सदस्यों को ऋण उसकी साख प्राप्त करने की योग्यता के आधार पर नहीं होता। अधिकारियों में जाति-पाँति, रिश्तेदारी तथा पक्षपात की भावना होने के कारण प्रायः कुछ ही लोगों को लाभ हो पाता है।

(२) ऋण देने मे अनावश्यक एव अनुचित विलम्ब के कारण सदस्यों को कठिनाई का सामना करना पड़ता है।

(३) ऋण प्राप्त करने के लिए प्राय खड़ी फसल, भूमि आदि की जमानत देनी पड़ती है। इस कारण छोटे किसानों को जिन्हें ऋण की तो सबसे अधिक आवश्यकता है परन्तु जमानत देने मे असमर्थ होने के कारण, ऋण नहीं मिल पाता।

(४) पदाधिकारियों द्वारा अपने अधिकारों के दुरुपयोग के कारण भी समिति से वास्तविक लाभ नहीं हो पाता।

समिति के पुनर्संगठन के लिए सुझाव—यद्यपि भारत में प्राथमिक कृषि साख समितियों का जो रूप इस समय देखने में आता है उसी के अनुसार पिछले कई वर्षों से वे अपना कार्य करती चली आ रही हैं। उनकी सख्या में जिस गति से वृद्धि होती जा रही है उससे प्रायः यही समझा जाता है कि यह समितियाँ भारतीय किसान के जीवन का एक अभिन्न अग बन गई हैं। परन्तु वास्तविकता यह है कि इन समितियों को अपने उद्देश्य में पूर्ण सफलता अभी प्राप्त नहीं हुई है। इस कारण इन समितियों द्वारा किसानों को वास्तविक लाभ पहुँचाने के लिए समितियों का पुनर्सगठन आवश्यक हो गया। सर्वप्रथम मद्रास सरकार द्वारा १९४० में नियुक्त की गई सहकारिता समिति (The Committee on Co operation in Madras, 1940) ने समिति के पुनर्सगठन के सम्बन्ध में जो सुझाव दिये हैं, उनमें से ये प्रमुख हैं :—

(१) समिति का आकार इतना बड़ा होना चाहिए जिससे आस-पास के कई गाँवों को उससे लाभ पहुँच सके।

(२) वैतनिक पदाधिकारियों की नियुक्ति की जाये।

(३) असीमित दायित्व के स्थान पर सीमित दायित्व की समितियों की स्थापना होनी चाहिए।

(४) ग्रामीण साख समितियों के बहुउद्देशीय समितियों में परिवर्तित करना चाहिए।

थे। परन्तु दुःख की बात है कि इस समय भारत में दूध का उत्पादन बहुत कम है। फलस्वरूप भारत में प्रति व्यक्ति दूध का उपभोग संसार के अन्य देशों की तुलना में बहुत कम है जबकि एक सन्तुलित खुराक (Balanced diet) के लिए १० औंस दूध की आवश्यकता होती है। भारत में वर्तमान प्रति व्यक्ति का उपभोग केवल ५ औंस ही है। इसका मुख्य कारण देश में दूध का उत्पादन कम होना है। सहकारी दुग्ध समितियाँ द्वारा इस क्षेत्र में महत्वपूर्ण कार्य हो रहा है। यह समितियाँ निकटवर्ती गाँव से दूध एकत्र करके उसे उपभोक्ताओं तक पहुँचाने का कार्य करती हैं। ऐसी समितियाँ बम्बई, उत्तर प्रदेश, मद्रास तथा पश्चिमी बङ्गाल में बड़ा उपयोगी कार्य कर रही हैं। यहाँ भारी जनसंख्या होने के कारण नागरिक जनसंख्या को दूध सम्बन्धी कठिनाई से मुक्त करने का श्रेय इन्हीं समितियों को है। सन् १९५३-५४ में भारत में ऐसी कुल १४७३ समितियाँ थीं जिन्होंने उस वर्ष लगभग २ करोड़ रुपये से अधिक मूल्य का दूध बेचा।

उत्तम कृषि समितियाँ

(Better Farming Societies)

ऐसी समितियों का मुख्य कार्य खेती सम्बन्धी उन्नतशील तरीकों का प्रचार करना है। यह समितियाँ ग्रामीण क्षेत्रों में अपने सदस्यों को बढ़िया बीज, उन्नत कृषि-औजार और अच्छी खाद के प्रयोग की प्रेरणा देते हैं। इस कारण ये समितियाँ कृषि-उत्पादन में वृद्धि तथा किसानों की स्थिति सुधारने के लिये खेती के उन्नतशील तरीकों के सम्बन्ध में जानकारी कराने का कार्य करती हैं। ऐसी समितियों का वास्तव में देश की आर्थिक स्थिति सुधारने के लिए बड़ा महत्व है। वैसे तो इन समितियों की अधिकांश संख्या पञ्जाब में ही है परन्तु मद्रास, बम्बई तथा मध्य प्रदेश में भी ये समितियाँ बड़ा महत्वपूर्ण कार्य कर रही हैं।

सहकारी विपणन समिति

(Co-operative Marketing Society)

यदि कृषक को अपनी फसल का उचित मूल्य मिल जाय तो उसकी आर्थिक स्थिति में बहुत हद तक सुधार हो सकता है। कारण यह है कि कृषक को अपनी फसल बेचने के लिये अनेक प्रकार के मध्यस्थों का सामना करना पड़ता है जो उसकी आय का एक बड़ा भाग हड़प कर लेते हैं। इन मध्यस्थों से मुक्ति दिलाने तथा अपने उत्पादन को उचित मूल्य पर बेचने के लिये उसे सहकारिता की सहायता लेनी पड़ेगी। यह कार्य सहकारी विपणन समिति द्वारा सफलतापूर्वक किया जा सकता है। इन समितियों ने बम्बई, मद्रास, उत्तर प्रदेश में किसानों के लिये बड़ा उपयोगी कार्य किया है। सन् १९५४ में भारत में लगभग ६२४० प्रारम्भिक विपणन समितियाँ थीं, जिनके द्वारा

५० करोड़ से अधिक का क्रय विक्रय किया गया। द्वितीय पंचवर्षीय योजना में लगभग १८०० सहकारी प्रारम्भिक वितरण समितियों की स्थापना का लक्ष्य रखा गया है।

सहकारी बीमा समितियाँ
(Co operative Insurance Society)

सहकारिता क क्षेत्र म बीमा का कार्य किसानों के लिए दो प्रकार से उपयोगी हो सकता है। पहला तो अपने पशुओं का बीमा कराकर दूसरे अपनी फसल का बीमा कराकर। वैसे तो बीमा का इसलिये बड़ा महत्व है कि यदि फसल खराब होने के कारण कुछ किसानों को हानि पहुँचती है तो यह हानि समाज के अन्य व्यक्तियों द्वारा बट जाय जिससे केवल कुछ ही लोगों को आर्थिक कठिनाई का सामना न करना पड़े। परन्तु सहकारिता के आधार पर बीमा की योजना का महत्व और भी बढ़ जाता है। कारण यह कि सहकारिता के सिद्धान्तों पर आधारित बीमा योजनाओं में प्रत्येक सदस्य को पूर्ण अधिकार होगा तथा योजना का सचालन लोकतन्त्रीय ढङ्ग पर किया जायगा। सहकारिता द्वारा पशु बीमा की योजना को कार्यान्वित करने म अनेक कठिनाइयाँ आती हैं। इस कारण भारत म क्या ससार के अन्य देशों म भी सहकारी पशु बीमा की योजना को अधिक सफलता नहीं मिली। जर्मनी, फ्रान्स, इटली आदि जिन देशों में यह योजना प्रारम्भ की गई, अनेक कठिनाइयों के कारण इसका कार्य सन्तोषजनक न हो सका। परन्तु भारत जैसे कृषि प्रधान देश म जहाँ कृषकों की दशा ऐसी नहीं है कि वे बार-बार खेती के लिए आवश्यक पशुओं को खरीद सकें, आकस्मिक क्षति को पूरा करने का कार्य सहकारी पशु बीमा समिति द्वारा किये जाने से उन्हें बड़ी सहायता मिल सकेगी।

उपज बीमा (crop insuranc.) का भी हमारे देश म कुछ कम महत्व नहीं है। जहाँ किसानों को अनेक प्राकृतिक घटनाओं जैसे बाढ़, टिड्डियों का आना, वर्षा न होना इत्यादि के कारण भारी आर्थिक हानि उठानी पड़ती है वहाँ उनकी आर्थिक स्थिति सुधारने के लिए तथा अनेक प्राकृतिक प्रकोपों से उसकी रक्षा करने के उद्देश्य से उपज बीमा का कार्य बड़ा महत्व रखता है। इन सहकारी उपज बीमा समितियों का मुख्य कार्य यह होगा कि वह किसान क समक्ष आने वाले अनेक जोखिमों को सहन कर प्राकृतिक प्रकोपों के कारण होने वाली क्षति को पूरा करें। अत बीमा बचाव (Prevention) का एक सफल साधन है परन्तु भारत में सहकारी उपज बीमा का अभी सन्तोषजनक विकास नहीं हुआ है। अशिक्षित होने के कारण अधिकाश ग्रामीण जनता अपनी फसल के बीमा कराने का महत्व नहीं समझती।

गैर-कृषि समितियाँ
(Non Agricultural Societies)

कृषि समितियों की भाँति गैर कृषि समितियाँ भी दो प्रकार की होती हैं—(१) गैर कृषि साख समितियाँ, (२) गैर कृषि गैर साख समितियाँ।

गैर-कृषि साख समितियाँ
(Non-Agricultural Credit society)

अब तक हमने कृषि सम्बन्धी अनेक प्रकार की समितियों का अध्ययन किया है। अब हम नगरवासियों तथा शहरों में रहने वालों की विभिन्न आवश्यकताओं को पूरा करने की दृष्टि से स्थापित की जाने वाली सहकारी समितियों का अध्ययन करेंगे। जिस प्रकार ग्रामीण जनता को अपनी विभिन्न आवश्यकताओं के लिए साहूकार एवं महाजनों से ऊँचे ब्याज की दर पर ऋण लेना पड़ता है और जिनकी सहायता के लिए कृषि साख समितियों की स्थापना की गई है, उसी प्रकार शहरों में भी ऐसी ही समितियों के स्थापना की आवश्यकता है। नगरों में यह समितियाँ 'शल्जेडेलीज़' के सिद्धान्तों पर संगठित की जाती हैं। इस कारण इन समितियों की सदस्य संख्या बड़ी होती है। इन समितियों का दायित्व सीमित होता है और कर्मचारियों को उनके कार्य के लिए वेतन दिया जाता है। भारत में यह समितियाँ बम्बई, मद्रास तथा बंगाल में अधिक पाई जाती हैं। इन समितियों के मुख्य कार्य होते हैं—(१) सदस्यों को समय पड़ने पर साख सम्बन्धी सुविधाएँ प्रदान करना। (२) सदस्यों में बचत तथा मितव्ययिता (Economy and thrift) की भावना को जाग्रत करना।

इस प्रकार की समितियाँ संसार के अन्य देशों में भी सफलतापूर्वक कार्य कर रही हैं। भारत में यह समितियाँ मुख्यतया बड़े बड़े शहरों एवं औद्योगिक केन्द्रों में ही स्थापित की गई हैं जहाँ उनके द्वारा कम ब्याज पर वित्तीय सहायता प्राप्त होने से सदस्यों को बड़ी सुविधा होती है। इन समितियों में नगर बैंक (Urban Bank) तथा बम्बई व मद्रास के जनता बैंक (People's Banks) विशेष उल्लेखनीय हैं। जो बैंक सम्बन्धी अनेक सुविधायें देने के साथ साथ चाँदी सोने के आभूषणों की आड़ पर सदस्यों को ऋण देने का कार्य करते हैं। इसके अतिरिक्त मिल मजदूरों तथा अन्य कारीगरों की सहायता के लिए भी इस प्रकार की समितियाँ खोली गई हैं। सन् १९५५-५६ में भारत में गैर कृषि साख समितियों की संख्या लगभग १० हजार थी जिनकी सदस्यता ३०·७३ लाख थी। अग्र तालिका में हम गैर कृषि-साख समिति की प्रगति दिखा रहे हैं :—

	१९५१ ५२	१९५६ ५७
गैर कृषि साख समितियाँ इनकी सदस्य सख्या	७,९६२ २३,३६,३४८	१०,१५० ३२,३८,७२७

गैर-कृषि गैर-साख समितियाँ

(Non-Agricultural Non Credit Societies)

आश्चर्य की बात है कि जब भारत के ग्रामीण क्षेत्रों में मुख्यतया कृषि साख समितियों ने ही विशेष सफलता प्राप्त की है तो भारत के नगरों एव शहरी क्षेत्रों में गैर साख की सहकारिता (Non-Credit Cooperation) ने भी सन्तोषजनक प्रगति की है। फलस्वरूप गैर साख समितियो की अधिक मात्रा में स्थापना हुई है। गैर कृषि गैर-साख समितियों में ३ प्रमुख प्रकार की समितियाँ अध्ययन योग्य हैं —

(१) सहकारी गृह निर्माण समितियाँ,

(२) औद्योगिक सहकारी समितियाँ, तथा

(३) सहकारी उपभोक्ता समितियाँ।

(१) *सहकारी गृह निर्माण समितियाँ* (Co operative Housing Societies)—भारत के असन्तुलित औद्योगीकरण के फलस्वरूप बड़े बड़े शहरों एव विशाल औद्योगिक केन्द्रों की स्थापना हो गई है। जिनके अनियोजित निवास का सबसे बड़ा दुष्परिणाम यह हुआ कि शहरों तथा बड़े-बड़े औद्योगिक केन्द्रों में आवास की जटिल समस्या उत्पन्न हो गई है। मिलों तथा कारखानों में काम करने वाले अधिकाश श्रमिक गन्दी बस्तियों (Slums) तथा चाल्स (Chawls) में रहकर अपना जीवन व्यतीत करते हैं। पर्याप्त आवास सम्बन्धी सुविधाएँ उपलब्ध न होने के कारण उनके परिवार के अन्य सदस्य गाँव में ही रहते हैं। इस समस्या ने जटिल रूप धारण कर लिया है और अभी समस्या पूरी तरह हल भी न होने पाई थी कि एक और घटना ने उसे और भी जटिल बना दिया। यह घटना थी भारत विभाजन के परिणामस्वरूप भारी सख्या में आने वाले शरणार्थी। आवास सम्बन्धी इस कठिन समस्या को हल करने के लिए बड़े-बड़े शहरों में सहकारी गृह निर्माण समितियों की स्थापना की गई जिनका मुख्य कार्य था अपने सदस्यों के आवास सम्बन्धी सुविधाएँ प्रदान करना तथा गृह निर्माण के लिए आवश्यक सामग्री की प्राप्ति में सहायता प्राप्त करना। हमारे देश मे दो प्रकार की सहकारी समितियाँ पाई जाती हैं :—

(१) गृह निर्माण समितियाँ, तथा

(२) किरायेदार सहकारी समितियाँ।

गृह निर्माण समितियों की सबसे अधिक संख्या बम्बई में थी जहाँ सर्वप्रथम १९१५ में पहली गृह निर्माण समिति की स्थापना की गई थी। उत्तर प्रदेश में १९१६ में जो पहली गृह निर्माण समिति स्थापित हुई थी वह प्रदेश के सर्वप्रमुख औद्योगिक केन्द्र कानपुर में ही हुई थी। इस प्रकार की समितियों की संख्या दूसरे प्रकार की समितियों की संख्या से अधिक है। इनका मुख्य कार्य गृह निर्माण के इच्छुक सदस्यों को ऋण प्रदान करना है। इसके अतिरिक्त यह समितियाँ भूमि खरीदने तथा निर्माण सामग्री के खरीदने के लिए वित्तीय सहायता प्रदान करती हैं। **किरायेदार सहकारी समितियों** का मुख्य उद्देश्य अपने सदस्यों के लिए घर का निर्माण करना अथवा उनके लिए बनाया घर खरीदना है। इस प्रकार की समितियों की कार्य प्रणाली यह है कि मकान पर सहकारी समिति का अथवा उनके सदस्यों का सामूहिक रूप से अधिकार होता है। सदस्य उसमें किरायेदार की हैसियत से रहता है और किराया देते देते जब खरीदे अथवा बनवाये हुए मकान के पूरे मूल्य का भुगतान हो जाता है तो मकान पर सदस्य का पूरा अधिकार हो जाता है। इस प्रकार की समितियाँ हमारे देश में अधिकतर मद्रास में पाई जाती हैं। सहकारिता के सिद्धान्त पर ही आवास सम्बन्धी जटिल समस्या का हल सम्भव हो सकता है। आर्थिक कठिनाई के इस युग में प्रत्येक व्यक्ति अपने लिए मकान बनवाने के स्वप्न को साकार रूप देने में सफल नहीं हो सकता। अतः सहकारी समितियों की स्थापना द्वारा सीमित साधन तथा कम आय वाले व्यक्तियों को भी गृह निर्माण सम्बन्धी सुविधाएँ प्राप्त हो सकती हैं।

भारत में १९५५-५६ में सहकारी गृह निर्माण समितियों की कुल संख्या लगभग ३००० थी जिनमें से २२८ ग्रामीण क्षेत्रों में तथा शेष शहरों में कार्य कर रही था। उत्तर प्रदेश में कुल ३१० समितियाँ थीं।

(७) **औद्योगिक सहकारी समितियाँ** (Industrial Co-operative Societies)—एक अर्ध विकसित देश की आर्थिक प्रगति के लिए उसका औद्योगिक विकास बहुत आवश्यक है। वैसे तो संसार के अन्य देशों में विशाल स्तरीय उद्योगों का अधिक महत्व है। परन्तु भारत जैसे निर्धन एवं सीमित पूँजी वाले देश के औद्योगिक विकास के लिए हम बड़े-बड़े उद्योगों के अतिरिक्त कुटीर एवं लघु स्तरीय उद्योगों की ओर अधिक ध्यान देना चाहिए। हमारे देश में अपार जन शक्ति के कारण प्रत्येक व्यक्ति को रोजगार की सुविधा प्रदान करने के लिए विभिन्न प्रकार के कुटीर उद्योगों का विकास करना चाहिए। छोटे छोटे उत्पादकों एवं कारीगरों की सहायता के लिए नगरों में सहकारी समितियों का नाम औद्योगिक सहकारी समिति होता है। ऐसी समितियों का प्रबन्ध लोकतन्त्रीय ढंग से होता है तथा सदस्यों का उत्तरदायित्व परि

मित होता है। समिति द्वारा अर्जित लाभों को सदस्यों के लाभांश के रूप में बाँट दिया जाता है। परन्तु लाभ का कुछ भाग समिति अपने रक्षित कोष में भी रख लेती है। यह समितियाँ दो प्रकार से अपना कार्य करती हैं।

(१) समिति के कार्य की एक प्रणाली यह होती है कि समस्त उत्पादन सहकारिता के आधार पर किया जाता है। समिति के सब सदस्य उत्पादन का कार्य करते हैं। वे ही कच्चे माल (raw material) तथा आवश्यक औजार खरीदते है तथा विभिन्न वस्तुओं की बिक्री का कार्य भी करते हैं।

(२) दूसरी प्रकार की समितियाँ अपने सदस्यों को आवश्यकता के समय उचित ब्याज पर उधार देकर अथवा उनके द्वारा उत्पादित वस्तु के उचित मूल्य प्राप्त कर उनकी सहायता करती हैं। इन समितियों द्वारा छोटे छोटे उत्पादकों को कच्चे माल तथा आवश्यक यंत्र को खरीदने में भी सहायता प्रदान की जाती है।

इन समितियों की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि यह केवल कुटीर उद्योगों अथवा छोटे पैमाने पर चलाये जाने वाले उद्योगों के क्षेत्र में ही सफलतापूर्वक अपना कार्य कर सकती हैं। अपने सीमित साधनों तथा विशेष औद्योगिक कुशलता के अभाव के कारण विशाल स्तरीय उद्योगों के क्षेत्र में इन समितियों के सगठन से कोई विशेष लाभ नहीं हो सकता है। सहकारिता वास्तव में सीमित साधनों वाले व्यक्तियों का शस्त्र है।

सहकारी उपभोक्ता समितियाँ

(Co operative Consumers Societes)

सहकारी उपभोक्ता समितियों के सगठन का सबसे सफल प्रयास राकडेल पायनियर्स द्वारा किया गया था। इगलैंड, जहां उपभोक्ता समितियों का जन्म हुआ था ससार में उपभोक्ताओं की सहकारिता के लिये प्रसिद्ध है। सर्वप्रथम १८४४ में सहकारी उपभोक्ता भंडारों की स्थापना की गई। इन सहकारी भंडारों की प्रगति के फलस्वरूप ससार के अन्य देशों में भी सहकारी उपभोक्ता भण्डारों की स्थापना की जाने लगी। इन भंडारों का मुख्य उद्देश्य अपने सदस्यों को उपभोग की विभिन्न आवश्यक वस्तुएँ उचित मूल्य पर प्रदान करना है। एक तो इनके द्वारा प्राप्त वस्तुओं की प्रकृति बढ़िया होती है, दूसरे थोक भाव पर समिति द्वारा खरीदे जाने के कारण उपभोक्ताओं को यह वस्तुएँ कुछ कम मूल्य पर भी मिल जाती है। हमारे देश में भी सहकारी भंडारों ने काफी प्रगति की है। सहकारी उपभोक्ता समिति अथवा भंडारों का सचालन भी जनतान्त्रिक प्रणाली द्वारा होता है तथा समिति द्वारा अर्जित लाभ सदस्यों में बाँट दिया जाता है। हमारे देश में इन भंडारों की प्रगति विशेषतया द्वितीय महायुद्ध के काल में हुई, जब लड़ाई के कारण आवश्यक वस्तुओं की पूर्ति

सीमित होने के कारण वस्तुओं की दिल्ली में चोरबाजारी तथा मुनाफाखोरी का बोल वाला हो गया था। जन साधारण को अपने उपयोग की वस्तुएँ प्राप्त होने पर अत्यधिक कठिनाई का सामना करना पड़ता था। इस कारण इन समितियों के विकास में भारी प्रगति हुई और उनकी सदस्यता में आश्चर्यजनक वृद्धि हो गई। परन्तु महायुद्ध के समाप्त होने के बाद ही उनकी संख्या एवं सदस्यता फिर कम होने लगी—इस प्रकार उपभोक्ता समितियों की प्रगति मुख्यतया उत्तर प्रदेश, मद्रास, बम्बई, आसाम तथा मैसूर प्रदेशों में ही हुई है।

वैसे तो इन उपभोक्ता समितियों ने प्राय सभी प्रान्तों में थोड़ी बहुत प्रगति की है परन्तु मद्रास में सहकारिता भंडारों ने महत्वपूर्ण कार्य किया है। मद्रास के ट्रिप्लीकेन स्टोर (Triplicane Store) ने इस क्षेत्र में सबसे बढ़िया कार्य किया है। भारत में समस्त प्रान्तों में उपभोक्ता भंडारों में इस स्टोर ने सबसे अधिक लोकप्रियता अपने क्षेत्र में प्राप्त की है जिसके कारण इसकी सदस्य संख्या तथा बिक्री प्राय देश के सभी भंडारों से अधिक रही है। इस स्टोर की स्थापना सन् १६०४ में हुई थी तब से इसने कार्य में निरन्तर प्रगति होती जा रही है। इस समय इसकी २० से अधिक शाखाएँ कार्य कर रही हैं जिनमें सदस्यों को उनकी आवश्यकता की प्राय प्रत्येक वस्तु प्राप्त होती है। जैसे—अनाज, मसाले, तेल, घी, मक्खन और साबुन आदि।

भारत में सहकारी उपभोक्ता भंडारों की प्रगति अधिक नहीं हो पाई। इसकी असन्तोषजनक प्रगति के कई कारण बताये जा सकते हैं—जैसे भंडारों द्वारा अन्य आवश्यकताओं के लिये दूसरे दूकानदारों से वस्तुएँ खरीदनी पड़ती थीं। इसके अतिरिक्त इन समितियों की सदस्यता केवल मध्यवर्ग तथा श्रमिकों तक ही सीमित रही जो सीमित साधनों के कारण सहकारी उपभोक्ता समिति का एक भी हिस्सा नहीं खरीद सकते। इसके अतिरिक्त इन भंडारों को कुशलतापूर्वक चलाने के लिए ऐसे प्रबन्धकों की आवश्यकता होती है जिनमें पर्याप्त व्यवसायिक कुशलता हो जिसकी हमारे देश में बहुत कमी है। अनेक कारणों से भारतवर्ष में इन उपभोक्ता भंडारों की संख्या कम होती जा रही है। द्वितीय पंचवर्षीय योजना में सहकारी उपभोक्ता भंडारों के विकास के लिये विस्तृत योजना रखी गई है।

उपभोक्ता भंडारों की प्रगति के लिए हमें उनके दोषों को दूर करना होगा तथा उनके विकास के लिए एक योजना बनानी होगी। उपभोक्ता भंडारों की सफलता बहुत कुछ सदस्यों की कुशलता एवं उनके पारस्परिक सहयोग पर निर्भर करती है। सरकार द्वारा इन उपभोक्ता भंडारों के कुशल संचालन एवं प्रबन्ध के लिए कर्मचारियों के प्रशिक्षण की सुविधाएँ प्रदान की जायें। प्रारम्भिक काल में इन भंडारों को चलाने के लिए सरकार द्वारा वित्तीय सहायता भी मिलना आवश्यक है। इसके अतिरिक्त

केन्द्रीय बैंकों से समय समय पर आवश्यक ऋण प्राप्त करने की सुविधा प्राप्त होनी चाहिये। इन भंडारों को प्रोत्साहन देने के लिए सरकार इनके द्वारा बेचे गये माल पर बिक्री कर की छूट प्रदान कर सकती है।

माध्यमिक समितियाँ

(Secondary Societies)

जैसा कि विदित है सन् १९०४ के सहकारी अधिनियम का मुख्य दोष यह था कि इसके अन्तर्गत ऐसी केन्द्रीय संस्थाओं जैसे संघ, केन्द्रीय बैंक आदि के संगठन की कोई व्यवस्था नहीं थी जिससे प्राथमिक सहकारी समितियों की देखभाल की जा सकती तथा उन्हें आवश्यकता के समय वित्तीय सहायता भी प्रदान की जा सकती। इस कारण १९१२ के सहकारी अधिनियम के द्वारा इस दोष को दूर करने का प्रयत्न किया गया। भारत में इस समय ३ प्रकार की माध्यमिक सहकारी समितियाँ कार्य कर रही हैं। जिनका मुख्य कार्य है प्राथमिक सहकारी समितियों को वित्तीय सहायता देना और उनके कार्य पर नियन्त्रण रखना। इनके द्वारा प्रारम्भिक समितियों का पथ प्रदर्शन होता है जिसके फलस्वरूप कार्य कुशलतापूर्वक चलता रहता है यह समितियाँ निम्न लिखित हैं —

(१) संघ (Union)

(२) केन्द्रीय बैंक (Central Bank)

(३) प्रादेशिक अथवा राज्य सहकारी बैङ्क (Provincial Bank)

संघ (Union)—सहकारी प्राथमिक समितियाँ ही केवल इन संघों की सदस्य बन सकती हैं। अतः बहुत-सी प्राथमिक समितियों के मिल जाने से संघ बन जाता है। इनका कार्य क्षेत्र बहुत सीमित होता है। प्रायः ३० से ५० तक प्राथमिक समितियाँ एक संघ बनाने के लिये पर्याप्त हैं। अतः जिले के एक छोटे से क्षेत्र में ही अपना कार्य करती हैं। इनके प्रबन्ध का भार प्राथमिक समितियों के प्रतिनिधियों पर भी होता है। इन्हीं संघों द्वारा प्राथमिक समितियों और केन्द्रीय बैंकों में सम्बन्ध स्थापित होता है। इसके तीन प्रमुख प्रकार हैं—

(१) *गारंटी अथवा जमानती संघ (Guarantee Union)*—इन संघों का मुख्य कार्य प्रारम्भिक सदस्य समितियों को केन्द्रीय बैंक से समय समय पर ऋण दिलाना है तथा उनके लौटाने के लिये उत्तरदायी होना है। भारत में ऐसे संघ बम्बई प्रान्त में कार्य कर रहे हैं।

(२) साहूकारी संघ (Banking union)—ये संघ अधिकतर पंजाब में हैं। इन संघों तथा केन्द्रीय बैङ्कों के कार्य बहुत कुछ एक से होने के कारण उनमें समानता है। परन्तु केन्द्रीय बैङ्कों की अपेक्षा इनका कार्यक्षेत्र काफी सीमित होता है।

(३) निरीक्षक संघ (Supervising Union)—भारत में इस प्रकार के संघ अधिकतर मद्रास बम्बई में ही देखने में आते हैं। इनका मुख्य कार्य अपनी सदस्य समितियों का निरीक्षण एवं पर्यवेक्षण करना होता है। अब ये संघ प्राथमिक समितियों के सलाहकार, निरीक्षक एवं पथ प्रदर्शक के रूप में कार्य करते हैं और आवश्यकता पड़ने पर उनको समय समय पर वित्तीय सहायता तथा अन्य प्रकार की सुविधायें पहुँचा कर उनके कार्य में सहायता प्रदान करते हैं।

केन्द्रीय सहकारी बैंक

(Central Cooperative Bank)

महत्व (Importance)—इन बैंकों का संगठन १९१२ के सहकारी समिति अधिनियम के अनुसार हुआ है। भारत के सहकारी साख आन्दोलन में इन बैंकों का महत्वपूर्ण स्थान है। प्रारम्भिक सहकारी साख समितियों की कार्य कुशलता बहुत कुछ इन केन्द्रीय बैंकों पर निर्भर करती है। अपनी आवश्यकता के लिये ये समितियाँ इन्हीं बैंकों से धन प्राप्त करती हैं। इनका सबसे अधिक महत्व इस कारण है कि ये समितियों के बीच साख के प्रवाह में सन्तुलन स्थापित करती हैं।

प्रकार (Kinds)—केन्द्रीय बैंक के मुख्य दो प्रकार हैं—

(१) शुद्ध केन्द्रीय बैंक
(२) मिश्रित केन्द्रीय बैंक

(१) शुद्ध केन्द्रीय बैंक (Pure Central Bank)—इस प्रकार के बैंक अधिकतर उत्तर प्रदेश और पंजाब में मिलते है। इन्हें बैंकिंग संघ (Banking Union) भी कहते हैं। सहकारिता के क्षेत्र में केन्द्रीय बैंक को आदर्श बैंक माना जाता है। इनके सदस्य केवल प्राथमिक सहकारी समितियाँ ही बन सकती हैं अर्थात् कोई व्यक्ति इनका सदस्य नहीं बन सकता। इनका एक बड़ा दोष यह है कि अधिक मात्रा में जमा (Deposits) नहीं कर पाते।

मिश्रित केन्द्रीय बैंक—(Mixed Central Bank) प्राथमिक समितियों के अतिरिक्त इन बैंकों की सदस्यता के द्वार व्यक्तियों के लिये भी खुले रहते हैं। इस कारण इन बैंकों में प्रभावशील एवं अन्य अनुभवी व्यक्ति सदस्य बनकर बैंक के कार्य संचालन में महत्वपूर्ण योग देते है। इन बैंकों में पूँजी अधिक जमा होती है जिससे बैंक का काम अधिक कुशलता से चलाया जा सकता है।

कार्यक्षेत्र (Area of Operation)—वैसे तो इन बैंकों का कार्यक्षेत्र एक जिले तक ही सीमित होना चाहिये। परन्तु भारत में कुछ प्रदेश ऐसे हैं जिनमें बैंकों का कार्यक्षेत्र बहुत सीमित है जिसके कारण एक जिले में प्रायः एक से अधिक भी बैंक कार्य

करते हैं, अतएव आर्थिक दृष्टि से उनका कार्य सन्तोषजनक नहीं हो पाता। जहाँ तक सम्भव हो, एक जिले में एक ही केन्द्रीय बैंक संगठित किया जाय।

इनके कार्य (Functions)—केन्द्रीय बैंक अनेक महत्त्वपूर्ण कार्य करते हैं जैसे—

(१) सदस्य समितियों का निर्देशन एवं निरीक्षण।

(२) सदस्य समितियों को वित्त प्रदान करना।

(३) अनेक प्रकार के बैंक सम्बन्धी कार्य जैसे चक, विनिमय पत्र, हुण्डी आदि जमा करना। सदस्यों एवं अन्य लोगों को पर्याप्त जमानत पर ऋण देना आदि।

कार्यवाहक पूँजी (Working capital)—केन्द्रीय बैंक अपने लिये आवश्यक कार्यशील पूँजी चार प्रमुख साधनों से प्राप्त करते हैं जिन्हें निम्न दो भागों में विभाजित किया जा सकता है—

(१) निजी कोष—इसमें सदस्यों के अंश तथा रक्षित कोष सम्मिलित होते हैं।

(२) ऋण द्वारा एकत्रित कोष—इसमें सदस्यों का जमा किया हुआ धन तथा केन्द्रीय बैंक द्वारा दिया गया ऋण प्रमुख है। इनमें से प्रमुख स्रोत सदस्यों द्वारा की गई जमा (Deposits) है। जिसका मुख्य कारण है बैंक की सदस्यता व्यक्तियों के लिये खुली होना। इसके फलस्वरूप नगर के व्यक्ति तथा बड़े व्यवसायी इन बैंकों में रुपया जमा करते हैं।

प्रबन्ध (Management) केन्द्रीय बैंक के प्रबन्ध के लिये दो समितियाँ होती हैं—१—साधारण सभा

२—कार्यकारिणी समिति

बैंक का प्रत्येक सदस्य साधारण सभा का सदस्य होता है और प्रत्येक को एक वोट देने का अधिकार होता है। बैंक के कार्य को चलाने के लिए यही सभा एक प्रबन्ध समिति का निर्माण करती है। इसके संचालक अवैतनिक होते हैं।

ऋण देने की विधि व लाभ का बँटवारा (Distribution of Profits and Loans)—केन्द्रीय बैंक मुख्यतया अपनी सदस्य समितियों को ही ऋण देता है। यह ऋण दो प्रकार के होते हैं—१ अल्पकालीन और २ मध्यकालीन। परन्तु कभी कभी व्यक्तियों को भी उनसे उधार मिल सकता है। जिसके लिए बैंक का सदस्य होना आवश्यक है। केन्द्रीय बैंक अपने लाभ का २५ प्रतिशत भाग रक्षित कोष में जमा करते हैं और शेष को सदस्यों में लाभांश के रूप में बाँट देते हैं। इनके द्वारा लिये गये ब्याज की दर प्रत्येक प्रान्त में भिन्न है। जैसे बिहार में ५½ से ७ प्रतिशत तक, उत्तर प्रदेश में ७ प्रतिशत और मध्य प्रदेश में ४ से १२ प्रतिशत।

इनके दोष (Defects)—यद्यपि अपने कार्यों के कारण केन्द्रीय बैंकों का

महत्वपूर्ण स्थान है। फिर भी इनके कार्य में कुछ दोष आ गये हैं जिन्हें दूर करना अत्यन्त आवश्यक है। ये दोष निम्नलिखित हैं —

(१) भारत में केन्द्रीय बैंकों के पास प्राय पूँजी के अभाव की समस्या बनी रहती है।

(२) इन बैंको क पास आने वाला जमा का अधिकाश भाग सहकारी समितियों से नहा वरन् व्यक्तियों से प्राप्त होता है।

(३) इन बैंकों क लिये कुशल कर्मचारियों का अत्यधिक अभाव है।

सन् १९५१ ५२ म भारत म केन्द्रीय बैंका तथा साहूकारी सघों की सख्या कुल ५२६ था। यह १९५६ ५७ म घट करके केवल ४५१ ही रह गई। इनके द्वारा महत्वपूर्ण काय किये जाने क कारण यह आवश्यक है कि हम उनक अनेक दोषों को दूर कर पुनर्गठन करें।

प्रान्तीय बैंक

(Provincial Bank)

महत्व—यह प्रान्त क सहकारी बैंकों क शिखर पर होता है। इस कारण इसे सर्वोपरि या शीर्ष बैंक (Apper Bank) भी कहते हैं। प्रान्तीय बैंकों में सबसे उच्च स्थान होने क कारण प्रान्त क सहकारी आन्दोलन म इन बैंकों का महत्वपूर्ण स्थान होता है। फलस्वरूप राज्य म स्थापित विभिन्न प्रकार की साख समितियाँ तथा बैंकों के काय का नियन्त्रण तथा पथ प्रदर्शन करना इसका मुख्य उत्तरदायित्व है। इसके द्वारा ही केन्द्रीय बैंकों को वित्त प्राप्त होता है।

वर्तमान स्थिति—भारत म सन् १९५१ ५२ म प्रान्तीय सहकारी बैंकों की सख्या कुल १६ थी। १९५६ ५७ म यह सख्या बढ़कर २३ हो गई जिनकी कार्य शील पूँजी लगभग ६३॥ करोड़ रुपये थी। ३० जून, १९५६ म इनके कुल सदस्यों की सख्या ३६३६४ थी।

रचना एव कार्य—भारत म ऐसे प्रान्तीय बैंक बहुत कम है जिनमें केवल सहकारी सस्थाएँ ही सदस्य हो और व्यक्ति सदस्य न हो। अधिकाश बैंकों की प्रकृति मिश्रित है अर्थात् जिनम विभिन्न सहकारी सस्थाओं जैसे केन्द्रीय बैंक तथा प्राथमिक सहकारी समितियों क अतिरिक्त अधिकाश सख्या म व्यक्ति भी सदस्य हैं। इन बैंकों को रिज़र्व बैंक की मान्यता प्राप्त होती है और अन्य अनुसूचित बैंकों में प्रान्तीय बैंकों की भी गणना की जाती है। भारत क विभिन्न प्रान्तों म यह बैंक बड़े उपयोगी कार्य करने के कारण अत्यन्त लोकप्रिय हो गये हैं।

इन बैंकों क द्वारा भी अनेक प्रकार के कार्य सम्पन्न होते हैं। इनम स मुख्य काय अग्रलिखित हैं —

(१) सर्वोपरि बैंक होने के कारण प्रान्तीय सहकारी बैंक राज्य के सहकारी आन्दोलन का निर्देशन एवं संगठन करते हैं।

(२) ये बैंक केन्द्रीय बैंकों के कार्यों में समन्वय स्थापित करते हैं, तथा उन्हें आवश्यकता के समय ऋण प्रदान करते हैं।

(३) ये बैंक पूँजी में प्रवाह तथा गतिशीलता लाने का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कार्य करते हैं अर्थात् केन्द्रीय बैंकों की पूँजी इनके पास जमा रहने के कारण उसमें से कुछ भाग ये उन केन्द्रीय बैंकों को दे देते हैं जिनके पास पूँजी का अभाव होता है।

(४) प्रान्तीय बैंक अपने पास धन का पर्याप्त कोष एकत्र रखता है। सामान्य द्रव्य-बाजार में अनुकूल परिस्थितियों तथा ब्याज की कम दर होने के समय यह आवश्यक कोष जुटा लेता है जिसे यह केन्द्रीय बैंकों तक पहुँचा देता है और प्रारम्भिक समितियाँ जिसे केन्द्रीय बैंक से प्राप्त कर लेती हैं। प्रान्तीय बैंक राज्य की अनेक प्रकार की सहकारी क्रियाओं को संगठित करके प्रदेश के सहकारी आन्दोलन के विकास एवं प्रगति में सहायता पहुँचाता है।

कार्यवाहक पूँजी तथा ऋण (Working Capital and Loans)—केन्द्रीय बैंकों की भाँति प्रान्तीय सहकारी बैंकों की कार्यशील पूँजी भी चार मुख्य साधनों द्वारा प्राप्त की जाती है। ये चार स्रोत हैं :—

(१) अंश पूँजी
(२) रक्षित कोष
(३) जमा पूँजी
(४) बैंक द्वारा लिये गये ऋण।

जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है, ३० जून, १९५६ तक देश के समस्त प्रान्तीय बैंकों की कुल कार्यवाहक पूँजी ६३·३४ करोड़ रुपया थी। इस पूँजी का अधिकांश भाग (५०·६ प्रतिशत अर्थात् ३६·६७ करोड़ रुपया) सदस्यों तथा गैर सदस्यों द्वारा की गई जमा से प्राप्त होता है।

प्रान्तीय सहकारी बैंक मुख्यतया दो प्रकार के ऋण प्रदान करता है :—१. अल्पकालीन २. मध्यकालीन। प्राथमिक सहकारी समितियाँ, केन्द्रीय सहकारी बैंक तथा व्यक्तियों को समय-समय पर राज्य सहकारी बैंकों द्वारा ऋण प्राप्त होता है।

प्रान्तीय सहकारी बैंकों द्वारा प्रदेश में सहकारिता आन्दोलन को प्रोत्साहन एवं बल मिलने के लिये यह अत्यन्त आवश्यक है कि यथासम्भव ये बैंक विभिन्न प्रकार की बैंकिंग क्रियाओं की ओर अधिक ध्यान न देकर अपना पूरा ध्यान सहकारी संस्थाओं के संगठन, निर्देशन, मार्ग प्रदर्शन तथा उन्हें वित्तीय सहायता देने पर केन्द्रित करें। अतः इन बैंकों को अपने उद्देश्यों को पूर्ण करने तथा अपने कार्यों में सफलता प्राप्त

करने के उद्देश्य से अखिल भारतीय साख सर्वेक्षण समिति (गोरवाला समिति) तथा रिजर्व बैंक आफ इंडिया के कृषि साख विभाग (Rural Credit Department) ने महत्वपूर्ण सुझाव दिये हैं जिनके द्वारा कार्य प्रणाली में पर्याप्त सुधार होने की सम्भावना है।

दीर्घकालीन साख तथा भूमिबन्धक बैंक
(Long Term Credit and Land Mortgage Bank)

महत्व—भारतीय कृषक की आर्थिक दशा सुधारने के लिए उसकी ऋणग्रस्तता को दूर करना अत्यन्त आवश्यक है। हमारे किसानों को अनेक आवश्यकताओं के लिए कई प्रकार के ऋण लेने पड़ते हैं। इस कारण केवल प्राथमिक सहकारी समितियों द्वारा उन्हें मुख्यतया अल्पकालीन ऋण दिलाकर यह समस्या हल नहीं की जा सकती। हमें तो उसे ऋण से स्थायी एवं वास्तविक मुक्ति दिलाने के लिए प्रयत्न करना चाहिए। इस उद्देश्य के लिए उसके दीर्घकालीन ऋण की समस्या का सुलझाया जाना अनिवार्य है। अतः ऐसी किसी संस्था या संगठन होना आवश्यक है, जो उन्हें आवश्यकता के समय दीर्घकालीन ऋण देने का कार्य सफलतापूर्वक कर सके। वैसे तो किसान को कई प्रकार के ऋण लेने पड़ते हैं जैसे अल्पकालीन ऋण, मध्यकालीन ऋण, तथा दीर्घकालीन ऋण। अल्पकालीन ऋण प्रायः फसल के लिए आवश्यक चीजें खाद, बीज इत्यादि के खरीदने, श्रमिकों को देने के लिए मजदूरी तथा पशुओं के लिए चारा आदि जुटाने के लिए ही लिए जाते हैं। अपने लिए बैलगाड़ी, आवश्यक कृषि औजार, बैल आदि के लिए मध्यकालीन ऋण की आवश्यकता होती है। परन्तु दीर्घकालीन ऋण इन सबसे अधिक आवश्यक होता है। क्योंकि उसे दीर्घकालीन ऋण कृषि भूमि के खरीदने, पैतृक ऋणों को चुकाने तथा अपने खेती सम्बन्धी स्थायी सुधार करने जैसे कुआँ खुदवाना, बंजर भूमि को खेती योग्य बनाना इत्यादि के लिए लेने पड़ते हैं जिनके द्वारा ही कृषि उत्पादन सम्भव हो सकता है। इस कारण देश की कृषि व्यवस्था तथा भारतीय कृषकों की आर्थिक उन्नति बहुत हद तक दीर्घकालीन ऋण की सुविधाओं पर निर्भर करती है।

आवश्यकता (Necessity)—कृषि में विभिन्न प्रकार के स्थायी सुधार करने तथा उपरोक्त बताये हुए विभिन्न उद्देश्यों के लिए उचित ब्याज की दर पर दीर्घकालीन ऋण की आवश्यकता होती है। इस कार्य को न तो सहकारी समितियाँ ही कर सकती हैं और न व्यापारिक बैंक द्वारा ही इसे पूरा किया जा सकता है। सीमित साधन होने के कारण इनके द्वारा अधिक से अधिक अल्पकालीन या मध्यकालीन ऋण ही प्राप्त हो सकता है और दूसरे इन संस्थाओं की अधिकांश कार्यवाहक पूँजी सदस्यों की जमा से ही प्राप्त होने के कारण दीर्घकालीन ऋण के लिए इनका प्रयोग नहीं किया जा सकता। भारतीय किसान को लम्बी अवधि के लिए मिलने वाला ऋण ऐसा होना चाहिए

जिसके ब्याज की दर कम हो और जिसे किसान अपनी सुविधा के अनुसार छोटी-छोटी किश्तों में लौटा सके। इस दृष्टि से ऋण देने वाली विभिन्न सहकारी तथा साहूकार संस्थायें सर्वथा अनुपयुक्त हैं। प्राथमिक साख समितियाँ तथा ग्रामीण महाजन एवं साहूकार अपने सीमित वित्तीय साधनों को लम्बी अवधि के लिए उधार देने के अयोग्य हैं। लाभ की दृष्टि से चलाये जाने वाले व्यापारिक बैंक ऊँची ब्याज की दर पर ही लम्बी अवधि के ऋण देने के लिए तत्पर होते हैं। उनका उद्देश्य ही अधिक से अधिक लाभ कमाना है। इसके फलस्वरूप किसानों का नीची ब्याज की दर पर ऋण देने का उद्देश्य पूरा नहीं हो सकता। इस कारण दीर्घकालीन ऋण देने का कार्य किसी ऐसी संस्था द्वारा ही किया जाना चाहिए जो उसके लिए उपयुक्त हो अर्थात् ऐसी संस्थाओं में निम्न विशेषतायें होनी चाहिए :—

(१) उनका संचालन सहकारिता के सिद्धान्तों पर होना चाहिए।

(२) इनके प्रबन्ध में ऋण लेनदारों को भाग लेने का अवसर मिलना चाहिए।

(३) इनके चलाने पर किये गये व्यय में मितव्ययिता होनी चाहिये।

(४) इनका संचालन लाभ के लिए न होकर कृषकों की सहायता के लिए होना चाहिये।

ये समस्त विशेषतायें भूमिबन्धक बैंक में पाई जाती हैं। इन बैंकों का संगठन किसानों को लम्बी अवधि के लिए ऋण देने के लिए होता है। इन्हें सहकारिता के सिद्धान्तों पर भी चलाया जा सकता है। ऋण लेने वाले इनके प्रबंध में सहयोग देते हैं। उपरोक्त विशेषताओं को ध्यान में रखते हुए भूमि बन्धक बैंक की परिभाषा इस प्रकार दी जा सकती है।

परिभाषा (Definition)—किसान तथा भू स्वामी अपनी भूमि को रेहन रखकर जिस संस्था से उचित ब्याज पर लम्बी अवधि के लिये ऋण प्राप्त कर सकते हैं उसे भूमिबन्धक बैंक कहते हैं।

ऐतिहासिक अध्ययन (Historical Study)

भारत में सर्वप्रथम १६२० में पंजाब के झंग (Jhang) नामक स्थान में भूमिबन्धक बैंक की स्थापना हुई। इसके बाद सन् १६२५ में मद्रास में दो भूमिबन्धक बैंक खोले गये। तत्पश्चात् बम्बई में भी १६२६ में ३ भूमिबन्धक बैंक का संगठन किया गया। परन्तु भारत में भूमिबन्धक बैंक की प्रगति का इतिहास १६२६ में प्रारम्भ हुआ; जब मद्रास में एक केन्द्रीय भूमिबन्धक बैंक स्थापित हुआ था। वैसे तो १६२५ में ही यहाँ प्राथमिक भूमिबन्धक बैंकों ने अपना कार्य प्रारम्भ कर दिया था। भारत में भूमिबन्धक बैंकों के कार्य सफलतापूर्वक मद्रास, आन्ध्र प्रदेश,

मैसूर, उड़ीसा, मध्य प्रदेश, पश्चिमी बंगाल, उत्तर प्रदेश तथा राजस्थान में चल रहे हैं। भारत के कुछ प्रदेश ऐसे हैं, जहाँ अभी भूमिबन्धक बैंकों की स्थापना नहीं हो पाई है जिनके अभाव के फलस्वरूप किसानों को अपने दीर्घकालीन ऋण के लिये बड़ी कठिनाई का सामना करना पड़ता है।

वर्तमान स्थिति (Present Position)

यहाँ सन् १९५१-५२ तथा १९५६-५७ में प्राथमिक तथा केन्द्रीय भूमिबन्धक बैंकों की स्थिति दिखाई गई है—

	१९५१-५२	१९५६-५७
केन्द्रीय भूमिबन्धक बैंक	६	१२
प्राथमिक भूमिबन्धक बैंक	३४५७९	११६५६१

प्रकार (Kinds)—मुख्यतया तीन प्रकार के भूमिबन्धक बैंक होते हैं जो निम्नांकित हैं—

(१) सहकारी भूमिबन्धक बैंक (Cooperative Land Mortgage Bank)—इस प्रकार के भूमि बन्धक बैंक सहकारिता के सिद्धान्तों के आधार पर चलाये जाते हैं। इस कारण यह सीमित साधनों वाले किसानों के लिये अत्यन्त उपयोगी होते हैं। इन बैंकों का मुख्य आधार पारस्परिक सहयोग एवं संगठन और ऋण लेने के लिये सदस्यों द्वारा रेहन रखी हुई भूमि अथवा सम्पत्ति की गारन्टी है।

(२) अर्द्ध सहकारी भूमिबन्धक बैंक (Quasi Cooperative Land Mortgage Bank)—भारत में इसी प्रकार के भूमिबन्धक बैंक अधिक प्रचलित हैं। इन बैंकों का प्रबन्ध सहकारिता तथा व्यापार के मिश्रित सिद्धान्तों पर किया जाता है जिसके कारण इनमें दो प्रकार के लक्षण देखने में आते हैं। इनका संगठन सीमित दायित्व के सिद्धान्त पर किया जाता है। इनकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उनकी सदस्यता केवल बैंक से उधार लेने वालों तक ही सीमित नहीं होती वरन् अधिक संख्या में ऋण न लेने वाले व्यक्ति भी इनके सदस्य होते हैं जिसके फलस्वरूप बैंकों को अधिक मात्रा में पूँजी प्राप्त हो जाती है। पूँजी के साथ-साथ पूँजीपतियों एवं व्यवसायियों की सदस्यता के कारण इन बैंकों को व्यापारिक कुशलता तथा व्यावसायिक संगठन जैसी अमूल्य गुणों की प्राप्ति होती है। इन बैंकों को सरकार भूमि के मूल्यांकन सम्बन्धी कार्य के लिये विशेष प्रशिक्षित अधिकारियों की सेवायें प्रदान करती है।

बैङ्क सदस्यों को ऋण देने के पहले रजिस्ट्रार की अनुमति प्राप्त कर लेता है। सहकारिता के सिद्धान्तों पर चलने तथा केवल लाभांश कमाने की प्रवृति को प्रोत्साहन न देने के लिये यह बैङ्क दो कार्य करता है—

(१) इसमें हर सदस्य को एक ही वोट देने का अधिकार होता है।

(२) इसमें लाभांश की दर अधिकतर नीची रखी जाती है।

(३) गैर सहकारी भूमिबन्धक बैंक (Non-Co-operative Land Mortgage Bank)—जैसा कि नाम से विदित है यह बैङ्क सहकारिता के सिद्धान्तों पर नहीं चलाये जाते। व्यापारिक सिद्धान्तों पर चलाये जाने वाले इन बैङ्कों का मुख्य उद्देश्य लाभ कमाना है। भारत में कृषि सहकारी आन्दोलन का मुख्य आधार सहकारिता ही है। इस कारण इन व्यापारिक भूमिबन्धक बैङ्कों की देश में अधिक प्रगति नहीं हुई है। परन्तु संसार के अन्य देशों में इस प्रकार के बैंक सफलतापूर्वक कार्य कर रहे हैं।

भूमि बन्धक बैंकों के कार्य (Functions)—वैसे तो भारत में भूमि बन्धक बैङ्कों का संगठन तीन विभिन्न प्रकार से हुआ है। जैसे (१) कुछ प्रदेश ऐसे हैं जहाँ केवल केन्द्रीय भूमि बन्धक बैङ्क ही कार्य कर रहे हैं और किसानों को इनसे ही ऋण प्राप्त होता है। जैसे त्रावनकोर कोचीन तथा उड़ीसा। (२) कुछ प्रदेश ऐसे हैं जहाँ केन्द्रीय भूमि बन्धक बैङ्क की स्थापना नहीं हुई है जैसे उत्तर प्रदेश, राजस्थान तथा आसाम। (३) कुछ प्रान्तों में जैसे बम्बई, मद्रास, मैसूर इत्यादि में प्राथमिक एवं केन्द्रीय दोनों प्रकार के भूमि बन्धक बैङ्क संगठित किये गये हैं। परन्तु जहाँ तक इनके कार्यों का सम्बन्ध है इनमें बहुत कुछ समानता देखने में आती है। भारत में भूमि बन्धक बैंक मुख्यतया निम्न कार्य करते हैं—

(१) किसानों को कृषि भूमि खरीदने के लिये ऋण देना।

(२) अपने पैतृक तथा पुराने ऋणों के भुगतान के लिये रुपया देना।

(३) खेतों की चकबन्दी कराने में किसानों की मदद करना।

(४) गिरवी रखी हुई कृषि भूमि को रेहन से छुड़ाने तथा खेती में सुधार करने के उद्देश्य के लिये ऋण देना।

कार्य विधि—भूमि बन्धक बैंक अपने कार्यों को पूरा करने के लिये आवश्यक पूँजी ४ प्रमुख स्रोतों से प्राप्त करते हैं—हिस्सा पूँजी, रक्षित कोष, ऋणपत्र तथा इनके द्वारा लिये गये ऋण। सदस्यों को बेचे गये हिस्सों से अधिक मात्रा में पूँजी प्राप्त नहीं होती। इस कारण भूमि बन्धक बैंकों को अपनी कार्यशील पूँजी प्राप्त करने के लिये ऋण पत्रों पर ही निर्भर रहना पड़ता है। बैंक द्वारा निकाले गये ऋण पत्रों को सामान्य जनता खरीदती है। इसके बदले में उन्हें ब्याज मिलता है। जनता के अति-

रिक्त ऋणपत्रों को रिज़र्व बैंक भी खरीदता है । सरकार इन ऋण पत्रों के मूल्य तथा उन पर दिये गये ब्याज की गारन्टी लेती है। इन बैंकों में सदस्यों द्वारा जमा की गई पूँजी की मात्रा बहुत कम होती है।

इन बैंकों द्वारा दिया गया ऋण प्राय २० साल की अवधि के लिये होता है परन्तु विशेष परिस्थितियों में इससे अधिक समय के लिये भी दिया जा सकता है। ऋण देने के पूर्व भूमि बन्धक बैंक निम्न दो बातों की जानकारी प्राप्त करते हैं :—

(१) गिरवी रखी भूमि का मूल्यांकन—किसान इन बैंकों द्वारा दीर्घकालीन ऋण प्राप्त करने के लिये अपनी भूमि रेहन कर देता है। परन्तु इस भूमि का मूल्यांकन करना बड़ा जटिल कार्य है। मूल्यांकन अधिकारी (Apprasing officer) भूमि का मूल्य आंकने के पूर्व पूरी तरह से उसका निरीक्षण कर लेता है।

(२) ऋण भुगतान की क्षमता का अनुमान—ऋण देने से पहले बैंक ऋण लेनदार के ऋण भुगतान करने की क्षमता का पूरा अनुमान लगा लेता है। साधारणतया ऐसी भूमि की आड़ पर कोई ऋण नहीं दिया जाता जिसकी उपज का मूल्य ऋण की वार्षिक किश्त तथा ऋण लेने वाले के जीवन निर्वाह के लिए पर्याप्त न हो। इस कारण व्यक्ति के ऋण भुगतान करने की योग्यता का अनुमान लगाना भी एक कठिन कार्य मालूम होता है।

इनकी सफलता की आवश्यक बातें—जैसा कि हम देख चुके हैं भूमि बंधक बैंक भारतीय किसानों के लिए एक अत्यन्त उपयोगी संस्था है जिनके द्वारा उन्हें उचित ब्याज पर दीर्घकालीन ऋण प्राप्त होता है। अत इन बैंकों की सफलता पर खेती की सफलता निर्भर रहती है। भूमि-बन्धक बैंकों में सफलतापूर्वक अपने कार्य करने के लिए दो प्रमुख बातों की आवश्यकता होती है। (१) इन बैंकों के पास पर्याप्त मात्रा में पूँजी का कोष हो जिन्हें ये कम ब्याज पर किसानों को दे सकें। इनकी उपयोगिता के कारण इन बैंकों द्वारा उधार दी गई पूँजी की माँग बढ़ना स्वाभाविक ही है। और फिर अपने दीर्घकालीन ऋण के लिए किसान के पास भूमिबन्धक बैंक ही एकमात्र साधन है।

(२) अपने उद्देश्यों को पूरा करने के लिए तथा अपने उद्देश्य में सफल होने के लिये यह अत्यन्त आवश्यक है कि इन बैंकों को ईमानदार कुशल एव उत्साही कार्यकर्ताओं की सेवाएँ उपलब्ध हों। भूमि के मूल्यांकन तथा किसान के ऋण चुकता करने की योग्यता जैसे जटिल कार्य करने के लिए एक कुशल प्रशिक्षित और साथ ही ईमानदार व्यक्ति की आवश्यकता है।

इनके कार्य मे बाधाएँ—वैसे तो भूमि बन्धक बैंक भारतीय किसानों के लिए अनेक प्रकार से उपयोगी कार्य कर रहे हैं। इन्हें लम्बी अवधि के लिए उचित ब्याज दर पर ऋण देकर इन बैंकों ने भारतीय किसान की बड़ी सहायता की है। परन्तु अनेक

कठिनाइयों एवं बाधाओं के कारण भूमि बंधक बैंक अपने उद्देश्य में पूर्ण रूप से सफलता नहीं प्राप्त कर रहे हैं। इनमें से कुछ बाधाएँ निम्न हैं —

१ इन बैंकों के पास सीमित मात्रा में पूँजी होने के कारण किसानों को जितने अधिक दीर्घकालीन ऋण की आवश्यकता होती है। उसके केवल एक छोटे भाग को ही पूरा करने में यह सफल हो सके हैं।

२ इनके द्वारा कृषि में स्थाई सुधार करने के लिए बहुत कम ऋण दिया जाता है। बैंकों का अधिकांश ऋण किसानों को अपने पुराने ऋण को चुकाने तथा रेहन से अपनी भूमि छुड़ाने के लिए ही दिया जाता है।

३ किसानों को इन बैंकों द्वारा ऋण प्राप्त करने में बड़ी कठिनाई का सामना करना पड़ता है और ऋण मिलने में अधिक समय लग जाता है।

४ भारत के विभिन्न प्रदेशों के भूमि बंधक बैंकों की कार्य विधि में एकरूपता नहीं है।

५ कुछ प्रदेशों में केन्द्रीय भूमिबंधक बैंक नहीं स्थापित हुए हैं। इनके सफलतापूर्वक कार्य करने के लिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि देश के प्रत्येक राज्य में एक केन्द्रीय बैंक होना चाहिये।

सुधार के लिए सुझाव

(Suggestions)

भारत की कृषि व्यवस्था में इन बैंकों का अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान होने के कारण इनके सुधार के लिये प्रयत्न करना अत्यन्त आवश्यक है। अखिल भारतीय साख सर्वेक्षण समिति ने कुछ सुझाव दिये हैं। प्राथमिक भूमि बंधक बैंकों के विकास के लिए यह आवश्यक है कि उनका कार्य क्षेत्र ऐसा हो जिससे यह बैंक एक आर्थिक इकाई के रूप में अपना कार्य कर सकें अर्थात् इनका कार्यक्षेत्र न तो बहुत सीमित हो और न विस्तृत। यदि कार्य क्षेत्र सीमित होगा तो बैंक के लिए पर्याप्त कार्य नहीं प्राप्त हो सकेगा और यदि इनका क्षेत्र बहुत विस्तृत होगा तो बैंक अपने कर्जदारों से पर्याप्त सम्पर्क स्थापित नहीं कर सकेंगे जो इन बैंकों की सफलता के लिए अत्यन्त आवश्यक है।

जहाँ तक केन्द्रीय भूमिबंधक बैंकों का सम्बन्ध है अखिल भारतीय ग्राम्य साख सर्वेक्षण समिति (गोरवाला समिति) के सुझाव हैं कि भारत के प्रत्येक राज्य में एक एक केन्द्रीय भूमिबन्धक बैंक की स्थापना की जाये। केन्द्रीय भूमिबंधक बैंक का अंश पूँजी का कम से कम ५२ प्रतिशत भाग राज्य सरकारों को देना चाहिए। इन बैंकों द्वारा भूमि सुधार तथा कृषि विकास के लिए पर्याप्त धन देना चाहिए। ऋण देने में कम से कम विलम्ब लगाना चाहिए।

बहुउद्देशीय सहकारी समितियाँ
(Multi Purpose Co operative Societies)

भारत में सहकारिता आन्दोलन का जन्म मुख्यतया भारतीय कृषकों की साख सम्बन्धी आवश्यकता को पूरा करने के लिए हुआ था। इस कारण १९०४ के सहकारी समिति अधिनियम के अन्तर्गत केवल ऐसी समितियों की स्थापना की व्यवस्था थी जिनके द्वारा किसान को कम ब्याज पर अपने लिए ऋण मिल सके। इसके फलस्वरूप उसे ग्रामीण साहूकार द्वारा अधिक ब्याज देने के लिये बाध्य न होना पड़े। परन्तु केवल साख सम्बन्धी सुविधाओं को पहुँचा कर भारत का सहकारी आन्दोलन कृषकों के जीवन से महाजन तथा साहूकार के प्रभाव को समाप्त न कर सका। भारतीय किसान के समक्ष केवल एक समस्या ही नहीं है। हाँ यह अवश्य है कि उसकी सबसे महत्वपूर्ण आवश्यकता साख की है। परन्तु अपने उत्पादन के लिये आवश्यक पूर्ति, भूमि की चकबन्दी तथा कृषि-वस्तुओं की बिक्री जैसी अनेक समस्याओं के लिए भी सहकारिता की इन विभिन्न समस्याओं का हल असम्भव है। सहकारिता ही भारतीय कृषक के सुख एवं समृद्धि का सन्देश ला सकता है। हमारे देश में सहकारी आन्दोलन के अधिक सफल न होने का मुख्य कारण यह है कि प्रारम्भ ही से इसका ध्यान ऋण सम्बन्धी कार्यों पर ही केन्द्रित रहा है। १९१९ से भारत के सहकारी आन्दोलन में कुछ परिवर्तन आया है और सहकारिता के आधार पर साख के अतिरिक्त और भी अनेक कार्य सम्पन्न होने लगे हैं, जैसे किसान के लिए आवश्यक बीज, खाद, मशीनों की पूर्ति करने के कार्य, उसके द्वारा उत्पादित वस्तुओं की बिक्री का कार्य, भूमि की चकबन्दी का कार्य इत्यादि। परन्तु इन समस्त कार्यों के लिये विभिन्न प्रकार की सहकारी समितियाँ स्थापित की जाने लगी थीं। इन समस्याओं की संख्या इतनी बढ़ गई कि किसान के लिए उनसे सम्बन्ध बनाये रखना एक अत्यन्त जटिल समस्या बन गई। जिसके कारण सहकारिता के आधार पर भी उसकी विभिन्न आर्थिक क्रियाओं को संगठित करने के परिणामस्वरूप भी किसान की आर्थिक एवं सामाजिक स्थिति में कोई वास्तविक लाभ न हो सका।

आवश्यकता (Necessity)—सहकारिता द्वारा किसान को वास्तविक लाभ पहुँचाने के लिए हमें उसकी अनेक आवश्यकताओं की पूर्ति के उद्देश्य से अलग अलग सहकारी समितियाँ स्थापित न कर केवल एक ही ऐसी सहकारी समिति हो जो उसकी समस्त आवश्यकताओं को पूरा कर सके। इस कारण बहुउद्देशीय समितियों द्वारा उसकी केवल एक ही समस्या हल नहीं होती वरन् उसकी समस्त आर्थिक समस्याओं एवं आवश्यकताओं को पूरा करने का प्रयत्न किया जाता है। इन समितियों से किसान को समय-समय पर ऋण तो प्राप्त होता ही है साथ साथ उसे अपनी अनेक आवश्यक वस्तुएँ भी इन्हीं समितियों से प्राप्त होती हैं। बहुउद्देशीय सहकारी समितियों की स्थापना करने की आवश्यकता दो कारणों से है—आर्थिक कारण तथा मनोवैज्ञानिक कारण।

आर्थिक कारण—बहुउद्देशीय समितियों के स्थापित करने का सबसे प्रमुख कारण आर्थिक है। किसान की अपनी विभिन्न आवश्यकताओं के लिए जैसे खेती के लिए उत्तम बीज, खाद, उन्नत औजार की आवश्यकता होती है, जब फसल तैयार हो जाती है तब उसके सामने अपनी फसल का उचित मूल्य प्राप्त करने की भी समस्या उत्पन्न हो जाती है, अपनी दैनिक आवश्यकताओं के लिए विभिन्न वस्तुओं को जुटाना तथा खेती में आवश्यक सुधार करने जैसी विभिन्न आर्थिक समस्याओं के लिए किसान बहुउद्देशीय समितियों की आवश्यकता अनुभव करता है। यह समितियाँ उसे साख देती हैं उसकी फसल की बिक्री का कार्य करती हैं तथा अन्य वस्तुओं की पूर्ति में सहायता करती हैं।

मनोवैज्ञानिक कारण—किसानों के लिए बहुउद्देशीय समितियों की स्थापना करना केवल आर्थिक कारणों से ही नहीं वरन् मनोवैज्ञानिक कारणों से भी अत्यन्त आवश्यक है। विभिन्न उद्देश्य के लिए अलग-अलग सहकारी समितियों की स्थापना करने से उसे एक मानसिक क्लेश होता है। प्रत्येक से सम्बन्ध रखना उसके लिए असम्भव है। प्राचीन काल से ही भारतीय किसान अपनी समस्त आवश्यकताओं के लिए केवल एक ही संस्था से सम्पर्क बनाये चला आ रहा है। और वह है गाँव का महाजन एवं साहूकार। ऐसी स्थिति में यदि कोई ऐसी समिति हो जो उसकी सब आवश्यकताओं को पूरा कर सकती है तो उसे ऐसी समिति से सम्बन्ध जोड़ने में कोई भी आपत्ति नहीं होगी। यह काम बहुउद्देशीय समितियों की स्थापना का एक मनोवैज्ञानिक महत्व है।

बहुउद्देशीय समितियों के कार्य—रिजर्व बैंक आफ इण्डिया ने बहुउद्देशीय समितियों की स्थापना पर बहुत बल दिया है। वास्तव में यदि सहकारिता को भारतीय कृषक की आर्थिक, सामाजिक एवं नैतिक प्रगति द्वारा उसके जीवन का सर्वाङ्गीण विकास करना है तो यह अनिवार्य है कि हमारे देश में बहुउद्देशीय सहकारी समितियों की स्थापना का कार्य बहुत तेजी से किया जाये। बहुउद्देशीय समितियों द्वारा अनेक कार्य किये जा सकते हैं। इन्हीं कार्यों के पूरा करने से ही भारतीय सहकारिता में नवीन स्फूर्ति तथा शक्ति का संचार सम्भव हो सकेगा। बहुउद्देशीय समितियों के प्रमुख कार्य निम्नलिखित हैं :—

(१) किसानों को साख सम्बन्धी सहायता देना।

(२) यह समितियाँ किसानों को कृषि विकास सम्बन्धी उन्नतिशील तरीकों को अपनाने की प्रेरणा दे सकती हैं।

(३) सदस्यों द्वारा उत्पादित वस्तुओं की बिक्री द्वारा यह समितियाँ सदस्यों की आय में वृद्धि कर सकती हैं।

(४) बहुउद्देशीय सहकारी समितियों द्वारा किसानों को उनकी दैनिक आवश्यकताओं की अनेक वस्तुएँ उचित मूल्य पर प्राप्त हो सकती हैं।

(५) इनके द्वारा सदस्यों के दैनिक झगड़ों का मध्यस्थता (arbitration)

द्वारा निपटारा किया जा सकता है जिससे उनके मुकदमेबाजी (litigation) पर होने वाले व्यय में कमी हो जायगी।

(६) इनके द्वारा चकबन्दी का कार्य भी किया जा सकता है।

(७) किसानों द्वारा विभिन्न सामाजिक एवं धार्मिक अवसरों पर किये गये अपव्यय को रोकने के लिए यह समितियाँ सबकी सम्मति द्वारा ऐसे नियम बनाकर उन्हें कार्यान्वित कर सकती हैं जिससे उनका आर्थिक एवं सामाजिक जीवन सुधर सकता है।

बहुउद्देशीय समितियों के गुण—भारतीय किसान के जीवन की आर्थिक एवं सामाजिक दशा सुधारने के लिए ही केवल सस्ती साख ही उपलब्ध करना पर्याप्त नहीं है। यदि उसके जीवन में विभिन्न सामाजिक एवं नैतिक गुणों का विकास न किया जायगा तो कम ब्याज पर मिलने वाले ऋण से उसमें फिजूल-खर्ची तथा अपव्यय की मात्रा बढ़ जायगी। इस कारण विभिन्न आवश्यकताओं की पूर्ति के साथ साथ उसमें सामाजिक गुणों (Social virtues) के विकास के लिए बहुउद्देशीय सहकारी समितियों द्वारा बड़ा उपयोगी कार्य किया जा सकता है। बहुउद्देशीय सहकारी समितियों के मुख्य लाभ नीचे दिये जाते हैं :—

(१) बहुउद्देशीय समितियों तथा सदस्यों में अधिक घनिष्ट सम्बन्ध होने के कारण यह समितियाँ अपना कार्य अधिक सफलतापूर्वक कर सकती हैं।

(२) विभिन्न कार्यों के करने के फलस्वरूप गाँव के लगभग सभी किसानों की कोई न कोई आवश्यकता इन समितियों द्वारा अवश्य पूरी होगी जिसके कारण सदस्य समितियों में अधिक रुचि एवं विश्वास रखने लगेंगे।

(३) बहुउद्देशीय समितियों की सदस्यता में निरन्तर वृद्धि होने से सहकारिता आन्दोलन के विकास एवं प्रगति में सहायता होगी।

(४) इन समितियों द्वारा भारतीय किसानों के जीवन में ग्रामीण साहूकार तथा महाजन का प्रभाव पूर्णतया समाप्त हो सकता है। अपनी समस्त आवश्यकताओं को बहुउद्देशीय समितियों द्वारा ही पूरा कर लेने के पश्चात् उसके समक्ष महाजन की सहायता लेने की समस्या न होगी।

(५) बहुउद्देशीय समितियों की स्थापना परिमित दायित्व के आधार पर की जायगी जिससे ग्रामीण क्षेत्र के सभी वर्गों को इसके सदस्य बनने का अवसर मिल सकेगा। इससे भी सहकारिता आन्दोलन विकास में सहायता मिलेगी।

(६) बहुउद्देशीय समितियाँ भारतीय कृषक के आर्थिक, सामाजिक एवं नैतिक जीवन की प्रगति करके ग्रामीण जीवन के सर्वांगीण विकास के लिए अत्यन्त उपयोगी हैं।

(७) समितियों द्वारा किये गये विभिन्न कार्यों के संचालन एवं नियन्त्रण में मितव्ययिता होती है।

(८) ग्रामीण क्षेत्रों के विभिन्न वर्गों द्वारा समितियों के कार्यों में रुचि होने के फलस्वरूप इन समितियों की कार्य कुशलता में वृद्धि होती है। गाँव के कुशल व्यवसायी, शिक्षित समुदाय तथा धनी वर्ग के लोगों द्वारा समिति के कार्य में प्रोत्साहन मिलने के फलस्वरूप इन समितियों की लोकप्रियता और बढ़ेगी।

दोष (Demerits)—(१) बहुउद्देशीय समितियों का कार्यक्षेत्र व्यापक होने से अनेक सदस्यों में परस्पर सहयोग एवं सम्पर्क का अभाव होता है।

(२) इन समितियों द्वारा विभिन्न कार्य सम्पन्न होने के कारण उनके एक कार्य में गड़बड़ी होने से दूसरे कार्यों में भी बुरा प्रभाव पड़ सकता है जिसके फलस्वरूप सदस्यों में अविश्वास की भावना फैल सकती है जो सहकारिता आन्दोलन के लिए बड़ी हानिकारक सिद्ध होगी।

(३) इन समितियों का सीमित दायित्व के आधार पर सगठित किया जाना उनका सबसे बड़ा दोष है जो सहकारिता की भावना के विरुद्ध है।

(४) प्रशिक्षित एवं अनुभवी व्यक्तियों की कमी होने के कारण बहुउद्देशीय समिति अपने विभिन्न कार्यों को सफलतापूर्वक पूरा नहीं कर सकती। विपणन तथा साख जैसे जटिल कार्यों के लिए विशेष व्यावसायिक कुशलता एवं प्रशिक्षण की आवश्यकता होती है।

(५) इन समितियों का सगठन एवं कार्यप्रणाली बड़ी जटिल हो जाती है। अशिक्षित एवं सरल स्वभाव वाले भारतीय कृषकों को इनकी कार्य-विधि समझने में बड़ी कठिनाई होती है।

उपरोक्त विवेचन से बहुउद्देशीय समितियों के गुणों एवं दोषों का ज्ञान होता है। जैसा समझाया जा चुका है कि इन समितियों का ग्रामीण क्षेत्रों में अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है परन्तु फिर भी इनमें कुछ दोष है। जिनके कारण भारत में इनकी प्रगति अत्यन्त सन्तोषजनक नहीं कही जा सकती है। परन्तु यदि हम इनके दोषों का ध्यान पूर्वक अध्ययन करें तो यह स्पष्ट हो जायगा कि यह दोष ऐसे नहीं है जिन्हें दूर न किया जा सकता हो। यदि हम चाहें तो इन समितियों के कर्मचारियों को उचित प्रशिक्षण प्रदान कर बहुउद्देशीय समितियों की कार्यविधि में आने वाले अनेक दोषों को दूर कर सकते हैं। इनकी कार्य प्रणाली सरल बनाकर हम इन सहकारी समितियों की लोकप्रियता में पर्याप्त वृद्धि कर सकते हैं। भारत में विभिन्न अधिकारियों तथा कमेटियों द्वारा इनके महत्व पर निरन्तर अधिक जोर दिया गया है। वास्तव में बहुउद्देशीय सहकारी समिति एक ऐसी सस्था है जो ग्रामीण जीवन की विभिन्न समस्याओं

को हल करके उसका एक अभिन्न अंग बन सकती है। यह ग्रामोत्थान का एक अत्यन्त सरल एवं उपयोगी साधन है।

रिजर्व बैंक और सहकारी आन्दोलन
(Reserve Bank and Co operative Movement)

रिजर्व बैंक ने भारत व सहकारिता आन्दोलन के विकास में अनेक प्रकार से अत्यन्त महत्वपूर्ण योग दिया है। इसका मुख्य कार्य ग्रामीण साख की सुविधाएँ पहुँचाकर किसानों का एक बड़ी आवश्यकता को पूरा करना है। इस विशेष कार्य के लिए रिजर्व बैंक ने कृषि साख विभाग (Agricultural Credit Department) की स्थापना कर दी है जिसका मुख्य कार्य कृषि साख सम्बन्धी समस्याओं का अध्ययन करना तथा उससे सम्बन्धित कार्यों को पूरा करना है। केन्द्रीय तथा राज्य सहकारी बैंक को समय समय पर रिजर्व बैंक से उपयोगी परामर्श करने की भी सुविधाएँ प्राप्त है। ग्रामीण समस्याओं व अध्ययन एवं उनर साख सम्बन्धी आवश्यकताओं को भली प्रकार समझने क लिए रिजर्व बैंक आफ इडिया ने श्री ए० डी० गोरवाला (Sri A. D. Gorwala I. C. S.) की अध्यक्षता म एक अखिल भारतीय ग्राम्य साख सर्वेक्षण समिति की स्थापना की जिसकी विस्तृत रिपोर्ट १९५४ में प्रकाशित हुई। इस रिपोर्ट म समिति व सहकारी समितियों की साख सम्बन्धी कार्यों में होने वाले दोषों की ओर ध्यान आकर्षित किया गया है तथा कृषि साख संस्थाओं के पुनर्संगठन के लिये अत्यन्त उपयोगी सुझाव भी दिये गये हैं।

भारत के सहकारी आन्दोलन की मन्द प्रगति का उत्तरदायित्व बहुत कुछ कुशल प्रशिक्षित सहकारी कर्मचारियों के अभाव पर है। इसका मुख्य कारण उनके लिए प्रशिक्षण सम्बन्धी सुविधाओं का न होना ही हो सकता है। इस कारण इस आवश्यकता को पूरा करने के लिये १९५२ में रिजर्व बैंक ने बम्बई प्रदेश सहकारी संस्थान (Bombay Provincial Co operative Institute) की सहायता से अखिल भारतीय प्रशिक्षण योजना (All India Training Scheme) बनाई। इसका मुख्य उद्देश्य सहकारी संस्थाओं म कार्य करने वाले कर्मचारियों एवं अधिकारियों को उचित प्रशिक्षण प्रदान करना है। इसके अतिरिक्त रिजर्व बैंक ने समय समय पर सहकारिता सम्बन्धी उपयोगी प्रकाशनों द्वारा आन्दोलन के विकास में योग दिया है।

सहकारी आन्दोलन में सफलताएँ—सहकारिता मानव प्रगति का सर्वश्रेष्ठ मार्ग है। संसार के विभिन्न देशों ने सहकारिता द्वारा अपने देश का आर्थिक एवं सामाजिक कल्याण बड़ी सरलता से किया है। इसके द्वारा व्यक्ति अपना कल्याण कर समाज के कल्याण के लिए सहायक हो सकता है। सहकारिता द्वारा उनमें सहयोग तथा स्वावलम्बन की भावनाओं का विकास कर सामाजिक जीवन मैत्रीपूर्ण तथा सुखमय बन

जाता है। आज जब संसार में प्रतियोगिता एवं प्रतिस्पर्धा का बोलबाला है। सहकारिता व्यक्ति को सहयोग एवं सामूहिक कार्य करने की प्रेरणा देता है। एक अर्द्ध-विकसित एवं कृषि प्रधान देश की कृषि सम्बन्धी अनेक समस्याओं को हल करने के लिए सहकारिता से उत्तम और कोई मार्ग नहीं है। भारत में सहकारी आन्दोलन द्वारा ग्रामवासियों के जीवन में एक नये प्रकाश का उदय हुआ। इसका महत्व केवल आर्थिक दृष्टि से ही नहीं है। वरन् अनेक शिक्षात्मक, नैतिक एवं सामाजिक प्रभावों के कारण भारत में सहकारिता एक अत्यन्त उपयोगी एवं रचनात्मक आन्दोलन रहा है। इसके इन विभिन्न लाभों की विवेचना नीचे दी जाती है।

आर्थिक प्रभाव—आर्थिक क्षेत्र में सहकारिता का प्रमुख योग रहा है किसानों को समय समय पर अपनी विभिन्न आवश्यकताओं के लिए उचित ब्याज पर ऋण दिला कर सहकारिता ने ही उनकी ऋण-ग्रस्तता को दूर कर उन्हें ग्रामीण महाजन एवं साहूकार के निर्दयी पंजों से मुक्ति दिलाकर उनका आर्थिक जीवन सुखमय बनाया है। बहुउद्देशीय सहकारी समितियों की स्थापना द्वारा भारतीय किसान के जीवन की समस्त समस्याओं को हल करने का प्रयास किया जा रहा है। कृषि के लिए आवश्यक उत्तम बीज, बढ़िया खाद तथा उत्तम यंत्रों तथा अन्य प्रकार की सुविधाओं को प्रदान कर सहकारिता आन्दोलन ने देश में कृषि उत्पादन तथा खाद्य समस्या को हल करने में महत्वपूर्ण योग प्रदान किया है।

शिक्षात्मक प्रभाव—सहकारिता के अनेक शिक्षात्मक प्रभाव के कारण देश को सहकारी आन्दोलन से बहुत लाभ हुआ है। सहकारी समितियों के प्रबन्ध में भाग लेने का अवसर प्रदान कर सहकारी आन्दोलन ने ग्रामवासियों में लोकतन्त्रीय ढंग से कार्य करने की शिक्षा दी है। उनके सदस्यों को समय समय पर अपने मत प्रकट करने का अवसर मिलता है। समिति के कार्यों में भाग लेने के लिए तथा उन पर उनके सफलतापूर्वक संचालन का भार होने के कारण ग्रामवासियों में शिक्षा तथा ज्ञान वृद्धि की आवश्यकता अनुभव की जाने लगी है। इसका सुफल यह हुआ कि ग्रामीण क्षेत्रों में साक्षरता में प्रगति होने लगी। उनमें अपने सामाजिक एवं राजनैतिक कर्तव्यों तथा अधिकारों का समुचित ज्ञान कराकर सहकारिता ने नागरिक एवं राजनैतिक चेतना उत्पन्न कर दी। कुछ सहकारी समितियों ने ग्रामीण क्षेत्रों में स्कूलों, पाठशालाओं तथा वाचनालयों को स्थापित करके जनता में शिक्षा का प्रचार कर उनके दृष्टिकोण को विस्तृत करने में सहायता दी है।

नैतिक प्रभाव—सहकारिता द्वारा देश में नैतिक गुणों के विकास में बड़ी सहायता मिली है। पारस्परिक नियन्त्रण द्वारा ग्रामवासियों के जीवन के अनेक दोष एवं बुराइयों को बड़ी सरलतापूर्वक दूर किया जा सका है जैसे मद्यपान, जुआ खेलना आदि। ग्रामवासियों के जीवन को सुखी एवं उन्नतिशील बनाने के लिए सबसे बड़ी

आवश्यकता इस बात की है कि इनमें सहयोग, आत्मविश्वास तथा स्वावलम्बन की भावनाओं का विकास हो। सहकारिता द्वारा किसानों में प्रगति के लिए आवश्यक इन गुणों का विकास हो गया है जिसके फलस्वरूप किसान बिना किसी की सहायता के स्वय अपने प्रयत्न एव पारस्परिक सहयोग द्वारा अपनी समस्याओं को हल करना सीख गया है।

सामाजिक लाभ—ग्रामीण क्षेत्रों में सहकारिता द्वारा मैत्रीपूर्ण तथा पारस्परिक सहयोग का वातावरण उत्पन्न हो गया है। समिति के सदस्यों में आपसी मेल-जोल तथा सहयोग होने के कारण आपसी झगड़ों में काफी कमी आ गई है। बहुउद्देशीय समितियों द्वारा उनके झगड़ों में मध्यस्थता (arbitration) करने के फलस्वरूप ग्रामवासियों में मुकद्दमेबाजी (litigation) तथा उस पर होने वाले अपव्यय की मात्रा में भी काफी कमी हो गई है। विवाह शादी जैसे अनेक धार्मिक एव सामाजिक अवसरों पर होने वाले फिजूल खर्चों में कमी होकर उनके सामाजिक एव आर्थिक जीवन में काफी सुधार हो गया है। मितव्ययिता का यह गुण इन्हें सहकारिता द्वारा ही प्राप्त हुआ है। अतः भारत में सहकारिता आन्दोलन से ग्रामीण जीवन को अनेक सामाजिक, नैतिक एव शैक्षिक लाभ प्राप्त हुए हैं।

सहकारिता आन्दोलन के दोष

सहकारी संस्थाएँ भारत के लिए वास्तव में बड़ा ही उपयोगी कार्य कर रही हैं परन्तु अनेक कारणों से देश में सहकारिता आन्दोलन ने पूर्ण सफलता नहीं प्राप्त की है। आन्दोलन के कुछ प्रमुख दोष निम्नलिखित हैं :—

(१) भारत में सहकारी आन्दोलन का सबसे बड़ा दोष यह है कि इसने ग्रामीण जीवन की समस्याओं के केवल एक ही पक्ष की ओर अपना ध्यान केन्द्रित किया है। भारत में सहकारिता का जन्म मुख्यतया किसानों को उचित ब्याज पर ऋण दिलाने का कार्य करने के लिए हुआ था और इसी पर सदैव अधिक बल भी दिया जाता रहा है।

(२) किसानों को कृषि साख समितियों तथा भूमिबन्धक बैंकों इत्यादि से ऋण प्राप्त होने में अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। इनकी चक्करदार गतिविधि प्रायः सरल स्वभावी तथा अशिक्षित कृषकों के समझ में नहीं आती।

(३) ऋण प्राप्त होने में अत्यधिक विलम्ब होने के कारण काश्तकार को आवश्यक वित्तीय सहायता के लिए महाजनों तथा साहूकारों की शरण लेनी पड़ती है।

(४) सहकारी समितियों द्वारा अधिक ब्याज लेने के कारण किसानों को सहकारी साख समितियों से वास्तविक लाभ नहीं प्राप्त होता।

(५) सहकारी समितियों के प्रबन्ध के लिए कुशल अनुभवी तथा प्रशिक्षित

सकती है। समय समय पर नियुक्त किये गये विभिन्न कमीशनों तथा समितियों का यही मत रहा है कि भारत की आर्थिक एवं सामाजिक प्रगति के लिए सहकारिता आन्दोलन को सफल बनाना अत्यन्त आवश्यक है। सहकारिता में उत्पन्न विभिन्न दोषों को दूर करके ही हम भारतीय कृषक की दशा का सुधार कर ग्रामीण जीवन में एक नवीन चेतना एवं शान्तिपूर्ण सामाजिक क्रान्ति लाने में सफल हो सकते हैं। इस उद्देश्य के लिए निम्न सुझाव दिये जाते हैं —

(१) सर्वप्रथम हम सहकारिता के विकास एवं प्रगति के लिए उपयोगी वातावरण तैयार करना है। यह तभी सम्भव होगा जब देशवासियों में सहकारिता के सिद्धान्तों के प्रचार द्वारा उनमें सहकारिता के प्रति रुचि उत्पन्न की जाये तथा सहकारिता की भावना का विकास हो।

(२) सहकारिता की सफलता के लिए सहकारी आन्दोलन को एक जन आन्दोलन के रूप में विकसित करना होगा। किसी भी देशव्यापी आन्दोलन एवं व्यापक शान्तिपूर्ण क्रान्ति के लिए आवश्यक है कि लोगों के हृदय में स्वतः उस आन्दोलन के अंकुर प्रस्फुटित हों। भारत में अत्यधिक सरकारी हस्तक्षेप को दूर करके ही हम आन्दोलन के प्रति जनसाधारण की सहानुभूति एवं रुचि आकर्षित कर सकेंगे।

(३) सहकारी साख समितियों का अपने कार्यों को सुचारु रूप से चलाने तथा ग्रामीण जनता के साख सम्बन्धी आवश्यकताओं का अधिक से अधिक पूरा करने के लिए इन समितियों के पास पर्याप्त वित्तीय साधन हों। उनके इस कार्य के लिये रिजर्व बैंक द्वारा समय समय पर धन मिलता है।

(४) अपने सकट के समय भी समिति द्वारा सफलतापूर्वक कार्य किये जाते रहने के लिये तथा उनकी आर्थिक दृढ़ता के लिए प्रत्येक सहकारी समिति के पास पर्याप्त रक्षित कोष (reserve fund) होना चाहिए।

(५) सहकारी संस्थाओं द्वारा ऋण मिलने में अनावश्यक विलम्ब नहीं होना चाहिए। इसके लिए उनकी कार्यप्रणाली में पर्याप्त सुधार होना आवश्यक है। किसान के लिये ऋण प्राप्त करने में समय का विशेष महत्व है। इस कारण यदि आवश्यकता के समय सहकारी समितियों से ऋण प्राप्त होने में विलम्ब होगा तो मजबूर होकर उन्हें महाजनों तथा साहूकारों की शरण लेनी पड़ेगी।

(६) सहकारी आन्दोलन को सफल बनाने के लिये विभिन्न संस्थाओं से सम्बद्ध कर्मचारियों एवं अधिकारियों को सहकारिता सम्बन्धी प्रशिक्षण देकर उन्हें इस कार्य के लिये उपयुक्त बनाना आवश्यक है। प्रशिक्षित, सुयोग्य एवं अनुभवी कार्यकर्ताओं द्वारा ही सहकारिता के क्षेत्र में वास्तविक प्रगति की आशा की जा सकती है।

(७) ग्राम निवासियों तथा कृषकों के जीवन का सर्वाङ्गीण विकास करने के लिये तथा सहकारिता के आधार पर उनकी समस्त आवश्यकताओं को पूरा करने के लिये बहु

उद्देशीय समितियों की अधिक से अधिक संख्या में स्थापना की जानी चाहिये। केवल साख-समितियों को प्रोत्साहन देकर ही हम भारतीय कृषक की दशा सुधारने में असमर्थ रहेंगे।

(८) साख समितियों द्वारा ऋण केवल उत्पादक कार्यों के ही लिये प्रदान किया जाना चाहिये। अनुत्पादक कार्यों के लिये भी ऋण दिया जा सकता है परन्तु इसके लिये पर्याप्त चौकसी की आवश्यकता है।

(९) भारत में सहकारिता के विकास का यह लक्ष्य होना चाहिये कि ग्राम्य जीवन तथा ग्रामीण अर्थव्यवस्था का आधार ही सहकारिता हो। तभी हमारे 'सहकारी ग्राम प्रबन्ध' का स्वप्न साकार हो सकता है।

(१०) सहकारी साख समितियों द्वारा कृषकों को छोटी अवधि के लिये ही ऋण देने चाहिये। दीर्घकालीन ऋण की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिये भारत में अधिक से अधिक भूमि बन्धक बैंकों की स्थापना की जाये। जहाँ केन्द्रीय भूमिबन्धक बैंक नहीं हैं वहाँ उनकी स्थापना की जाय तथा इन बैंकों के वित्तीय साधनों में वृद्धि की जाय जिससे अधिक से अधिक लोगों को ऋण की सुविधा मिल सके।

आन्दोलन की वर्तमान प्रवृत्तियाँ
(Recent Trends in the Movement)

देश में सहकारिता का एक निश्चित स्थान समझा जाने लगा है। अतः सहकारी आन्दोलन के अनेक दोषों को दूर करके देश में सहकारिता आन्दोलन के विकास के लिये महत्वपूर्ण प्रयत्न किये जा रहे हैं। प्रथम तथा द्वितीय पंचवर्षीय योजनाओं में सहकारिता को जो स्थान प्रदान किया गया है। उससे यह स्पष्ट है कि देश के आर्थिक, सामाजिक एव भौतिक प्रगति का मुख्य आधार सहकारिता ही होना चाहिये। सहकारिता सिद्धान्तों द्वारा ही हम अपनी कृषि सम्बन्धी अनेक समस्याओं को हल करके देश में कृषि-उत्पादन में वृद्धि कर सकते हैं। इससे खाद्य तथा विदेशी मुद्रा जैसी वर्तमान जटिल समस्याओं को हल करने में सहायता मिलेगी और देश में औद्योगीकरण में आने वाली बाधाओं को दूर किया जा सकेगा। भारत में सहकारी आन्दोलन की एक नई प्रवृत्ति यह है कि सहकारिता के क्षेत्रों में कम से कम सरकारी हस्तक्षेप की महान् आवश्यकता समझी जाने लगी है अतः सरकार ने आन्दोलन में अपने लिये केवल एक सहयोगी सलाहकार तथा पथप्रदर्शक का कार्य लेकर आन्दोलन की प्रगति सम्बन्धी शेष कार्य को जनसाधारण के कंधों पर ही छोड़ जाने का निश्चय किया है। इस कार्य में रिजर्व बैंक के सहयोग में निरन्तर वृद्धि होती जा रही है। ग्रामीण जीवन के सर्वतोमुखी विकास के लिये बहुउद्देशीय समितियों की स्थापना पर बल दिया जा रहा है। कुछ प्रान्तों में सीमित दायित्व के आधार पर सहकारी समितियों की स्थापना की नवीन प्रवृत्ति देखने में आ रही है। ग्रामीण क्षेत्रों के अतिरिक्त देश के नागरिक क्षेत्रों में भी जनसाधारण की विभिन्न समस्याओं के लिये सहकारिता के

सिद्धान्तो पर समितियों की स्थापना की जा रही है। पिछले कुछ वर्षों में आवास सम्बन्धी जटिल समस्या को हल करने के लिये भारत के विशाल नगरों तथा औद्योगिक केन्द्रों में अधिक संख्या में सहकारी गृह निर्माण समितियों की स्थापना सहकारिता के विकास का शुभ प्रतीक है। अतः देश में सहकारी आंदोलन की आधुनिक प्रवृत्तियों से सहकारिता का भविष्य उज्ज्वल प्रतीत होता है।

भावी सम्भावनायें (Future possibilities)—भारत में सहकारी आन्दोलन की महान भावी सम्भावनायें हैं। भविष्य में सहकारिता के क्षेत्र में पर्याप्त विकास होगा। आर्थिक क्षेत्र में उत्पादन तथा वितरण का कार्य सहकारिता के आधार पर किये जाने की सम्भावना है। देश में सहकारी आन्दोलन अब एक पक्षीय नहीं रह सकता। देशवासियों के जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में सहकारिता का प्रभुत्व तथा महत्व बढ़ने की आशा है। देश के आर्थिक विकास सम्बन्धी योजनाओं में सहकारिता के सिद्धान्तो के उपयोग द्वारा आन्दोलन की प्रगति की निःसन्देह आशा की जा सकती है। देश के औद्योगीकरण में विशाल उद्योगों की स्थापना के साथ साथ कुटीर एवं लघु स्तरीय उद्योगों का महत्वपूर्ण स्थान है। भारत में अपार जनशक्ति को उपयोगी आर्थिक कार्य दिलाने तथा देश में फैली हुई बेरोजगारी की समस्या को हल करने के लिये सहकारिता के सिद्धान्तो के आधार पर इन उद्योगों की स्थापना किया जाना अत्यन्त आवश्यक है। लोकतन्त्रीय पद्धति एवं जनतन्त्रात्मक भावनाओं पर आधारित सहकारिता आन्दोलन द्वारा ही देशवासियों में सामाजिक एवं राजनैतिक चेतना आने की आशा की जा सकती है। भारत में समाजवादी ढंग के समाज की स्थापना होने जा रही है। यही हमारी भावी आर्थिक योजनाओं का भी लक्ष्य रहेगा परन्तु यह तभी सम्भव हो सकेगा जब विभिन्न आर्थिक कार्यों का संगठन सहकारिता के आधार पर ही किया जाये।

प्रश्न

1 Explain the organisation and stucture of the co-operative movement in India (*Rajasthan, 1953, 1956*)

2 Attempt a lucid essay on the progress of the co operative movement in India (*Agra, 1956*)

3 Distinguish between 'single purpose' and 'multi purpose' co-operative societies Discuss the importance of multi-purpose co-operative societies in our economy. (*Allahabad, 1956*)

4 "Co operation is an indispensable instrument of planned economic action in a democracy" (Planning Commission) Discuss the above, bringing out clearly the part which co-operative movement is expected to play in the economic development of India (*Delhi, 1955*)

5 Account for the slow progress of the co operative movement in India Prescribe a plan for its improvement in Indian villages (*Agra, 1952*, (*Punjab, 1952*)

खण्ड ६

श्रमिक समस्याएँ, कल्याण एवं सुरक्षा

अध्याय १६

भारतवर्ष में औद्योगिक श्रम

(Industrial Labour in India)

किसी भी समाज के सदस्यों के स्वास्थ्य, सम्पत्ति और समृद्धि का आधार उसका श्रम है। यही मानव-जीवन की आर्थिक क्रियाओं का मूल, प्रारम्भिक तत्व और पूँजी का जन्मदाता है। इसीलिए अनेक बार पूँजी को पूँजीभूत या सञ्चित श्रम कहा गया है। निस्सन्देह उत्पादन में भूमि के अतिरिक्त, श्रम का केन्द्रीय स्थान है। उत्पादन के अन्य साधनों—भूमि और पूँजी—की तुलना में, श्रम और उनमें कुछ मौलिक अन्तर है। श्रम उत्पादन का एक सजीव साधन है। उसका सम्बन्ध मानव से है, अतः उसमें मानवीय सुख-दुख और नैतिक तत्वों का समावेश स्वाभाविक है। मानव जाति आज जितनी भी प्रगति कर सकी है उसका रहस्य उसके पीछे अन्तर्निहित अध्यवसाय और श्रम में छिपा हुआ है।

आज भारतवर्ष शताब्दियों तक की शृंखलाएँ तोड़ कर प्रगति-पथ पर अग्रसर हो रहा है। देश की आर्थिक प्रगति की गति, जो कि राजनैतिक परतन्त्रता व उत्पीड़न के कारण मन्द पड़ गई थी, आज दासत्व के बन्धन कट जाने पर पुनः समय की गति के साथ प्रभावित होने लगी है। तीव्र गति से बढ़ती हुई इस भारतीय अर्थ व्यवस्था में औद्योगिक श्रम का महत्व भी निरन्तर बढ़ता जा रहा है। यह बिल्कुल सत्य है कि किसी भी देश के आर्थिक जीवन की आधार शिला उसका औद्योगिक श्रम है। यह तथ्य भारतवर्ष के लिए और भी सत्य प्रतीत होता है, क्योंकि समय के दुरूह एवं दीर्घतम मार्ग पर युगों से चला आने वाला भारत आज अपने आर्थिक मोक्ष के द्वार पर खड़ा हुआ भावी प्रकाश के दर्शन कर रहा है। दूसरे शब्दों में भारत इस समय अपने औद्योगीकरण के लिए पूर्ण साहस एव जागरूकता से प्रयत्नशील है।

भारतवर्ष द्वितीय पंचवर्षीय योजना, जिसमें देश के औद्योगिक विकास को प्रमुख स्थान दिया गया है, की सफल सम्पन्नता के लिए पहले से ही प्रयत्नशील है। परन्तु औद्योगीकरण की कोई भी योजना चाहे वह कितनी ही महत्वाकांक्षी एवं सुनियोजित क्यों न हो, बिना औद्योगिक श्रम की सहायता एव सहयोग के उसका सफल होना संभव नहीं। इस कटु सत्य की महानता को स्वीकार करते हुए द्वितीय एवं तृतीय पंचवर्षीय

योजनाओं में श्रमिकों के कल्याण एवं उनकी दशा में समुचित सुधार की ओर पर्याप्त ध्यान दिया गया है। श्रम एवं श्रम-कल्याण से सम्बन्धित परियोजना पर द्वितीय योजना में २६ करोड़ रुपये की राशि का प्रावधान किया गया है, जिसमें से केन्द्रीय स्तर पर १८ करोड़ रुपये और राज्य स्तर (State level) पर ११ करोड़ रुपये का प्रबन्ध किया गया है। इस सम्बन्ध में प्रमुख योजनाएँ निम्नलिखित हैं—

(१) बढ़ती हुई कुशल श्रम (Efficient labour) की माँग की पूर्ति के लिए समुचित प्रशिक्षण सुविधाओं का प्रबन्ध करना,

(२) 'रोजगार सेवा संगठन' (Employment Service Organisation) की क्रियाओं का विस्तार करना तथा नवीन रोजगार के दफ्तरों की स्थापना करना,

(४) औद्योगिक श्रमिकों के लिए आवास (Housing) की व्यवस्था करना, तथा

(४) औद्योगिक केन्द्रों की गन्दी बस्तियों का उन्मूलन करना।

भारत में औद्योगिक श्रमिकों की वर्तमान स्थिति

सम्पत्ति तथा गृह विहीन एवं मजदूरी पर ही निर्भर रहने वाले एक विशेष श्रमिक या मजदूर वर्ग का श्रीगणेश भारतवर्ष में १९वीं शताब्दी के मध्य में हुआ जब सरकार ने अकाल निवारण के लिए बड़ी बड़ी नहरों, रेलों तथा सड़कों का सार्वजनिक कार्य विभाग (Public Works Department) द्वारा निर्माण करना प्रारम्भ किया। इसके बाद खानों, चाय, नील, कहवा, रबर आदि के बागानों तथा १९वीं सदी के उत्तरार्द्ध में जूट तथा सूती कपड़े की मिलों के खुलने पर गाँव के कारीगरों तथा किसानों की एक बड़ी संख्या अपनी दरिद्रता, बेकारी तथा ऋणग्रस्तता के कारण नगरों की ओर रोजगार के लिए आकर्षित हुई और एक पृथक् विशेष श्रमिक वर्ग का प्रादुर्भाव हुआ।

संगठित तथा बड़े पैमाने के उद्योगों के धीरे धीरे विकसित होने पर औद्योगिक श्रमिकों की संख्या भी धीरे धीरे बढ़ने लगी और आज भारत में औद्योगिक श्रमिकों की संख्या ६४ लाख से भी अधिक है जो अधिकतर मिलों या कारखानों, खानों, बागानों, रेलों, जहाजों, बन्दरगाहों, डाक एवं तार विभाग तथा ट्रामवेज में काम करते हैं। इसका स्पष्टीकरण निम्न तालिका से होता है—

कारखाने (Factories) (१९५७)	३४,७६,८६५
खानें (Mines) (१९५८)	६,४६,३६०
बागान (Plantations)	१२,२८,०००
रेलवेज (Railways) (१९५८-५६)	११,४३,६१६

1 India 1960, *The Publications Division*, p 376

डाक एवं तार (Posts & Telegraphs)	२,४३,०००
ट्रामवेज (Tramways)	१,७१,०००
मुख्य बन्दरगाह (Major Ports) (१९५७)	६७,८९६

केन्द्रीय सरकार के संस्थानों (Establishments) में नियुक्त कर्मचारियों की संख्या रेलवे कर्मचारियों के अतिरिक्त मार्च १९५८ में ६,६४,७०२ थी। इसमें से प्रशासकीय (Administrative) कर्मचारियों की संख्या ६६,६३२ क्लेरिकल कर्मचारियों की संख्या २,३३,६८६, कुशल एवं अर्द्ध कुशल कर्मचारियों की संख्या १,५०,५८६ तथा अकुशल कर्मचारियों की संख्या २,४०,५९८ थी।

मजदूरों की एक बड़ी संख्या अनियमित उद्योगों में भी लगी हुई है। लगभग ५ हजार बीड़ी बनाने, १ ४ लाख अभ्रक उद्योग, ३०,००० चमड़ा उद्योग, ७ हजार कालीन बुनने, ७०,००० चटाई और रस्सियाँ बनाने तथा १०,००० चूड़ी बनाने में लगे हुए हैं। इस प्रकार के कारखानों में काम करने वाले श्रमिकों की संख्या का अनुमान लगभग १० लाख है।

तांत्रिक एवं वैज्ञानिक विकास आधुनिक औद्योगिक उत्पादन की विधि अत्यन्त जटिल हो गई है। आधुनिक कारखानों में काम करने वाले श्रमिकों में जिन दो गुणों की आवश्यकता होती है, वे हैं उनकी कार्यक्षमता (Efficiency) एवं प्रशिक्षण (Training)। राष्ट्र की अर्थ व्यवस्था में एक प्रशिक्षित, दक्ष एवं कुशल श्रमिक राष्ट्र की बहुमूल्य निधि है। भारतवर्ष में द्वितीय पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत निम्नलिखित औद्योगिक विकास की विभिन्न योजनाओं की सफलता एवं अधिकाधिक उत्पादन के उद्देश्य की पूर्ति कुशल एवं संयुक्त श्रम-शक्ति से बहुत कुछ सम्बन्धित है। परन्तु दुःख का विषय है कि भारतीय श्रम से सम्बन्धित एक जटिल समस्या उसकी लोक प्रसिद्ध अक्षमता अथवा अकुशलता है। भारतीय श्रमिक का 'प्रति व्यक्ति घंटा उत्पादन' (Man hour-Output) निम्न है और पाश्चात्य देशों की तुलना में तो और भी निम्न है।

अतः यह बिल्कुल स्पष्ट है कि भारतवर्ष में श्रम प्रदाय का बाहुल्य है जिसके फलस्वरूप उनमें आपस में तीव्र प्रतियोगिता है। इसके अतिरिक्त उनकी अन्य विशेषताओं जैसे मोलभाव करने की शक्ति के अभाव (Lack of Bargaining power) तथा संगठन के अभाव इत्यादि के कारण मजदूरी की दृष्टि से भारतवर्ष में श्रम शक्ति सस्ती है। परन्तु क्षमता (Efficiency) की दृष्टि से यह महँगी पड़ती है। किसी औद्योगिक संस्थान के सफल संचालन के लिए न केवल श्रम शक्ति का सस्ता एवं विपुलता में होना ही पर्याप्त है, बल्कि उनका कुशल (Efficient) होना भी आवश्यक है।

औद्योगिक श्रम की मूल विशेषताएँ
(Basic Characteristics of Industrial Labour)

भारतीय औद्योगिक श्रमिक वर्ग के विकास की परिस्थितियों का अवलोकन हम पिछले पृष्ठों में कर चुके हैं। आइए, अब श्रमिक वर्ग की विशेषताओं के बारे में भी कुछ जान लिया जाय। भारतीय श्रमिक की कुछ अपनी ही विशेषताएँ हैं जो उसे अन्य देशों के श्रमिकों से पृथक करती हैं। साधारण रूप से श्रमिक वर्ग की मुख्य विशेषताएँ निम्नलिखित हैं—

(१) भ्रमणशील प्रवृत्ति (Migratory Character)

भारतीय श्रमिक वर्ग की सबसे प्रमुख विशेषता उसकी भ्रमणशील प्रवृत्ति है। उद्योग धन्धों में काम करने वाले श्रमिक अधिकतर गाँवों से आते हैं। शहरों में रहते हुए भी वे अपने गाँव के स्वच्छ वातावरण, प्राकृतिक सौंदर्यमय दृश्यों, सगे सम्बन्धियों तथा मित्रों को भूल नहीं जाते हैं। अवसर प्राप्त होते ही वे अपने गाँवों को वापस लौट जाते हैं। शहर का व्यस्त, स्वार्थी एवं व्यक्तिवादी वातावरण, आमोद प्रमोद के साधनों का अभाव उनको आकर्षित करने में असफल रहता है। इस प्रकार वे भ्रमणशील पक्षी की भाँति गाँव से शहर तथा शहर से गाँव तथा खेती से उद्योग और उद्योग से खेती में काम किया करते हैं। इस दोष के कारण औद्योगिक श्रमिकों का एक पृथक वर्ग सगठित नहीं हो सका है।

(२) एकता का अभाव (Lack of Unity)

भारतीय श्रमिक उद्योगों में काम करने के लिए देश के विभिन्न स्थानों एवं क्षेत्र से आते हैं। ऐसा शायद ही कोई उद्योग होगा जिसके श्रमिक शहर के पास के स्थानों (Suburbs) से ही आते हों। अधिकतर वे भिन्न भिन्न क्षेत्रों से ही काम करने के लिए आते हैं। फलस्वरूप उनकी बोल-चाल, रहन सहन, रीति रिवाज, सम्प्रदाय तथा धर्म इत्यादि विभिन्न होते हैं। उनमें किसी भी प्रकार की समानता नहीं होती और वे एक दूसरे के प्रति सहानुभूति, आत्मीयता तथा प्रेम भी नहीं रखते। अत उन लोगों में एकता (Unity) का भी अभाव रहता है।

(३) श्रमिक अनुपस्थितिवाद (Labour Absenteeism)

जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है श्रमिकों को अपने निवास स्थानों (ग्रामों) के प्रति अत्यधिक प्रेम होता है। वे कृषि मौसमों (Agricultural Seasons) में जब कि फसल का काम अधिक होता है तथा विशेष उत्सवों पर मिलों का काम छोड़ कर अपने गाँव को चले जाते हैं और जब फसल का काम समाप्त हो जाता है अथवा जब उनके उत्सव त्यौहार आदि समाप्त हो जाते हैं तब वे शहरों को वापस चले आते हैं।

इस प्रकार श्रमिक अनुपस्थितिवाद (Labour Absenteeism) अथवा अनियमित उपस्थिति (Irregular Attendance) भारतीय उद्योगों में बहुत प्रचलित है, जिसका औद्योगिक उत्पादन एवं कार्यक्षमता पर बहुत गहरा प्रभाव पड़ता है।

भारतीय उद्योगों में औसत अनुपस्थिति १२ से १८ प्रतिशत तक होती है।

(४) भाग्यवादिता (Fatalistic Nature)

भारतीय श्रमिक जो अधिकतर गाँवों से मिलों में काम करने के लिए आते हैं बड़े भाग्यवादी होते हैं। ये लोग प्रत्येक कार्य की सफलता अथवा असफलता भाग्य की देन समझते हैं। भाग्य पर इन लोगों का इतना विश्वास होता है कि वे कर्म (Duty) करना भी छोड़ देते हैं। अपने कष्टों का निवारण करने के लिए वे कोई प्रयत्न नहीं करते। श्रमिकों के भाग्यवादी होने का सबसे प्रमुख कारण यह है कि उनका अथवा उनके परिवार के सदस्यों का पैतृक उद्योग कृषि है जिसे 'वर्षा का जुआ' Gamble of rain) कहा जाता है। अतः उनकी मानसिक प्रवृत्ति इसी प्रकार की बन जाती है।

(५) अज्ञानता तथा शिक्षा का अभाव (Ignorance & Illiteracy)

भारतवर्ष में शिक्षा का नितान्त अभाव है। अधिक से अधिक १६ या १८ प्रतिशत जनता साक्षर है। तान्त्रिक (Technical), यान्त्रिक (Mechanical) शिक्षा का तो और भी अभाव है। अतः श्रमिक अधिकतर अशिक्षित एवं अज्ञानी होते हैं और वे आधुनिकतम मशीनों का प्रयोग करने में असफल रहते हैं।

(६) अक्षमता (Inefficiency)

औद्योगिक मजदूर की सबसे महत्वपूर्ण विशेषता उसकी अक्षमता अथवा अकुशलता है। विदेशी औद्योगिक मजदूरों की तुलना में तो भारतीय औद्योगिक मजदूर बहुत ही पिछड़ा हुआ है। 'सर अलैक्जेंडर मैक राबर्ट (Sir Alexander Mac Robert) ने औद्योगिक कमीशन के सम्मुख अपनी साक्षी में कहा था कि एक अंग्रेज मजदूर भारतीय मजदूर से चौगुना कुशल होता है। इसी प्रकार सर क्लीमेंट सिम्पसन के अनुसार लंकाशायर की सूती मिल में काम करने वाले २.६७ मजदूरों की योग्यता के बराबर है। यद्यपि अन्तर्राष्ट्रीय श्रम कार्यालय (I. L. O) के द्वारा की गई जाँच से इस कथन की पुष्टि नहीं होती परन्तु फिर भी इसमें सत्यता का अधिक पुट है। इसका विस्तार में अध्ययन अगले पृष्ठों में किया गया है।

(७) कुशल कारीगरों की कमी

भारतीय श्रमिकों की एक विशेषता यह भी है कि कुशल कारीगर कम पाये जाते हैं। श्रमिकों की रुचि उद्योगों में कम होने के कारण तथा तान्त्रिक एवं यान्त्रिक (Technical and Mechanical) शिक्षा का अभाव होने के कारण, कुशल कारीगरों का

अभाव होना कोई आश्चर्य की बात नहीं है। देश के विभाजित हो जाने के कारण भी अधिकांश मुस्लिम कारीगर पाकिस्तान चले गये। कुशल कारीगरों के अभाव को दूर करने के लिए राष्ट्रीय सरकार भारतीयों को विदेशों में तान्त्रिक शिक्षा प्राप्त करने के लिए भेज रही है।

(८) निम्न जीवन स्तर (Low Standard of Living)

भारतीय श्रमिकों का जीवन-स्तर, विदेशी श्रमिकों की तुलना में बहुत गिरा हुआ है। वे अपनी अनिवार्य आवश्यकताओं की पूर्ति भी भली-भाँति नहीं कर पाते हैं। आरामदायक तथा विलासितापूर्ण आवश्यकताओं की पूर्ति तो स्वप्न मात्र है। जीवन स्तर गिरा होने के कारण श्रमिकों के स्वास्थ्य एवं उनकी कार्यक्षमता पर बड़ा बुरा असर पड़ता है।

निम्न तालिका, जो देश के विभिन्न राज्यों (States) की औसत वार्षिक मजदूरी को स्पष्ट करती है, से ज्ञात होता है कि हमारे श्रमिक कितनी कम मजदूरी प्राप्त करते हैं।

२०० रु० प्रति माह से कम वेतन पाने वाले श्रमिकों की आय[1]
(रेलवे कर्मचारियों के अतिरिक्त)

राज्य (States)	कुल आय	प्रति श्रमिक औसत वार्षिक आय
आन्ध्र	८४,४११	७८६'४
आसाम	४७,०५०	१,५२५.६
बिहार	१,६५,१४५	१,२३५'६
बम्बई	१०,६६,५२१	१,४१४'८
मध्य प्रदेश	३३,२५६	६८२'४
मद्रास	२,२२,५७६	६५०'१
उड़ीसा	१४,६२३	६४८'५
पंजाब	४८,७८६	६६१'०
उत्तर प्रदेश	२,३२,३४२	१,०१४'१
पश्चिमी बंगाल	४,४६,२८१	१,१४१'७
दिल्ली	६७,७६४	१,४६६'६
सब राज्य	२६,६५,०५५,	१,२१२'७

यदि हम भारतीय प्रति व्यक्ति आय को अन्य देशों की प्रति व्यक्ति आय से तुलना

1 *Indian Labour Gazette, July 1958, p. 69*

करें तो ज्ञात होगा कि भारतीय लोगों का स्तर अन्य देशों की अपेक्षा कितना गिरा हुआ है।

विभिन्न देशों की राष्ट्रीय आय[1]

देश	राष्ट्रीय आय	प्रति व्यक्ति आय
	करोड़ रुपये	रुपये
(१) संयुक्त राष्ट्र अमेरिका	१,६३,५५४	६,७३१
(२) कनाडा	१०,७८७	६,७४२
(३) संयुक्त राज्य (U K)	२१,६५३	४,२८७
(४) फ्रांस	१७,६४०	४,०४६
(५) भारतवर्ष	११,०१०	२८४

भारतीय श्रमिकों की अकुशलता

(Inefficiency of Indian Labour)

श्रमिकों की कुशलता तथा उनके कल्याणकारी कार्यों का किसी भी देश के आर्थिक विकास से बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध है। अनुकूल परिस्थितियाँ मिलने पर श्रमिक स्वाभाविक रूप से कार्यशील रहता है। उसकी कार्य क्षमता का ह्रास उसी समय होता है जब उसे दुर्दमनीय विषमताओं से संघर्ष करने को छोड़ दिया जाता है। दुर्भाग्य से भारतीय श्रमिक की परिस्थितियों की विषमता ने उसे दीर्घकाल से एक दीन व जर्जरित, शोषित व त्रस्त तथा असहाय बना डाला है। आज यद्यपि स्थिति में सुधार होता जा रहा है, और भारतीय श्रमिक अनुकूल परिस्थितियाँ पाने पर अपनी कार्य क्षमता का परिचय देने लगा है, तथापि विश्व के अन्य औद्योगिक देशों के श्रमिकों की अपेक्षा यह अब भी बहुत पिछड़ा हुआ है।

सर अलेक्जेण्डर मैक राबर्ट ने औद्योगिक कमीशन के सम्मुख अपनी साक्षी (Evidence) देते हुए कहा था कि एक अंग्रेज मजदूर भारतीय मजदूर से चौगुना कुशल होता है। इसी प्रकार सर क्लीमेंट सिम्पसन के अनुसार लकाशायर की सूती मिल में काम करने वाला एक मजदूर भारतीय २·६७ मजदूरों की योग्यता के बराबर है। यद्यपि अन्तर्राष्ट्रीय श्रम कार्यालय (I.L.O.) के द्वारा की गई जाँच से इस कथन की पुष्टि नहीं होती है परन्तु फिर भी इसमें सत्यता का अधिकांश पुट है।

विभिन्न उद्योगों में श्रमिकों की कुशलता इस प्रकार है—

सूती वस्त्र उद्योग—१९२६-२७ में सूती मिल उद्योग के लिए नियुक्त टैरिफ

[1] Commerce, August 23, 1958.

नोट के अनुसार सूती कपड़े की मिलों में काम करने वाला एक श्रमिक जापान में २४०, योरोप में ५४० से ६०० तक, अमेरिका में ११५० तथा भारत में केवल १८० ही तकुओं (Spindles) की देखभाल करता है। काटन यार्न एसोसियेशन लि० के अनुसार जापान की मिलों में १८ श्रमिक १००० तकुओं (Spindles) की देखभाल करते हैं, जबकि भारतवर्ष में उतने ही तकुओं की देखभाल ३० से लेकर ३१ श्रमिक करते हैं।

इस सम्बन्ध में श्रीयुत एन० एच० टाटा द्वारा दिये गये आँकड़े भी महत्वपूर्ण हैं। उनके अनुसार भारतवर्ष में औसतन प्रति १००० तकुओं (Spindles) पर २२ श्रमिक कार्य करते हैं जबकि अमेरिका में ४.५ श्रमिक और लंकाशायर में ६ श्रमिक कार्य करते हैं। यही हाल बुनता (Weaving) के सम्बन्ध में भी है। बुनता में एक जुलाहा, योरोप में ४ से ६ तथा अमरिका में ६, पर भारत में केवल २ करघों (Looms) को ही चलाता है।

उपरोक्त आकड़ों एवं तथ्यों से हमें भारतीय श्रमिक की अपेक्षाकृत (Relative) अक्षमता की झलक मिलती है।

परन्तु इस सम्बन्ध में यह बात जानने योग्य है कि पिछले कुछ वर्षों से कुछ सूती वस्त्र मिलों में श्रमिकों की कुशलता में पर्याप्त वृद्धि हुई है। सूती वस्त्रउद्योग के एक कार्यवाहक दल (Working party, 1952) ने देखा कि दिल्ली की एक मिल में, तथा मद्रास की दो मिलों में एक जुलाहा (Weaver) क्रमश ४, ६, ८ और अहमदाबाद की एक मिल में १८ तथा बम्बई की एक मिल में ६ करघों (Looms) पर कार्य करता है।

भारत की कुछ मिलों में श्रमिकों की कुशलता अथवा क्षमता में यह वृद्धि उनमें स्वचालित एवं आधुनिक मशीनरी के कारण हुई है, जिसके फलस्वरूप प्रत्येक जुलाहा अधिक काम कर सकता है। इतनी उन्नति होने पर भी कदाचित् भारतीय श्रमिक संयुक्त राज्य (U K), जापान और अमरिका के श्रमिकों की तुलना में कम कुशल है।

जूट उद्योग—'रायल कमीशन' के समक्ष साक्षी देते हुए कहा गया है कि *जूट उद्योग में लगे हुए दो भारतीय श्रमिकों का काम डंडी या यूरोप के किसी अन्य देश का एक श्रमिक कर सकता है।*

लोहा एवं इस्पात उद्योग—इस उद्योग में भी श्रमिकों की क्षमता अथवा कुशलता की दशा असंतोषजनक है। श्री जे० आर० डी० टाटा के अनुसार १६४१ में लोह एवं इस्पात का प्रति श्रमिक उत्पादन प्रति मास केवल ½ टन ही था जबकि संयुक्त राज्य अमेरिका (U S A) के लोह एवं इस्पात उद्योग में प्रति श्रमिक औसत उत्पादन ५ टन प्रति मास था।

कोयला खनिज उद्योग—भारतीय 'ज्योलॉजीकल माइनिंग एंड सोसाइटी' की २८वीं वार्षिक सामान्य सभा में अध्यक्ष महोदय ने इस बात पर संकेत किया कि भारतवर्ष में प्रति व्यक्ति पाली (Shift) उत्पादन केवल २·७ टन, जब कि संयुक्त राज्य (U. K.) में ६.२६, जर्मनी में ८.६६ तथा संयुक्त राज्य अमेरिका (U. S. A.) में २१·६८ टन है। नियोजन आयोग (Planning Commission) ने पता लगाया है कि कोयला खनिज उद्योग में १९४१ में लगे हुए २,१४,२४४ श्रमिकों की संख्या बढ़कर १९५१ में ३,४०,००० हो गई जबकि उसी समय में कोयले के उत्पादन में वृद्धि २५.८६ मिलियन टन से बढ़कर ३४ मिलियन टन ही हुई। इन आँकड़ों के विश्लेषण से ज्ञात होता है कि जब श्रमिकों की संख्या में ५८% की वृद्धि हुई, उत्पादन में वृद्धि केवल ३२% ही रही।

इसी प्रकार यदि हम देश के समस्त उद्योगों में लगे हुए श्रमिकों की कार्य क्षमता एवं उत्पादन का विश्लेषण कर सकते तो अधिक लाभकारी होता, परन्तु इन उद्योगों से सम्बन्धित विस्तृत एवं आवश्यक आँकड़े उपलब्ध न होने के कारण यह सम्भव नहीं है। तथापि ऐसा अनुमान लगाया गया है कि इन उद्योगों का 'प्रति व्यक्ति घन्टा' Per-man-hour) उत्पादन अभी पिछले कुछ वर्षों से काफी गिर गया है और कुछ पेसों में तो ३०% से ५०% तक उत्पादन में अवनति हुई है। इसके विपरीत ब्रिटिश और अमेरिकन श्रमिकों की क्षमता में निरन्तर वृद्धि होती जा रही है।

भारतीय श्रमिकों की अकुशलता के कारण

(Causes for the Inefficiency of Indian Worker)

भारतीय श्रमिकों की अकुशलता का उत्तरदायित्व पूर्णतया केवल श्रमिकों पर ही नहीं है। यथार्थतः इस चिन्ताजनक अवस्था के लिए अनेक कारण उत्तरदायी हैं जो कि सामाजिक, राजनैतिक, प्राकृतिक तथा आर्थिक है। सरल अध्ययन के दृष्टिकोण से हम इन समस्त कारणों को तीन भागों में विभाजित कर सकते हैं—

१—उद्योगों से सम्बन्धित आन्तरिक बातें

(१) कार्य के घण्टे (Hours of Work)

(२) कार्य की दशाएँ (*Working Conditions*)

(३) कच्चा माल एवं शक्ति (Raw materials and Power)

(४) विश्राम स्थल (Rest Houses)

(५) मशीनों और उपकरणों की प्रकृति (Type of machines and equipment)

(६) निरीक्षण एवं प्रबन्ध (*Supervision and management*)

(७) मजदूरी देने की रीतियाँ (*methods of wage payment*)

(८) अवकाश व छुट्टियाँ (Holidays)

(९) ऋणग्रस्तता (Indebtedness)

(१०) रहन सहन का निम्न स्तर (Low Standard of living)

२—उद्योगों से सम्बन्धित वाह्य बातें

(१) जलवायु की दशाएँ (Climatic Conditions)

(२) कल्याणकारी योजनाएँ (Welfare measures)

(३) आवास एवं स्वच्छता (Housing and Sanitation)

(४) शिक्षा एव प्रशिक्षण (Education and Training)

(५) कारखाने की स्थिति (Lay out of Factories)

(६) श्रमिक प्रबन्ध (Personnel management)

(७) राज्यनीति (State Policy)

३—विविध बातें

(१) पैतृक गुण (Racial qualities)

(२) श्रमिकों की मनोवृत्ति एवं मनोधैर्य (Attitude and morale of Workers)

(३) श्रमिकों की अकुशलता सम्बन्धी उपरोक्त कारणों में से कुछ प्रमुख कारणों का विस्तार म अध्ययन इस प्रकार है—

(१) कार्य करने के दीर्घ घंटे (Long Working Hours)

भारतीय कारखानों में श्रमिकों को दिन में लगातार कई घण्टों तक कार्य करना पड़ता है और उन्हें बीच में कोई अवकाश नहीं दिया जाता। दुर्भाग्यवश भारतीय उद्योग पतियों का यह विश्वास है कि श्रमिकों से जितनी अधिक देर तक काम करा लिया जाय, उत्पादन बढ़ता जायगा। भारतीय पूँजीपति के अन्दर अभी उस मानवीय उदारता अथवा आर्थिक वैज्ञानिकता, जिसे महोदय एफ० डब्लू० टेलर ने "मानसिक क्रान्ति" (Mental Revolution) की संज्ञा दी है, का उदय नहीं हुआ है, जिसके अनुसार वह सोच सके कि स्वस्थ व कार्य में रुचि रखने वाला श्रमिक अपेक्षत अधिक उत्पादन करता है। दीर्घ घंटों तक कार्य करने वाला श्रमिक स्वाभाविक रूप से थक जाता है और उसके शरीर में शैथिल्य आ जाता है। इसके अतिरिक्त श्रमिकों के लिए विश्राम स्थलों (Rest houses) की भी कोई व्यवस्था नहीं होती है। फलस्वरूप श्रमिक जल्दी ही थक जाता है और वह क्षमता अथवा कुशलता से कार्य करने में असमर्थ रहता है।

(२) कार्य करने की दशाएँ (Working Conditions)

श्रमिक जिन स्थानों म कार्य करते हैं, उनकी अवस्था—सफाई, रोशनी, ताप

(५) श्रमिकों की निर्धनता, निम्न जीवन-स्तर एवं ऋणग्रस्तता (Poverty, Low Standard of Living and Indebtedness of Labourers)

भारतीय श्रमिकों की वार्षिक आय बहुत कम होती है। अन्य देशों की अपेक्षा में तो यह और भी कम है। उदाहरणार्थ भारतवर्ष में प्रति व्यक्ति आय केवल २८४ रुपये है, जबकि संयुक्त राष्ट्र अमेरिका (U S A) में ६,७३१ रुपये, कनाडा में ६,७४२ रुपये, संयुक्त राज्य (U K) ४,२८० रुपये तथा फ्रांस में ४४०६ रुपये है।[1]

वार्षिक आय निम्न होने के कारण भारतीय श्रमिकों का जीवन स्तर भी बहुत निम्न है। श्रमिकों की आय का एक बहुत बड़ा भाग (कुल आय का ६० से ७० प्रतिशत तक) केवल भोजन पर ही व्यय हो जाता है और दुर्भाग्यवश उन्हें जो भोजन प्राप्त होता है, वह सामान्यतः उनकी शारीरिक आवश्यकताओं के लिए सर्वथा अपर्याप्त होता है। कारखानों में कठिन एवं दीर्घ घण्टों तक निरन्तर कार्य करने के लिए पौष्टिक एवं सन्तुलित आहार की अति आवश्यकता है, जोकि उन्हें प्राप्त नहीं हो पाता है। फलस्वरूप वे अकार्यक्षम एवं अनेक भयानक बीमारियों के शिकार बने रहते हैं।

यही नहीं भारतीय श्रमिक के आर्थिक जीवन का एक अन्य खेदजनक पहलू उनकी ऋण ग्रस्तता है। अधिकांश उद्योगों में लगे हुए श्रमिक, प्रायः कर्जदार का जीवन यापन करते हैं। यह अनुमान लगाया गया है कि अधिकांश औद्योगिक केन्द्रों में लगभग दो तिहाई मजदूर कर्ज के बोझ के नीचे दबे हुए हैं, और उनके कर्ज की औसत रकम प्रायः उनके तीन महीने के वेतन के बराबर है।

इन सब दोषों की जड़ एक मात्र निम्न मजदूरी है। मजदूरी की समानता तथा न्यूनतम वेतन की गारंटी और सहकारी ऋण व्यवस्था द्वारा मजदूरों की ऋण ग्रस्तता का मुकाबिला किया जा सकता है।

(६) जलवायु सम्बन्धी दशाएँ (Climatic Conditions)

भारतीय प्रतिकूल जलवायु भी श्रमिकों की अकार्यक्षमता के लिए उत्तरदायी है। गर्म जलवायु में निरन्तर अधिक समय तक कठोर कार्य करना सम्भव नहीं। हमारे देश की जलवायु तो बहुत ही गर्म है। बंगाल तथा तराई के प्रदेशों की जलवायु तो और भी खराब है। विदेशों की जलवायु ठंडी होने के कारण वहाँ के श्रमिक अधिक कुशल हैं।

(७) कल्याणकारी तथा सुरक्षा सुविधाएँ (Welfare and Security Measures)

श्रमिकों के कल्याण कार्यों में वृद्धि और विस्तार करके उनकी कार्यक्षमता और अवस्था में पर्याप्त उन्नति की जा सकती है। परन्तु अभाग्यवश भारतवर्ष में श्रमिकों को

---

1 Commerce, August 23, 1958

प्रदान की जाने वाली कल्याणकारी सुविधाएँ भी अपर्याप्त हैं, जिनका कुप्रभाव श्रमिकों की कुशलता अथवा क्षमता पर भी पड़ता है। कल्याणकारी कार्यों से श्रमिकों का स्वास्थ्य एवं शरीर उन्नत होगा और भारतीय विचित्र प्रतिकूल परिस्थितियों के कारण होने वाली थकान तथा नीरसता दूर होगी और श्रमिकों की कार्यक्षमता बढ़ेगी।

कल्याणकारी-कार्यों के अतिरिक्त, विभिन्न प्रकार के जोखिमों के विरुद्ध सुरक्षा भी श्रमिकों की अवस्था सुधारने के लिए आवश्यक है। भारत में सामाजिक सुरक्षा का क्षेत्र और विस्तार भी अभी तक अत्यन्त सीमित है।

(८) आवास की दशाएँ (Housing Conditions)

श्रमिक किस प्रकार के घरों में रहते हैं, इसका उनकी कार्यक्षमता, स्वास्थ्य और सदाचार से सीधा सम्बन्ध है। जिन स्थानों में घरों की कमी होती है अथवा जहाँ गन्दा वातावरण होता है, वहाँ ऊँची मृत्यु-दर तथा व्यभिचार का बाहुल्य होता है। निवास स्थान अथवा आवास की दृष्टि से भारतीय मजदूरों की दशा बहुत ही दयनीय है। अधिकतर श्रमिक ऐसे स्थानों में रहते हैं जहाँ पर पशुओं का रखना भी उचित न होगा। कानपुर के अहाते, हुगली की बस्तियाँ, दक्षिण की चेरियाँ, कोयले की खानों के धोवरे, पत्थर की खानों के पत्तों के झोपड़े, बम्बई के चॉल (Chawls), बागानों की बस्तियाँ और बेरकें, श्रमिकों के रहने योग्य नहीं कही जा सकतीं।

अतः श्रमिकों के कल्याण की किसी भी योजना में गन्दी मजदूर बस्तियों और उनके स्थान पर, स्वच्छ, स्वास्थ्यकर निवास स्थानों के निर्माण को प्रमुख स्थान मिलना चाहिए। हमारी राष्ट्रीय सरकार काफी प्रयत्नशील होते हुए भी इस समस्या को पूर्णतया सुलझा नहीं सकी है।

(९) शिक्षा एवं प्रशिक्षण (Education & Training)

साधारण एवं प्राविधिक (Technical) दोनों ही प्रकार की शिक्षा का प्रभाव श्रमिकों की कार्यक्षमता पर पड़ता है। भारतवर्ष में अभी तक दोनों ही प्रकार की शिक्षाओं का नितात अभाव है; यद्यपि राष्ट्रीय सरकार इस ओर काफी प्रयत्नशील है। अधिकांश अशिक्षित होने के कारण भारतीय श्रमिक स्वभावतः भाग्यवादी होता है। अपने कार्य को उचित ढंग से, कम से कम समय में तथा कुशलता से करने के लिए प्राविधिक (Technical) प्रशिक्षण की अति आवश्यकता है। अमेरिका के सुप्रसिद्ध इञ्जीनियरों डा० एफ० डब्लू० टेलर तथा एफ० बी० गिलब्रेथ ने श्रमिकों की कार्यक्षमता बढ़ाने के लिए, प्राविधिक प्रशिक्षण की ओर बहुत जोर दिया है।

(१०) अन्य कारण (Other Causes)

श्रमिकों का उपेक्षित व्यवहार (Indifference), मनोवृत्त, मनोधैर्य (Morale), नैराश्य एवं आशाहीन दृष्टिकोण जो उपरोक्त कारण के फलस्वरूप उत्पन्न होता है,

हैं, जितने कि योरोपियन श्रमिक। अभी हाल में जिन उद्योगों में ये सुविधाएँ श्रमिकों को प्रदान की गई हैं, उनकी कार्यक्षमता भी बढ़ गई है। सरकार द्वारा भारतीय श्रमिकों की उत्पादन क्षमता के सम्बन्ध में इस कथन की पुष्टि १६५५ के आँकड़ों से होती है—*

(१) कोयला खनन उद्योग—१६५१ १६५४ तक के वर्षों में खनिकों तथा लदाई करनेवालों की उत्पादन क्षमता में सामान्यत ० ०७६ प्रतिमास की वृद्धि हुई।

(२) कागज उद्योग—१६४८ १६५३ में मजदूर की औसत आय में तो वृद्धि हुई, किन्तु उत्पादन क्षमता में कोई वृद्धि नहीं हुई।

(३) पटसन वस्त्र उद्योग—१६४८ १६५३ तक के वर्षों में उत्पादन क्षमता में २·६% प्रति वर्ष तथा आय में १·७% प्रतिवर्ष की वृद्धि हुई।

(४) सूती वस्त्र उद्योग—१६४८ ५३ तक के वर्षों में उत्पादन क्षमता तथा आय में प्रतिवर्ष क्रमश २ २८ प्रतिशत तथा १ १४ प्रतिशत की वृद्धि हुई।

श्रमिकों की क्षमता बढाने के लिए सुझाव

उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट है कि भारतीय श्रमिकों की कार्यक्षमता विशेष परिस्थितियों के कारण है। कुछ भारतीय उद्योगों जैसे 'टाटा आइरन एण्ड स्टील कम्पनी', 'देहली क्लाथ मिल्स', 'बाटा शू कम्पनी' इत्यादि में श्रमिकों को पर्याप्त सुविधाएँ दी जाती हैं, और फलस्वरूप यहाँ के श्रमिकों की कार्यक्षमता किसी भी विदेशी श्रमिक से कम नहीं है।

अत भारतवर्ष में श्रमिकों की कार्यक्षमता बढाने के लिए उनकी दशा व वातावरण में सुधार होना चाहिए। जीवन की कुछ सुविधाओं के समुचित प्रबन्ध, कार्य करने के घटों में कमी तथा मालिकों के सहानुभूतिपूर्ण व्यवहार से श्रमिकों की कुशलता के स्तर में वृद्धि निश्चित है। श्रमिकों की कार्यक्षमता मे वृद्धि निम्न उपायों द्वारा की जा सकती है—

(१) औद्योगिक नगरों में स्थायी श्रमिक वर्ग

भारतीय श्रमिक की अकुशलता का प्रधान कारण औद्योगिक नगरों मे स्थायी श्रमिक वर्ग समुदाय का अभाव है। स्थायी श्रमिक वर्ग समुदाय को औद्योगिक नगरों में बनाये रखने के लिए निम्न सुविधाओं को प्रदान करना होगा—

(अ) उचित किराये पर श्रमिक व उसके परिवार के लिए आवास (housing) की व्यवस्था करना।

(ब) नगरों के जीवन की दशाओं में सुधार करना।

(स) बेरोजगारी के विरुद्ध प्रावधान।

---

*India 1959, P. 262

(द) श्रमिकों की बीमारी व असमर्थता के समय पर्याप्त चिकित्सा का प्रबन्ध।

(२) उचित पारिश्रमिक

श्रमिकों का वेतन उनके कार्य व कार्य-क्षमता के अनुसार निश्चित कर देना चाहिए। उत्पादन के साथ मँहगाई, भत्ता व बोनस इत्यादि सम्बद्ध कर देना चाहिए। एक निश्चित कार्य को, निश्चित समय में कर लेने पर श्रमिक को पूर्व निर्धारित दर से मजदूरी व भत्ता इत्यादि दे देना चाहिए, जिससे श्रमिकों में विश्वास बना रहे।

(३) धीरे-धीरे कार्य करने की प्रवृत्ति के विरुद्ध प्राविधान (Provision against go-slow Tactics)

यदि श्रमिक जान बूझकर शिथिलता से कार्य करते हैं अथवा काम से जी चुराते हैं तो इसको औद्योगिक संघर्ष (trade-dispute) करार देना चाहिए और मालिक को इसका फैसला कन्सीलियेशन मशीनरी से करवा लेना चाहिए।

(४) श्रमिकों के विरुद्ध कार्यवाही

यदि कोई श्रमिक अकुशलता से कार्य कर रहा हो अथवा निश्चित मात्रा में उत्पादन न कर रहा हो तो मालिक को यह अधिकार होना चाहिए कि वह ऐसे श्रमिक को निकाल सके।

(५) निरन्तर प्रचार

श्रमिकों की अकुशलता, उत्तरदायित्वहीनता व अनुशासनहीनता के विरुद्ध सरकार, मालिक तथा श्रमिकों के नेताओं को निरन्तर प्रचार (प्रोपेगेण्डा) करते रहना चाहिए।

(६) प्रशिक्षण एवं शिक्षण

श्रमिकों को प्रशिक्षण एव शिक्षण—साधारण व यान्त्रिक—अनिवार्य रूप से देना चाहिए। श्रमिकों को आधुनिकतम मशीनों के प्रयोग के सम्बन्ध में पर्याप्त प्रशिक्षण देना चाहिए जिससे वह कुशलतापूर्वक कार्य कर सके।

(७) सुव्यवस्थित प्रबन्ध

प्रबन्धकों की मनोवृत्ति एव कुशलता श्रमिकों की कार्यक्षमता बढ़ाने में सहायक हो सकती है। जहां तक हो सके 'वैज्ञानिक प्रबन्ध' को अपनाया जाय जिससे प्रबन्धकों की मनोवृत्ति श्रमिकों की ओर सहानुभूतिपूर्ण हो, और श्रमिकों की कार्य करने की दशाओं तथा दैनिक जीवन की दशाओं में सुधार हो। मालिकों को श्रमिकों के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध रखने का प्रयत्न करना चाहिए।

(८) श्रमिकों की मनोवृत्ति में परिवर्तन

श्रमिकों की दशा में सुधार विधानों (Legislations) के द्वारा अधिक सम्भव नहीं है, बल्कि एक ऐसे वातावरण के निर्माण की आवश्यकता है जिससे श्रमिक अपने को देश की समृद्धि में सह-साझेदार (Co-partners) समझने लगें। ऐसा

होने पर वे देश की आर्थिक व सामाजिक समृद्धि के लिए तन, मन, धन से कार्य करने लगेंगे। संक्षेप में श्रमिकों की कार्यक्षमता बढ़ाने के लिए एक मनोवैज्ञानिक पहुँच की आवश्यकता है।

यह तो सर्वमान्य है कि हमारे श्रमिक कठिन से कठिन परिस्थिति में भी कार्य कर सकते हैं और अपने का किसी भी वातावरण के अनुकूल बना सकते हैं। इस कथन की पुष्टि इस तथ्य से होती है कि पिछले कुछ वर्षों में जिन उद्योगों में सुधार कर दिया गया है वहाँ श्रमिकों की कुशलता अपेक्षाकृत काफी बढ़ गई है। बम्बई की कुछ मिलों में जुलाहे छः-छः करघों (looms) को चलाने लगे हैं और प्रति व्यक्ति का औसत उत्पादन लंकाशायर के श्रमिक का ८८% तक अनुकूल वातावरण न होने पर भी हो गया है।

श्रम जाँच समिति ने भी कहा था कि "यह विचार करते हुए कि इस देश में कार्य करने के घंटे अधिक हैं, आराम स्थानों (rest houses) का अभाव है, कार्य सिखाने की विधि व प्रशिक्षण का अभाव है, अन्य देशों की तुलना में भोजन व कल्याणकारी सुविधाओं तथा मजदूरी के स्तर में पर्याप्त कमी है, अत श्रमिकों की कही जाने वाली अकुशलता का दोष उनके प्राकृतिक चातुर्य अथवा योग्यता पर नहीं मढ़ा जा सकता।"*

प्रश्न

1 State precisely what has been done in India in the direction of improving the conditions of life and work of the industrial labour (*Punjab, 1954*)

2. What are the chief characteristics of industrial labour in India? Discuss the causes responsible for its low efficiency



* Considering that in this country hours of work are longer, rest pauses fewer, facilities, for apprenticeship and training, rare standards of nutrition and welfare amenities far poorer and the level of wages much lower than in other countries, the so-called inefficiency cannot be attributed to any lack of native intelligence or aptitude on the part of the workers" *Labour Investigation Committee*

अध्याय २०

श्रमिक कल्याण

(Labour Welfare)

श्रमिक कल्याण आधुनिक औद्योगिक प्रजातन्त्र (industrial democracy) की आधार-शिला है, और इसकी सहायता के बिना एक सुन्दर सामाजिक व्यवस्था का निर्माण भी असम्भव है। इसके द्वारा श्रमिकों का जीवन आनन्दमय और औद्योगिक सम्बन्ध सुन्दर हो जाते हैं।

श्रमिक कल्याण का अर्थ विभिन्न व्यक्तियों द्वारा विभिन्न अर्थों में लगाया जाता है यद्यपि इसका अर्थ विभिन्न देशों में एक ही समान है। रॉयल कमीशन के शब्दों में "यह एक ऐसा शब्द है जो कि बहुत ही लचीला है। इसका अर्थ एक देश में दूसरे देश की तुलना में उसकी विभिन्न सामाजिक रीतियों, औद्योगीकरण की स्थिति तथा श्रमिकों की शिक्षा सम्बन्धी प्रगति के अनुसार भिन्न-भिन्न लगाया जाता है।"[1]

इस प्रकार श्रमिक कल्याण को एक निश्चित परिभाषा के अन्दर बाँधना असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य कहा जा सकता है क्योंकि इसका अर्थ बहुत ही लचीला है। फिर भी श्रमिक कल्याण का अर्थ यूनाइटेड स्टेट्स ब्यूरो ऑफ लेबर स्टैटिस्टिक्स के शब्दों में "कर्मचारियों के आराम तथा बौद्धिक एवं शारीरिक प्रगति के लिए मजदूरी के अतिरिक्त ऐसा कोई भी कार्य किया जाय, जो कि न तो उद्योग के लिए आवश्यक है और न वाञ्छनीय ही है।"[2]

चाल्कर समिति के अनुसार "अति निम्न रूप में इसके (श्रमिक कल्याण के) अन्तर्गत श्रमिकों के स्वास्थ्य, सुरक्षा, आराम एवं सामान्य कल्याण को प्रभावित

---

1 'It is a term which must necessarily be elastic bearing a somewhat different interpretation in one country from another according to the different social customs, the degree of industrialization and the educational development of the workers." *Royal Commission.*

2. "Anything for the comfort and improvement, intellectual and social, of the employees, over and above wages paid, which is not a necessity of the industry nor required."

United States Bureau of Labour Statistics

करने वाली सभी बातों का समावेश होता है और शिक्षा, मनोरंजन, बचत योजनाओं तथा स्वास्थ्यप्रद गृहों इत्यादि का प्राविधान होता है।[1]

श्रम जाँच समिति (१९४६) ने अपनी प्रमुख रिपोर्ट में श्रमिक कल्याण को इस प्रकार परिभाषित किया है : "श्रमिकों के बौद्धिक, शारीरिक, नैतिक तथा आर्थिक कल्याण के लिए किया गया कोई भी कार्य, जो वैधानिक कानून तथा मालिकों एवं श्रमिकों के मध्य हुए अनुबन्धित लाभों के अतिरिक्त हो, चाहे वह मालिकों, सरकार अथवा अन्य संस्थाओं के द्वारा किया गया हो, श्रमिक कल्याण कहलाता है।"[2]

उपरोक्त परिभाषाओं से स्पष्ट है कि अपनी फैक्टरियों के अन्दर तथा बाहर श्रम तथा रोजगार की सर्वोत्तम दशाओं की व्यवस्था करने के लिए मालिकों (employers) के स्वतः किये गये प्रयत्न श्रमिक कल्याण को निर्देशित करते हैं। इनमें उन सब प्रयासों का समावेश होता है जिनका उद्देश्य श्रमिक के स्वास्थ्य एवं बल में सुधार, उसकी सुरक्षा, उसकी मानसिक तथा नैतिक उन्नति, उसका साधारण कल्याण और उसकी औद्योगिक क्षमता में वृद्धि होती है। इन कार्यों का संगठन मालिक द्वारा, अथवा सरकार द्वारा, अथवा स्वयं श्रमिकों द्वारा प्रारम्भ व संगठित किया जा सकता है।

श्रमिक कल्याण के दो पक्ष या पहलू होते हैं—

(१) मानवीय (Humanitarian); तथा

(२) आर्थिक (Economic)।

मानवीय पक्ष—यदि श्रमिक कल्याणकारी कार्य मालिकों (employers) के अतिरिक्त अन्य व्यक्तियों अथवा संस्थाओं द्वारा किया जाता है तो इसका ध्येय मानवता तथा दयालुता से प्रेरित लोक सेवा होता है। ऐसे कार्य भारतवर्ष में 'भारत सेवक समिति' (Servants of India Society), 'नवयुवक क्रिश्चियन संघ' (Y. M. C. A.), 'बम्बई सामाजिक सेवा संघ' (The Bombay Social Service League), 'सेवा सदन' इत्यादि सामाजिक संस्थाएँ करती हैं।

आर्थिक पक्ष—यदि श्रमिक कल्याणकारी कार्य मालिकों या सेवायोजकों (Employers) द्वारा किया जाता है तो उसका ध्येय अधिकांशतः आर्थिक तथा

---

1 "In its widest sense it comprises all matters affecting the health, safety, comfort and general welfare of the workmen, and *includes provision for education, recreation, thrift schemes convalescent homes*" *Balfour Committee.*

2 "Anything done for the intellectual, physical, moral and economic betterment of the workers, whether by employers, by Government or by other agencies, over and above what is laid down by law or what is normally expected as part of the contractual benefits for which the workers may have bargained."

Labour Investigation Committee (1946)

उपयोगिता प्राप्ति होता है। यह 'क्षमता कार्य' होता है जो श्रमिक की शारीरिक योग्यता तथा क्षमता को प्रत्यक्ष रूप से प्रभावित करता है। अज्ञानी तथा अशिक्षित श्रमिकों में इससे उत्तरदायित्व तथा प्रतिष्ठा की भावना उत्पन्न होती है और वे अच्छे नागरिक बनते हैं।

श्रमिक कल्याण के अंग

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है श्रमिक कल्याण कार्यों को दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है—

(१) आन्तरिक या कारखानों के अन्दर कार्य (Intra mural)

(२) बाह्य या कारखानों के बाहर कार्य (Extra mural)

आभ्यन्तरिक कार्य (Intra mural)

इसके अन्तर्गत निम्न कार्य आते हैं—

(क) वैज्ञानिक भरती पद्धति (Scientific method of recruitment)

(ख) स्वच्छता, प्रकाश एवं वायु (Sanitation light and ventilation)

(ग) औद्योगिक प्रशिक्षण (Industrial training)

(घ) दुर्घटनाओं की रोकथाम (Prevention of accident)

बाह्य कार्य (Extra mural)

इसके अन्तर्गत निम्न आयोजन किये जाते हैं—

(क) श्रमिकों के लिए सामान्य शिक्षण

(ख) श्रमिकों के लिए आवास व्यवस्था

(ग) श्रमिकों के लिए चिकित्सा

(घ) श्रमिकों के लिए भोजन सम्बन्धी व्यवस्था

(ङ) श्रमिकों के लिए मानसिक मनोरंजन की व्यवस्था तथा

(च) श्रमिकों के लिए प्राविडेण्ट फण्ड की व्यवस्था।

श्रम कल्याण का उदय

औद्योगिक क्रान्ति, जिसका जन्म सर्वप्रथम अठारहवीं शताब्दी में इंगलैंड में हुआ, ने समाज को दो वर्गों—सेवा योजक और सेवायुक्त (Employer and Employed) में विभक्त कर दिया। इन दोनों के बीच की खाई दिन प्रति दिन बढ़ती ही चली गई। सेवायोजक अपने स्वार्थ को सर्वोपरि महत्ता देते थे, परिणामस्वरूप 'सेवायुक्त' अर्थात् श्रमिकों में असन्तोष की भावना फैल गई। श्रमिक अपनी दशा के प्रति उदासीन थे और सेवायोजकों की नीति अदूरदर्शितापूर्ण थी।

प्रथम महायुद्ध द्वारा उपस्थित क्रान्तिकारी परिस्थितियों ने श्रमिकों की समस्या को

(२) उचित सामाजिक व्यवस्था

आजकल प्रत्येक प्रगतिशील राष्ट्र समाजवाद की ओर अग्रसर हो रहा है। भारतवर्ष ने भी समाजवादी ढङ्ग की रचना करने का दृढ निश्चय कर लिया है। यह सब उसी समय सम्भव है जब कि राष्ट्र की आय का लगभग समान वितरण हो और जनता में सतोष और सतुष्टि की भावना का सचार हो। अत उद्योगपतियों को अपना स्वार्थ पूर्ण सकुचित दृष्टिकोण त्यागकर सार्वजनिक कल्याण का विस्तृत दृष्टिकोण अपनाना होगा। दूसरे शब्दों म उद्योगपतियों को श्रम कल्याणकारी कार्यों को करना होगा जिससे देश का सामाजिक और आर्थिक कल्याण हो सके।

(३) स्थायी सतुष्टि तथा कुशल श्रमशक्ति

औद्योगिक नगरों म स्थायी सतुष्टि तथा कुशल श्रम शक्ति बनाए रखने के लिए श्रमिको की दैनिक जीवन सम्बन्धी तथा कारखानों के भीतर कार्य करने की दशाओं में सुधार करना होगा। बिना इनमें सुधार किये, जैसा कि अन्यत्र कहा जा चुका है, श्रमिकों की कार्यक्षमता नहा बढ सकती। भारतीय औद्योगिक श्रमिकों की क्षमता तो और भी कम है। अत श्रम कल्याणकारी कार्यों की व्यवस्था अति आवश्यक है।

(४) उत्पादकता मे वृद्धि

देश की सम्पन्नता एव समृद्धि उसक उद्योगों की उत्पादकता (productivity) पर निर्भर होती है। उद्योगों की उत्पादकता श्रमिकों के सहयोग एव कार्य क्षमता पर आश्रित होती है। श्रमिक उसी समय पूर्ण सहयोग एव सद्भावना से कार्य करेंगे जब वे समझ लेंगे कि उद्योगपति और सरकार दोनों ही उसके दैनिक एव भावी जीवन को उच्च बनाने म क्रियाशील हैं।

(५) श्रमिकों की बौद्धिक एव नैतिक अभिवृद्धि

यह औद्योगीकरण से होने वाली सामाजिक बुराइयों को कम करके श्रमिकों क बौद्धिक एव नैतिक स्वास्थ्य म अभिवृद्धि करता है।

(६) श्रमकल्याण औद्योगिक प्रशासन के रूप मे

प्रगतिशील देशों म श्रम कल्याण औद्योगिक प्रशासन के एक प्रमुख अग क रूप म स्वीकार कर लिया गया है। अब यह उद्योगपतियों की अनुकम्पा, सहृदयता एव दयालुता का प्रमाण नहीं रहा है, बल्कि उनका उत्तरदायित्व बन गया है। इससे श्रमिकों के अन्दर एक नवीन स्वाभिमान की भावना जाग्रत होती है।

उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट है कि भारतवर्ष में श्रमिकों के हेतु कल्याणकारी कार्य की अति आवश्यकता है। इन लाभों से प्रभावित होकर 'टैक्सटाइल लेबर इन्क्वायरी कमेटी' ने कहा था कि "कार्यक्षमता का उन्नत स्तर केवल उसी समय हो सकता है जब कि श्रमिक शारीरिक दृष्टि से स्वस्थ तथा मानसिक दृष्टि से सन्तुष्ट हों। इसका तात्पर्य

यह है कि केवल वही श्रमिक कुशल हो सकते हैं जिनके लिए शिक्षा, आवास, भोजन तथा वस्त्रादि का उचित प्रबन्ध हो।"

इस दृष्टि से हमारे देश में सरकारी एवं निजी साहस के द्वारा कुछ संस्थाएँ खोली गई हैं। उदाहरणार्थ—

बम्बई विश्वविद्यालय ने श्रम-समस्या एवं कल्याण कार्यों के अध्ययन तथा शिक्षा के लिए विशेष प्रबन्ध किया है। श्री टाटा ने 'इन्स्टीट्यूट आफ सोशल साइंसेज' (Institute of Social Sciences) की स्थापना की है। अभी हाल में उत्तर प्रदेश में लखनऊ तथा आगरा में क्रमशः 'जे० के० इन्स्टीट्यूट आफ सोशल साइन्सेज'* तथा 'इन्स्टीट्यूट ऑफ सोशल साइन्सेज' की स्थापना की गई है।

भारतवर्ष में आयोजित श्रम कल्याण कार्य

भारतवर्ष में अभी तक जितना भी श्रम कल्याण कार्य किया गया है, वह तीन भागों में विभाजित किया जा सकता है—

(१) वैधानिक—केन्द्रीय एवं राज्य सरकारों द्वारा

(२) स्वेच्छापूर्ण—उद्योगपति या नियोक्तागणों द्वारा, तथा

(३) पारस्परिक—श्रमिक संघों द्वारा।

केन्द्रीय सरकार द्वारा कल्याण कार्य

प्रथम महायुद्ध तक, श्रमिकों की अज्ञानता एवं निरक्षरता, स्वार्थी उद्योगपतियों की अनिच्छा, तथा सरकार एवं जनता की उदासीनता के कारण कोई भी श्रम कल्याण कारी कार्य नहीं किया गया।

द्वितीय महायुद्ध में औद्योगिक श्रमिकों की असन्तुष्टि एवं कलह के कारण श्रम कल्याणकारी कार्य की आवश्यकता का अनुभव हुआ। अतः द्वितीय महायुद्ध से केन्द्रीय सरकार इस ओर ध्यान देने लगी। परन्तु स्वतन्त्रता के पूर्व तक विदेशी सरकार ने कोई ठोस कदम नहीं उठाया, केवल हितकारी परामर्शदाता परिषदें इत्यादि की नियुक्ति करती रही।

सन् १९४२ में सरकार ने एक 'श्रम हितकारी सलाहकार' और उसकी सहायता के लिए अन्य श्रम हितकारी नियुक्त किये। सन् १९४४ में कोयला खानों के श्रमिकों के लिए एक हितकारी कोष खोला गया, जिसके द्वारा श्रमिकों के आमोद प्रमोद, चिकित्सा और शिक्षा का प्रबन्ध किया गया। सन् १९४६ में अभ्रक खान श्रमिक हितकारी कोष एक्ट पास किया गया। १९४७ में कोयला खान श्रमिक हितकारी कोष एक्ट पास किया गया।

---

*J. K. Institute of Sociology and Human Relations

इन एक्ट्स के अन्तर्गत चिकित्सा, शिक्षा तथा आवास सम्बन्धी सुविधाएँ अभ्रक एवं कोयला खानों के श्रमिकों को प्रदान की जाती हैं।

स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात्

स्वतन्त्रता के पश्चात् राष्ट्रीय सरकार ने तीन एक्ट्स पास किए—

(१) फैक्ट्रीज एक्ट १९४८,

(२) प्लान्टेशन लेबर एक्ट, १९५१, तथा

(३) माइन्स एक्ट, १९५२

इन अधिनियमों (एक्ट्स) के अन्तर्गत श्रमिकों के लिए, कैन्टीन, क्रेचेज (creches), आराम स्थलों, नहाने धोने की सुविधाओं, चिकित्सा तथा श्रमहित कारियों की नियुक्ति की व्यवस्था की गई है। सन् १९५४ में स्थायी श्रम-समिति ने श्रम हितकारी कोष की स्थापना पर बल दिया। सरकार ऐसे कोषों की स्थापना के लिए निरन्तर प्रयत्नशील है।

एक 'नेशनल म्यूजियम ऑफ इण्डस्ट्रियल हेल्थ, सेफ्टी एण्ड वेलफेयर बम्बई' के 'सेन्ट्रल लेबर इन्स्टीट्यूट' के भाग के रूप में स्थापित किया गया है। यह कार्यवाहक दशाओं (working conditions) के प्रमाप (standards) निश्चित करेगा। इन्स्टीट्यूट के अन्तर्गत इण्डस्ट्रियल हाईजीन लेबोरेटरी, एक ट्रेनिंग सेन्टर तथा एक लाइब्रेरी कम इन्फारमेशन सेन्टर खोले गये हैं।

विभिन्न श्रम कल्याणकारी अधिनियमों (Acts) के अन्तर्गत प्रगति

कोयला खान श्रम कल्याण कोष (Coal Mines Labour Welfare Fund)

इस कोष के अन्तर्गत श्रमिकों के लिए बेहतर चिकित्सा, शिक्षा और मनोरंजन की सुविधाओं की व्यवस्था की गई है। इसके अतिरिक्त महिला कल्याण और बाल केन्द्रों तथा प्रौढ़ शिक्षा केन्द्रों आदि की भी व्यवस्था है।

इसके अधीन दो क्षेत्रीय अस्पतालों, ६ प्रादेशिक अस्पताल तथा मातृ शिशु कल्याण केन्द्रों, दो दवाखानों तथा २ टी० बी० क्लिनिक की व्यवस्था है। मलेरिया-निरोधी कार्यवाही तथा बी० सी० जी० टीका आन्दोलन भी जारी है। दूसरी ओर से प्रौढ़ शिक्षा केन्द्रों तथा नारी कल्याण केन्द्रों की भी व्यवस्था की जाती है।

एक सहायता ऋण योजना के अधीन १,७५६ मकान बनाये गए तथा ३६४ मकानों का निर्माण हो रहा है। कोयला खान मजदूरों को १०,००० मकान दिये गए तथा २,४६४ मकानों का निर्माण आरम्भ किया गया। १९५८ में इस कोष में, १,६४,६७,३५० रुपये प्राप्त हुए और इस निधि में से सामान्य कल्याण कार्यों पर ६०,५६,३५० रुपये तथा आवास पर १,५६,१०,९५० रुपये व्यय होने का अनुमान लगाया गया है।

अभ्रक खान श्रम कल्याण कोष

इस कोष के अन्तर्गत अभ्रक-खान मजदूरों के लिए चिकित्सा, शिक्षा तथा मनोरंजन की सुविधाओं की व्यवस्था की जाती है। इस कोष द्वारा करमा (बिहार) में एक अस्पताल खोला जा चुका है और कालिचेडु (आन्ध्र प्रदेश) तथा तीसरी (बिहार) में दो अस्पतालों का निर्माण किया जा रहा है। एक अन्य अस्पताल गंगापुर (राजस्थान) में भी खोला जायेगा। १९५८-५९ में आन्ध्र प्रदेश, बिहार तथा राजस्थान को क्रमशः ३.१२ लाख रुपये, १२.४७ लाख रुपये तथा २.४३ लाख रुपये दिये गये।

बागान कर्मचारियों का कल्याण

'प्लान्टेशन लेबर एक्ट, १९५१' के अन्तर्गत प्रत्येक बागान (plantation) को अपने स्थायी श्रमिकों को व उनके परिवार को आवास (housing) सुविधा प्रदान करना तथा चिकित्सालयों व औषधालयों की सुविधाएँ प्रदान करना आवश्यक है। कुछ बागानों ने अपने श्रमिकों के बच्चों की प्रारम्भिक शिक्षा के लिए स्कूल भी खोले हैं। कुछ चाय बागानों ने टी बोर्ड की सहायता से मनोरंजन के साधनों तथा कुछ महत्वपूर्ण दस्तकारियों जैसे सिलाई, बुनाई, कढ़ाई, डलिया बनाने के काम इत्यादि के लिए प्रबन्ध किया गया है। काफी तथा रबड़ बोर्डों ने भी अपने श्रमिकों के कल्याण के लिए धन देने का विचार किया है।

बागान श्रमिक अधिनियम १९५१ के बनने पर मालिकों ने जिम्मेदारियों से बचने के लिए अपने बागानों को छोटे छोटे भागों में विभक्त करना आरम्भ कर दिया है। अतः सरकार अधिनियम में उचित संशोधन करने का विचार कर रही है। दूसरी पंचवर्षीय योजना में बागान कर्मचारियों को बेहतर और बढ़ी हुई आवास की सुविधाएँ देने पर अधिक जोर दिया गया। बागान जाँच कमीशन ने अनुमान लगाया है कि चाय उद्योग के कर्मचारियों के लिए लगभग ६० करोड़ रुपये की आवश्यकता होगी।

औद्योगिक आवास (Industrial Housing)

सितम्बर १९५२ में आरम्भ हुई 'सहायता प्राप्त औद्योगिक आवास योजना' में 'कारखाना अधिनियम, १९४८' द्वारा शासित औद्योगिक मजदूरों और कोयला तथा अभ्रक खानों के मजदूरों को छोड़कर 'खान अधिनियम १९५२' के अन्तर्गत आने वाले अन्य खान मजदूरों के लिए मकानों के निर्माण की व्यवस्था है। इस योजना के अन्तर्गत केन्द्रीय सरकार राज्य सरकारों को ऋण तथा सहायता देती है।

सन् १९५९ के अन्त तक राज्य सरकारों, कारखाना मालिकों तथा मजदूरों की सहकारी समितियों को ऋण के रूप में १८.७९ करोड़ रुपये तथा सहायता के रूप में १७.५५ करोड़ रुपये दिए गये और १,४६,१०१ मकानों के लिए स्वीकृति दी गई। दिसम्बर १९५९ के अन्त तक ८५,९८८ मकान बनवाए जा चुके थे।

बागान मजदूर आवास योजना—१९५१ के 'बागान मजदूर अधिनियम' के अनुसार प्रत्येक बागान मालिक के लिए यह अनिवार्य कर दिया गया है कि वह अपने सभी मजदूरों के लिए आवास की व्यवस्था करे। द्वितीय योजना में ११,००० मकानों के निर्माण के लिए २ करोड़ रुपये की व्यवस्था की गई है। सितम्बर १९५८ के अन्त तक राज्य सरकारों ने ३०० मकानों के निर्माण के लिए ५.३ लाख रुपये की स्वीकृति प्रदान की थी। 'इण्डियन प्लान्टर्स एसोसियेशन' के ६२ सदस्यों ने सन् १९५८ में ७,२२५ मकानों का निर्माण किया, जिसमें से १०३५ आसाम में, ११८६ दोआर के क्षेत्र में तथा ८०४ पश्चिमी बंगाल के तराई के क्षेत्रों में निर्मित किए गए।*

सरकार के उपक्रमों (Undertaking) में श्रम-हितकारी कोष

इन श्रम हितकारी कोषों का निर्माण १९४६ में ऐच्छिक आधार पर किया गया था। इन कोषों का उद्देश्य रेलवेज और बन्दरगाहों (dockyards) के कर्मचारियों को छोड़कर अन्य सरकारी उपक्रमों के कल्याण की सुविधाएँ प्रदान करना है। आन्तरिक एवं बाह्य खेलों, वाचनालयों एवं पुस्तकालयों, रेडियो, शिक्षण तथा मनोरंजन इत्यादि का प्राविधान भी किया जाता है।

रेलवेज तथा बन्दरगाहों में श्रम कल्याणकारी कार्य

रेलवेज अपने कर्मचारियों के लिए अस्पतालों व चिकित्सालयों की व्यवस्था करते हैं। कर्मचारियों की शिक्षा के लिए भी उचित प्रबन्ध किया गया है। बहुत-सी रेलवेज ने आन्तरिक व बाह्य खेलों के लिए संस्थाओं व क्लबों का निर्माण किया है। कुछ रेलवेज के द्वारा सस्ते गल्ले की दूकानें भी चलाई जाती हैं।

बन्दरगाहों में भी आधुनिकतम चिकित्सालय हैं। कलकत्ता, विशाखापट्टम तथा कलकत्ता ने बन्दरगाहों में सहकारी समितियाँ भी हैं।

राज्य सरकारों द्वारा श्रम कल्याणकारी कार्य

सन् १९३७ तक राज्य सरकारें श्रम कल्याण के लिए केन्द्रीय सरकार पर आश्रित रहा करती थीं। सन् १९३७ में 'प्राविन्शियल आटोनामी' प्राप्त हो जाने से प्रान्तों (राज्यों) में कांग्रेसी मंत्रिमंडल स्थापित हुए। कांग्रेसी मंत्रियों ने श्रम कल्याण के लिए योजनाएँ बनाईं। द्वितीय महायुद्ध काल में कुछ कल्याणकारी कार्य हुए। स्वतंत्रता प्राप्त होने पर इस दिशा में काफी प्रयत्न किए गये हैं।

राज्यानुसार इनका विवरण इस प्रकार है—

बम्बई राज्य

सर्वप्रथम बम्बई की सरकार ने १९३९ में बम्बई राज्य में आदर्श केन्द्रों की

*India 1960 p 386

स्थापना की। इसी वर्ष इस कार्य के लिए स्वीकृत धनराशि १,२०,००० रु० थी जो कालान्तर में बढ़ती चली गई। सन् १९५३ में बम्बई की सरकार ने इन क्रियाओं को 'बम्बई लेबर वेलफेयर बोर्ड' को स्थानान्तरित कर दिया। इस समय बोर्ड के अन्तर्गत ५३ श्रम कल्याणकारी केन्द्र हैं।

इन केन्द्रों में सिनेमा प्रदर्शन, ड्रामा, शारीरिक व्यायाम की सुविधाएँ, शिक्षा, तथा प्रशिक्षण, शिशु पालन तथा नर्सरी स्कूल, नशीली वस्तुओं के विरुद्ध आंदोलन, सिलाई-कढ़ाई व स्त्रियों के लिए कक्षा इत्यादि का प्रबन्ध है।

राज्य सरकार ने कुछ चुने हुए कर्मचारियों के लिए 'ट्रेड यूनियनिज्म' तथा नागरिकता के प्रशिक्षण के लिए बम्बई, अहमदाबाद तथा शोलापुर में प्रशिक्षण विद्यालय खोले हैं।

उत्तर प्रदेश

उत्तर प्रदेश की सरकार ने सर्वप्रथम १९३७ में लेबर कमिश्नर की अध्यक्षता में श्रम विभाग की स्थापना की और कानपुर में चार श्रम-कल्याणकारी केन्द्रों को औद्योगिक श्रमिकों के लाभार्थ संगठित किया। इस समय तक ८७ स्थायी श्रमिक-कल्याण केन्द्र और ७ मौसमी श्रमिक कल्याण केन्द्र राज्य के विभिन्न प्रमुख औद्योगिक केन्द्रों में स्थापित किए जा चुके हैं।

यह सब केन्द्र चार वर्गों—अ, ब, स तथा द में विभक्त किये गये हैं—

'अ' वर्ग के केन्द्रों के अन्तर्गत अंग्रेजी ढंग के चिकित्सालय, वाचनालय तथा पुस्तकालय, स्त्रियों के लिए व्यावसायिक प्रशिक्षण, घरेलू तथा बाहरी खेल, जिमनेजियम तथा अखाड़े, संगीत तथा रेडियो, प्रसूति तथा शिशु कल्याण की सुविधाएँ प्रदान की जाती हैं।

'ब', वर्ग के केन्द्रों में भी उपरोक्त सुविधाएँ प्रदान की जाती हैं, परन्तु इनमें होम्योपैथिक ढंग की चिकित्सा प्रदान की जाती है।

'स' वर्ग के केन्द्रों में पुस्तकालय एवं वाचनालय, घरेलू तथा बाहरी खेल तथा रेडियो सेट प्रदान किये जाते हैं।

'द' वर्ग के केन्द्रों के अन्तर्गत केवल बाहरी (out door) खेलों का प्रबन्ध किया जाता है।

सन् १९५७-५८ में सरकार ने इन कार्यों के लिए १२.१६ लाख रुपये की व्यवस्था की थी, जबकि १९३७-३८ में इस काम के लिए केवल १०,००० रुपये रखे गये थे। सरकार ने कानपुर में श्रमिकों के लिए तपेदिक (T. B.) के एक अस्पताल की व्यवस्था भी की है।

अन्य राज्यों में श्रम कल्याण

अन्य राज्यों में भी अनेक श्रम कल्याणकारी केन्द्र खोले गये हैं। विभिन्न राज्यों में (पुनर्संगठन के पूर्व) केन्द्रों की संख्या इस प्रकार थी—

असम	१२
बिहार	३
मध्य प्रदेश	५
पंजाब	७
पश्चिमी बंगाल	२६
हैदराबाद	१
मध्य भारत	३
मैसूर	२
राजस्थान	१२
सौराष्ट्र	२१
ट्रावनकोर कोचीन	३
दिल्ली	१
त्रिपुरा	२

सेवा योजकों (Employers) द्वारा कार्य

अधिकांशतः उद्योगपतियों अथवा मिल मालिकों ने श्रमिक कल्याणकारी कार्य की महत्ता को बहुत देर में समझा है। वे बहुत समय तक श्रमिक कल्याणकारी कार्य को अनार्थिक विनियोग समझते रहे। परन्तु पिछले २० वर्षों से वे समझने लगे हैं कि श्रमिकों को प्रसन्न रखकर ही उद्योग में उत्पादन बढ़ाया जा सकता है। अतएव उन्होंने गत कुछ वर्षों से श्रम कल्याण के लिए मनोरंजन, शिक्षा 'क्रैचज', भोजनालयों, चिकित्सा तथा सस्ते की वस्तु दुकानों का प्रबन्ध किया है।

उद्योगपतियों में से कुछ प्रगतिशील उद्योगपतियों जैसे इण्डियन जूट मिल्स एसोसियेशन, इण्डियन टी एसोसियेशन, टाटा संस्थान, सिंघानियाँ संस्थान इत्यादि ने इस क्षेत्र में कुछ महत्वपूर्ण कार्य किये हैं।

उद्योगों के अनुसार इनकी क्रियाओं का ब्यौरा इस प्रकार है—

सूती वस्त्र उद्योग

इस उद्योग के श्रमिकों के कल्याण के लिए 'इम्प्रेस ग्रुप आफ मिल्स, नागपुर,' 'देहली क्लाथ एण्ड जनरल मिल्स, देहली', 'बिरला काटन मिल्स, देहली', 'जियाजी राव काटन मिल्स, ग्वालियर', 'बकिंघम एण्ड कर्नाटक मिल्स, मद्रास', 'बंगलौर ऊलन, काटन एण्ड सिल्क मिल्स', तथा 'मदुरा मिल्स कम्पनी', इत्यादि ने प्रशंसनीय कार्य किये

इसके अतिरिक्त कोलार गोल्ड फील्ड की सोना निकालने वाली कम्पनियों ने तथा एसोसियेटेड सीमेंट कम्पनियों ने भी श्रमिकों के कल्याण के लिए महत्वपूर्ण कार्य किये हैं।

श्रमिक संघों द्वारा कल्याणकारी कार्य

भारतवर्ष में श्रमिक संघों द्वारा श्रम कल्याणकारी कार्य बहुत कुछ सीमित मात्रा में किये गये हैं। इसके दो कारण हैं—एक तो श्रमिक संघ आन्दोलन अभी अपनी शैशव अवस्था में है और दूसरे इन संघों के पास आर्थिक साधन भी बहुत सीमित हैं।

परन्तु फिर भी कुछ श्रमिक संघों जैसे 'टैक्सटाइल लेबर एसोसियेशन, अहमदाबाद', 'मजदूर सभा, कानपुर' 'रेलवे मेन्स यूनियन' तथा कुछ अन्य संघों ने श्रमिकों के कल्याण के लिए बहुत कुछ प्रयत्न किये हैं—अहमदाबाद का 'टैक्सटाइल लेबर एसोसियेशन' अपनी कुल आय का ६०% से ७०% तक श्रम हितकारी कार्यों पर व्यय करता है। कानपुर की मजदूर सभा ने श्रमिकों की चिकित्सा के लिए औषधालय तथा वाचनालय एवं पुस्तकालय खोले हैं।

रेलवे कर्मचारियों के संघों में से कुछ संघों ने सहकारी समितियाँ खोली हैं। इसके अतिरिक्त उन्होंने कर्मचारियों को वैधानिक सुरक्षा, मृत्यु तथा अवकाश लाभ, बेरोजगारी तथा बीमारी लाभ तथा जीवन बीमा इत्यादि का सुप्रबन्ध किया है।

उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट है कि समस्या की गम्भीरता एवं गुरुता को देखते हुए, श्रमिकों के कल्याणार्थ विभिन्न संस्थाओं द्वारा जो कुछ भी किया गया है, अपर्याप्त है। वास्तविक दृष्टिकोण से देखा जाए तो ज्ञात होगा कि मिल मालिकों ने इस क्षेत्र में बहुत सीमित कार्य किया है। आशा की जाती है कि वे भविष्य में व्यापक दृष्टिकोण अपनाकर, अधिक से अधिक प्रबन्ध करके श्रमिकों को अत्यधिक सुख-सुविधाएँ प्रदान करेंगे।

प्रश्न

1. Write a note on the working conditions in factories in India. What has the government done to improve these in recent years? *(Rajputana, 1952, 1956)*

2. Write a short note on the importance of labour welfare activities for industrial workers in India. What has been done by different agencies in this connection in recent years?

3. State briefly the steps which have been taken in India since independence to improve the conditions of life and work of industrial labour. *(Agra, 1960)*

अध्याय २१

सामाजिक सुरक्षा

(Social Security)

सामाजिक सुरक्षा कुछ वर्षों तक केवल नारा (slogan) मात्र ही था, परन्तु आज संसार के अधिकांश देशों मे यह एक महत्वपूर्ण रचनात्मक कार्यक्रम हो गया है। पूँजीवादी और समाजवादी दोनों ही प्रकार के राज्य लोक हितकारी राज्य (welfare state) बनना चाहते हैं और लोक हितकारी कार्यों में सामाजिक सुरक्षा को प्रथम स्थान प्राप्त होता है। प्रारम्भ में सामाजिक सुरक्षा का आयोजन मूलत. औद्योगिक श्रमजीवियों के लिए किया जाता था, परन्तु आज प्रत्येक राष्ट्र अपने को लोक हितकारी राज्य (welfare state) कहलाने के उद्देश्य से सामाजिक सुरक्षा में केवल श्रमिकों को ही नहीं, वरन् समाज के सभी वर्गों को सम्मिलित करता है, जिससे सम्पूर्ण समाज को लाभ हो सके।

मनुष्य का जीवन अनेक आकस्मिक घटनाओं, खतरों एव जोखिमों से परिपूर्ण है जिससे जीवन अत्यन्त नीरस, कष्टप्रद एव दुष्कर हो जाता है। सामाजिक सुरक्षा का ध्येय ऐसे जोखिमों, खतरों एव घटनाओं के विरुद्ध सुरक्षा प्रदान करना है। इसमे श्रमिकों की क्षतिपूर्ति, बीमारी तथा स्वास्थ्य बीमा, बेकारी बीमा तथा वृद्धावस्था पेन्शन का समावेश होता है। बीमारी, बेकारी, वृद्धावस्था, विधवापन, परिवार के उपार्जक सदस्य की मृत्यु इत्यादि ऐसी घटनाएँ हैं जब मनुष्य की आय तो लगभग बन्द हो जाती है परन्तु व्यय समान रहते हैं या बढ़ जाते हैं। ऐसी अवस्था मे इन घटनाओं का उत्तरदायित्व पीड़ित मनुष्य पर कदापि नहीं है बल्कि समाज के ऊपर है। अत. समाज को ही किसी न किसी प्रकार से इन घटनाओं से पीड़ित मनुष्य की रक्षा करनी चाहिए। एक प्रगतिशील समाज भी वही है जो अपने सदस्यों को आर्थिक एव सामाजिक सुरक्षा प्रदान करता है।

सामाजिक सुरक्षा का अर्थ

सामाजिक सुरक्षा के अन्तर्गत तीन योजनाएँ आती हैं—

(१) सामाजिक सहायता (Social Assistance)

(२) सामाजिक बीमा (Social Insurance)

(३) सहायक कार्य (Ancillary Measures)

(१) सामाजिक सहायता वह है जिसमें लाभ पाने वाले व्यक्तियों को कुछ भी चन्दा नहीं देना पड़ता। सारा खर्च सरकार स्वयं अपने पास से करती है, यद्यपि सरकार पर ऐसा करने के लिए कोई उत्तरदायित्व (Obligation) नहीं होता है। इसके अन्तर्गत निम्न बातों का समावेश होता है—

(१) बेकारी सुरक्षा (Unemployment Relief)

(२) डाक्टरी सहायता (Medical Assistance)

(३) अपाहिज एवं बूढ़े व्यक्तियों की सहायता (Maintenance of Invalids and Aged)

(४) सामान्य सहायता (General Assistance)

(२) सामाजिक बीमा वह है जिसमें लाभ पाने वाले व्यक्तियों को कुछ न कुछ चन्दे के रूप में देना पड़ता है। हाँ यह अवश्य है कि अधिकतर होने वाला व्यय सरकार और मालिक (employers) दोनों करते हैं। दूसरे शब्दों में 'सामाजिक बीमा' के अन्तर्गत एक 'बीमा कोष' (Insurance Fund) होता है जिसका निर्माण 'त्रिदलीय चन्दे' (Tripartite Contributions) से होता है। 'त्रिदलीय चन्दा' कर्मचारियों, मालिकों व सरकार के द्वारा दिया जाता है। इस प्रकार सामाजिक बीमा कर्मचारी, मालिक और सरकार तीनों का सामूहिक प्रयत्न है।

सामाजिक बीमा के अन्तर्गत निम्न बातों का समावेश होता है—

(१) स्वास्थ्य बीमा (Health Insurance)

(२) *औद्योगिक असमर्थता के विरुद्ध बीमा (Insurance against Industrial Disability)*

(३) बेकारी बीमा (Unemployment Insurance)

(४) प्रसूति बीमा (Maternity Insurance)

(५) वृद्धावस्था पेन्शन, प्रॉविडेण्ट फण्ड तथा बीमा (Old Age Pensions, Provident Funds and Endowment Insurance)

(६) विधवा एवं अनाथों की पेन्शन तथा उत्तर जीवियों का बीमा (Widows' and Orphans' Pensions and Survivors' Insurance)

(३) सामाजिक क्रियाएँ (Social Measures)—'सामाजिक बीमा' और 'सामाजिक सहायता' की परियोजनाएँ उस समय तक सफल नहीं हो सकतीं जब तक कि 'सहायक क्रियाओं' की महत्ता, न दी. जाय। इन क्रियाओं का उद्देश्य विभिन्न जोखिम एवं घटनाओं (Incidence) को कम से कम करना है। इन क्रियाओं में निम्नलिखित सम्मिलित हैं—

(१) प्रशिक्षण एवं पुनर्स्थापन (Training and Rehabilitation)

(२) सार्वजनिक निर्माण कार्य एवं रोजगारी दफ्तर (Public Works and Employment Exchanges)

(३) पोषाहार तथा आवास सुधार (Nutrition and Housing Reform)

(४) बीमारियों तथा महामारियों की रोकथाम (Prevention of Diseases and Epidemics)

(५) दुर्घटनाओं की रोकथाम (Prevention of Accidents)

(६) रोजगार तथा मजदूरी निर्धारण सम्बन्धी विधान (Legislation regarding Employment and Wage Fixation)

सामाजिक सुरक्षा की परिभाषाएँ

श्री जी० डी० एच० कोल के अनुसार "सामाजिक सुरक्षा का विचार विस्तृत रूप में यह है कि राज्य (State) अपने सभी नागरिकों के लिए न्यूनतम भौतिक कल्याण प्रदान करने का भार लेता है जिससे उनके जीवन की सभी सुदूर आकस्मिक घटनाएँ सुरक्षित हो जायँ।[1]

अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन ने सामाजिक सुरक्षा की परिभाषा इस प्रकार की है, "यह वह सुरक्षा है जो समाज किसी उपयुक्त संगठन द्वारा अपने सदस्यों की रक्षा उन जोखिमों के विरुद्ध करता है जिनसे वे प्रभावित हो सकते हैं। ये जोखिम आवश्यक रूप से वे हैं जिनके विरुद्ध अल्प आय वाले लोग अपनी बुद्धिमत्ता या दूरदर्शिता से व्यवस्था नहीं कर पाते हैं।"

सर विलियम बेवरिज ने अपनी सामाजिक सुरक्षा की रिपोर्ट में सामाजिक सुरक्षा के विस्तृत विस्तार पर प्रकाश डालते हुए कहा है कि "पुनर्निर्माण के पाँच दैत्यों में से अभाव (want) केवल एक दैत्य है और जो कुछ अर्थों में आसानी से दूर किया जा सकता है।"[2]

सामाजिक सुरक्षा की विशेषताएँ (Characteristics of Social Security)

सामाजिक सुरक्षा योजना की तीन प्रमुख विशेषताएँ होती हैं—

(१) इसके अन्तर्गत कुछ लाभ (benefits) जैसे चिकित्सा लाभ, बीमारी लाभ इत्यादि तथा बलात् बेरोजगारी (involuntary unemployment) के हो जाने पर आय की गारन्टी करना।

---

1 The idea of social security, put broadly, is that the state shall make itself responsible for ensuring a minimum standard of material welfare to all its citizens on a basis wide enough to cover all the contingencies of life."—*G. D. H Cole.*

2. "Want is only one of the five giants on the road of reconstruction and in some ways the easiest to attack."—*Sir William Beveridge.*

(२) इसके अन्तर्गत वैधानिक सुरक्षा होनी चाहिए अर्थात् ऐसी योजना को कार्यान्वित करने वाले संगठन को कुछ वैधानिक अधिकार तथा उत्तरदायित्व होने चाहिए।

(३) योजना को चलाने के लिए समुचित प्रशासन मशीनरी (administrative machinery) होनी चाहिए।

सामाजिक सुरक्षा का क्षेत्र (Scope of Social Security)

सामाजिक सुरक्षा का क्षेत्र बहुत विस्तृत है। इसके अन्तर्गत 'गर्भ से मरण' तक की घटनाओं के विरुद्ध सुरक्षा प्रदान की जाती है। गर्भ में बच्चे को प्रसूत सम्बन्धी सुविधाएँ और गर्भ के बाहर आने पर उसके पालन पोषण एव भोजन की सुविधा होनी चाहिए, इसके बाद शिक्षण की सुविधा, फिर काम आदि की। इसमें उस समय की सुरक्षा भी सम्मिलित होती है जबकि मनुष्य काम पर न लगा हो अथवा वह बेरोजगार या निर्धारित हो। इसके अतिरिक्त उचित काम करने की प्रमापित दशाओं की सुरक्षा, वृद्धावस्था में आय की सुरक्षा, बेरोजगारी के समय आय की सुरक्षा, आमोद प्रमोद की सुरक्षा, आत्मोन्नति की सुरक्षा, चिकित्सा सुरक्षा, घटना, असमर्थता एवं मृत्यु हो जाने पर परिवार की सुरक्षा आदि भी इसके अन्तर्गत सम्मिलित हैं।

भारतवर्ष में सामाजिक सुरक्षा की आवश्यकता

भारतवर्ष में सामाजिक सुरक्षा के सम्बन्ध में जितना कहा जाय कम है। भारतवर्ष सम्पूर्ण देश के नागरिकों तथा विशेष रूप से औद्योगिक कर्मचारियों के लिए सामाजिक सुरक्षा का महत्त्व एवं उपयोगिता को अस्वीकार कर ही नहीं सकता है। और न सामाजिक सुरक्षा के कार्यक्रमों को भारतवर्ष की निर्धनता के आधार पर ठुकराया ही जा सकता है। लार्ड विलियम बेवरिज के शब्दों में "एक दृष्टिकोण से जितने ही आप निर्धन हैं, उतना ही अधिक आपको उसकी (सामाजिक सुरक्षा) आवश्यकता होगी, और अपने स्वास्थ्य को ठीक रखकर आप अपनी कार्यक्षमता को बढ़ाते हैं।"

भारतवर्ष में संयुक्त परिवार पद्धति जाति व्यवस्था द्वारा सहायता तथा जातीय अनुदान के समाप्त हो जाने से सामाजिक सुरक्षा का महत्त्व और भी बढ़ जाता है। भारतीय श्रमिकों के दयनीय स्वास्थ्य, अज्ञानता, बच्चों एवं माताओं की ऊँची जन्म एवं मृत्यु दर, अपर्याप्त पोषाहार (mal nutrition) तथा अनेक बीमारियों एवं महामारियों (epidemics) इत्यादि के कारण सामाजिक सुरक्षा एक अनिवार्य आवश्यकता हो गई है।

सामाजिक सुरक्षा का विकास

सामाजिक बीमा यों तो बहुत प्राचीन इतिहास रखता है और वह प्रत्येक देश में किसी न किसी रूप में विद्यमान था। प्राचीन काल में राजा महाराजा लोग अपनी

जनता को अकाल, बाढ़ तथा अन्य दैवी प्रकोपों के समय अनुदान, छूट तथा अन्य प्रकार की आर्थिक सहायता दिया करते थे। भारतवर्ष में ऋग्वेद तथा महाभारत में सामाजिक सुरक्षा का प्रमाण मिलता है, किन्तु इस प्रकार की सामाजिक सुरक्षा असमान, अव्यवस्थित, अनिश्चित एवं अपमानजनक थी। दान पाने वाला लज्जा और संकोच का अनुभव करता था। अतः सामाजिक सुरक्षा के सम्बन्ध में यह आवश्यक समझा गया कि समाज के द्वारा प्रदान की गई सहायता सम्मानसूचक और विश्वसनीय हो। "बगैर दिये कुछ प्राप्त किया जा रहा है" ऐसा आत्मघाती भाव सहायता पाने वाले के मन में नहीं आना चाहिए। परन्तु यह सब दान के रूप में किया जाता था जो कर्मचारियों के स्वाभिमान के विरुद्ध था। परन्तु वर्तमान रूप में इसका विकास सर्वप्रथम जर्मनी में १६वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में हुआ जिसमें श्रमिकों के लिए बीमारी, दुर्घटना, बुढ़ापे तथा दुर्बलता इत्यादि के विरुद्ध अनिवार्य बीमा की व्यवस्था की गई। *सम्राट् विलियम प्रथम ने १८८३ में चिकित्सा हितलाभ और १८८४ में* श्रमिक क्षतिपूर्ति बीमा का श्रीगणेश किया। जर्मनी के इस कार्य की सफलता देखकर अन्य देशों ने भी इस दिशा की ओर कदम उठाये। सन् १६२४ में कुछ फ्रांसीसी अर्थशास्त्रियों ने अत्यन्त जोरदार शब्दों में कहा कि ये योजनाएँ मनुष्य के व्यक्तित्व एवं उसकी दूरदर्शिता के लिए घातक हैं। अमेरिका में भी प्रेसीडेन्ट ट्रूमैन के समय सामाजिक सुरक्षा विरोधी प्रचार में ७० लाख पौंड की रकम खर्च की गई। किन्तु इन विरोधों के बावजूद भी सामाजिक सुरक्षा को अन्तर्राष्ट्रीय गौरव प्राप्त हो चुका है। I L O. के प्रयत्न से अनेक ऐसे प्रस्ताव पास किये जा चुके हैं जिनमें सदस्य देशों को अपने अपने क्षेत्रों में समाजिक सुरक्षा योजनाएँ कार्यान्वित करने के आदेश दिये गये हैं।

फलस्वरूप इस प्रकार की योजनाएँ डेनमार्क, ग्रेट ब्रिटेन, आस्ट्रेलिया तथा रूस आदि देशों में इसी शताब्दी में विकसित हुईं। ग्रेट ब्रिटेन में १८६७ में कर्मचारी क्षतिपूर्ति अधिनियम, १६०६ में बुढ़ापा पेन्शन अधिनियम, १६११ में स्वास्थ्य बीमा अधिनियम, १६२० में बेकारी बीमा अधिनियम, १६२५ में विधवा अनाथ सहायता इत्यादि सम्बन्धी अधिनियम बनाये गये। इसके अतिरिक्त यहाँ पर शिक्षा, अस्पताल, प्रसूति लाभ तथा बच्चों की समृद्धि के लिए भी सहायता दी जाती है। परन्तु सामाजिक सुरक्षा की ओर सबसे महत्वपूर्ण कदम ग्रेट ब्रिटेन में द्वितीय विश्व युद्ध के अन्त में उठाया गया जब ख्यातिपूर्ण सामाजिक योजना 'बेवरिज योजना' (Beveridge Plan) के नाम से चालू की गई जिसमें शिशु पालने से लेकर शव संस्कार तक (from cradle to grave) की आर्थिक सहायता का सम्पूर्ण जनता के लिए प्रावधान है।

सन् १६४५ में ग्रेट ब्रिटेन में लेबर पार्टी (Labour Party) के सत्ता में

आ जाने के कारण अनेक सामाजिक सुरक्षा सम्बन्धी अधिनियम पास किये गये जैसे १६४५ में 'फेमिली एलाउन्स ऐक्ट' १९४६ में 'नेशनल इन्श्योरेंस (इण्डस्ट्रियल इञ्जरीज), एक्ट', तथा 'नेशनल इन्श्योरेंस एक्ट', 'नेशनल हेल्थ सर्विस एक्ट', तथा १६४८ में 'नेशनल असिस्टेन्स एक्ट' तथा 'चिल्ड्रेन्स एक्ट' पास किये गये।

अमेरिका में यद्यपि सामाजिक सुरक्षा की ओर कदम देर से उठाये गये, परन्तु फिर भी पिछले कुछ वर्षों में वहां की सरकार ने इस दिशा में महत्वपूर्ण कार्य किये हैं। सन् १९३५ में सामाजिक सुरक्षा अधिनियम, १९४४ में सार्वजनिक स्वास्थ्य सेवा अधिनियम (Public Health Service Act), १९४६ में रोजगार अधिनियम (Employment Act), १९५० में सामाजिक सुरक्षा संशोधन अधिनियम (Social Security Amendment Act) तथा १९५१ में अनेक सामाजिक सुरक्षा कानून बनाये गये।

रूस में सामाजिक सुरक्षा सम्बन्धी कार्यों में विशेष प्रगति हुई है। रूस की सरकार के द्वारा बेकारी की सुरक्षा के अतिरिक्त बहुत सा धन सामाजिक बीमा योजनाओं पर व्यय किया जाता है। ऐसा अनुमान है कि वहाँ पर प्रति वर्ष लगभग २१४००० मिलियन रूबल्स (Roubles) इन योजनाओं पर व्यय किया जाता है। वहाँ के प्रत्येक कर्मचारी को सामाजिक बीमा कराना अनिवार्य है। प्रत्येक व्यवसाय को दी जाने वाली मजदूरी तथा वेतन का एक निश्चित प्रतिशत सामाजिक बीमा कोष में देना नियमतः अनिवार्य है। इस कोष का नियन्त्रण श्रमिक संघों द्वारा होता है। 'सोवियत ट्रेड यूनियन्स' की केन्द्रीय समिति सामाजिक सुरक्षा के कार्यों की देखभाल करती है। सामाजिक बीमा कोष का धन अस्थायी असमर्थता (temporary disablement), मातृत्व लाभ (maternity benefit) वृद्धावस्था लाभ, निःशुल्क चिकित्सा, पौष्टिक भोजन (dietic nourishment) तथा शारीरिक स्वास्थ्य इत्यादि पर व्यय किया जाता है।

इस प्रकार आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैंड, स्वीडेन, फ्रान्स, डेनमार्क, जापान, मिस्र इत्यादि देशों में भी सामाजिक सुरक्षा की योजनाएँ चल रही हैं। विभिन्न देशों की सामाजिक सुरक्षा योजनाओं की वर्तमान स्थिति ब्यौरा इस प्रकार है।

भारतवर्ष में सामाजिक सुरक्षा—विभिन्न देशों में सामाजिक सुरक्षा की प्रगति देखते हुए हमारे देश में बहुत कम प्रगति हुई है। इसका मुख्य कारण यही था कि भारतवर्ष औद्योगिक प्रगति में काफी पिछड़ा हुआ है। वास्तव में देखा जाय तो हमारे देश में औद्योगिक प्रगति प्रथम महायुद्ध के पश्चात् हुई। फलस्वरूप सामाजिक सुरक्षा की प्रगति प्रथम विश्वयुद्ध के पश्चात् ही सम्भव हो सकी। परन्तु फिर भी समय समय पर विभिन्न समितियाँ सरकार का ध्यान इस ओर आकर्षित करती रहीं। बम्बई हड़ताल

जाँच समिति (१९२८-२९), शाही आयोग (१९३१), कानपुर श्रम जाँच समिति (१९४०) इत्यादि ने सामाजिक सुरक्षा योजना कार्यान्वित करने की दिशा में प्रयत्न किये, किन्तु विदेशी शासन की उदासीनता के कारण कोई विशेष प्रगति इस ओर नहीं हुई।

इस दिशा में सर्वप्रथम दो महत्वपूर्ण अधिनियम (Acts) 'श्रमिकों की क्षतिपूर्ति अधिनियम' (Workmen's Compensation Acts) १९२३ में तथा 'प्रसूति लाभ अधिनियम' (Maternity Benefit Act) कुछ राज्यों में पास किये गये। 'प्रसूति लाभ अधिनियम' सर्वप्रथम बम्बई में १९२९ में पास किया गया। बाद में यह अन्य राज्यों में पास किया गया जैसे १९३७ में उत्तर प्रदेश में, १९४४ में आसाम में, और १९४५ में बिहार में। इस प्रकार सामाजिक सुरक्षा की नींव १९२३ में रखी गई जबकि श्रमिकों की क्षतिपूर्ति का अधिनियम पास किया गया।

द्वितीय महायुद्ध तक श्रमिकों की क्षतिपूर्ति, प्रसूति लाभ तथा कुछ मालिकों की स्वेच्छा पर आधारित बीमारी लाभ योजनाओं के अतिरिक्त सामाजिक सुरक्षा का और कोई स्वरूप भारत में नहीं था। पर वास्तव में इन दोनों में से एक ने भी सामाजिक बीमा के सिद्धान्त को चालू नहीं किया था। ये केवल सामाजिक सहायता के उपाय थे जिनके अन्दर इस प्रकार के भुगतानों का उत्तरदायित्व *एकमात्र मालिकों पर ही था।* परन्तु फिर भी भारतवर्ष अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन (I. L. O.) के आन्दोलनों में सक्रिय भाग लेता रहा है। अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन की प्रथम सभा जो १९१९ में हुई थी, से लेकर १९४७ तक ८० सभाएँ हुईं और ८० प्रस्ताव भी पास हुए। इनमें से भारत ने १५ प्रस्तावों को मान लिया है।

१९४४ में अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन की २६वीं सभा फिलाडेलफिया में हुई, जिसमें श्रम संघ ने सामाजिक सुरक्षा का एक कार्यक्रम बनाया तथा सब देशों से उसे अपनाने के लिए सिफारिश की। इस योजना के अन्तर्गत निम्न जोखिमों के विरुद्ध प्राविधान (provision) किया गया था—

(१) बीमारी लाभ (Sickness Benefit)

(२) प्रसूति लाभ (Maternity Benefit)

(३) अयोग्यता लाभ (Invalidity Benefit)

(४) वृद्धावस्था लाभ (Old Age Benefit)

(५) उपार्जक सदस्य की मृत्यु लाभ (Death of Bread-winner Benefit)

(६) बेकारी लाभ (Unemployment Benefit)

(७) आकस्मिक व्यय (Emergency Expenses)

(८) रोजगार सम्बन्धी हानि (Employment Injuries)

भारतवर्ष में 'शाही श्रम आयोग' (Royal Commission on Labour)

१६३०-३१ तथा १६४०, १६४१ एवं १६४२ में श्रम मन्त्रियों के सम्मेलन ने कुछ उद्योगों में अनिवार्य बीमारी योजना का आयोजन किया था।

मार्च सन् १६४३ में भारतीय श्रम विभाग ने श्रमिकों के हेतु एक अनिवार्य स्वास्थ्य बीमा योजना बनाने के लिए प्रोफेसर बी०पी० अदारकर को नियुक्त किया। प्रो० अदारकर ने सरकार के आदेश पर औद्योगिक श्रमिकों के लिए स्वास्थ्य बीमा की व्यापक योजना तैयार की और १५ अगस्त १६४४ को अपनी रिपोर्ट में कपड़ा, इंजीनियरिंग, खनिज तथा धातुओं के स्थायी कारखानों में उसे अनिवार्य रूप से लागू करने की सिफ़ारिश की।

अदारकर योजना की जाँच अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संघ (I L.O) के दो विशेषज्ञों—श्री मौरीस्टैक और रघुनाथराव—ने १६४५ में की और उसे स्वीकार किया तथा सिफ़ारिश की कि उसमें प्रसूतिका सुविधा तथा काम करते समय क्षतिपूर्ति को भी सम्मिलित कर सभी स्थायी कारखानों पर लागू कर दिया जाय।

भारत सरकार के श्रम विभाग की सामाजिक सुरक्षा शाखा ने १६४५ में तीन योजनाएँ बनाईं—

(१) प्रो० अदारकर की स्वास्थ्य बीमा योजना को स्थानापन्न करने के लिए फैक्ट्री श्रमिकों के लिए बीमारी दुर्घटना योजना;

(२) प्रसूति की सम्मिलित योजना, तथा

(३) भारतीय एवं विदेशी जहाजों पर काम करने वाले भारतीय नाविकों के लिए बीमारी वृद्धावस्था के विरुद्ध बीमा योजना।

६ नवम्बर, १६४६ को इन सुझावों के आधार पर एक बिल पेश किया गया। अक्तूबर १६४७ में अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन की 'एशियन रीजनल कॉन्फ्रेंस' का अधिवेशन दिल्ली में हुआ। इसमें भी श्रमिकों को सामाजिक सुरक्षा प्रदान करने के लिए सिफारिश की गई। तत्कालीन भारत के उद्योग मन्त्री डॉ० श्यामाप्रसाद मुकर्जी ने ३१ अक्तूबर १६४७ को कॉन्फ्रेंस में भाषण देते हुए कहा था कि 'फिलाडेलफिया चार्टर' अवश्य पूरा होना चाहिए। उन्होंने कहा था कि "हम उसे (चार्टर को) असफल *नहीं होने देंगे क्योंकि उसकी असफलता से सामाजिक प्रगति के विकास सम्बन्धी सम्पूर्ण* अन्तर्राष्ट्रीय वास्तविक प्रयत्न समाप्त हो जायेंगे।" उन्होंने यह भी कहा था कि "किसी भी स्थान की निर्धनता कहीं पर भी समृद्धि नहीं होने देगी।"

फलस्वरूप विस्तृत स्वास्थ्य बीमा योजना को १६ अप्रैल १६४८ को कर्मचारी राज्य बीमा योजना अधिनियम के रूप में संसद् ने स्वीकृत किया तथा १६५१ में इसमें संशोधन किया गया। इसके पश्चात् सन् १६४८ में 'कोल माइन्स प्रॉविडेंट फंड एक्ट' पास किया गया, जिसका संशोधन १६५१ में किया गया।

इस प्रकार सक्षेप म प्रारम्भ से अब तक इस दिशा में निम्न अधिनियम पास किये गये हैं—

(१) श्रमिक क्षतिपूर्ति अधिनियम, १६२३,
(२) कोयला खान प्रावीडेंट फण्ड तथा बोनस स्कीम अधिनियम, १६४८,
(३) प्रसूति लाभ अधिनियम (राज्यों म)
(४) कर्मचारी राज्य बीमा अधिनियम, १६४८
(५) बागान श्रमिक अधिनियम, १६५१
(६) कर्मचारी प्रावीडेन्ट फण्ड एक्ट, १६५२ तथा
(७) छँटनी और निष्कासन क्षतिपूर्ति अधिनियम।

इन अधिनियमों का विस्तार म अध्ययन अगले पृष्ठों में किया गया है।

श्रमिकों की क्षतिपूर्ति अधिनियम

'श्रमिक क्षतिपूर्ति अधिनियम, १६२३' के अन्तर्गत बड़ी बड़ी मिलों म काम करने वाले श्रमिकों को काम के समय में लगने वाली चोट तथा बीमारी के फलस्वरूप होने वाली मृत्यु के सम्बन्ध में क्षतिपूर्ति की अदायगी की व्यवस्था की गई है। इस अधिनियम के अन्तर्गत ४००) मासिक तक की आय वाले कर्मचारी आते हैं। यह अधिनियम आज जम्मू और काश्मीर को छोड़कर सारे भारतवर्ष में लागू होता है। परन्तु जहाँ पर कर्मचारी राज्य बीमा योजना आरम्भ हो गई है, वहाँ यह अधिनियम लागू नहीं होता।

इस प्रकार के अधिनियम की माँग सर्वप्रथम सन् १८८४ में बम्बई म हुई थी। फलत कुछ प्रगतिशील मालिकों ने क्षतिपूर्ति की योजनाओं को चालू भी किया था। सन् १८५५ की घातक दुर्घटनाओं के अधिनियम के अनुसार ऐसी दुर्घटनाएँ हो जाने पर मालिकों पर मुकदमा चलाया जा सकता था। परतु यह कभी लागू न हो सका। मजदूरों की अज्ञानता तथा अनुभवहीनता पर इन दुर्घटनाओं के उत्तरदायित्व को मढ कर मालिक अपने दायित्व को टालने का उपाय कर लेता था। इस दोष को दूर करने के लिए सरकार ने १६२३ में एक प्रशस्त क्षतिपूर्ति अधिनियम बनाया, जो १ जुलाई १६२४ से लागू हुआ। इस अधिनियम को और अधिक प्रशस्त बनाने के लिए सरकार ने इसमें १६५६ में पुन सशोधन किया है। सशोधित अधिनियम (१६५६) का विवेचन भी यहाँ पर किया गया है।

श्रमिकों की क्षतिपूर्ति (सशोधन) अधिनियम, १६५६

केन्द्रीय सरकार की एक अधिसूचना के अनुसार मजदूरों का मुआवजा (सशोधन) अधिनियम, १६५६, १ जून से लागू कर दिया गया है।

पहले मुआवजा देने के लिए बयस्कों और नाबालिगों में भी भेद किया जाता था, वह इस अधिनियम में समाप्त कर दिया गया है। आवश्यक अस्थायी रूप से अशक्त मजदूरों को ७ दिन के प्रतीक्षा समय में मुआवजा नहीं दिया जाता। अब वह समय घटा कर ३ दिन कर दिया गया है।

अगर मुआवजा देने में एक महीने से ज्यादा की देर हो तो मजदूरों के मुआवजा कमिश्नर यह निर्देश दे सकते हैं कि बकाया मुआवजे पर ६ प्रतिशत प्रति वर्ष की दर से ब्याज सहित रकम चुकायी जाय। अधिनियम में यह भी व्यवस्था की गई है कि यदि मजदूर चाहे तो वे फैक्ट्रियाँ अथवा कारखानों के इंसपेक्टर को अपनी ओर से मुकदमा लड़ने के लिए कह सकते हैं। अगर मुआवजा देने के सम्बन्ध में कोई मुकदमा चल रहा है, और इस बीच या मुआवजा देने से पहले कोई मालिक अपनी पूँजी किसी और को दे देता है तो मुआवजा की राशि उस पूँजी में से ही काट ली जावेगी।

मुआवजा देने के लिए चोटों और बीमारियों की जो सूची बनी हुई है, उसे भी इस अधिनियम में और बढ़ा दिया गया है।

बीमारी एवं स्वास्थ्य बीमा

(Sickness & Health Insurance)

बीमारी एवं स्वास्थ्य बीमा के सम्बन्ध में अन्तर्राष्ट्रीय श्रम सम्मेलन ने विशेष रूप से दो कन्वेंशन और एक सिफारिश स्वीकार की है। इनमें से भारत ने किसी भी कन्वेंशन पर हस्ताक्षर नहीं किये हैं। वास्तव में 'कर्मचारी राज्य बीमा अधिनियम १९४८' ही इस दिशा में यहाँ पहला प्रयत्न है।

१९२७ के प्रथम कन्वेंशन ने बीमारी की समस्या को पहली बार उग्र रूप में हमारे सम्मुख पेश किया था। तब से लेकर अभी तक इस सम्बन्ध में हमारे देश में निरन्तर चर्चा होती रही है, परन्तु दुर्भाग्यवश इस ओर हमारी कोई ठोस प्रगति न हो सकी। बम्बई, पूना, मद्रास इत्यादि में राज्य सरकारों ने इस ओर कुछ प्रयास किये हैं, परन्तु उन्हें इसमें सफलता न मिल सकी। सन् १९३१ में शाही श्रम आयोग ने जोरदार शब्दों में सिफारिश की थी कि देश के प्रमुख औद्योगिक केन्द्रों में बीमारी बीमा के अभाव में श्रमिकों की कठिनाइयों की शीघ्रातिशीघ्र जाँच होनी चाहिए तथा उसके लिए एक योजना बनानी चाहिये,, परन्तु प्रान्तीय (राज्यीय) सरकारों की उदासीनता के कारण भारत सरकार इस ओर कुछ भी न कर सकी।

जैसा कि अन्यत्र कहा जा चुका है सन् १९४३ में भारत सरकार ने बी० पी० अदारकर को भारत के लिए स्वास्थ्य योजना तैयार करने का काम सौंपा। १९४४ में उन्होंने 'औद्योगिक श्रमिकों के स्वास्थ्य बीमा पर एक रिपोर्ट' प्रस्तुत की। १९४४ में त्रिदलीय श्रम-सम्मेलन और १९४५ में स्थायी श्रम समिति द्वारा इस पर विचार हुआ।

(२) योग्यता काल—मातृत्व छुट्टी से छः महीने पहले इसका योग्यता काल है।

(३) काम से अनिवार्य मुक्ति—प्रसव के चार सप्ताह पहले और चार सप्ताह बाद छुट्टी लेना अनिवार्य है।

(४) गर्भवती स्त्री को प्राप्त नकद लाभ की दर—आठ आने प्रतिदिन अथवा औसत दैनिक आय से जो भी राशि अधिक हो, वह गर्भवती स्त्री को अवकाश काल में प्राप्त होती है।

(५) अतिरिक्त लाभ

(अ) प्रसव काल में यदि माता डाक्टरी सहायता का उपयोग करे तो ५ रुपये के बोनस देने की व्यवस्था,

(ब) शिशुगृह चालू करने पर वहाँ स्त्री परिचारिका की नियुक्ति, बच्चे वाली स्त्रियों के लिए अतिरिक्त आराम के लिए लघु अवकाश और स्वास्थ्य निरीक्षकों की नियुक्ति,

(स) गर्भपात की दशा में गर्भपात के दिन से सवेतन तीन सप्ताह की छुट्टी, और

(द) मालिक द्वारा मातृत्व लाभ से बचने के लिए स्त्री मजदूर को निकाले जाने की दशा में १०० रुपये अथवा उसकी औसत आय से १८० गुना रकम में से, जो भी अधिक हो, देने की भी अतिरिक्त व्यवस्था है।

कर्मचारी राज्य बीमा योजना

(Employees State Insurance Scheme)

स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् की दो महत्वपूर्ण घटनाओं ने सामाजिक सुरक्षा की समस्या को सम्मुख लाने में विशेष योग दिया। प्रथम घटना १९४७ के अन्त में होने वाली प्रारम्भिक 'एशियन प्रादेशिक श्रम सम्मेलन' द्वारा सामाजिक सुरक्षा के सम्बन्ध में एक विस्तृत प्रस्ताव का स्वीकार किया जाना तथा द्वितीय भारतीय संसद द्वारा 'कर्मचारी राज्य बीमा योजना' को अधिनियम के रूप में १९ अगस्त १९४८ को पास किया जाना। यह योजना सम्पूर्ण एशिया में सामाजिक सुरक्षा की दिशा में प्रथम महत्वपूर्ण प्रयास है, जिसके अनुसार भारतीय श्रम कानून के क्षेत्र में एक नये अध्याय का प्रारम्भ होता है। ६ अक्तूबर १९४८ को 'कर्मचारी राज्य बीमा निगम' (E S I Corporation) का उद्घाटन आदरणीय चक्रवर्ती राजगोपालाचारी के कर कमलों द्वारा सम्पन्न हुआ।

प्रारम्भ में इस योजना को कुछ स्थायी फैक्टरियों में लागू करने का विचार किया गया जिसके अन्तर्गत २५ लाख श्रमिक आते थे। परन्तु दुर्भाग्यवश मालिकों तथा

श्रमिकों के विरोध के कारण यह योजना अगले तीन वर्ष तक चुने हुए औद्योगिक केन्द्रों में भी लागू न की जा सकी। इतनी बड़ी योजना को सारे देश में एकदम चालू करना उचित न था, अत इसको केवल औद्योगिक केन्द्र कानपुर तथा दिल्ली में ही प्रारम्भ किया गया और २४ फरवरी १९५२ को कानपुर में इसका उद्घाटन भारत के प्रधान मन्त्री श्री नेहरू के कर कमला द्वारा सम्पन्न हुआ।

यह विधान सब स्थायी सरकारी तथा गैर सरकारी फैक्टरियों पर लागू होता है जिसमें बिजली द्वारा उत्पादन कार्य होता है, तथा जिनमें २० या उससे अधिक व्यक्ति काम करते हैं और जो ४००) प्रति मास या इससे कम वेतन पाने वाले हैं चाहे वे क्लर्क हों या श्रमिक। ठेके पर काम करने वाले श्रमिक भी यदि वे ठेकेदार की दुकान पर या उसके निरीक्षण में कार्य करते हों, इसमें शामिल किये जा सकते हैं तथा सरकार इसे सामयिक उद्योगों और अन्य वर्ग के श्रमिकों पर लागू कर सकती है।

कर्मचारी राज्य बीमा योजना का प्रबन्ध

कर्मचारी राज्य बीमा योजना का शासन प्रबन्ध करने के लिए तीन संस्थाओं की स्थापना की गई है—

(१) कर्मचारी राज्य बीमा निगम (E S I Corporation)

(२) निगम की स्थायी समिति (Standing Committee of the Corporation)

(३) चिकित्सा लाभ परिषद (Medical Benefit Council)

कर्मचारी राज्य बीमा निगम

इसके अन्तर्गत ३१ सदस्य होते हैं जो कि केन्द्रीय तथा राज्य सरकारों, मालिकों, कर्मचारियों, डाक्टरों तथा संसद (Parliament) के सदस्य होते हैं। इनका निर्वाचन इस प्रकार होता है—

(१) केन्द्रीय सरकार के प्रतिनिधि (इसमें चेयरमैन तथा वाइस चेयरमेन क्रमश श्रम मन्त्री तथा स्वास्थ्य मन्त्री होते हैं)	७
(२) 'अ' राज्यों के प्रतिनिधि	६
(३) 'स' राज्यों के प्रतिनिधि	१
(४) कर्मचारियों के प्रतिनिधि	५
(५) मालिकों के प्रतिनिधि	५
(६) डाक्टरों के प्रतिनिधि	२
(७) केन्द्रीय विधानसभा के प्रतिनिधि	२
कुल .	३१

कार्पोरेशन की स्थायी समिति

यह कार्पोरेशन के साधारण प्रशासन तथा निर्देशन का कार्यभार सँभालती है। इसके अन्तर्गत १३ सदस्य होते हैं जिनका निर्वाचन कार्पोरेशन के सदस्यों में से होता है। प्रशासन सम्बन्धी दायित्व वास्तव में कार्पोरेशन के प्रमुख सचालक (Director General) पर होता है। प्रमुख सचालक की सहायता के लिए मुख्य अधिकारी (Principal officer) होते हैं।

चिकित्सा लाभ परिषद

इसमें २६ सदस्य होते हैं जो चिकित्सा सम्बन्धी विषयों पर कार्पोरेशन को सलाह देते हैं।

योजना को समुचित ढंग से चलाने के लिए पाँच क्षेत्रीय कार्यालय (Regional Offices) कानपुर, दिल्ली, बम्बई, मद्रास तथा कलकत्ता—स्थापित किये गये हैं। इन कार्यालयों का दायित्व है कि वे अपने अपने क्षेत्र में योजना को सफलता पूर्वक चलायें। प्रत्येक स्थान पर सहयोग प्राप्त करने के लिए क्षेत्रीय बोर्ड (Regional Board) तथा स्थानीय समितियां (Local Committees) भी स्थापित की गई हैं जिनमें श्रमिकों, मालिकों, राज्य सरकारों तथा कार्पोरेशन के प्रतिनिधि होते हैं।

श्रमिकों के झगड़ों का फैसला करने के लिए अधिनियम (Act) में राज्य सरकारों को अपने राज्यों में कर्मचारी बीमा न्यायालयों की स्थापना करने का अधिकार दिया है।

वित्तीय साधन (Financial Resources)

योजना को कार्यान्वित करने के लिए आवश्यक धन का प्रबन्ध मालिकों तथा कर्मचारियों द्वारा अंशदानों, सरकार द्वारा अनुदानों तथा स्थानीय सरकारों, व्यक्तियों व संस्थाओं से प्राप्त दानों, चन्दों या अन्य आर्थिक सहायताओं से किया जाता है। केवल उन्हीं क्षेत्रों के कर्मचारी जहां योजना चालू की गई है और जिन्होंने बीमा करा लिया है, योजना के लिए कोष में अंशदान देते हैं। कारपोरेशन के शासकीय व्यय के $\frac{2}{3}$ भाग के बराबर धनराशि केन्द्रीय सरकार प्रथम ५ वर्षों तक वार्षिक अनुदान के रूप में देगी। राज्य सरकारें भी श्रमिकों के स्वास्थ्य के लिए दवाइयों के खर्चे तथा बीमारों की देखभाल की व्यवस्था के लिए आवश्यक आर्थिक सहायता देगी जो लागत का $\frac{1}{3}$ भाग होगा।

मालिकों तथा कर्मचारियों को अगले पृष्ठ पर दी गई तालिका के अनुसार, साप्ताहिक अंशदान देना होता है। मालिक कर्मचारियों का अंशदान उनके वेतन से काट लेते हैं।

क्रम संख्या	कर्मचारियों का वर्ग	कर्मचारियों का अंशदान	मालिकों का अंशदान	कुल अंशदान
		रु०-न० पै०	रु० न० पै०	रु० न० पै०
(१)	१) से कम औसत दैनिक वेतन वाले कर्मचारी		०·४४	०·४४
(२)	१) से १।।) के बीच दैनिक वेतन वाले कर्मचारी	०·१२	०·४४	०·५६
(३)	१।।) से २) के बीच दैनिक वेतन वाले कर्मचारी	०·२५	०·५०	०·७५
(४)	२) से ३) के बीच दैनिक वेतन वाले कर्मचारी	०·३७	०·७६	१·१३
(५)	३) तथा ४) के बीच दैनिक वेतन वाले कर्मचारी	०·५०	१·००	१·५०
(६)	४) तथा ६) के बीच दैनिक वेतन वाले कर्मचारी	०·६६	१·३७	२·०६
(७)	६) तथा ८) के बीच दैनिक वेतन वाले कर्मचारी	०·६४	१·८७	२·८१
(८)	८) तथा अधिक दैनिक वेतन पाने वाले कर्मचारी	१·२५	२·५०	३·७५

सर्वप्रथम यह योजना प्रयोगात्मक रूप (experimental basis) में दिल्ली और कानपुर में चालू होने वाली थी। पर मालिकों (employers) ने विरोध किया कि केवल उन्हीं को अंशदान देना होगा, जबकि अन्य क्षेत्रों के नियोक्तागण उससे मुक्त रहेंगे। इससे उनको हानि होगी। अतः १९५१ में इस विधान में संशोधन हुआ और देश भर के सब मालिकों से अंशदान लेना तय पाया। यह निश्चय हुआ कि कानपुर और दिल्ली के मालिकगण (employers) अपनी कुल मजदूरी बिल का $1\frac{1}{4}\%$ तथा अन्य स्थानों के मालिकगण $\frac{3}{4}\%$ देंगे।

योजना के अन्तर्गत लाभ

इस योजना के अन्तर्गत जैसा कि अन्यत्र बताया जा चुका है, श्रमिकों को पाँच प्रकार के लाभ प्राप्त हैं, और ये लाभ हैं—

(१) चिकित्सा लाभ (Medical Benefit)
(२) बीमारी लाभ (Sickness Benefit)
(३) प्रसूति लाभ (Maternity Benefit)
(४) अयोग्यता लाभ (Disablement Benefit)
(५) आश्रितों का लाभ (Dependents Benefit)

(१) चिकित्सा लाभ—बीमा कराए हुए कर्मचारी को ही चिकित्सा लाभ प्राप्त है, पर ऐसे व्यक्तियों के कुटुम्बों के लिए भी, जब कारपोरेशन तथा राज्य सरकार इस योग्य हों इस लाभ की व्यवस्था की जा सकती है। इस चिकित्सा लाभ म औषधियों, अस्पताल म भरती, देखभाल तथा घर पर डाक्टर की सेवाओं की सहायता बीमार कर्मचारी या जच्चा को मुफ्त दी जाती है।

दिल्ली तथा कानपुर में पूरे समय क लिए डाक्टरों की सेवायें अस्पतालों में उपलब्ध है तथा आवश्यकता पड़ने पर घर भी वे जाते हैं। औषधियाँ भी मुफ्त दी जाती हैं। दूर स्थित स्थानों क लिए गतिशील चिकित्सालयों का भी प्रबन्ध है। इस लाभ को पाने क लिए कर्मचारी को न्यूनतम ६ मास तक अंशदान देना होता है। तभी अगले ६ मासों म उसे लाभ मिलता है। कर्मचारी के अंशदान की न्यूनतम संख्या १२ होनी चाहिये।

(२) बीमारी लाभ—बीमा कराए हुए कर्मचारी को बीमारी में लगातार ३६५ दिनों की अवधि म अधिकतम ८ सप्ताह तक नगद बीमारी लाभ मिल सकता है। लाभ दर उसकी औसत मजदूरी क ७/१२ भाग क लगभग होता है। ६ मास तक इसक लिए भी न्यूनतम अंशदान आवश्यक है। दशा सुधरने पर कारपोरेशन को लाभ की अवधि बढ़ाने का अधिकार है।

(३) प्रसूति लाभ—स्त्री कर्मचारियों को १२ सप्ताह के लिए नकद प्रसूति लाभ १२ आने प्रतिदिन की दर से या बीमारी लाभ की दर से, दोनों म जो भी अधिक हो, दिया जाता है। बच्चा होने के ६ सप्ताह से अधिक पहले यह चालू नहीं किया जा सकता है। इसक लिए भी न्यूनतम अंशदान की संख्या १२ निश्चित की गई है।

(४) अयोग्यता लाभ—काम करने के समय में चोट लग जाने के कारण अयोग्यता क लिए बीमा कराए हुए कर्मचारियों को आर्थिक सहायता मिलती है। अस्थायी अयोग्यता क लिए अयोग्यता की अवधि तक एक वर्ष पूर्व की औसत मजदूरी के लगभग आधे तक नकद सहायता मिलती है।

इसे पूर्ण दर कहते हैं। स्थायी अयोग्यता के लिए, 'कर्मचारी क्षतिपूर्ति अधिनियम' (Workers Compensation Act) में दी जाने वाली एक मुश्त (Lump sum) रकम क बजाय, कर्मचारी को जीवन भर पेंशन मिलती है। जो उनके उपार्जन शक्ति म हानि क अनुपात क अनुसार होती है।*

(५) आश्रितों का लाभ—बीमा कराये हुए कर्मचारी की मृत्यु होने पर उसके आश्रितों म निम्न प्रकार क लाभ की राशि का वितरण किया जाता है—

(अ) कर्मचारी की विधवा को उसके जीवन भर, या दूसरी शादी के समय तक

---

*साप्ताहिक मजदूरी क ७/१२ की दर से।

पूर्ण दर के $\frac{3}{5}$ भाग के बराबर रकम दी जाती है। और यदि दो या उससे अधिक विधवाएँ हों तो इस रकम को उनमें बराबर-बराबर बाँट दिया जाता है।

(ब) प्रत्येक असल (real) या दत्तक (adopted) पुत्र को पूर्ण दर के $\frac{2}{5}$ भाग के बराबर की रकम उसकी १५ वर्ष की आयु तक या उसकी शिक्षा जारी रहने पर १८ वर्ष की आयु तक दी जाती है।

(स) प्रत्येक असल अविवाहित पुत्री को पूर्ण दर के $\frac{2}{5}$ भाग के बराबर रकम उसकी १५ वर्ष की आयु तक या उसकी शादी तक (दोनों में से जो पहले हो) या यदि उसकी शिक्षा जारी हो तो १८ वर्ष की आयु तक दी जाती है।

यदि किसी समय यह लाभ पूर्ण दर से अधिक होगा तो आश्रितों में से प्रत्येक का भाग अनुपातिक अंश में बदल दिया जायगा, जिससे देय उनकी पूरी रकम दर पर अयोग्यता लाभ की रकम से अधिक न होगी। यदि इन आश्रितों में से किसी का पता न चले तो आश्रितों का लाभ माता-पिता या पितामह-पितामही को उनके जीवन भर, तथा अन्य आश्रितों को सीमित काल तक दिया जा सकता है। पर भुगतान की दर कर्मचारी राज्य बीमा न्यायालयों द्वारा निर्धारित होगी। तत्सम्बन्धी झगड़ों के निपटारे के लिए 'कर्मचारी राज्य बीमा न्यायालयों' तथा विशिष्ट ट्रिब्यूनलों (Special Tribunals) की स्थापना का भी विधान में आयोजन है। दिल्ली तथा कानपुर में ऐसे न्यायालयों की स्थापना हो चुकी है।

कर्मचारी राज्य बीमा योजना की क्रियाओं का विवरण

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है कि इस योजना को कार्यान्वित करने के लिए सर्वप्रथम कानपुर व दिल्ली में लागू किया गया था। इसका उद्घाटन समारोह देश के प्रधान मन्त्री पंडित जवाहरलाल नेहरू के कर-कमलों द्वारा २४ फरवरी १९५२ को कानपुर में सम्पन्न हुआ। उस समय इस योजना से लाभान्वित होने वाले कर्मचारियों की संख्या कानपुर और दिल्ली में क्रमशः ८०,००० और ४०,००० थी। शनैः शनैः यह योजना देश के अनेक क्षेत्रों में लागू कर दी गई है और ऐसा अनुमान है कि द्वितीय पंचवर्षीय योजना के अन्त तक यह योजना देश के उन सब क्षेत्रों में लागू हो जायगी जहाँ पर औद्योगिक श्रमिकों की संख्या १५० से अधिक है। डाक्टरों को प्रति व्यक्ति के अनुसार फीस देने का समझौता हो जाने के कारण अहमदाबाद में भी योजना शुरू कर दी गई है। यहाँ योजना शुरू करने से डेढ़ लाख कर्मचारियों तथा लगभग ४$\frac{1}{2}$ लाख परिवारों को लाभ पहुँचेगा।

आरम्भ से लेकर अब तक इस योजना की प्रगति इस प्रकार है—

कर्मचारी राज्य बीमा योजना की प्रगति

राज्य	क्षेत्र	चालू होने की तिथि
दिल्ली	दिल्ली राज्य	२४ २ ५२
पजाब	पजाब क्षेत्र—अमृतसर, लुधियाना, अम्बाला, जाल धर, अब्दुल्लापुर, जगाधरी तथा बटाला	१७ ५ ५३
उत्तर प्रदेश	कानपुर	२४ २ ५२
	आगरा, लखनऊ तथा सहारनपुर	१५ १ ५६
मध्य प्रदेश	ग्वालियर, इन्दौर, उज्जैन, रतलाम तथा बरहनपुर	२३ १ ५५ २ ६ ५६
राजस्थान	जयपुर, जोधपुर, बीकानेर, लखेरी पाली (मारवाड़) तथा भलिवारा	२ १२ ५६
बम्बई	विशाल बम्बई (Greater Bombay)	३ १० ५४
	नागपुर	१६ ७ ५४
	अकोला तथा हिंगनघाट	२७ ५ ५६
पश्चिमी बङ्गाल	कलकत्ता शहर तथा हावड़ा जिला	१४ ८ ५६
आन्ध्र	हैदराबाद, सिकन्दराबाद	१ ५ ५५
	विजयवाड़ा, विशाखापटनम, चित्तीवलसा, गुन्तूर नैलीपली, मङ्गलगिरी, तथा इलैरू	६ १० ५५
मद्रास	कोयम्बटूर	२३ १ ५५
	मद्रास शहर	२० ११ ५५
	मदुराई, अम्बासमुद्रम तथा तूतीकोरीन	२७ १० ५६
केरल	एलीपी, क्विलन, त्रिचूर, इर्नाकुलम अलवायी	१६ ६ ५६
मैसूर	बगलौर	२६ ७ ५८

कर्मचारी बीमा योजना की १९५८-५९ की रिपोर्ट

कर्मचारी राज्य बीमा निगम की १९५८-५९ की रिपोर्ट के अनुसार इस योजना के अन्तर्गत कर्मचारियों को मिलने वाली चिकित्सा सुविधाएँ इस वर्ष से उनके परिवारों को भी मिलनी शुरू हो गयीं। सबसे पहले ये निर्णय मैसूर राज्य ने किये। उसके बाद अन्य राज्यों ने भी उसका अनुसरण किया और इस तरह इस वर्ष आन्ध्र प्रदेश, असम, बिहार, मध्य प्रदेश, मैसूर, पजाब और राजस्थान, इन सात राज्यों में २ लाख २६ हजार परिवारों को चिकित्सा सुविधाएँ दी जाने लगीं। इस निर्णय से कर्मचारियों के अतिरिक्त जिन लोगों को लाभ पहुँचा, उनकी संख्या ६ लाख ३३ हजार है।

१९५८-५९ म ७८,००० अतिरिक्त कर्मचारियों को योजना म शामिल

किया गया और इस तरह वर्ष के अन्त तक योजना से लाभ उठाने वाले कर्मचारियों की संख्या लगभग १४ लाख ७४ हजार तक पहुँच गई। इस वर्ष १२ राज्यों तथा केन्द्र-शासित क्षेत्र दिल्ली के ७६ केन्द्रों में योजना चल रही थी, जब कि पिछले वर्ष के अन्त तक दिल्ली तथा १० राज्यों में योजना के कुल ६० केन्द्र थे। डाक्टरों को प्रति व्यक्ति के अनुसार फीस देने का समझौता हो जाने के कारण अहमदाबाद में भी योजना शुरू कर दी गई। वहाँ योजना शुरू करने से डेढ़ लाख कर्मचारियों तथा लगभग चार लाख परिवारों को लाभ पहुँचेगा।

१९५८-५९ में मालिकों से अंशदान के रूप में २ करोड़ ९० लाख २४ हजार ८१ रुपये और कर्मचारियों से ३ करोड़ ८१ लाख ११ हजार ६५० रुपये प्राप्त हुए। पिछले वर्ष मालिकों से २ करोड़ ८३ लाख ८१ हजार ३२८ रुपये और कर्मचारियों से ३ करोड़ ५२ लाख ३५ हजार ६५४ रुपये प्राप्त हुए थे।

मार्च सन् १९५९ के अन्त तक इस योजना के अन्तर्गत १२ राज्यों के ७६ केन्द्रों में १४.१४ लाख मजदूर आ चुके थे।

भविष्य के लिए प्रावधान कोष
(Provident Fund Scheme)

कर्मचारियों को वृद्धावस्था में जब वे अवकाश ग्रहण कर लेते हैं सुख-सुविधा पहुँचाने के लिए सरकार का ध्यान इस दिशा में कुछ सावधान करने के लिए आकर्षित किया गया। सरकार ने इस चीज की आवश्यकता को अनुभव किया और सर्वप्रथम सन् १९४८ में 'कोल माइन्स प्रॉविडेन्ट फण्ड एक्ट' पास किया। इस एक्ट के अनुसार बंगाल और बिहार के श्रमिकों को मई १९४७ से तथा उड़ीसा और मध्यप्रदेश के श्रमिकों को अक्टूबर १९४७ से लाभ प्राप्त होने लगा। यही योजना बाद में आसाम, विंध्य प्रदेश, हैदराबाद तथा राजस्थान में लागू कर दी गई।

'कोल माइन्स प्रॉविडेन्ट फण्ड' योजना की सफलता को देखकर अन्य उद्योगों में श्रमिकों को लाभ पहुँचाने के उद्देश्य से मार्च १९५२ में 'एम्प्लाईज प्रॉविडेन्ट फंड एक्ट' पास किया गया। इस एक्ट के अनुसार यह योजना १ नवम्बर १९५२ से छः उद्योगों—सीमेंट, सिगरेट, इंजीनियरिंग, लोहा एवं स्पात, कागज तथा वस्त्र—में लागू की गई है। यह योजना उन कारखानों में लागू होगी, जहाँ ५० या ५० से अधिक श्रमिक कार्य करते हों तथा इन कारखानों का निर्माण हुए ३ वर्ष से अधिक हो गये हों। मई १९५८ तक इस एक्ट के अन्तर्गत केवल निजी उद्योग ही आते थे।

श्रमिकों को प्रॉविडेन्ट फंड उनकी १ वर्ष की नौकरी पूरी होते ही मिलने लगता है। इस योजना से लाभ केवल वे ही श्रमिक उठा सकते हैं, जिनकी आधारभूत (basic) आय ३००) माह से अधिक न हो। नियोक्ता अपना व श्रमिकों का चन्दा

जमा करते हैं। श्रमिक तथा नियोक्ता श्रमिकों के वेतन का पृथक् पृथक् ६¼% देते हैं। यदि श्रमिक चाहे तो अपने वेतन का ८⅓% भी जमा कर सकते हैं। श्रमिक को मालिक द्वारा जमा किये गये भाग का आधा तथा २० वर्ष बाद पूरा भाग लेने का अधिकार है।

योजना का प्रबन्ध

इस योजना का प्रबन्ध केन्द्रीय प्रन्यासी मण्डल द्वारा होता है। इस मण्डल में केन्द्रीय तथा राज्य सरकारों के प्रतिनिधि होते हैं। योजना को कार्यान्वित करने के लिए २० क्षेत्रीय कार्यालय खोले गये हैं। प्रत्येक क्षेत्र का एक क्षेत्रीय कमिश्नर होता है। यह कमिश्नर केन्द्रीय प्रावीडेन्ट कमिश्नर के अधीन होता है। क्षेत्रीय कमिश्नर की सहायता के लिए निरीक्षक तथा अन्य कर्मचारी होते हैं।

प्रॉवीडेन्ट फण्ड्स (एमेंडमेंट) एक्ट १९५८

प्रावीडण्ड फण्ड एक्ट १९५२ प्रारम्भ में केवल ६ अनुसूचित उद्योगों में ही लागू होता था। मई १९५८ में इस एक्ट में संशोधन हो जाने के कारण यह एक्ट १८ मई १९५८ से सरकार के स्वामित्व वाले अथवा किसी स्थानीय सरकार (local authority) के स्वामित्व वाले अनुसूचित उद्योगों पर भी लागू हो गया है, यदि इन उद्योगों में ५० या ५० से अधिक श्रमिक कार्य करते हों तथा इन उद्योगों की स्थापना हुए ३ वर्ष से अधिक हो गये हों। इसके अतिरिक्त यह एक्ट समाचार पत्रीय संस्थानों (News Paper Establishments) में भी, जहाँ कि २० या २० से अधिक लोग काम करते हों पर भी लागू कर दिया गया है।

यह एक्ट १९५२ के आरम्भ में केवल छः अनुसूचित उद्योगों पर ही लागू होता था परन्तु उपरोक्त संशोधन के अनुसार यह ३० जून १९५६ को ३८ नये उद्योगों में लागू था, जिसके अन्तर्गत ६८१५ कारखानों के २४·६ लाख श्रमिक लाभान्वित हो रहे थे।

संशोधित योजना के अनुसार श्रमिक अब अपने वेतन का ८⅓% तक जमा कर सकते हैं, यद्यपि मालिकों का चन्दा ६¼% ही रहेगा। विस्तार का क्रम बराबर जारी है। कालान्तर में छोटे प्रतिष्ठानों में भी इसको लागू किया जायगा। शीघ्र ही इसके अन्तर्गत व्यावसायिक संघ जैसे कार्यालय, बैंक, बीमा कम्पनी, सिनेमा, होटल तथा बड़ी-बड़ी दूकानें सभी आ जायेंगे।

कोयला खान मजदूरों को प्रॉवीडेन्ट फण्ड लाभ

कोयला खान मजदूरों की प्रावीडेन्ट फन्ड योजना की रिपोर्ट में बताया गया है कि १९५७-५८ में असम, प० बंगाल, बिहार, मध्यप्रदेश, उड़ीसा, बम्बई, आन्ध्रप्रदेश और राजस्थान के ३ लाख ४२ हजार कोयला खान मजदूरों को इस योजना से लाभ पहुँचा है।

१९५७-५८ में कोयला खान प्राविडेन्ट फण्ड में २ करोड़ ४० लाख रुपये से भी अधिक धन जमा हुआ।

१९५७-५८ में अवकाश प्राप्त करने वाले मजदूरों को तथा मजदूरों के नामजदों को फण्ड में से २० लाख ४० हजार रुपया दिया गया।

उत्तर-प्रदेश में वृद्धावस्था पेन्शन

दिसम्बर, १९५७ से उत्तर प्रदेश सरकार एक वृद्धावस्था पेंशन योजना को कार्यान्वित कर रही है जिसके अन्तर्गत उन ७० वर्ष से ऊपर के वृद्धों को मासिक पेंशन दी जाती है जिनकी आय का न तो कोई जरिया हो और न उनकी देख-भाल करने वाले रिश्तेदार ही हों।

अध्ययन मण्डल—वी० के० मेनन कमेटी के नाम से प्रसिद्ध अध्ययन मण्डल ने निम्न सिफारिशें की हैं :—

(i) वर्तमान श्रमिक प्राविडेन्ट फण्ड योजनाओं को एक वैधानिक पेन्शन योजना में परिणत किया जाय।

(ii) श्रमिक राज्य बीमा योजना के अन्तर्गत मिलने वाले नकद लाभों में वृद्धि की जाय।

(iii) श्रमिक राज्य बीमा योजना तथा श्रमिक प्राविडेन्ट फण्ड योजना को मिला कर दोनों का प्रशासनिक उत्तरदायित्व सम्हालने के लिए केवल एक केन्द्रीय संस्था की स्थापना की जाय।

(iv) बेरोजगारी लाभ चालू किये जायें।

आलोचनात्मक अध्ययन—उपरोक्त सुविधाओं में निम्नलिखित दोष हैं :—

(i) चिकित्सा का बहुत ही अपर्याप्त प्रबन्ध है।

(ii) ये लाभ केवल कुछ स्थानों के विशेष प्रकार के श्रमिकों को ही मिलते हैं।

(iii) वृद्धावस्था पेन्शन तथा बेरोजगारी लाभ की कोई व्यवस्था नहीं है। १.५ करोड़ मजदूरों में से केवल १५ लाख ही अभी तक श्रमिक राज्य बीमा योजना के अन्तर्गत आ पाये हैं।

(iv) सभी योजनाओं के अन्तर्गत कृषि मजदूरों को बाहर रखा गया है। उन्हें क्यों शामिल नहीं किया गया है?

उपसंहार

उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट है कि हमारी राष्ट्रीय सरकार सामाजिक सुरक्षा को देश में शीघ्रातिशीघ्र लाने का प्रयत्न कर रही है। सरकार का यह भगीरथ प्रयत्न वास्तव में सराहनीय है क्योंकि एशिया में भारत ही एक ऐसा देश है जहाँ कि सर्वप्रथम इतने

बृहद् स्तर पर इस ओर कार्य किया गया है। अनुभवहीनता तथा असहकारिता के कारण इस योजना को पूर्ण सफलता से कार्यान्वित करने में अनेक अड़चनों का सामना करना पड़ रहा है और योजना में वास्तव में कुछ दोष भी आ गये हैं। जितने लाभ प्रदान किये जाते हैं वे देश की आवश्यकताओं के अनुपात में बहुत कम हैं। परंतु इससे हम लोगों को अधीर एवं असन्तुष्ट नहीं होना चाहिए बल्कि योजना को सफल बनाने के लिए यथासम्भव योग-दान देना चाहिए। भूतपूर्व श्रम मंत्री श्री खन्डू भाई देसाई (बम्बई) ने एक बार ७ अक्टूबर १९५४ को अपने भाषण में कहा था कि, "सामाजिक सुरक्षा का पथ लम्बा और दुरूह हो सकता है किन्तु आर्थिक एवं सामाजिक संघर्षों को रोकने और एक संतुष्ट एवं सम्पन्न राज्य की स्थापना के लिए यही एक पथ है।" वास्तव में यह कथन किन्हीं अंशों में सत्य प्रतीत होता है।

प्रश्न

1 To what extent is social security guaranteed to industrial and agricultural workers in India ? How would you proceed to extend its scope *(Agra, 1956)*

2 Write short notes on

1. Maternity Benefits
2. Health Insurance in India
3. Workmen's Compensation Act
4. Provident Fund Act



अध्याय २२

श्रमिक-संघ आन्दोलन

(Trade Union Movement)

आर्थिक उन्नति और राजनीतिक स्वतन्त्रता के लिए विश्व का विशाल जन समुदाय जो संघर्ष कर रहा है वह मानव इतिहास में सम्भवतः सबसे अधिक फलदायक प्रयत्न सिद्ध होगा। इस संघर्ष का एक पहलू ऐसा भी है, जिसे अभी व्यापक रूप से मान्यता नहीं दी गई है; और वह है—इसमें श्रमिक संघों का महत्वपूर्ण योग। समस्त एशिया, अफ्रीका और लैटिन अमेरिका में लोग अपनी आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक अवस्थाएँ सुधारने के लिए श्रमिक संघों का अधिकाधिक मुँह ताक रहे हैं।

एशिया, अफ्रीका और लैटिन अमेरिका के बहुत से देशों में जनता पर सबसे ज्यादा प्रभाव श्रमिक संघों का है। उदाहरणार्थ प्रेसीडेंट एनक्रूमा और उनकी 'कान्वेंशन पीपुल्स पार्टी' ने सन् १९५४ में घाना में घरेलू राजनैतिक कारण तथा कम्युनिज्म के प्रभाव से उसकी रक्षा करने के लिए मजदूर आन्दोलन का सफलतापूर्वक सहयोग प्राप्त किया। जॉन टेटेगा का जीवन इस बात का साक्षी है कि विश्व के अनेक उदीयमान राष्ट्रों के मामलों में श्रमिक संघ महत्वपूर्ण भूमिका अदा करते हैं। अनेक राज्यों में तो श्रमिक संघ राजनैतिक सत्ता को सँभाले हुए हैं।

वर्तमान युग में सर्व साधारण 'मजदूर संघ' अथवा 'श्रमिक संघ' से भली भाँति परिचित है। ऐतिहासिक दृष्टिकोण से यद्यपि ये संस्थाएँ बहुत प्राचीन नहीं हैं परन्तु फिर भी इनका महत्व अपेक्षाकृत अधिक तीव्र गति से बढ़ गया है।

श्रम संगठन आन्दोलन के अध्ययन से ज्ञात होता है कि इनका विकास मनुष्य की आर्थिक क्रियाओं में जटिलता (complexity) आ जाने के कारण हुआ है। श्रम संगठनों का निर्माण समाज के व्यक्तियों के समूहों द्वारा अपने सदस्यों के आर्थिक जीवन को विपरीत समूहों के विभिन्न हितों (opposing groups with diverse interest) के विरुद्ध, सुखमय बनाने के उद्देश्य से किया जाता है। मशीन युग का प्रादुर्भाव, बड़े-बड़े कारखानों, शीघ्र तथा उन्नत यातायात तथा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के विस्तृत हो जाने के कारण, कर्मचारी, नियोक्ता (employer) तथा व्यापारी के लिए व्यक्तिगत रूप में आर्थिक जीवन की समस्याओं का सामना करना बहुत कठिन हो

गया। इन समस्याओं का उचित रूप से मुकाबला करने तथा उन्हें सुलझाने के उद्देश्य से उसे ऐसे व्यक्तियों का सयोजन करना पड़ा जिनके सम्मुख इसी प्रकार की समस्याएँ होती थीं। इस उद्देश्य से निर्मित 'सयोजन' को "श्रम सगठन" (trade unions) कहते हैं।

श्रम सगठन का अर्थ साधारण रूप से श्रमिकों या कर्मचारियों के परिषदों (associations) से लगाया जाता है परन्तु वास्तव में इस (trade union) के अन्तर्गत अन्य सभी वर्गों (classes) के कर्मचारी, मालिकगण (employer) स्वतन्त्र कारीगर तथा व्यापारी गण भी आते हैं।

श्रम सगठन की परिभाषा

सिडनी तथा वेब्ज महोदय के अनुसार श्रम संगठन "एक श्रमजीवियों की स्थायी परिषद (association) है जो उनके श्रमिक जीवन की क्रियाओं को बनाये रखने तथा सुधारने का उद्देश्य रखता है।"* यह परिभाषा अपूर्ण एवं बहुत पुरानी है क्योंकि श्रम सगठनों के अन्तर्गत केवल 'मजदूर' (wage earners) 'वेतन पाने वाले' (salary earners) तथा 'शुल्क पाने वाले' (fee earners) ही नहीं आते बल्कि सभी वर्ग के कर्मचारीगण आते हैं। इसके अतिरिक्त इन सगठनों (Unions) का ध्येय केवल कार्य करने की दशाओं को बनाये रखना या सुधारना ही नहीं बल्कि जीवन को सुखमय बनाने की अन्य क्रियाओं की ओर ध्यान देना भी है।

श्री 'शिव्ररनिक' (Shirernik) के शब्दों में "श्रम सगठन एक ऐसा सगठन है जिसका मुख्य ध्येय कर्मचारियों तथा मालिकों के आपसी सम्बन्धों का नियमन करना है।"† यह परिभाषा यद्यपि पहली परिभाषा से उत्तम है परन्तु फिर भी पूर्ण रूप से श्रम सगठन के कार्यों का समावेश नहीं करती है। राज्य (states) तथा श्रम सगठन के सम्बन्ध भी आधुनिक युग मे महत्वशील होते जा रहे हैं।

तीसरी परिभाषा 'ब्रिटिश ट्रेड यूनियन्स एक्ट १६१३' ने दी है। इसके अनुसार श्रम सगठन 'वे सयोजन हैं जिनका मुख्य उद्देश्य कर्मचारियों तथा मालिकों, या कर्मचारियों और कर्मचारियों या मालिकों तथा मालिकों के मध्य सम्बन्धों का नियमन (regulation) करना, किसी व्यापार या व्यवसाय पर नियन्त्रण सम्बन्धी शर्तें लगाना,

---

*"A continuous association of wage earners for the purpose of maintaining and improving the conditions of their working lives" *Sidney and Webbs*, History of Trade Unionism

†"An organisation the chief aim of which is the regulation of mutual relations between the workers and the employers"—*Shirernik*

तथा सदस्यों के लाभों की व्यवस्था करना है।"* यह परिभाषा उपरोक्त दोनों परिभाषाओं से उन्नत होते हुए भी आधुनिक श्रम संगठनों के सम्पूर्ण कार्यों को दर्शाने में असमर्थ है। अतः श्रम संगठन की आधुनिक परिभाषा इस प्रकार दी जा सकती है।

"एक श्रम संगठन मजदूरी, वेतन तथा शुल्क प्राप्तकर्ताओं का एक स्थायी स्वतः (voluntary) परिषद (association) है जिसके उद्देश्य (अ) श्रमिकों तथा मालिकों के सम्बन्धों को सुदृढ़ रखना, उनको (श्रमिकों) नौकरी तथा अन्य लाभों को दिलाना, (ब) आपसी मामलों में दोनों समूहों (group) तथा राज्य के मध्य सम्बन्धों को नियन्त्रित (Regulate) करना, तथा (स) कर्मचारियों को उत्पादकों के लाभ तथा प्रबन्ध में भाग दिलाना है।"

उपरोक्त परिभाषाओं से स्पष्ट है कि श्रम संगठनों का मुख्य ध्येय श्रमिकों का संगठन कर सामूहिक रूप से सौदा करने तथा रहन-सहन के स्तर को ऊँचा उठाने के लिए प्रयत्न करना है, श्रमिकों और मिल मालिकों में मेल मिलाप का अच्छा सम्बन्ध उत्पन्न करना और औद्योगिक शान्ति स्थापित करना है, तथा अपने सदस्यों की सामाजिक तथा आर्थिक उन्नति करना, प्रचार करना उनके अधिकारों का रक्षा करना, श्रम सम्बन्धी समस्याओं का अध्ययन तथा मजदूरों के नैतिक सुधार करना है। श्रमिक संघ मजदूरों को शिक्षित बनाते हैं। उनमें संगठन तथा अनुशासन की भावना उत्पन्न करते हैं जिससे श्रम नियम बनाने में सुविधा हो जाती है।

श्रम संगठनों के कार्य तथा उद्देश्य

प्रारम्भ में श्रम संगठनों का निर्माण सुरक्षात्मक (Defensive) आधार पर हुआ था। ये संगठन मालिकों द्वारा निर्धारित कठिन कार्य करने की दशाओं, कम मजदूरी, अधिक काम करने के घंटों इत्यादि के विरुद्ध श्रमिकों की रक्षा करते थे। परन्तु शनैः शनैः उनके कार्यों में विकास हुआ और आजकल ये राजनैतिक पार्टियों के रूप में आकर देश की बागडोर सम्हालते हैं। उदाहरणार्थ इंगलैंड में १९४५ में श्री क्लीमेंट एटली (Cleament Attlee) के नेतृत्व में लेबर पार्टी ने गवर्नमेन्ट बनाई थी।

श्रम सङ्गठन के मुख्य कार्य निम्नलिखित हैं—

(१) श्रमिकों को नौकरी सुरक्षित बनी रहने का विश्वास दिलाना

श्रम सङ्गठनों की स्थापना का मुख्य उद्देश्य है कि ये अपने सदस्यों को उनकी

---

*Those combinations whose principal objectives are the regulation of relations between workmen and masters, or between workmen and workmen, or between masters and masters, for the imposing of restrictive conditions on the conduct of any trade or business, and also the provision of benefits for members."

—*The British Trade Unions Act*, 19130

नौकरी या रोजगार (employment) सुरक्षित बनी रहने का विश्वास दिलावें। सगठनों का जीवन अस्तित्व (Existence) ही उनके इस उद्देश्य की सफलता पर निर्भर करता है। अपनी माँगों को पूरा करने के लिए वे हड़ताल (strike) वगैरह करते हैं। यदि वे अपनी इस चाल में असफल हो जाय तो भविष्य में कोई भी मजदूर इसका सदस्य नहीं बनेगा। क्राफ्ट यूनियन्स (Craft Unions), जनरल यूनियन्स (General Unions) तथा अन्य में इंडास्ट्रियल यूनियन्स सभी इस समस्या पर ध्यान देते हैं।

(२) सदस्यों को उचित वेतन दिलाना तथा उसकी वृद्धि करना

श्रम सङ्गठनों का द्वितीय प्रमुख उद्देश्य यह है कि वे अपने सदस्यों के वेतन को दिलायें, उसमें वृद्धि कर तथा उसको बनाये रक्खें। श्रम सङ्गठन इस उद्देश्य की पूर्ति व्यक्तिगत या सामूहिक रूप से करते हैं। व्यक्तिगत रूप से तात्पर्य है जब श्रमिक और मालिक के बीच उनकी मजदूरी, कार्य करने की शर्तें तथा अन्य सम्बन्धित कार्यों के बारे में सीधा समझौता हो जाता है। इसके विपरीत यदि यह सम्भव नहीं होता है तो सभी सदस्य अपने सगठन (union) की अध्यक्षता में सामूहिक रूप से समझौता करने के लिए अपने मालिक को विवश कर देते हैं। ऐसा अधिकतर वे हड़तालों के माध्यम से करते हैं।

(३) सदस्यों की कार्यक्षमता को बढ़ाना

श्रम सगठनों का तृतीय उद्देश्य अपने सदस्यों की काम करने की दशाओं में सुधार करके उनकी कार्य-क्षमता में वृद्धि करना है। कार्य करने की दशाओं में सुधार से तात्पर्य कार्य करने के घटों (working hours) को कम कराना, कारखाने के अन्दर सफाई इत्यादि कराना, मशीनों से होने वाली दुर्घटनाओं के विरुद्ध सुरक्षात्मक कार्य कराना तथा सवेतन छुट्टियाँ दिलाने का प्रयास करना आदि से है।

(४) सदस्यों की वैधानिक कार्यवाही करने के लिए आर्थिक सहायता देना।

(५) सदस्यों की सामाजिक आर्थिक, मानसिक एवं शारीरिक उन्नति करना।

(६) सदस्यों के जीवन स्तर को ऊँचा उठाने के लिए उनके हेतु चिकित्सा सम्बन्धी, शिक्षा सम्बन्धी, वाचनालय तथा आमोद प्रमोद की सुविधाओं का प्रबन्ध करना।

(७) सदस्यों में एकता की भावना का निर्माण करना।

(८) सदस्यों में मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध स्थापित करना।

(९) सदस्यों एवं मालिकों (Employers) के मध्य मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध बनाये रखना जिससे आपसी कलह कम से कम हो।

(१०) ऐसे सदस्यों की सहायता करना जो अपनी जीविका को बीमारी, दुर्घटना, वृद्धावस्था तथा अन्य किसी कारण से खो देते हैं।

श्रमिक संघ आन्दोलन का भारतवर्ष में इतिहास

वर्तमान 'श्रमिक संघों' का उद्गम भारतवर्ष में १६१८ में 'मद्रास टेक्सटाइल लेबर यूनियन' (Madras Textile Labour Union) के निर्माण से हुआ। परन्तु इससे पूर्व भी यत्र-तत्र श्रमिकों को सगठित करने के प्रयास किये गये थे। सन् १८७५ में श्री सोराबजी शाहपुर जी बगाली ने सर्व प्रथम सरकार का ध्यान औद्योगिक श्रमिकों (जिसमें बच्चे व स्त्रियाँ भी सम्मिलित थीं) की सोचनीय दशा की ओर आकृष्ट करने का प्रयास किया। सन् १८८४ में श्री नारायण मेघजी लोखण्डे ने फैक्ट्री आयोग को एक स्मृति पत्र देने के लिए बम्बई में श्रमिकों को सगठित किया। सन् १८६० में श्री लोखण्डे तथा उनके साथियों ने गवर्नर जनरल को एक पेटीशन प्रस्तुत किया जिसमें श्रमिकों को पर्याप्त सुरक्षा प्रदान करने के लिए प्रार्थना की गई। इसी वर्ष श्री लोखण्डे ने बम्बई के १०००० मिल मजदूरों को सगठित किया और सामूहिक रूप से 'बाम्बे मिल ओनर्स एसोसियेशन' से सप्ताह में एक दिन छुट्टी देने के लिए माँग की। यह माँग सफलतापूर्वक पूरी कर दी गई। इस विजय के फलस्वरूप 'बाम्बे मिल हैंडस् एसोसियेशन' (Bombay Mill-hands Association) का निर्माण श्री लोखण्डे के नेतृत्व में हुआ। श्री लोखण्डे ने "देश बन्धु पत्रिका" (journal) का प्रकाशन भी प्रारम्भ कर दिया। यह सगठन देश का प्रथम सगठन होते हुए भी सुदृढ नहीं था। इसका न तो कोई निश्चित सविधान (constitution) था और न चन्दा देने वाले सदस्यों की सख्या ही निश्चित थी।

तब १८६७ में इण्डियन कम्पनीज एक्ट के अन्तर्गत रजिस्टर्ड "दी अमैलगमेटेड सोसायटी ऑव रेलवे सरवेन्ट्स" (रेल कर्मचारियों की सम्मिलित समिति) का निर्माण हुआ। उसके बाद "दी कलकत्ता प्रिन्टर्स यूनियन" (१६०५), "दी बाम्बे पोस्टल यूनियन" १६०७ तथा बम्बई की "दी कामगर हितवर्धक सभा" (१६१०) में बनाई गयीं। इसके अतिरिक्त बगाल में "दी मोहम्मडन एसोसियेशन" तथा "इण्डियन लेबर यूनियन" बने थे। सामाजिक कार्यकर्त्ताओं द्वारा श्रमिकों की दशाओं में सुधार कराने के लिए ही इन सब सस्थाओं का निर्माण हुआ था। ये अधिकाशतया भाई-चारे की भावना से प्रेरित थीं तथा इनका सगठन ढीला था।

श्रम सघ आन्दोलन वास्तव में हमारे देश में महायुद्ध के बाद ही शुरू हुआ। इस युद्ध से श्रमिकों में वर्गीय जागृति हुई। युद्ध की तथा युद्धोपरात तेजी से मूल्यों तथा जीवन की लागत में वृद्धि तथा उद्योगपतियों को भारी भारी लाभ हुए, पर श्रमिकों की आय में काफी वृद्धि नहीं हुई। इसके कारण १६१८-२२ में मजदूरी बढ़ाने के लिए कई हड़तालें हुईं। अतः विभिन्न औद्योगिक केन्द्रों में एक बड़ी सख्या में श्रम या व्यापार सघों का निर्माण हुआ। देश में आम आर्थिक सकट, कांग्रेस का असहयोग तथा

औद्योगिक श्रम सगठन के कारण अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनों में मनोनीत प्रतिनिधियों को चुनकर भेजने के लिए एक केन्द्रीय श्रम सगठन की आवश्यकता से श्रम सघों के निर्माण में प्रोत्साहन मिला तथा युद्धोपरात काल मे १६२० के बाद से उनके सघीकरण (Federation) को प्रेरणा मिली। इससे श्रम सघ आन्दोलन को भारत में बल मिला।

उपनिवेशों में भारतीय श्रम के साथ भेद भाव तथा रूसी क्रान्ति के फलस्वरूप समानवादी तथा साम्यवादी विचारों के प्रचार द्वारा श्रम तथा राजनैतिक नेताओं ने श्रमिकों में एक नई जागृति तथा चुनौती की भावना पैदा कर दी थी। पूरे ससार में श्रमिकों में नये विचारों, नये भावों तथा नई उमगों व लहरों के कारण खलबली उत्पन्न हो गई थी। इस प्रकार की सामाजिक जागृति, राजनैतिक हलचल तथा क्रान्तिकारी विचारधारा से ओत प्रोत वातावरण में श्रमिक वर्ग पुरानी सामाजिक बुराइयों एव नई आर्थिक असमर्थताओं में और अधिक रहने के लिए प्रस्तुत नहीं था।

उपरोक्त तथ्यों के परिणामस्वरूप आन्दोलन द्रुत गति से देश में वर्तमान काल में बढ़ा। पहला श्रम सघ (औद्योगिक) मद्रास में जुलाई १६१८ में वस्त्र मिल के श्रमिकों ने बनाया और १६१६ में इसकी सख्या ४ हो गई, जिनके २०,००० सदस्य थे। मद्रास के नेतृत्व का बम्बई ने अनुकरण किया, जहाँ १६१७-१६ में औद्योगिक अशान्ति के कारण कई सघ बनाये गये। पर इनमें से अधिकाश केवल "हड़ताल समितियाँ" थीं न कि व्यापार या श्रम सघ। इनके सगठन में बल नहीं था, फलस्वरूप ये बहुत जल्दी समाप्त हो जाते थे तथा आपस में एकता नहीं थी। अन्तर्राष्ट्रीय श्रम सम्मेलनों में प्रतिनिधियों को चुनकर भेजने की आवश्यकता से एकीकरण को प्रेरणा मिली और आन्दोलन गतिशील बना।

स्थानीय सघों का सगठन कर उनका प्रसंघीकरण किया गया और उसके बाद प्रान्तीय प्रसघों का निर्माण हुआ। एकीकरण के आन्दोलन के फलस्वरूप १६२० में एक अखिल भारतीय श्रम सघ काग्रेस (A I T. U C) का जन्म हुआ और उसके बाद से इसकी वार्षिक बैठक होती रही है। इसके द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय श्रम सघ के साथ व्यापार सघों का जन्म स ही सम्बन्ध स्थापित हो गया है। १६२० में ही महात्मा गाधी द्वारा अहमदाबाद में सूत कातने वालों का सघ तथा बुनकरों के सघ बनाये गये और १६२१ तक लगभग २० व्यापार संघ हो गये थे।

इसी बीच १६२० में बकिंघम मिलों में मजदूरी बढ़ाने के वास्ते श्रमिकों को हड़ताल करने के लिए बहकाने के कारण मद्रास श्रम सघ के विरुद्ध मद्रास के उच्च न्यायालय द्वारा विरोधाज्ञा (injunction) जारी हुई। इससे श्रम नेताओं को यह सकेत मिला कि श्रम सघों की रक्षा तथा रजिस्ट्री के लिए सनियम स्वीकृत करना परमावश्यक था। श्री एन० एम० जोशी के ५ वर्षों के अनवरत तथा अथक प्रयत्न के बाद १६२६ में व्यापार संघ विधान (Trade Union Act) स्वीकृत हुआ।

सन् १६२६ में इसके नागपुर के अधिवेशन में ट्रेड यूनियन कांग्रेस में फूट हो गई और तीन दलों का निर्माण हुआ—कम्युनिस्ट, नरमदल (लिबरल) तथा शेष। "श्रम पर शाही आयोग का बायकाट नहीं किया जायगा" इसी प्रश्न पर मतभेद हो गया। अस्तु श्री एन० एम० जोशी के नेतृत्व में राष्ट्रीय ट्रेड यूनियन फेडरेशन तथा गरम दलों के द्वारा अखिल भारतीय ट्रेड यूनियन कांग्रेस का निर्माण हुआ और थोड़े से संघ इन दोनों में से किसी के साथ सम्बद्ध नहीं हुए। गरमदल तथा वाम पक्षियों (विरोधियों) का प्रभाव बढ़ता जा रहा था। इसके कारण १६३१ में फिर फूट हुई जब देशपाण्डे तथा रानादिवे के नेतृत्व में गर्म तथा उग्र वाम पक्ष ने अखिल भारतीय लाल ट्रेड यूनियन कांग्रेस (A I R. T U C) का निर्माण किया। कम्युनिस्टों तथा आग उगलने वाले विरोधियों की कार्यवाहियों के फलस्वरूप ३१ नेतृत्व करने वाले व्यक्तियों की गिरफ्तारी हुई तथा प्रसिद्ध मेरठ षड्यन्त्र मुकदमा चला। जाँच की वियरसन अदालत ने बम्बई में १६२८ की कपड़ा मिलों में हड़ताल कराने तथा उसे जारी रखने का 'गिरनी कामगर यूनियन' पर आरोप लगाया गया। पारस्परिक फूट तथा इन विध्वंसकारी कार्यवाहियों के कारण श्रम संघ एकता समिति १६३१ में बनी और 'प्लेट फार्म एकता' प्राप्त हुई।

सन् १६३५ में दो मुख्य विरोधी दलों, अर्थात् कांग्रेस तथा फेडरेशन की एक संयुक्त समिति बनाई गई जिसके प्रयासों के फलस्वरूप अप्रैल १६३८ में एकता प्राप्त हुई तथा १६४० में फेडरेशन कांग्रेस में सम्मिलित कर दिया गया। इस एकता प्राप्ति का श्रेय श्री वी० वी० गिरि को था। इस अस्थायी समझौते में १६४६ में संशोधन हुआ।

किन्तु सितम्बर १६४० में बम्बई के अधिवेशन में युद्ध प्रयत्न के साथ तटस्थता के प्रश्न पर एक बार फिर फूट हुई और श्री एम० एन० राय तथा जमुनादास मेहता के नेतृत्व में ट्रेड यूनियन फेडरेशन का निर्माण हुआ। इसका मुख्य कार्यालय दिल्ली में खुला। कलकत्ता के नाविकों के संघ (Seamen's Union) ने कांग्रेस से अपने को विलग कर दिया। इसके अतिरिक्त १६३७ में महात्मा गांधी की देखरेख में ट्रेड यूनियन कांग्रेस के बाहर हिन्दुस्तान मजदूर सेवा संघ श्रमिकों को संगठित कर रहा था। १६४२ से कतिपय चोटी के यूनियन कांग्रेस नेताओं की देख रेख तथा पर्यवेक्षण में अखिल भारतीय राष्ट्रीय ट्रेड यूनियन कांग्रेस (A. I N T U C) श्रमिकों के दुखों के कारणों का प्रतिकार बिना हड़तालों के, बातचीत, मेल मिलाप, मध्यस्थता तथा निपटारा के शान्ति पूर्ण ढंगों से करना चाहती है।

उसके बाद दिसम्बर १६४८ में कांग्रेस से विच्छेद होने पर सोशलिस्ट पार्टी या समाजवादी दल ने हिन्द मजदूर सभा का सूत्रपात किया। इस फूट ने भारत

मैं श्रमिक सघवाद (*trade unionism*) को और भी निर्बल बना दिया है। अभी हाल में इन दोनों दलों ने अखिल भारतीय राष्ट्रीय ट्रेड यूनियन काग्रेस (A I N T U C) तथा एक दूसरे प्रतिनिधि स्वरूप पर संदेह प्रकट किया था। १९४६ में मुख्य श्रम कमिश्नर की जाच से यह प्रकट हुआ था कि श्रम की सबसे अधिक प्रतिनिधित्व करने वाली संस्था अखिल भारतीय ट्रेड यूनियन काग्रेस थी, परन्तु हाल में सरकार ने आजकल भारतीय राष्ट्रीय ट्रेड यूनियन काग्रेस (A I N T UC) को भारत में श्रमिकों की सबसे अधिक प्रतिनिधि संस्था घोषित किया है। १९४९ के पहले सप्ताह में श्री के० टी० शाह तथा श्री एम० के० बोस के नेतृत्व में यूनाइटेड ट्रेड यूनियन काग्रेस (U T U C) बनाई गई।

भारतवर्ष में श्रमिक संघों की वर्तमान स्थिति

निम्न तालिका देश के प्रमुख श्रम संघों से सम्बद्ध (*affiliated*) संघों व उनके सदस्यों की संख्या को निर्देशित करती है। (अगले पृष्ठ में देखिये)।

भारतवर्ष में कुल रजिस्टर्ड श्रम-संघों तथा उनके सदस्यों की संख्या सन् १९५७ ५८ तक इस प्रकार थी

	केन्द्रीय श्रम सघ		राजकीय श्रम-सघ	
	१९५६ ५७	१९५७ ५८	१९५६ ५७	१९५७ ५८
(१) रजिस्टर्ड संघों की संख्या	१७३	२२३	८,१८०	६,८२२
(२) रिटर्न्स भेजने वाले संघों की संख्या	१०२	१३६	४,३९७	५,३८४
(३) रिटर्न्स भेजने वाले संघों के सदस्यों की संख्या	१,८७,२९५	३,४३,१६६	२१,८६,४६५	२६,७२,८८२

पर इन संस्थाओं के फैसले तथा निर्णय दोनों दलों पर अनिवार्य रूप से लागू नहीं होते थे और इनके निर्णय की शैली व क्रम अनिर्णयात्मक थे। अतः इस विधान में श्रम आयोग की सिफारिशों को कार्यान्वित करने के लिए १९३५ में संशोधन किये गये, इसे १९३४ में स्थायी बना दिया गया तथा १९३८ में पुन संशोधन हुआ। नये विधान में अवैध हड़ताल की परिभाषा में परिवर्तन हुआ, जनोपयोगी सेवाओं की सूची में आभ्यन्तरिक स्टीमर, ट्रामगाडी तथा शक्ति पूर्ति करनेवाली संस्थाओं को सम्मिलित किया गया तथा प्रान्तीय सरकारों द्वारा समझौता अफसरों की नियुक्ति की व्यवस्था की गई।

* Source India 1960 P 383

प्रमुख श्रम संघों की संख्या एवं सदस्यता*

विभिन्न संगठन	सम्बद्ध संघों की संख्या			सदस्यता		
	१६५६	१६५७	१६५८	१६५६	१६५७	१६५८
(१) इण्डियन नेशनल ट्रेड यूनियन कांग्रेस (I N T U.C.)	६१७	६७२	७२७	६,७१,७४०	६,३४,१८५	६,१०,२२१
(२) हिन्द् मजदूर सभा	११६	१३८	१५१	२०३७६८	२११६६०	१६२६४२
(३) आल इण्डिया ट्रेड यूनियन कांग्रेस (A I.T U C)	५५८	—	८०७	४२२८५१	——	५१७५६७
(४) यूनाइटेड ट्रेड यूनियन कांग्रेस (U T U C)	२३७	—	१८२	१५६१०६	——	८२,००१
योग	१५३१	—	१८६७	१७५७४६८	——	१७२२७३१

श्रम-संघ अधिनियम १६२६

श्रम संघ अधिनियम १६२६ में पास हुआ। इस अधिनियम के अंतर्गत श्रम संघों के रजिस्ट्रेशन का प्राविधान किया गया, परन्तु यह अनिवार्य न था। अर्थात् रजिस्ट्री कराना श्रम संघों की इच्छा पर है। यदि किसी श्रम संघ की प्रबन्धक समिति के ५०% सदस्य उसके आधीन इकाइयों में नियोजित (employed) हों, तो कोई ७ या अधिक सदस्य रजिस्ट्रेशन के लिए आवेदन कर सकते हैं।

एक रजिस्टर्ड श्रम संघ को अपना नाम तथा उद्देश्य घोषित करना होता है, सदस्यों की सूची रखनी होती है, अपने कोषों का नियमित वार्षिक आडिट या अंकेक्षण कराना पड़ता है। इस अंकेक्षण का विवरण, नियमों की एक प्रति, पदाधिकारियों तथा प्रबन्धक समिति के सदस्यों की सूची इत्यादि श्रम संघों के रजिस्ट्रार को भेजना पड़ता है।

इस अधिनियम में १६२८ तथा १६४२ में कुछ परिवर्तन किये गये थे।

---

*India 1960, p 383

श्रम-संघ अधिनियम १९४७

श्रम-संघ अधिनियम १९२६ में श्रम संघों की नियोक्ताओं (employers) द्वारा मान्यता के सम्बन्ध में कोई प्रावधान नहीं था। अतः श्रम संघ अधिनियम में, १९४७ में विशेष संशोधन करके, श्रम-संघों को नियोक्ताओं द्वारा मान्यता प्रदान करने के सम्बन्ध में आयोजन किया गया है। इसके अनुसार किसी श्रम अदालत की आज्ञा पर एक रजिस्टर्ड प्रतिनिधि श्रम संघ की नियोक्ताओं द्वारा मान्यता अनिवार्य कर दी गई है।

प्रारम्भ में श्रम-संघों में रजिस्ट्रेशन के प्रति अरुचि व उदासीनता थी और वे वार्षिक विवरण अंकेक्षित हिसाब व सूची आदि देने से हिचकिचाते थे। ऐसी मान्यता प्राप्त श्रम-संघ की प्रबन्धक समिति नियोक्ताओं के साथ नियोजन (employment) की शर्तों को निश्चित कर सकती है तथा वर्कशापों में सूचनाएँ दिखा सकती हैं।

इस अधिनियम को कार्यान्वित करने का भार राज्य की सरकारों पर ही है जिसके लिए वे रजिस्ट्रारों की नियुक्ति करती हैं।

इस अधिनियम के दोषों को दूर करने के लिए भारतीय संसद में १९५० में एक विधेयक पेश किया गया था, जिसका उद्देश्य पूर्व के अधिनियमों को ठीक, ठोस व शुद्ध करना था। पर पुरानी संसद में वह विधेयक स्वीकृत नहीं हो सका। १९५२ में भारतीय श्रम सम्मेलन में उचित नियम बनाने पर विचार किया गया था। इसके अनुसार संघों के रजिस्टरों की जाँच के लिए निरीक्षकों की नियुक्ति सदस्यों की सूची, चन्दे की रकम व नियम, सदस्यों के पृथक् करने की दशाओं, उन पर अनुशासन, बाहरी लोगों की संख्या का नियमन व नियन्त्रण, पंजीयन को रद्द करने की अवस्थाओं, संघों की उद्योगपतियों द्वारा अनिवार्य मान्यता तथा श्रम न्यायालयों द्वारा उनकी मान्यता की शर्तें, नियोजन की दशाओं पर मान्य संघ की प्रबन्ध समिति द्वारा उद्योगपतियों से सौदा करने के अधिकार तथा उद्योगपतियों पर जुर्माना करने की दशाओं आदि की व्यवस्था की गई थी। भारतीय राष्ट्रीय श्रम संघ कांग्रेस के अतिरिक्त अन्य सब श्रम दलों ने इसकी तीव्र आलोचना तथा घोर विरोध किया था।

श्रम संघ तथा द्वितीय पंचवर्षीय योजना

श्रम संघों के दोषों को दूर करने के लिए श्रमिकों के प्रतिनिधिक प्रयोग (सन् १९५५) ने कुछ सुझाव दिये हैं जो कि द्वितीय पंचवर्षीय योजना में कार्यान्वित किये जायेंगे :—

(१) श्रम-संघों में बाहरी व्यक्तियों को सम्मिलित न होने देना।

(२) श्रम संघों को आवश्यक शर्तों के पूरा करने पर वैधानिक मान्यता देना।

(३) श्रम सघों के कार्यकर्त्ताओं की उत्पीड़न (victimization) से रक्षा करना, तथा

(४) श्रम-सघों की व्यक्तिगत साधनों द्वारा उन्नति कराना।

प्रश्न

1 Survey briefly the development of trade union movement in India What are the main obstacles to its healthy growth

(Patna, 1955, Rajputana, 1953)

2 What are the basic functions of a trade union ? Do you think our trade unions have discharged their functions satisfactorily?

(Agra, 1954)



अध्याय २३

श्रम सन्नियम

(Labour Legislation)

उद्योगों और उनमें काम करने की दशाओं पर पिछली सदी के लगभग अन्त तक राजकीय नियन्त्रण नहीं था और फैक्टरी विधान के अभाव में नियोजक या मिल मालिक मजदूरों का और विशेषतः स्त्रियों और बच्चों का शोषण करने में स्वतन्त्र थे। फैक्टरियों में काम करने के घण्टे लम्बे थे, मजदूरियाँ बहुत कम थीं, फैक्टरियों में काम करने की दशाएँ अमानुषिक तथा असन्तोषजनक थीं, बच्चों के रोजगार की उम्र का कोई नियम नहीं था, साप्ताहिक या सामयिक छुट्टियाँ नहीं थीं और बिना घेरे हुए मशीनों की दुर्घटना या अंग भंग से फैक्टरी में श्रमिकों के रक्षार्थ कोई प्रबन्ध नहीं था। यद्यपि औद्योगीकरण की दौड़ में भारत ने देर में भाग लिया तो भी भारतीय उद्योगपतियों ने फैक्टरियों की बुराइयों को दूर करने के लिए पाश्चात्य देशों के अनुभव से कोई लाभ नहीं उठाया। अभागे मजदूरों के स्वास्थ्य तथा शक्ति पर गन्दे अहातों तथा घनी बस्तियों का बड़ा बुरा प्रभाव पड़ रहा था।

आधुनिक उद्योग धन्धों की असहनीय बुराइयों से कुछ भारतीय सार्वजनिक कार्यकर्ताओं तथा मानववादियों का हृदय पिघल गया और फैक्टरियों के श्रमिकों की दयनीय अवस्थाओं में सुधार करने के लिए उन्होंने आंदोलन प्रारम्भ किया। श्रमिकों के प्रति उनकी सहानुभूति जाग्रत हुई। इसके बाद सूती कपड़े की मिलों के विकास पर लंकाशायर के उद्योगपतियों में ईर्ष्या उत्पन्न हुई। उनका विचार था कि फैक्ट्री विधान के अभाव में भारतीय बाजार में भारतीय उद्योगपति को उनके साथ प्रतिस्पर्द्धा करने में लाभ था। अतः उन्होंने भारतीय सूती मिलों पर फैक्ट्री कानून लागू करने के लिए सरकार पर दबाव डाला। अस्तु १८७५ में बम्बई सरकार ने एक फैक्ट्री आयोग की नियुक्ति की जिसकी सिफारिशों के फलस्वरूप १८८१ में पहला फैक्ट्री एक्ट बना। फिर भी महायुद्ध तक श्रमिक सन्नियम का कोई महत्व नहीं था। उसके बाद देश के बढ़ते हुए औद्योगीकरण, श्रमिक वर्गों में वर्गीय जागृति की वृद्धि तथा उनको अपनी शक्ति के महत्व का ज्ञान, भारत सरकार का अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संघ तथा उसके प्रस्तावों के प्रति उत्तरदायित्व की स्वीकृति तथा कांग्रेस मन्त्रिमंडलों के आगमन के कारण अभी हाल में एक बड़ी संख्या में श्रम सन्नियम बनाये गये।

फैक्टरी अधिनियम
(Factory Acts)

१८८१ का अधिनियम

फरवरी सन् १८८१ में प्रथम भारतीय फैक्टरी ऐक्ट पास हुआ, जिसकी मुख्य बातें इस प्रकार हैं—

(१) यह नियम उन फैक्टरियों पर लागू था जिनमें कम से कम १०० व्यक्ति नौकर थे तथा शक्ति का उपयोग किया जाता था।

(२) इसके अनुसार ७ वर्ष से कम आयु वाले बच्चों को नौकर नहीं रक्खा जा सकता था, तथा ७ और १२ वर्षों के बच्चों से १ घण्टे प्रति दिन विश्राम के साथ ६ घण्टे प्रतिदिन से अधिक काम नहीं लिया जा सकता था। माह में कुल ४ छुट्टियाँ दी जा सकती थीं।

अस्तु इसमें बच्चों की सीमित रक्षा की व्यवस्था थी पर वयस्क (adult) स्त्री, पुरुषों को कोई लाभ नहीं हुआ।

१८९१ का अधिनियम

स्त्री-श्रमिकों के नियमन के अभाव और बच्चे मजदूरों की रक्षा के लिए ऐक्ट के अपर्याप्त प्राविधानों के कारण १८८१ के विधान में संशोधन की माँग हुई। उधर लंकाशायर के सूती मिल मालिकों ने और कठिन नियमन के लिए भारत सचिव पर दबाव डाला। बम्बई फैक्टरी आयोग (१८८४) तथा फैक्टरी श्रम आयोग (१८९०) की सिफारिशों पर १८९१ में दूसरा फैक्टरी एक्ट पास हुआ जिसकी मुख्य विशेषताएँ यह थीं—

(१) यह एक्ट उन फैक्टरियों पर लागू किया गया जिसमें कम से कम ५० व्यक्ति काम करते थे तथा शक्ति का प्रयोग होता था।

(२) इसके अनुसार ९ साल से कम आयु वाले बच्चों को नौकर नहीं रखा जा सकता था तथा ९ और १४ वर्ष के बीच वाले बच्चों के काम के घण्टे ७ कर दिये गये।

(३) स्त्रियों के लिए प्रति दिन १॥ घण्टे विश्राम के साथ काम के अधिकतम् घण्टे ११ निश्चित किये गये थे तथा ८ बजे रात से लेकर ५ बजे सबेरे तक उनको काम पर नहीं लगाया जा सकता था।

(४) पुरुष मजदूरों के लिए १ साप्ताहिक छुट्टी एवं ½ घण्टे अवकाश की व्यवस्था की गई।

इन मुख्य प्राविधानों के अतिरिक्त और अधिक हवादार तथा साफ-सुथरी फैक्टरियों की और उनमें भीड़ रोकने की भी व्यवस्था करनी थी।

१६११ का अधिनियम

फैक्टरियों म बिजली के लग जाने तथा प्लेग के कारण काम के घंटों म भारी वृद्धि हो गई थी और स्वदेशी आन्दोलन की तेजी ने फैक्टरियों में काम करने की परिस्थितियों को और भी बिगाड़ दिया। लंकाशायरने फिर दबाव डाला और समाचार-पत्रों तथा कुछ प्रगतिशील मिलमालिकों ने काम के घंटों म कमी तथा काम की दशाओं में सुधार करने की माग की। फलस्वरूप ब्रिटिश सरकार ने १६०६ मे 'फ्रियरस्मिथ समिति' तथा १६०७ म एक फैक्टरी श्रम आयोग को फैक्टरियों मे काम की दशाओं की जाच करने क लिए नियुक्त किया। इन्होंने १६०८ मे अपनी रिपोर्ट मे पहले के फैक्ट्री नियमों को रद्द करने की सिफारिश की क्योंकि इनका उल्लघन किया गया था।

इनकी सिफारिशों पर १६११ का फैक्टरी विधान स्वीकृत हुआ जिसमें पहली बार वयस्क पुरुषों के काम के घंटों को निश्चित किया गया। इसकी मुख्य धाराएँ निम्नलिखित हैं—

(१) फैक्ट्री श्रम आयोग ने पुरुषों के काम के घंटों म कमी तथा स्त्रियों के काम के घंटों को ११ से बढ़ाकर १२ कर देने की सिफारिश की थी, पर स्त्रियों के काम के घंटे ११ ही रहे, हालाकि अधिकतम स्वीकृत घंटो तक काम करने वालों के लिए १॥ घंटे के विश्राम म कमी कर दी गई थी।

(२) टेक्सटाइल (कपड़े बनाने वाली फैक्ट्रियों) म प्रति दिन काम के घंटे पुरुषों के लिए १२ थे।

(३) बच्चों के लिए काम के घंटे ६ निश्चित किये गये।

(४) यह विधान ४ महीने से कम के लिए काम करने वाली अस्थायी (मौसमी) फैक्टरियों पर भी लागू किया गया।

(५) स्वास्थ्य तथा सुरक्षा के लिए और व्यापक प्राविधानों की व्यवस्था की गई तथा आयु प्रमाण रखना अनिवार्य कर दिया गया।

१६२२ का नियम

१६२० म बम्बई मिल मालिकों के सघ ने वायसराय को भारत म सब कपड़ा बनाने वाली फैक्टरियों म काम के घंटों को १२ की अपेक्षा १० पर ही निश्चित सीमित कर देने के लिए एक 'स्मारक' पेश किया। अत १६११ के विधान को सशोधित किया गया और १६२२ में एक सगठित फैक्ट्री एक्ट स्वीकृत हुआ। इसमें मुख्य बातें निम्नलिखित थीं—

(१) यह ऐक्ट २० व्यक्तियों को नौकर रखने तथा शक्ति प्रयोग करने वाले सब सस्थानों पर लागू किया गया।

(२) १२ वर्ष के नीचे की आयु वाले बच्चों को, और एक दिन में दो फैक्टरियों में काम लगाने से रोक लगा दी गई।

(३) १२ और १५ वर्ष के बीच वाले बच्चों के लिए ४ घण्टे के काम के बाद ३॥ घण्टे के विश्राम के साथ काम के घण्टे ६ निश्चित किये गये।

(४) वयस्कों के लिए काम के घण्टे प्रतिदिन ११ तथा ६ दिनों के प्रत्येक सप्ताह के लिए ६० नियत किये गये।

(५) स्त्रियों और बच्चों को ७ बजे शाम से प्रातः ५½ बजे तक काम पर लगाने से मना कर दिया गया।

(६) प्रान्तीय सरकारों को १० व्यक्तियों को काम पर लगाने वाली संस्थाओं पर चाहे व शक्ति का प्रयोग करती हों या नहीं, इस नियम को लागू करने, तथा खुली हवा व कृत्रिम उपायों द्वारा ठंडक करने के स्तरों या प्रमापों के निश्चित करने का अधिकार भी उनको दिया गया।

(७) प्रत्येक ६ घण्टे काम के बाद एक घण्टे का विश्राम या ५ घण्टे लगातार काम करने के बाद श्रमिकों के अनुरोध पर दो आधे आधे घण्टे के विश्राम की व्यवस्था की गई।

(८) नियत समय से अधिक काम (overtime work) के लिए साधारण मजदूरी की कम से कम १¼ गुनी मजदूरी नियत की गई।

१६२३, १६२६ और १६३१ के संशोधन विधानों द्वारा केवल छोटे सुधार तथा शासन सम्बन्धी परिवर्तन किये गये।

१६३४ का नियम

अब तक के फैक्टरी विधानों की त्रुटियों तथा मजदूर नेताओं और सामाजिक सुधारकों द्वारा भारत में श्रम सन्नियम को प्रगतिशील देशों के स्तर पर लाने के लिए आंदोलन के कारण १६२६ में 'भारत में श्रम पर शाही आयोग' (Royal Commission on Labour in India) की नियुक्ति हुई। फैक्टरियों में नियोजन (नौकरी) तथा काम की दशाओं में सुधार के लिए इस आयोग ने बड़ी महत्वपूर्ण सिफारिशें कीं जिनमें से अधिकांश की भारत सरकार द्वारा स्वीकृति के फलस्वरूप फैक्टरी विधान को बिल्कुल नये ढंग से तैयार कर एक संगठित फैक्टरी एक्ट १६३४ में स्वीकृत हुआ जो १ जनवरी १६३५ से लागू हुआ। इसकी मुख्य बातें इस प्रकार हैं —

(१) इस विधान ने स्थायी तथा सामयिक फैक्टरियों में विभेद किया।

(२) १५ और १७ वर्षों के बीच की आयु के युवकों का एक तृतीय वर्ग बनाया गया।

(३) सामयिक फैक्टरियों में प्रति दिन काम के ११ घण्टे तथा प्रति सप्ताह ६०

प्रौढ़ो क लिए न्यों न त्या बने रहे, परन्तु स्थायी फैक्टरियों में कुछ अपवादों न अर्थ प्रति दिन १० घण्टे तथा प्रति सप्ताह ५४ घण्टे ही काम करना था।

(४) १२ तथा १५ वर्षों न नीचे की आयु वाले बच्चों क लिए प्रति दिन केवल ५ ही घण्टे काम करन क थ।

(५) इन फक्टारयो म स्त्रियों क काम क घण्टो को प्रतिदिन ११ से घटा कर १० कर दिया गया तथा ७ बजे शाम स प्रातः ६ बज क बीच म स्त्रियों तथा बच्चों को काम पर लगाने म रोक लगा दी गई।

(६) यह वि ान सभी उद्योग धन्धो पर लागू किया गया था जिनम २० स अधिक श्रमिक शक्ति द्वारा काम करत थ।

१६४८ का फैक्टरी विधान

औद्योगिक अन्य ना नियमों का सशोधित करने तथा उन्ह सगठित करने की दृष्टि स १६४८ का फक्टरी विधान स्वीकृत हुआ और १ अप्रैल १६४६ स लागू किया गया। इस नये विधान की मुख्य मुख्य बातें निम्नलिखित हैं—

(१) क्षेत्र—१० या इसस अधिक श्रमिकों को नियोजित करने वाली तथा शक्ति क प्रयोग करने वाल सब औद्योगिक संस्थाओ म तथा २० या उससे अधिक श्रमिकों को काम पर लगाने वाले पर बिजली का उपयोग करने वाले कारखानों पर यह नियम लागू होता है। इसी प्रकार बिना चलने वाली फैक्टरियों तथा सामयिक (मौसमी) कारखानों को भी इस नियम म शामिल कर दिया गया है तथा भारतीय संघ म संयुक्त होने वाली रियासतों तक म इसक क्षेत्र का विस्तार कर दिया गया है।

(२) रजिस्ट्री तथा लाइसेन्स—सब फैक्टरियों को राज्य सरकारों स रजिस्ट्री कराना तथा लाइसेन्स (अनुज्ञा पत्र) लेना अनिवार्य है और इसके लिए उन्ह नियम बनाने का अधिकार दिया गया है। प्रत्यक फैक्टरी क अधिकारी (मालिक) को उस पर अधिकार करने या उस प्रयोग म लाने क कम स कम १५ दिन पूर्व फैक्टरी का नाम, मालिक का नाम तथा पता, प्रयोग की शक्ति की मात्रा इत्यादि लिख कर देना पड़ता है। किसी फैक्टरी क निर्माण तथा विस्तार क लिए पूर्व स्वीकृति लेना अनिवार्य है।

(३) स्वास्थ्य सुविधाएँ—श्रमिकों क स्वास्थ्य क निमित्त प्रत्यक फैक्टरी को साफ सुथरा रखना होता है। कूड़ा करकट जमा नहीं होने देना चाहिए। इसक लिए विधान भाड़ू लगाने, धूल साफ कराने, छपाई कराने, चूने स रंगाने इत्यादि, प्रत्यक कमरे म प्रकाश व शुद्ध वायु क लिए रोशनदान और श्रमिकों क आराम की उचित दशाओं क लिए आवश्यक तापमान की व्यवस्था का आयोजन करता है। १ अप्रैल १६४६ को स्थित फैक्टरियों म प्रत्यक श्रमिक क काम करने क लिए ३५० घन फीट तथा नई फैक्टरियों म ५०० घन फीट स्थान का होना आवश्यक है। पीने क लिए जल, प्रकाश, संडासों तथा पेशाबघरों व थूकदानों इत्यादि का प्रबन्ध होना चाहिए।

(४) सुरक्षा—श्रमिकों की सुरक्षा के लिए मशीनों के घेरे या बाड़े, नई मशीनों पर नक्स लगाने तथा भारी वजन व मशीनों के उठाने के लिए क्रेनों, लिफ्टों, हायस्टा इत्यादि की समुचित व प्रचुर व्यवस्था होनी चाहिए। स्त्री तथा तथा बच्चों को खतरनाक मशीनों से दूर रखना चाहिए। आग, भयानक धुआं, विस्फोटक या शीघ्र जलने वाली धूल, गैस इत्यादि के विरुद्ध श्रमिकों की रक्षा के लिए सावधानीपूर्ण उपायों की व्यवस्था करना भी आवश्यक है।

(५) श्रमहितकारी कार्य—श्रमिकों के हितार्थ स्नानगृहों, कपड़ा धोने की सुविधाएँ, बैठने के कमरों, प्रथम चिकित्सा के सामानों, विश्राम आश्रमों, कपड़े रखने तथा भीगे कपड़े सुखाने की सुविधाओं, बाल पोषणशालाओं (Creches) या बच्चों की देख भाल की व्यवस्थाओं का समुचित आयोजन होना चाहिए। ५०० या इससे अधिक श्रमिकों से काम कराने वाली प्रत्येक फैक्टरी को श्रमहितकारी अधिकारियों को नियुक्त करना आवश्यक है तथा २५० से अधिक श्रमिकों से काम कराने वाली फैक्टरियों में कैंटीनों या भोजन के कमरों की व्यवस्था करना अनिवार्य है।

(६) काम के घण्टे तथा छुट्टियाँ—काम करने के दैनिक घण्टे ६ तथा साप्ताहिक ४८ तथा अधिकतम समय का फैलाव (spread over) १०½ घण्टे नियत किये गये हैं। ५ घण्टे के अनवरत या लगातार काम के बाद प्रत्येक श्रमिक को कम से कम आधे घण्टे का विश्राम अवश्य देना चाहिए। दैनिक तथा तिमाही नियत समय से अधिक काम की सीमाएँ निर्धारित कर दी गई हैं और उनके लिए भुगतान मजदूरियों की साधारण दरों की दुगुनी राशि पर निश्चित किया गया है। स्त्रियों तथा बच्चों को ७ बजे शाम के बाद और ६ बजे प्रात के पूर्व काम में नहीं लगाया जा सकता, पर राज्य सरकारों को विशेष दशाओं में इन सीमाओं में हेर फेर करने का अधिकार प्राप्त है। सप्ताह में एक दिन की छुट्टी भी अनिवार्य कर दी गई है। बच्चों के काम के घण्टे ४½ से अधिक नहीं हो सकते। प्रत्येक प्रौढ़ श्रमिक को पूरे १२ मास अनवरत या लगातार एक फैक्टरी में काम करने पर आगामी १२ मासों की अवधि में मजदूरी तथा मँहगाई भत्ता के साथ न्यूनतम (कम से कम) १० दिन की अवधि तक छुट्टी मिलेगी। इस छुट्टी की अवधि की गणना पहले के १२ महीनों में उनके द्वारा प्रत्येक २० दिनों के काम करने पर १ दिन की दर पर की जायगी तथा बच्चों को काम के प्रत्येक १५ दिनों के लिए १ दिन की दर पर कम से कम १४ दिनों की छुट्टी मिलेगी।

(७) आयु तथा योग्यता का प्रमाण—१४ वर्षों से कम आयु वाले बच्चों को किसी फैक्टरी में नौकर नहीं रखा जा सकता। १४ वर्ष पूरा कर लेने वाले बच्चों तथा १८ वर्ष से कम आयु वाले युवकों को १८ वर्ष पूरा कर लेने पर अपनी आयु तथा योग्यता का एक प्रमाणपत्र सिविल सर्जन से लेकर फैक्टरी सञ्चालक को देने पर ही काम में लगाया जा सकता है। यह प्रमाणपत्र प्रति वर्ष देना पड़ता है।

(८) बीमारी की सूचना—अधिनियम की अनुसूची या परिशिष्ट म उल्लिखित रोगों म किसी एक रोग से श्रमिक को ग्रसित होने पर फैक्टरी सचालक को एक विशेष प्रपत्र तथा सीमित समय म उपयुक्त अधिकारियों को सूचित करना पड़ता है तथा ऐसे श्रमिक न किसी डाक्टर द्वारा जाच की लिखित रिपोर्ट फैक्टरियों क प्रमुख निरीक्षक को भेजना पड़ता है।

६ जुर्माना—ऐक्ट के प्राविधानों को भग करने पर जुर्माना की व्यवस्था की गई है। यदि श्रमिक जानबूझ कर मशीनों को खराब करता है तो कारागार का दण्ड दिया जा सकता है और यदि थूकदानों के अतिरिक्त वह अन्य स्थानों में थूकता है तो उसे जुमाना देना पड़ता है।

बागान श्रम नियम (Plantation Labour Laws)

भारत म सगठित उद्योग का प्रथम स्वरूप बागान था। श्रम की समस्याओं तथा बागान मालिकों और श्रमिकों क पारस्परिक सम्बन्धों के नियमन के लिए १६०१ में असम श्रम तथा प्रवास नियम पास किया गया था। इसक अनुसार असम के चाय बागानों क लिए लाइसेन्सदार ठेकेदारा द्वारा मजदूरों की भरती होती थी। इन ठेकों में दासता निहित रहती थी अत स्वाभिमानी भारतीयों द्वारा इसकी तीव्र आलोचना तथा विरोध हुआ। परन्तु १६०८ तथा १६१५ म इसम सशोधन हुआ और लाइसेन्सदार ठेकेदारों द्वारा भरती की पद्धति को रद्द कर दिया गया।

१६१५ क विधान ने कुलीगिरी की प्रथा को खत्म किया पर यह तभी प्रभावपूर्ण हुआ जब १६२६ और १६२७ म कामगरों क ठेका भग विधान (Breach of Contra t Act) को रद्द कर दिया गया। ठेकेदारों द्वारा भरती के स्थान पर अब श्रम बोर्ड (Labour Board) क अभिकर्ताओं द्वारा भरती होने लगी। केन्द्रीय तथा प्रान्तीय सरकारों ने बागानों क श्रमिकों की दशाओं की पूरी जाच-पड़ताल १६२६ २८ म की तथा १६२६ म श्रम पर शाही आयोग ने भी ऐसा ही किया। इस आयोग की सिफारिशों पर भारत सरकार ने १६३२ म 'चाय जिला प्रवासी श्रम विधान' पास किया जो १ अक्तूबर १६३३ से लागू किया गया। इसकी प्रमुख बातें निम्न प्रकार हैं—

(१) पहले के बागान विधान का उद्देश्य बागान मालिकों के हितों की रक्षा तथा कुलियों की भरती करने म उन्हें अधिकाधिक सहायता देना था पर इस नये विधान का उद्देश्य असम चाय बागानों म प्रवास करने वाले श्रमिकों की भरती पर नियन्त्रण करना तथा बागानों तक श्रमिकों के पहुचने की व्यवस्था म उचित सहायता देना था।

(२) केन्द्रीय सरकार क नियन्त्रण क अधीन प्रान्तीय सरकारों को प्रवासियों के भेजने म सहायता पर, या उनकी भरती तथा भेजने दोनों पर नियन्त्रण करने का अधिकार था। अनुचित रोक-थाम से प्रवास को बचाने का भी उद्देश्य था। अधिकृत अभि-

कर्ताओं द्वारा ही निर्देशित मार्गों से असम रंगरूटों को भेजना था तथा मार्ग में उनके भोजन, विश्राम, दवा, डाक्टरों द्वारा सेवा इत्यादि का पर्याप्त प्रबन्ध करना आवश्यक था।

(३) सोलह वर्ष से कम आयु के लड़कों को बिना उनके माता पिता या संरक्षक के साथ और विवाहित स्त्रियों को बिना उनके पतियों की आज्ञा के असम प्रवास के लिए नहीं भेजा जा सकता था।

(४) प्रत्येक सहायता प्राप्त प्रवासी को प्रथम तीन वर्ष की नौकरी के बाद मालिक के खर्चे पर अथवा पहुँचने के एक वर्ष के अन्दर भी बीमारी के कारण, उसकी शक्ति के अनुकूल काम की अनुपयुक्तता या अन्य पर्याप्त कारणों से नियन्त्रक द्वारा मालिक के पैसों से वापस लौटने का अधिकार था।

खानों के सन्नियम

खानों में काम की दशाओं को नियमन करने के लिए भारतीय खानों का पहला विधान १६०१ में बनाया गया, जिसमें काम के घण्टों का नियमन नहीं था, केवल सुरक्षा तथा निरीक्षण के लिए प्राविधान था। वाशिंगटन कान्फ्रेंस की सिफारिशों के कारण १६२३ में इस विधान का संशोधन किया गया और वह १ जुलाई १६२४ से लागू किया गया। इसकी प्रमुख बातें निम्न प्रकार थीं—

(१) इस विधान में पहले पहल काम के घण्टों की सीमा निर्धारित की गई, जो ६ दिन के प्रति सप्ताह में भूमि पर काम करने वालों के लिए ६० घण्टे तथा भूमि के भीतर काम करने वालों के लिए ५४ घण्टे थी।

(२) १३ वर्ष से कम आयु वाले बच्चों को भूमि के भीतर काम पर लगाने से रोक दिया गया।

१६२३ के विधान में भूमि के भीतर औरतों के रोजगार पर कोई रोक-थाम नहीं लगायी गई थी। अतः भूमि के भीतर काम करने वाले श्रमिकों की कुल संख्या की ४५% स्त्रियाँ थीं। लोक समिति के इसके विरुद्ध होने तथा आन्दोलन के कारण भारतीय सरकार ने १६२३ के ऐक्ट के अन्तर्गत १६२६ में कुछ नियमों को पास कर भूमि के भीतर कुछ खानों में औरतों को काम पर लगाने की मनाही कर दी थी। पर बङ्गाल, बिहार और उड़ीसा, मध्यप्रदेश की कोयले की खानों तथा पंजाब की नमक की खानों में औरतों का नियोजन प्रति वर्ष धीरे-धीरे उनकी संख्या में कमी कर, १ जुलाई १६३६ से बन्द होने को था। वे भूमि के ऊपर तथा खुले मैदान में खानों में काम कर सकती थीं।

शाही श्रम आयोग की सिफारिशों तथा १६३१ की अन्तर्राष्ट्रीय श्रम कान्फ्रेंस द्वारा कोयले की खानों में काम के घण्टों पर मसविदा कनवेंशन (Draft Conven-

tions) की स्वीकृति के फलस्वरूप भारतीय खानों का (संशोधन) विधान १६३५ में पास हुआ, तथा अक्तूबर १६३५ से लागू हुआ। इसकी प्रमुख प्रमुख धाराएँ इस प्रकार थीं—

(१) इसके अनुसार कोई व्यक्ति खानों में सप्ताह में ६ दिन से अधिक काम नहीं कर सकता।

(२) भूमि पर काम करने वाले श्रमिकों को साप्ताहिक ५४ घण्टे या दैनिक १० घण्टे तथा भूमि के भीतर काम करने वालों के लिए दैनिक ६ घण्टे काम के निश्चित हुए। भूमि पर ६ घण्टे काम के बाद १ घन्टे विश्राम के साथ काम के समय का फैलाव १२ घण्टे से अधिक नहीं हो सकता।

(३) १५ वर्ष से कम आयु वाले बच्चों को खानों में नहीं लगाया जा सकता और १७ वर्ष से कम आयु वालों को योग्यता या बिना डाक्टरी प्रमाणपत्र दिये काम नहीं दिया जा सकता।

१६३६, १६३७, १६४५ के अध्यादेश तथा १६४६ के विधान में इन नियमों में छोटे मोटे संशोधन किये गये। १६४५ के अध्यादेश द्वारा खानों में शिशु पालनों की व्यवस्था की गई थी, पर १६४७ में इसे एक्ट की धाराओं में सम्मिलित कर दिया गया। १६४६ के विधान में खान के मुँह पर या उसके समीप पुरुषों तथा स्त्रियों के लिए पृथक पृथक स्नानगृहों की अनिवार्य व्यवस्था का प्रावधान किया गया था। दुर्घटनाओं के कारण शारीरिक चोटें तथा काम से ७ दिन से अधिक के लिए गैरहाजिरी का निर्देशित ढंग में उल्लेख करना अनिवार्य है।

आग बुझाने तथा अन्य रक्षार्थ उपायों की व्यवस्था १६४७ के कोयले की खानों (स्टोविंग) में संशोधन एक्ट द्वारा की गई थी। इसके लिए एक Coal Mines Stowing Fund स्थापित किया गया है।

दी कोल माइन्स प्राविडेन्ट फण्ड एण्ड बोनस एक्ट १६४८

यह ऐक्ट कोयले की खानों के श्रमिकों को प्राविडेन्ट फण्ड के लाभ की व्यवस्था करता है। इसके लिए खान मालिक श्रमिकों के वेसिक वेतन के प्रति रुपये पर एक आना देता है तथा श्रमिक उतना ही अपने वेतन से कटवाता है। इसमें इन श्रमिकों को बोनस देने की भी एक बोनस योजना शामिल है। एक 'कोल माइन्स लेबर हाउसिंग बोर्ड' भी स्थापित किया गया है जो भारत सरकार की स्वीकृति से श्रमिकों के लिए फण्ड से घर बनाने की योजना बनाता है और उसे कार्यान्वित करता है। १६४६ में एक संशोधन के द्वारा जनरल फण्ड से श्रमिकों के हितकारी कार्य सम्बन्धी अस्पताल या मातृ-गृह आदि बनाना भी इस बोर्ड के अधीन कर दिये गये हैं।

अभ्रक की खानों में काम करने वाले श्रमिकों के लिए 'दि माइका माइन्स

लेबर वेलफेयर फण्ड एक्ट' १९४६ के द्वारा एक श्रम हितकारी कोष की स्थापना की गई जिसे अभ्रक के निर्यातों पर मूल्यानुसार अधिकतम् ६¼% का निर्यात कर लगा कर निर्माण किया गया।

इन अधिनियमों का विस्तारपूर्वक अध्ययन श्रम कल्याण वाले अध्याय में किया।गया है।

पारिश्रमिक (मजदूरी) का भुगतान नियम १९३६

मजदूरों की मजदूरी देने में देर तथा बड़ी आनाकानी की जाती थी जिसके कारण उन्हें अनेक बड़ी बड़ी कठिनाइयाँ झेलनी पड़ती थीं तथा अपने खर्चे के लिए उन्हें बड़ी ऊँची ब्याज दरों पर ऋण उधार लेना पड़ता था। मशीनों तथा सामान की क्षति के लिए तथा काम में टूट या गैरहाजिरी और बुरे आचरण के लिए, तथा भरती करने वालों की दस्तूरी के लिए, कटौती और आर्थिक दण्ड देना पड़ता था। प्रत्येक उद्योग व औद्योगिक केन्द्र में भुगतान की अवधि भी भिन्न भिन्न थी। अत मजदूरी भुगतान को नियमित तथा नियन्त्रित करने के लिए भारत सरकार ने १९३६ में इस विधान को पास किया जो २८ मार्च १९३७ से लागू हुआ।

यह फैक्टरियों तथा रेलों पर प्रारम्भ किया गया था पर प्रान्तीय सरकारों को अधिकृत किया गया था कि वे इसे ट्रामों, मोटर बसों, डाकों, डाकों तथा जेटियों, स्टीमरों, खानों तथा पत्थर की खाना, तेल के स्रोतों, बागानों, कारखानों तथा उत्पादन, निर्माण, यातायात व बिक्री सम्बन्धी अन्य सस्थाओं पर भी लागू कर सकें। औसतन २० या उससे अधिक व्यक्तियों को काम में लगाने वाले रेल के ठेकेदारों, कोयले की खानों, बागानों, मोटर बसों आदि म काम कराने वालों पर भी यह अधिनियम लागू किया गया है। मद्रास, कुर्ग, बिहार, उड़ीसा, पश्चिमी बगाल, पजाब, असम, उत्तर प्रदेश, दिल्ली इत्यादि राज्यों में यह अधिनियम लागू है।

२०० रुपया प्रति मास से कम वेतन वालों पर यह लागू होता है और पारिश्रमिक भुगतान की अधिकतम् अवधि एक मास निश्चित की गई है। सब वेतन (बोनस इत्यादि जो द्रव्य के रूप में आँके जाते हैं) नगद रुपयों या नोटों में ही चुकाया जाना चाहिए। १००० से कम मजदूरों वाले कारखानों या सस्थाओं में वेतन अवधि के अन्तिम दिन के बाद ७वें दिन की समाप्ति से पहले तथा १००० से अधिक मजदूर वालों में १० दिन के अन्दर ही मजदूरी का भुगतान हो जाना चाहिए। निकाल दिये गये मजदूरों का वेतन उनके काम से हटाये जाने के २ दिनों के भीतर ही हो जाना चाहिए। विधि ग्राह्य मुद्रा में दिये जाने वाले वेतन का वितरण छुट्टी के दिन नहीं किया जा सकता है। मकान, बिजली, पानी, औषधि की सुविधाएँ, भत्ता, पेन्शन प्रावीडेन्ट फण्ड में मालिकों का अशदान वेतन में शामिल नहीं किया जायेगा।

न्यूनतम मजदूरी अधिनियम

श्रमिकों के जीवन-स्तर को ऊँचा उठाने तथा उनकी कार्यक्षमता में वृद्धि कर उत्पादन बढ़ाने के लिए प्रगतिशील देशों में श्रमिकों के एक विशेष न्यूनतम जीवन-स्तर के लिए न्यूनतम मजदूरियों के विधान बनाये गये हैं। यद्यपि १६२८ में जेनेवा के इण्टर कन्वेन्शन ने न्यूनतम मजदूरियों के स्तरों को विधान द्वारा निर्धारित करने की व्यवस्था के लिए एक साधन को अपनाने का निश्चय किया था, तथा १६३१ में श्रम पर शाही आयोग ने भी हमारे देश में न्यूनतम मजदूरियों को निर्धारित करने के प्रबन्ध के लिए सिफारिश की थी, फिर भी हमारे देश में औद्योगिक श्रमिकों के लिए एक विधिवत न्यूनतम मजदूरी की व्यवस्था विभाजन तक नहीं की गई थी।

अत १६४८ में भारत सरकार ने न्यूनतम मजदूरी विधान बनाकर केन्द्रीय तथा प्रान्तीय सरकारों को इस विधान के दो वर्षों के अन्दर ही श्रमिकों की अति दयनीय दशा वाले उद्योगों में मजदूरियों के न्यूनतम दरों को नियत करने के लिए अधिकार दिया। ये उद्योग ऐसे हैं जहां मजदूरों का शोषण होता है, तथा अधिक काम होता है, वेतन बहुत कम है तथा व्यावसायिक संघ नहीं है। उदाहरणार्थ, ऊन, दरी तथा शाल के कारखाने, चावल, आटा तथा दाल की मिलें, तम्बाकू बनाने तथा बीड़ी के कारखाने, तेल मिल, बागानें, सड़क या भवन बनाने के कार्य, लाख तथा अभ्रक के कारखाने, चमड़ा बनाने तथा रंगाने के कारखाने, पत्थर तोड़ने तथा पीसने का काम, नगरपालिकाओं तथा जिला परिषदों की नौकरियाँ तथा कृषि। खेती में तीन वर्षों में न्यूनतम मजदूरी निश्चित की जाने को थी।

१६५० में एक संशोधन द्वारा सभी उद्योगों में न्यूनतम मजदूरी निश्चित करने की अवधि ३ वर्ष की दी गई थी पर कृषि सम्बन्धी देश के विभिन्न प्रदेशों में भिन्न भिन्न दशाओं के कारण यह उचित समझा गया कि कृषि मजदूरों की न्यूनतम मजदूरी निर्धारित करने के पहले उनमें गाँवों के श्रमिकों की स्थिति को पूरी तौर जाँच लिया जाय। १६४६ से १६५१ तक यह जाँच पूरी न हो पाई। अतः सरकार ने खेती की न्यूनतम मजदूरी निश्चित करने की अवधि मार्च १६५३ तक बढ़ा दी थी। यदि किसी उद्योग में १००० से कम श्रमिक हैं तो राज्य सरकार उसमें न्यूनतम मजदूरी निश्चित नहीं कर सकती।

प्रश्न

1 Describe the land-marks in the history of factory legislation in India during the past forty years Discuss their influence on the efficiency of labour (*Agra 1953*)

2 Discuss the extent to which minimum wages have been fixed in India How are minimum wages determined ? (*Banaras, 1954*)

खण्ड ७

राष्ट्रीय आय एवं आर्थिक नियोजन

अध्याय २४

भारत की राष्ट्रीय आय

(National Income of India)

कोई देश केवल इसलिये एक धनी तथा सम्पन्न राष्ट्र नहीं कहला सकता कि उस देश में प्राकृतिक साधन तथा प्रकृति की अन्य स्वतन्त्र देनें अपार मात्रा में उपलब्ध हैं। किसी देश की आर्थिक उन्नति एवं समृद्धि प्राकृतिक संसाधनों के उचित एवं आर्थिक पोषण पर निर्भर करती है। यही कारण है कि हमारा देश साधनों की दृष्टि से धनी होते हुए भी निर्धन है। देश की इस अपार प्राकृतिक सम्पत्ति के भंडार का यदि श्रम तथा पूँजी को लगाकर उपयोग किया जाये तो किसी निश्चित समय में उस देश में वस्तु तथा सेवाओं की एक बहुत बड़ी मात्रा उपलब्ध हो सकती है। इसी को हम देश की 'राष्ट्रीय आय' (National Income) कहते हैं। राष्ट्रीय आय का आँकन प्राय: एक वर्ष के लिए होता है। इस दृष्टि से किसी देश में एक वर्ष के भीतर वस्तुओं तथा सेवाओं का जो कुछ भी उत्पादन होता है, वर्तमान मूल्य पर यदि उसका आँकन कर लिया जाये तो देश की राष्ट्रीय आय का ज्ञान हो जाता है। इसमें प्रत्येक व्यक्ति द्वारा अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए किये जाने वाले आर्थिक कार्यों के फलस्वरूप प्राप्त होने वाली आय तथा देश के सभी उत्पादक कार्यों तथा सेवाओं का मूल्य सम्मिलित होता है।

राष्ट्रीय आय का अर्थ एवं परिभाषा

(Meaning and Definition of National Income)

राष्ट्रीय आय के सम्बन्ध में विस्तृत अध्ययन करने से पूर्व उसके अर्थ से अवगत होना अत्यन्त आवश्यक है। साधारणतया राष्ट्रीय आय में हम किसी देश के प्रत्येक व्यक्ति द्वारा किये गये आर्थिक कार्यों तथा स्वयं देश में होने वाले उत्पादन कार्यों के परिणाम को ही सम्मिलित करते हैं परन्तु इस सम्बन्ध में विभिन्न अर्थशास्त्रियों का मत भिन्न है। प्रत्येक अर्थशास्त्री ने किसी विशेष दृष्टि से ही राष्ट्रीय आय की परिभाषा दी है। उदाहरण के लिए राष्ट्रीय आय सम्बन्धी तीन प्रमुख अर्थशास्त्रियों ने राष्ट्रीय आय की परिभाषा देते समय भिन्न भिन्न दृष्टिकोण अपनाये हैं जैसे मार्शल तथा पीगू

ने राष्ट्रीय लाभांश की व्याख्या उत्पादन की दृष्टि से (Production approach) की है जिसके अनुसार राष्ट्रीय आय किसी देश में एक वर्ष के भीतर उत्पन्न की हुई वस्तुओं तथा सेवाओं का एक प्रवाह है। इसके विपरीत प्रो० इरविंग फिशर (Prof Irving Fisher) ने उपभोग की दृष्टि से राष्ट्रीय आय की व्याख्या की है। उनकी दृष्टि में राष्ट्रीय आय केवल वर्ष भर में अन्तिम रूप से उपभोक्ताओं तक पहुँचने वाली सेवाओं तथा वस्तु के भण्डार को ही प्रदर्शित करती है।

परिभाषाएँ

प्रो० अल्फ्रेड मार्शल की परिभाषा—प्रो० मार्शल के शब्दों में—"किसी देश के श्रम और पूँजी उसके प्राकृतिक साधनों पर कार्य करते हुए वस्तुओं और सेवाओं (भौतिक एवं अभौतिक) का एक शुद्ध योग प्रति वर्ष उत्पन्न करते हैं। यही देश की वास्तविक शुद्ध 'वार्षिक आय', 'रेवन्यू' अथवा 'राष्ट्रीय लाभांश' है।"[1]

प्रो० ए० सी० पीगू (A C Pigou) की परिभाषा—प्रो० पीगू ने राष्ट्रीय आय की परिभाषा इस प्रकार दी है जिस प्रकार आर्थिक कल्याण को प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से मुद्रा में नापा जा सकता है "उसी प्रकार राष्ट्रीय लाभांश समाज की आय का वह भाग है जो मुद्रा में नापा जा सकता है। हाँ इसमें विदेश से प्राप्त हुई आय अवश्य सम्मलित कर लेनी चाहिये।"[2]

ब्रिटेन के प्रमुख आधुनिक अर्थशास्त्री कॉलिन क्लार्क के अनुसार—किसी समय की राष्ट्रीय आय के अन्तर्गत माल तथा सेवाओं का प्रत्यक्ष मूल्य शामिल है जो उस दौरान में उपभोग के लिये उपलब्ध है तथा जिसका विक्रय मूल्य चालू दर पर जोड़ा गया हो। इसके अन्तर्गत पूँजी पर होने वाले वे अतिरिक्त मूल्य भी हैं जो नये पूँजीगत माल के लिए वास्तविक कीमतों के अनुसार लगाये गये हों। इसमें से उपस्थित पूँजी का मूल्य ह्रास आदि घटाना होता है तथा शुद्ध ह्रास को जोड़ना अथवा स्टाक में से शुद्ध निकलने वाले माल को घटाना होता है। (दोनों को चालू कीमत पर)। राज्य तथा स्थानीय प्राधिकार द्वारा लाभ लक्ष्यरहित सेवायें (डाक

1 'The labour and capital of the country, acting on its natural resources produce annually a certain net aggregate of commodities material—immaterial including services of all kinds This is the true net annual income or revenue of the country, or the national dividend" Alfred Marshall—*Principles of the Economics*, P 523.

2 'National Income is that part of objective income of the community, including of course, income derived from abroad, which can be measured in money."Prof A C Pigou—*Economics of welfare*

तथा नगरपालिका ट्राम सर्विस आदि) चार्ज (देयों) के अनुसार जोड़ी जाती है। जहाँ विशेष वस्तुओं तथा सेवाओं पर कर लगाया जाता है जैसे माल पर सीमा शुल्क तथा शुल्क एवं आमोद प्रमोद कर। ये सब बिक्री मूल्य में शामिल नहीं किये जाते।*

डा० वी० के० आर० वी० राव का मत– उपरोक्त परिभाषाओं के अतिरिक्त भारत के प्रसिद्ध अर्थशास्त्री डा० वी० के० आर० वी० राव (Dr V K. R V. Rao) जिन्हें राष्ट्रीय आय सम्बन्धी अध्ययन के लिये ख्याति प्राप्त है, ने राष्ट्रीय आय की एक बड़ी उपयोगी परिभाषा दी है, *"राष्ट्रीय आय में किसी निश्चित समय में* वस्तुओं तथा सेवाओं का द्रव्यमूल्य सम्मिलित होता है जिसमें से उस समय होने वाले आयात का मूल्य घटा दिया जाता है तथा बिक्री योग्य वस्तु तथा सेवाओं का मूल्यांकन चालू मूल्य के आधार पर होता है और निम्नलिखित मदों को घटा दिया जाता है :—

(१) उस समय के स्टाक (stock) में होने वाली कमी का द्रव्य मूल्य।

(२) उत्पादन कार्य में उपयुक्त वस्तुओं तथा सेवाओं का द्रव्य मूल्य।

(३) वर्तमान पूँजी को सुरक्षित (intact) रखने के लिए आवश्यक वस्तुओं तथा सेवाओं का द्रव्य मूल्य।

(४) सरकार को अप्रत्यक्ष करों (indirect taxes) द्वारा होने वाली आय।

(५) व्यापार का अनुकूल सन्तुलन (favourable balance of trade) जिसमें भण्डार भी सम्मिलित है।

(६) देश के विदेशी कर्जों (foreign indebtedness) में होने वाली वृद्धि तथा व्यक्तिगत अथवा सरकारी सम्पत्ति में होने वाली विशुद्ध ह्रास (net decrease) की मात्रा।"

राष्ट्रीय आय की विभिन्न अर्थशास्त्रियों तथा विशेषज्ञों द्वारा दी गई उपरोक्त *परिभाषाओं से कुछ प्रमुख लक्षणों का ज्ञान होता है जो अगले पृष्ठ पर अंकित हैं।*

---

*"The National Income for any period consists of the money-value of the goods and services becoming available for consumption during that period reckoned at their current selling value, plus additions to capital reckoned at the prices actually paid for the *new capital goods, minus depreciation, obsolescence of existing capital* goods, and adding the net accretion of, or deducting the net drawings *upon stocks also reckoned at current prices* Services provided at non profit making basis by the state and local authorities (e g postal *services and municipal tramway services) are included on the basis of* charges made Where taxation is levied upon particular commodities or the entertainment tax, *such taxes are not included in the selling* value" Mr Colin Clark—

"The National Income" p 1—2,

(१) राष्ट्रीय आय देश में हुए समस्त वस्तुओं तथा सेवाओं के उत्पादन की मात्रा प्रदर्शित करती है।

(२) इसमें वस्तु तथा सेवाएँ दोनों सम्मिलित हैं।

(३) राष्ट्रीय आय का अनुमान प्रायः एक वर्ष के लिए होता है।

(४) कुल राष्ट्रीय आय निकालने के लिये उसके उत्पादन में किये गये व्यय तथा घिसावट (depreciation) को निकाल देना चाहिये।

(५) उस समय देश में होने वाले आयात (imports) तथा विदेशों से लिये गये ऋण को भी घटा देना चाहिये।

राष्ट्रीय आय एवं आर्थिक कल्याण—राष्ट्रीय आय के अध्ययन का बड़ा महत्व होता है। किसी देश की राष्ट्रीय आय से उस देश की आर्थिक स्थिति का वास्तविक रूप ज्ञात हो जाता है। यदि अन्य बातें समान रहें तो देश की राष्ट्रीय आय में वृद्धि होने से उस देश के निवासियों का आर्थिक जीवन सुखी एवं सम्पन्न हो जाता है। साधारण तौर पर राष्ट्रीय आय की वृद्धि के फलस्वरूप किसी देश के सम्बन्ध में हम यह निष्कर्ष लगा सकते हैं कि उस देश की आर्थिक प्रगति हो रही है। परन्तु इस साधारण तर्क का कभी दुरुपयोग भी हो सकता है। इस कारण हमें अन्य बातों द्वारा इसकी जाँच कर लेनी चाहिये। उदाहरण के लिए यदि देश की राष्ट्रीय आय की वृद्धि लोगों से बेगार (forced labour) करवा कर प्राप्त हुई है तो ऐसी दशा में राष्ट्रीय आय की वृद्धि के साथ राष्ट्रीय कल्याण में वृद्धि होना असम्भव है। इसी प्रकार यदि देश में वस्तुओं तथा सेवाओं के उत्पादन में निरन्तर वृद्धि होने से यदि राष्ट्रीय आय बढ़ रही हो, परन्तु इसका न्यायोचित वितरण न हो रहा हो, अर्थात् आय का अधिकांश भाग इने गिने हाथों ही में चला जाता हो, और देश की अधिकांश जनता वञ्चित रहती हो तो ऐसी स्थिति में राष्ट्रीय आय की वृद्धि से देश के आर्थिक कल्याण में कोई वृद्धि नहीं हो सकती।

राष्ट्रीय आय के आँकड़ों का महत्व

(Importance of National Income Statistics)

राष्ट्रीय आय के आँकड़ों का विश्लेषण अर्थशास्त्र में विशेष महत्व का है जिनका अध्ययन निम्न उद्देश्यों से किया जाता है :—

(१) देश की आर्थिक स्थिति जानने के लिए—किसी देश की राष्ट्रीय आय उस देश की आर्थिक स्थिति का विस्तृत चित्र प्रस्तुत करती है। इनके आधार पर हम उस देश की वर्तमान आर्थिक स्थिति तथा भावी प्रवृत्तियों से भली भाँति अवगत हो जाते हैं। देश में होने वाले उत्पादन कार्य तथा आर्थिक विकास की योजनाओं की जानकारी

के अतिरिक्त उस देश की ऋणग्रस्तता अथवा व्यापार की दशा का भी ज्ञान हो जाता है।

(२) जीवन स्तर की जानकारी के लिए—देशवासियों के जीवन स्तर के सम्बन्ध में जानकारी प्राप्त करने के लिए हमें प्रति व्यक्ति आय (per capita income) का सहारा लेना पड़ता है।

(३) राष्ट्रों की आर्थिक दशा का तुलनात्मक अध्ययन—यदि हमें दो देशों की आर्थिक दशा का तुलनात्मक अध्ययन करना हो तो उसके लिए भी हमें उन देशों की राष्ट्रीय आय के आँकड़ों की सहायता लेनी पड़ेगी। अन्य साधनों के अभाव में देश की वास्तविक आर्थिक स्थिति की जानकारी के लिए राष्ट्रीय आय के आँकड़ों से बढ़ कर और कोई माध्यम नहीं।

(४) देश के व्यवसायिक वितरण का पता लगाने के लिए—किसी देश की राष्ट्रीय आय के अनेक स्रोत होते हैं। अर्थात् देश में विभिन्न व्यवसायों में लगी हुई जनसंख्या के आर्थिक प्रयत्नों द्वारा राष्ट्रीय आय प्रभावित होती है। इसी कारण राष्ट्रीय आय के आँकड़ों से हमें जनसंख्या के व्यवसायिक वितरण का ज्ञान होता है।

(५) देश के आर्थिक प्रयत्नों के पथ प्रदर्शन के लिए—देश की राष्ट्रीय आय के आँकड़ों से देश का कई प्रकार से पथ प्रदर्शन होता है। यदि कई साल के राष्ट्रीय आँकड़े एकत्रित कर लिये जायँ तो उनके अध्ययन से हमें इस बात का समुचित ज्ञान हो सकता है कि आर्थिक प्रगति के मार्ग पर हमारा देश किस अवस्था पर है अर्थात् देश की आर्थिक दशा पहले से सुधरी है अथवा उसमें पतन हुआ है। इसी प्रकार यदि किसी वर्ष देश की राष्ट्रीय आय में कमी हुई है तो हमें उस वर्ष देश की आर्थिक जल वायु (economic climate) का पता चलता है। जैसा कि विदित है राष्ट्रीय आय पर प्रभाव डालने वाले अनेक तथ्य हैं जिनके परिणामस्वरूप किसी वर्ष देश की राष्ट्रीय आय बढ़ सकती है अथवा घट सकती है जैसे देश में आन्तरिक शान्ति व सुरक्षा, जन साधारण के स्वास्थ्य की दशा इत्यादि।

(६) आर्थिक बाधाओं का ज्ञान होता है—राष्ट्रीय आय के आँकड़ों से हमें देश के आर्थिक अभावों तथा विकास के मार्ग पर आने वाली बाधाओं का भी ज्ञान होता है जिनके फलस्वरूप किसी वर्ष राष्ट्रीय आय में कमी हो जाती हो अथवा राष्ट्रीय आय की असन्तोषजनक प्रगति हो रही हो।

(७) आर्थिक नियोजन के लिए—एक अविकसित राष्ट्र में उसकी आर्थिक योजनाओं के निर्माण के लिए उसकी राष्ट्रीय आय के आँकड़ों का विशेष महत्व है। आर्थिक विकास के लिए निर्मित विभिन्न योजनाओं में किस प्रकार प्राथमिकता का निर्धारण हो? योजना का क्या आकार हो? तथा देश के विकास के लिए राष्ट्र के पास

आर्थिक साधन क्या हैं ? इन सबका ज्ञान राष्ट्रीय योजना की सफलता के लिए अत्यन्त आवश्यक है जो राष्ट्रीय आय के आँकड़ों के समुचित ज्ञान पर निर्भर करता है।

राष्ट्रीय आय एवं औद्योगीकरण

(National Income and Industrialization)

राष्ट्रीय आय का देश के औद्योगीकरण से भी सम्बन्ध है। कुछ लोगों का विचार है कि देशवासियों के जीवन-स्तर को ऊँचा उठाने के लिए राष्ट्र का औद्योगीकरण अनिवार्य है। अर्थात् बिना औद्योगीकरण के कोई देश अपने नागरिकों के रहन-सहन का दर्जा ऊपर नहीं उठा सकता। परन्तु यह कथन सदैव सत्य नहीं, यह अवश्य है कि औद्योगीकरण द्वारा राष्ट्रीय आय में वृद्धि होने से देशवासियों के जीवन स्तर को ऊँचा उठाने में सहायता मिलती है परन्तु आधुनिक काल में संसार में अनेक ऐसे राष्ट्र हैं जहाँ औद्योगीकरण के बिना लोगों का रहन सहन का दर्जा काफी ऊँचा है जिसके कारण उपरोक्त कथन पूर्णतया स्वीकार नहीं किया जा सकता। उदाहरण के लिए अर्जेन्टाइना, यूरुगुए (Uruguay), आयरलैंड तथा फिनलैंड कुछ ऐसे राष्ट्र हैं जिनका औद्योगीकरण न होते हुए भी उनकी प्रति व्यक्ति आय रूस (U S S R), जापान, इटली जैसे औद्योगिक देशों से अधिक है। इस प्रकार यदि सीरिया (Syria) के निवासियों की प्रति व्यक्ति वास्तविक आय ईरान या सऊदी अरबिया (Saudi Arabia) के लोगों से अधिक है तो इसका कारण यह नहीं कि इन देशों की अपेक्षा सीरिया का औद्योगीकरण अधिक हुआ है।[1] इस उदाहरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि देश का औद्योगीकरण ही देश के रहन सहन के दर्जे को ऊँचा करने का एकमात्र साधन नहीं है।

राष्ट्रीय आय की गणना करने की रीति

(Method of Calculation of National Income)

किसी देश की राष्ट्रीय आय की गणना करने के लिये कई रीतियाँ प्रयोग में आती हैं। जैसे —

(१) आय प्रणाली अथवा आय रीति (Income Method)

(२) उत्पादन गणना रीति (Census of Production Method)

(३) मिश्रित पद्धति (Combination of Both)

आय प्रणाली—देश की राष्ट्रीय आय को आँकने की आय पद्धति के अन्तर्गत उस देश में विभिन्न व्यवसायों में लगी कुल जनसंख्या द्वारा प्राप्त की हुई आय जानने

1 D Krishna—"*Power Planning and Welfare*", p 9

की आवश्यकता होती है। इस कारण इस रीति को अपनाने के लिए आय कर के आँकड़ों की सहायता लेनी पड़ती है और प्रत्येक व्यवसाय में लगे हुए व्यक्तियों की औसत आय निर्धारित कर ली जाती है परन्तु इस प्रणाली द्वारा देश की राष्ट्रीय आय के निर्धारण में अनेक कठिनाइयाँ होती हैं जैसे—

(१) यह रीति केवल उन्हीं देशों में अपनाई जा सकती है जहाँ अधिकांश जनता आय कर देती है। भारत जैसे देश में जहाँ जनसंख्या का एक बहुत छोटा भाग आय कर देता हो यह रीति अपनाना उपयुक्त नहीं।

(२) इस रीति के अनुसार देश की एक भारी संख्या की आय, जो आय कर की सीमा से कम है, अनुमान नहीं लग पाता। इस कारण भारत जैसे निर्धन राष्ट्र में यह पद्धति अपनाना कठिन होगा।

(३) आय रीति को अपनाने में एक और कठिनाई, देश की कृषि द्वारा होने वाली आय का समुचित अनुमान न होने के कारण, उत्पन्न होती है। इस कारण भारत जैसे कृषि प्रधान देश में इस पद्धति द्वारा देश की राष्ट्रीय आय का वास्तविक ज्ञान नहीं हो सकता।

उत्पादन गणना रीति—उत्पादन गणना रीति द्वारा भी राष्ट्रीय आय निर्धारित की जा सकती है। इसके लिए सबसे पहले हमें देश की प्रत्येक उत्पादन की इकाई (Unit of Production) द्वारा वर्ष में किये गये कुल उत्पादन की जानकारी करनी होती है। फिर इस समस्त उत्पादन तथा विभिन्न सेवाओं का प्रचलित दर के आधार पर मूल्यांकन कर लिया जाता है। इस सम्बन्ध में यह बात ध्यान में रखने योग्य है कि इन वस्तुओं तथा सेवाओं का दोहरा मूल्यांकन न हो जाये अर्थात् यदि किसी वस्तु का मूल्य राष्ट्रीय आय में सम्मिलित कर लिया गया है तो उस वस्तु के लिए की गई सेवाओं का मूल्य नहीं जोड़ना चाहिये। परन्तु इस रीति को अपनाने के लिए देश में होने वाले समस्त उत्पादन तथा की जाने वाली सेवाओं के सम्बन्ध में विस्तृत आँकड़े उपलब्ध हों। भारत जैसे देश में जहाँ आवश्यक आँकड़े पर्याप्त मात्रा में प्राप्य नहीं हैं इस रीति को अपनाने में बड़ी कठिनाई का सामना करना पड़ेगा।

मिश्रित पद्धति—इस पद्धति में आय रीति तथा उत्पादन गणना रीति का मिश्रित प्रयोग होता है। देश की राष्ट्रीय आय के अनुमान लगाने के लिए उपरोक्त दो प्रमुख पद्धतियों में आने वाली कठिनाइयों के कारण एक नई रीति का प्रादुर्भाव हुआ जिसके आविष्कार का श्रेय भारत के प्रमुख अर्थशास्त्री एवं राष्ट्रीय आय सम्बन्धी अध्ययन के विशेषज्ञ डा० वी० के० आर० वी० राव (Dr. V. K. R. V. Rao) को है जिन्होंने देश की राष्ट्रीय आय के अनुमान लगाने के लिए उपरोक्त दोनों प्रणालियों का बड़ी सफलतापूर्वक सम्मिश्रण किया है। डा० राव द्वारा इस नवीन

पद्धति को अपनाने के दो प्रमुख कारण थे प्रथम भारत मे आयकर देने वालों की सख्या नगण्य (एक प्रतिशत से भी कम) होने के कारण आय रीति का उपयोग असन्तोषजनक था। द्वितीय उत्पादन सम्बन्धी पद्धति आँकड़ा के अभाव में देश की राष्ट्रीय आय की गणना के लिए उपयुक्त नहीं थी।

इस पद्धति के अन्तर्गत डा० राव ने सरकार द्वारा प्रकाशित आँकड़ों का तो प्रयोग किया ही है, साथ साथ स्वय जाँच तथा सर्वेक्षण द्वारा भी ऐसे क्षेत्रों के सम्बन्ध म आय का अनुमान लगाया है जिसके सम्बन्ध में आँकड़े उपलब्ध नहीं थे।

उपरोक्त रीतियो का तुलनात्मक महत्व—राष्ट्रीय आय के अनुमान के लिए किस रीति का प्रयोग किया जाय ? यह प्रस्तुत कुछ देश की आर्थिक स्थिति, सामाजिक प्रगति तथा प्रशासकीय क्षमता पर निर्भर करता है। विकसित तथा धनी देशों मे जहाँ अधिकाश व्यक्ति आय कर देते हैं तथा जहाँ देश के विभिन्न क्षेत्रों में उत्पादन सम्बन्धी आँकड़े नियमित रूप से प्रकाशित किये जाते हैं, उनमें आय रीति अथवा उत्पादन गणना रीति का प्रयोग ही सर्वथा उपयुक्त होगा। परन्तु भारत की स्थिति भिन्न होने के कारण मिश्रित पद्धति का अपनाना अधिक उचित है। इसके द्वारा ही राष्ट्रीय आय की सही गणना की जा सकती है अत भारत के लिए सबसे अधिक उपयुक्त रीति यही होगी।

भारत में राष्ट्रीय आय के पूर्व अनुमान

(Earlier estimates of national income in India)

भारत में राष्ट्रीय आय की गणना सम्बन्धी कार्य विभिन्न अधिकारियों तथा सामाजिक विभूतियों द्वारा किये गये हैं। अत इस क्षेत्र में अनेक सरकारी तथा गैर सरकारी अनुमान जानने योग्य है। राष्ट्रीय आय की गणना के सम्बन्ध म भारत के प्रसिद्ध नेता तथा समाजसुधारक दादाभाई नौरोजी का कार्य विशेष महत्व का है। उन्होंने सर्वप्रथम १८६८ में यह अनुमान लगाया कि उस समय भारत की प्रति व्यक्ति राष्ट्रीय आय २० रु० थी। इसके पश्चात् सन् १८८२, १६०० तथा इसके पश्चात् किये गये अनुमानों को हम अग्र तालिका में प्रदर्शित करते हैं—

नाम	वर्ष	प्रति व्यक्ति आय		
		रु०	आ०	पाई
दादा भाई नौरोजी	१८६८	२०	०	०
लार्ड क्रोमर तथा बारबर	१८८२०	२७	०	०
विलियम डिग्बी	१८६८-६६	१७	८	५
लार्ड कर्जन	१६००	३०	०	०
एफ० जी० एटकिन्सन	१८७५	३०	८	०
एफ० जी० एटकिन्सन	१८६५	३६	८	०
वाडिया तथा जोशी	१६१३-१४	४४	५	६
शाह तथा खम्भाटा	१६० -१४	३६	०	०
फिंडले सिराज	१६२१	१०७	०	०
" "	१६२२	११६	०	०
साइमन कमीशन रिपोर्ट	१६२६	११६	०	०
डा० वी० के०आर०वी०राव	१६२५-२६	७६	०	०
" "	१६३१-३२	६५	०	०
" "	१६४२ ४३	११४	०	०

उपरोक्त तालिका में भारत की राष्ट्रीय आय सम्बन्धी जो अनुमान प्रदर्शित किये गये हैं उनमे काफी अन्तर है। एक ओर जब कि १८६८ में दादा भाई नौरोजी द्वारा भारत की प्रति व्यक्ति आय २० रु० आँकी गई थी उसके बाद १६०१ में डिग्बी के अनुसार यह केवल १८ रु० से कुछ अधिक ही थी जब कि इससे एक वर्ष पूर्व १६०० में लार्ड कर्जन ने भारत की प्रति व्यक्ति राष्ट्रीय आय ३० रु० बताई थी। इस प्रकार एक साल के अन्तर में दोनों अनुमानों मे लगभग ११ रु० ७ आ० १ पा० का अन्तर है। राष्ट्रीय आय के सम्बन्ध में विभिन्न विद्वानों तथा अधिकारियों द्वारा जो अनुमान लगाये गये हैं उनमें पारस्परिक भिन्नता के अनेक कारण हैं जैसे वस्तुओं तथा सेवाओं के मूल्य स्तर में निरन्तर परिवर्तन होना तथा राष्ट्रीय आय के अनुमानकर्ताओं के दृष्टिकोण में परिवर्तन होना।

राष्ट्रीय आय की गणना का सामाजिक महत्व

(Social Importance of National Income Estimates)

राष्ट्रीय आय की गणना का किसी देश के लिए बड़ा सामाजिक महत्व है। किसी देश में राष्ट्रीय आय तथा उसके वितरण के स्वरूप द्वारा उसकी सामाजिक स्थिति का ज्ञान होता है। उदाहरण के लिए यदि सामाजिक आय का वितरण न्यायोचित न किया गया हो तो वह देश में निर्धनता एवं लाचारी का कारण बन जाती है। प्रथम महायुद्ध के पहले जैसा कि सर लियोचियोजा मनी (Sir Leochiozza Money)

ने इंगलैंड के सम्बन्ध में अनुमान लगाते समय कहा था कि इस देश की कुल राष्ट्रीय आय का आधा भाग १२ प्रतिशत-जनता द्वारा उपभोग किया जाता है तथा राष्ट्रीय आय का एक तिहाई हिस्सा देश की जनसंख्या के तीसवें भाग द्वारा हड़प कर लिया जाता है।[1] परन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि राष्ट्रीय आय का समान वितरण देश के लिए सदैव हितकर होता है। सामाजिक न्याय की दृष्टि से राष्ट्रीय आय के न्यायोचित वितरण का वास्तविक महत्व है। परन्तु किसी समय पूँजी व संचय पर इसका हानिकारक प्रभाव पड़ने से देश की आर्थिक व्यवस्था बिगड़ सकती है क्योंकि राष्ट्रीय आय के पुनर्वितरण व परिणामस्वरूप देशवासियों के उपभोग स्तर (level of consump-tion) में परिवर्तन हो जायेगा।

भारतवर्ष में भी राष्ट्रीय आय सम्बन्धी अध्ययन का क्रम सामाजिक कार्यों से हुआ। विदेशी शासन काल में भारतवासियों को अनेक सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। देशवासियों का जीवन अत्यन्त निम्न था और देश में सर्वत्र निर्धनता एवं गरीबी के कारण तत्कालीन विचारकों तथा विद्वानों को इस बात की आवश्यकता प्रतीत हुई कि देश की प्रति व्यक्ति राष्ट्रीय आय का अनुमान लगाया जाय जिससे शासन का ध्यान भारत की दयनीय आर्थिक अवस्था तथा राष्ट्रीय पतन तथा धन के असमान वितरण की ओर आकर्षित किया जा सके।

राष्ट्रीय आय समिति

(National Income Committee)

डा० वी० के० आर० वी० राव द्वारा सन् १९४२-४७ में किये गये राष्ट्रीय अनुमान के पश्चात् भारतवर्ष में राष्ट्रीय आय की गणना के सम्बन्ध में कोई महत्वपूर्ण कार्य नहीं किया गया। परन्तु देश की स्वतन्त्रता के पश्चात् इस बात की ओर राष्ट्रीय सरकार का ध्यान जाना स्वाभाविक ही था। भारत सरकार ने देश की राष्ट्रीय आय की गणना करने तथा इसके सम्बन्ध में आवश्यक जानकारी प्राप्त करने के उद्देश्य से अगस्त १९४९ में 'राष्ट्रीय आय समिति' की स्थापना की जिसके सदस्य प्रो० पी० सी० महालनोबिस (Prof P. C Mahalonobis), प्रो० डी० आर० गैडगिल (Prof. D R Gadgil) तथा डा० राव थे। इस समिति ने कुछ विदेशी विशेषज्ञों जैसे प्रो० साइमन कुजनेट्स (Prof Simon Kuznets) की सहायता से भारत की राष्ट्रीय आय का १९४८-४९ के सम्बन्ध में पहला वैज्ञानिक आधार पर किया गया अनुमान प्रस्तुत किया। समिति ने अपनी अन्तिम रिपोर्ट में जो सन् १९५४ में प्रकाशित हुई भारत की १९४८-४९ की कुल राष्ट्रीय आय १९४८-४९ के मूल्यों के आधार पर

1 *Riches and Poverty* (1910) pp, 47 48

८६५० करोड़ रु० आँकी। इस प्रकार १९४८-४९ में भारत की प्रति व्यक्ति आय २४६·६ रुपये थी।

इस सम्बन्ध में यह बात विशेष महत्व की है कि इस समिति द्वारा देश की राष्ट्रीय आय की गणना के हेतु अपनाई गई रीति, वही आय रीति तथा उत्पादन गणना रीति का सम्मिश्रण अथवा मिश्रित पद्धति थी जिसे डा० राव ने अपने अनुमानों में प्रयुक्त किया था। १९४८-४९ के पश्चात् देश की राष्ट्रीय आय के अनुमानों को निम्न तालिका में प्रदर्शित किया गया है। १९५४ के पश्चात् के राष्ट्रीय आय के आँकड़े केन्द्रीय सांख्यकीय संगठन (Central Statistical Organization) द्वारा प्रकाशित किये गये हैं।

भारत की राष्ट्रीय आय के कुछ नये अनुमान

(Some recent estimates of National Income in India)

देश की राष्ट्रीय तथा प्रति व्यक्ति आय

वर्ष	राष्ट्रीय आय (National Income) (करोड़ रुपये में)		प्रति व्यक्ति आय (Per Capita Income) (रुपये में)	
	चालू मूल्यों के आधार पर	१९४८-४९ के मूल्यों पर	चालू मूल्यों के आधार पर	१९४८-४९ के मूल्यों पर
१९४८-४९	८६५०	८६५०	२४६·६	२४६·६
१९४९-५०	९०१०	८८२०	२५३·९	२४८·६
१९५०-५१	९५३०	८८५०	२६५·२	२४६·३
१९५१-५२	९९७०	९१००	२७४·०	२५०·१
१९५२-५३	९८२०	९४६०	२६६·४	२५६·६
१९५३-५४	१०,४८०	१००३०	२८०·७	२६८·७
१९५४-५५	९६१०	१०२८०	२५४·४	२७१·९
१९५५-५६	९९८०	१०,४८०	२६०·८	२७१·६
१९५६-५७	११,३१०	११,०१०	२९४·३	२८४·०
57-58 (अनुमानित)	11250	11120	3115	265.0

जैसा कि उपरोक्त तालिका से स्पष्ट है भारत की कुल राष्ट्रीय तथा प्रति व्यक्ति आय में निरन्तर वृद्धि हो रही है। १९५०-५१ की तुलना में १९५६-५७ की कुल राष्ट्रीय आय में तथा प्रति व्यक्ति आय में क्रमशः २४·४ तथा १५·२ प्रतिशत की वृद्धि हुई है।

भारत की राष्ट्रीय आय के सम्बन्ध में ताजे अनुमान (Recent

भारत की राष्ट्रीय आय
(१९४८-४९ के मूल्यों पर)



चित्र ११

Estimates about India's National Income)—श्री जे० जे० अञ्जारिया (Mr. J. J. Anjaria) केन्द्रीय वित्त मंत्रालय के मुख्य आर्थिक सलाहकार

(Chief Economic Adviser) ने भारत की १९५८-५९ में भारत की राष्ट्रीय आय में प्रगति के सम्बन्ध में उपयोगी सूचना दी है। अखिल भारतीय आर्थिक सम्मेलन (All India Economic Conference) के ४२ वें अधिवेशन में सभापतित्व करते हुए उन्होंने कहा कि विगत वर्षों में भारत की राष्ट्रीय आय में लगभग ३½ प्रतिशत की औसत वृद्धि हुई है। १९५८-५९ में यह वृद्धि लगभग ६ ⋅ ८ प्रतिशत की हुई है।[1]

एक दूसरे अनुमान के अनुसार सन् १९५७-५८ की तुलना में १९५८-५९ की राष्ट्रीय आय में ७.३ प्रतिशत की वृद्धि हुई है। चालू मूल्यों पर पिछले तीन वर्षों में भारत की कुल राष्ट्रीय आय इस प्रकार है।[2]

वर्ष	चालू मूल्यों पर देश की कुल राष्ट्रीय आय	प्रति व्यक्ति आय (रुपये)
१९५५-५६	९९८० करोड़ रुपये	२६०.६
१९५७-५८	११४०० ,, ,,	२९०.१
१९५८-५९	१२४७० ,, ,,	३१३.२

भारत की राष्ट्रीय आय के मूल लक्षण

(Salient features of India's National Income)

भारत के राष्ट्रीय आय सम्बन्धी आँकड़ों के अध्ययन से देश की राष्ट्रीय आय के सम्बन्ध में कुछ महत्वपूर्ण लक्षणों का ज्ञान होता है जैसे:—

(१) भारत की प्रति व्यक्ति राष्ट्रीय आय संसार के अन्य देशों की तुलना में बहुत कम है। यदि हम १९५०-५१ (जो २६५.२ करोड़ रु० थी) की राष्ट्रीय आय को डालरों में परिवर्तित करें तो स्थिति इस प्रकार होगी जैसा कि निम्न तालिका से स्पष्ट है :—

देश	प्रति व्यक्ति आय (डालर में)
भारत	५५.७
ईराक	८५.०
न्यूजीलैंड	८६५.०
कनाडा	८७०.०
अमेरीका	१४५३ ०

(२) भारत की राष्ट्रीय आय के सम्बन्ध में दूसरी विशेषता यह है कि देश में राष्ट्रीय आय के वितरण में बड़ी असमानता पाई जाती है। राष्ट्रीय आय का अधिकांश

1 *National Herald*—dated 13-12-1959.

2 J *Journal of Industry and Trade*, June, 1960, p. 981.

भाग देश के इने गिने लोगों के हाथों में चला जाता है। जैसे उद्योगपति, पूँजीपति तथा जमींदार इत्यादि। देश में अधिकांश जनता के लिए बहुत थोड़ा भाग बच रहता है।

(३) राष्ट्रीय आय के आँकड़ों से इस बात का भी ज्ञान होता है कि देश में लघुस्तरीय उद्योगों का भी महत्वपूर्ण स्थान है इसके फलस्वरूप राष्ट्रीय आय का लगभग ६६ प्रतिशत भाग इन्हीं उद्योगों से प्राप्त होता है।

(४) पिछले कुछ वर्षों में कुल राष्ट्रीय आय तथा प्रति व्यक्ति आय में निरन्तर वृद्धि हो रही है। इससे कुछ लोग यह अनुमान लगा सकते हैं कि देशवासियों का जीवन स्तर सुधर रहा है। परन्तु वास्तविकता यह नहीं है। मूल्यों में निरन्तर वृद्धि के कारण राष्ट्रीय आय में वृद्धि होने पर भी देशवासियों की वास्तविक आय (real income) बराबर घटती जा रही है जिससे उनके जीवन स्तर में विशेष सुधार नहीं दीख पड़ता।

(५) राष्ट्रीय आय समिति द्वारा विभिन्न व्यवसायों से प्राप्त हुई आय के सम्बन्ध में दिये गये आँकड़ों से देश की असन्तुलित अर्थ व्यवस्था का भी परिचय होता है। एक कृषि प्रधान देश होने के फलस्वरूप राष्ट्रीय आय का ५१·३ प्रतिशत कृषि से प्राप्त हुआ। इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि भारत की अर्थ व्यवस्था मुख्यतया कृषि पर निर्भर करती है।

(६) राष्ट्रीय आय के आँकड़े देश के उपभोग व्यय का भी चित्र प्रस्तुत करते हैं जिससे इस बात का ज्ञान होता है कि भारत में राष्ट्रीय आय का अधिकांश भाग खाद्य पदार्थों पर व्यय होता है तथा देशवासियों के पास अन्य मदों जैसे शिक्षा, वस्त्र इत्यादि पर खर्च करने के लिए बहुत कम भाग शेष रहता है।

भारत मे राष्ट्रीय आय की गणना मे कठिनाइयाँ

(Difficulties in the Calculation of National Income in India)

देश की राष्ट्रीय आय का अनुमान करना अत्यन्त आवश्यक होने के कारण प्रत्येक राष्ट्र किसी न किसी पद्धति द्वारा अपनी राष्ट्रीय आय का आँकन करता है परन्तु यह एक बड़ा जटिल कार्य है। भारत जैसे अविकसित राष्ट्र में राष्ट्रीय आय के अनुमान लगाने में अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। जैसा कि राष्ट्रीय आय के सम्बन्धित आँकड़ों से पता चलता है कि देश की स्वतन्त्रता के पूर्व भारत में राष्ट्रीय आय सम्बन्धी अध्ययन अपर्याप्त मात्रा में हुआ है तथा विभिन्न अर्थशास्त्रियों तथा विचारकों द्वारा समय समय पर राष्ट्रीय आय के अनुमान लगाये गये हैं। यह अनुमान आपस में इतने भिन्न हैं कि इनसे तत्कालीन आर्थिक स्थिति का सही ज्ञान नहीं हो सकता तथा विद्यार्थियों में इस प्रकार के विभिन्न अनुमानों द्वारा भ्रम उत्पन्न होने की आशंका

है। राष्ट्रीय आय सम्बन्धी इस भिन्नता का मुख्य कारण यह है कि प्रत्येक विशेषज्ञ ने अलग-अलग रीति तथा दृष्टिकोण अपना कर राष्ट्रीय आय का अनुमान लगाया है।

भारत में राष्ट्रीय आय का सही अनुमान लगाने में जो कठिनाइयाँ सामने आती हैं वे निम्न हैं :—

(१) भारत की राष्ट्रीय आय आँकने में आने वाली सबसे बड़ी कठिनाई यह है कि देश में उत्पादन सम्बन्धी तथा अन्य आवश्यक आँकड़ों का अत्यधिक अभाव है। जो कुछ भी सामग्री उपलब्ध है उससे देश की राष्ट्रीय आय का वास्तविक रूप प्रस्तुत नहीं होता।

(२) देश की राष्ट्रीय आय का अधिकांश भाग कृषि द्वारा प्राप्त होता है परन्तु कृषि उत्पादन तथा कृषि में लगी हुई जनसंख्या की आय-व्यय तथा उनके द्वारा की गई बचत का समुचित ज्ञान न होने के कारण राष्ट्रीय आय की गणना करने में बड़ी कठिनाई होती है।

(३) भारत का अधिकांश भाग ऐसा है जहाँ मुद्रा का चलन अति सीमित मात्रा में होता है। फलस्वरूप उत्पादन के अधिकांश भाग का मूल्यांकन नहीं हो सकता। उत्पादन का बहुत बड़ा हिस्सा उत्पादक स्वयं अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए प्रयोग में लाता है जिसके कारण उसका मूल्य निर्धारित नहीं हो पाता और जिसके फलस्वरूप राष्ट्रीय आय का अनुमान लगाना बड़ा जटिल कार्य हो जाता है।

(४) राष्ट्रीय आय के अनुमान में देश का आकार भी कठिनाई का एक प्रमुख कारण है। एक विशाल तथा अत्यधिक जनसंख्या के कारण भारत जैसे देश की राष्ट्रीय आय के अनुमान लगाने में बड़े परिश्रम तथा व्यय की आवश्यकता होती है। अतः राष्ट्रीय आय का अनुमान एक कठिन समस्या है।

(५) हमारे देश के उत्पादन का अधिकांश भाग असंगठित दशा में होने के कारण राष्ट्रीय आय गणना सम्बन्धी कार्य में अत्यधिक असुविधा होती है। उत्पादन सम्बन्धी आँकड़ों को एकत्रित करने तथा उनके सम्बन्ध में आवश्यक निष्कर्ष निकालना जटिल कार्य हो जाता है।

(६) भारत एक ऐसा देश है जिसकी अधिकांश जनता अभी अशिक्षित है। अतः अपनी अज्ञानता के कारण राष्ट्रीय आय सम्बन्धी आँकड़ों को एकत्रित करने के लिए वह आवश्यक सहयोग प्रदान करने में असमर्थ रहती है। अन्य देशों में जहाँ जनसंख्या शिक्षित है, वह राष्ट्रीय आय सम्बन्धी जाँच का महत्व समझती है तथा जिसके लिए हर प्रकार की सहायता देने को तत्पर रहती है।

(७) भारतीय अर्थ व्यवस्था की आधारशिला प्राचीन काल से उसके कुटीर

एवं घरेलू उद्योग रह हैं। विविध कारणों से विभिन्न घरेलू उद्योग धन्धों के विनाश हो जाने के पश्चात् भी भारत में इस समय अधिक संख्या में लोग अपनी जीविका इस प्रकार के अनेक घरेलू उद्योगों से प्राप्त करते हैं जिनमें लगे हुए व्यक्तियों की आय, उत्पादन-व्यय, तथा अन्य बातों के सम्बन्ध में जानकारी प्राप्त करना बड़ा कठिन कार्य है। इसके अतिरिक्त हमारे देश में भूमि पर अत्यधिक भार पड़ने के कारण ग्रामीण क्षेत्रों में अवकाश के समय बहुत बड़ी संख्या में लोग शहरों तथा नगरों में जीविका के लिए आते हैं ऐसी अवस्था मे एक व्यक्ति कई प्रकार के व्यवसायों से अपनी आय प्राप्त करता है। इस प्रकार व्यवसाय के आधार पर एकत्रित किये गये आँकड़ों द्वारा आँकी गई राष्ट्रीय आय सन्तोषजनक नहीं कही जा सकती।

उपर्युक्त कठिनाइयों से स्पष्ट है कि किसी देश की राष्ट्रीय आय का अनुमान लगाना एक बड़ा ही जटिल तथा व्ययशील कार्य है। इन कठिनाइयों के होते हुए भी राष्ट्रीय आय की गणना किसी देश के लिए बड़े महत्व का विषय है। राष्ट्रीय आय की गणना हो जाने के पश्चात् मनचाहे (arbitrary) निष्कर्षों का स्थान नहीं रहता। किसी देश की अर्थ व्यवस्था के सम्बन्ध में यह जानने के लिए कि उसमें मुद्रा क्षेत्र (money sector) का कितना विकास हुआ है तथा देशवासियों के विभिन्न समुदाय क्षेत्रों मे विभिन्न करों के भार को सहन करने की कितनी सामर्थ्य है। इसकी जानकारी के लिए राष्ट्रीय आय की गणना अनेक कठिनाई तथा बाधाओं के होते हुए भी एक उपयोगी तथा महत्वपूर्ण कार्य है।

भारत की राष्ट्रीय आय की अन्य देशों की राष्ट्रीय आय से तुलना
(India's National Income compared with National Income of other Countries)

भारत की राष्ट्रीय आय का अन्य देशों की राष्ट्रीय आय से तुलनात्मक अध्ययन के लिए अगले पृष्ठ पर एक तालिका प्रस्तुत की जा रही है जिसमें संसार के कुछ प्रमुख देशों की कुल राष्ट्रीय आय तथा प्रति व्यक्ति आय दिखाई गई है।

कुछ प्रमुख देशों की राष्ट्रीय आय

देश	१९५०		१९५५	
	कुल आय (करोड़ रुपये)	प्रति व्यक्ति आय (रुपये)	कुल आय (करोड़ रुपये)	प्रति व्यक्ति आय (रुपये)
भारत	९५३० ०	२६५	९६५०·०	२५२
आस्ट्रेलिया	३२२५ ६	३६०६	४५२०·५	५६५१
कनाडा	६०९३ १	४३५२	९९१५·५	६१९७
सीलोन	३८४ ०	५४८	५१७·२	७५५
फ्रांस	९९२८ ५	२३०९	१६६२४ ३	३९३६
पश्चिम जर्मनी	८१००·०	१६८८	१४३४० ०	२६८१
इटली	५२३० ०	१११३	८००० ०	१६८३
जापान	४४५० ०	५३६	८९९० ०	१०१०
संयुक्त राज्य	१४१६८·०	२८३३	२०३०१ ३	३९८१
संयुक्त राज्य अमेरिका	११४२८५ ७	७५६८	१५४२८५ ७	९३५१

उपरोक्त तालिका में भारत की कुल राष्ट्रीय आय तथा प्रति व्यक्ति आय का संसार के अन्य देशों की राष्ट्रीय आय तथा प्रति व्यक्ति आय के तुलनात्मक अध्ययन से भारत की आर्थिक प्रगति तथा अन्य देशों की अपेक्षा भारतवासियों की आर्थिक स्थिति का ज्ञान होता है। जैसा कि स्पष्ट है भारत की राष्ट्रीय आय उपरोक्त तालिका में प्रदर्शित सब देशों से कम है। तालिका से इस बात का भी ज्ञान होता है कि राष्ट्रीय आय की दृष्टि से संसार के राष्ट्रों में बड़ा अन्तर है। अमेरिका जैसे धनी देश की प्रति व्यक्ति आय भारत की प्रति व्यक्ति आय से लगभग ३७ गुना अधिक है। आस्ट्रेलिया की लगभग २२ गुना तथा सीलोन की लगभग ३ गुना अधिक है। इस कारण देश की राष्ट्रीय आय में वृद्धि करने के लिए हमें अपने देश के उत्पादन में वृद्धि करने के लिए काफी प्रयत्न करना होगा। अधिक उत्पादन द्वारा ही देश की आर्थिक स्थिति सुधर सकती है तथा कुल राष्ट्रीय आय तथा देशवासियों के जीवन स्तर में सुधार हो सकता है।

अंतर्राष्ट्रीय तुलना में राष्ट्रीय आय की कठिनाइयाँ

(Difficulties in the International Comparison of National Income)

यद्यपि राष्ट्रीय आय के तुलनात्मक अध्ययन का बड़ा महत्व है परन्तु इसकी अन्तर्राष्ट्रीय तुलना में बड़ी कठिनाई होती है। इस सम्बन्ध में सबसे बड़ी कठिनाई

समस्त देशों की राष्ट्रीय मुद्रा (national currency) ने एक सामान्य मुद्रा (common currency) में परिवर्तन करने से उत्पन्न होती है। इसी प्रकार जब एक विकसित देश की राष्ट्रीय आय का तुलना एक अविकसित देश का राष्ट्रीय आय से की जाती है तो समस्या और भी जटिल हो जाती है। एक धनी और निर्धन देश के आर्थिक जीवन में भिन्नता होने के कारण ही मुख्यतया ये कठिनाइयाँ उत्पन्न होती हैं। एक अविकसित देश में परिवार का बड़ा विस्तृत अर्थ लगाया जाता है। इस कारण परिवार के सदस्यों द्वारा की गई सेवाओं तथा कुल उत्पादन में उनके द्वारा किये गये उपभोग की मात्रा विकसित राष्ट्र की तुलना में अधिक होती है। धनी देशों के लोगों को अपनी अधिकांश आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए दूसरों की सेवाओं का उपयोग करना पड़ता है। इस कारण इन देशों की राष्ट्रीय आय में सेवाओं द्वारा उत्पन्न आय का अधिक महत्व है जब कि निर्धन देश के लोगों को दूसरों की सेवाओं की आवश्यकता नहीं होती।

राष्ट्रीय आय प्राप्त करने के स्रोत
(Sources of National Income)

किसी देश में राष्ट्रीय आय के अनेक स्रोत होते हैं जिनके द्वारा देश अपनी राष्ट्रीय आय को प्राप्त करता है। वर्ष भर में उत्पादन के इन समस्त क्षेत्रों में होने वाले कुल उत्पादन का मूल्य चालू मूल्यों के आधार पर निकाल लिया जाता है। हमारे देश में भी कृषि, खान, निर्माण तथा व्यापार इत्यादि से राष्ट्रीय आय प्राप्त होती है। निम्न तालिका में हम देश में मुख्य प्रकार की उत्पादन क्रियाओं द्वारा प्राप्त राष्ट्रीय आय का प्रदर्शन करते हैं जिससे इस बात का पता चलता है कि भारत में राष्ट्रीय आय के विभिन्न साधनों का तुलनात्मक महत्व क्या है।

भारत की राष्ट्रीय आय का औद्योगिक वितरण
(प्रतिशत)

राष्ट्रीय आय के साधन	प्रतिशत			
	१९५३-५४	१९५४-५५	१९५५-५६	१९५६-५७
कृषि	४९.७	४८.९	४७.९	४७.८
खनिज, निर्माणकारी तथा छोटे उद्योग	१६.४	१६.५	१६.८	१६.७
व्यापार, यातायात इत्यादि	१८.२	१८.६	१८.८	१८.९
अन्य साधन	१५.७	१६.०	१६.५	१६.५

उपरोक्त तालिका में भारत की राष्ट्रीय आय के जो प्रमुख साधन प्रदर्शित किये गये हैं उनके अध्ययन से स्पष्ट है कि भारत में राष्ट्रीय आय के प्रमुख साधन कृषि तथा कृषि सम्बन्धी उद्योग ही हैं और इनकी तुलना में अन्य साधनों द्वारा प्राप्त की गई राष्ट्रीय आय बहुत कम है। सन् १९५६-५७ की राष्ट्रीय आय का ४७.८ प्रतिशत भाग कृषि द्वारा प्राप्त हुआ है जब कि उद्योग तथा व्यापार द्वारा क्रमशः १६.७, १८.८ प्रतिशत ही आय प्राप्त हुई है। यह स्वाभाविक ही है कि भारत जैसे कृषि-प्रधान देश में कृषि राष्ट्रीय आय का प्रमुख साधन हो। परन्तु देश की आर्थिक प्रगति एवं समृद्धिशीलता औद्योगिक विकास पर निर्भर करती है। इस कारण हमें आगामी कुछ वर्षों में देश के औद्योगीकरण पर अधिक बल देना होगा। संसार के विशाल तथा विकसित राष्ट्रों की आर्थिक सम्पन्नता का रहस्य भी सुस्पष्टता यही है कि इन देशों में कुल जन-संख्या का बहुत छोटा भाग कृषि पर आश्रित होने के कारण राष्ट्रीय आय का बहुत ही सीमित भाग कृषि द्वारा प्राप्त होता है जैसा कि निम्न तालिका से स्पष्ट है।

संसार के प्रमुख देशों में कृषि द्वारा प्राप्त राष्ट्रीय आय—१९५५
(कुल राष्ट्रीय आय का प्रतिशत)[1]

देश	कृषि तथा कृषि सम्बन्धी उद्योगों द्वारा प्राप्त राष्ट्रीय आय
भारत	४६.७
कनाडा	१०.०
जापान	२१.८
संयुक्त राज्य	४.६
संयुक्त राज्य अमेरिका	५.३

प्रति व्यक्ति वास्तविक आय
(Per Capita Real Income)

राष्ट्रीय आय समिति के अनुमानों से स्पष्ट है कि पिछले कुछ वर्षों में भारत की प्रति व्यक्ति राष्ट्रीय आय में निरन्तर वृद्धि हो रही है। उदाहरण के लिए सन् १९४८-४९ में उस वर्ष के मूल्यों के आधार पर भारत की प्रति व्यक्ति आय २४६.९ रु० थी जब कि १९५६-५७ की अनुमानित राष्ट्रीय आय १९४८-४९ के मूल्यों के आधार पर २८४ रु० हो गई। परन्तु वस्तुओं तथा सेवाओं के मूल्यों में निरन्तर वृद्धि होने के कारण राष्ट्रीय आय की वृद्धि के साथ-साथ देशवासियों के आर्थिक जीवन में

1 United Nations—*"Statistics of National Income"*—1957.

कोई विशेष सुधार होता दिखाई नहीं देता है। यदि एक ओर प्रति व्यक्ति द्राव्यिक आय (money income) बढ़ती जा रही है तो दूसरी ओर वास्तविक आय में होने वाली प्रगति बड़ी असन्तोषजनक है। सन् १९५०-५१ को आधार वर्ष मान कर भारत की प्रति व्यक्ति वास्तविक आय की प्रगति को निम्न तालिका द्वारा स्पष्ट किया गया है :—

वर्ष	प्रति व्यक्ति वास्तविक आय (आधार वर्ष = १९५०-५१)
१९५०-५१	१००
१९५१-५२	१०१·५
१९५२-५३	१०४·२
१९५३-५४	१०९·२
१९५४-५५	१०९·२
१९५५-५६	१११·१
१९५६-५७	११४·९

भारत की पंचवर्षीय योजनाओं में राष्ट्रीय आय
(National Income During India's Five Year Plans)

राष्ट्रीय आयोजना आयोग ने भारत की आगामी कुछ वर्षों में राष्ट्रीय आय में होने वाली प्रगति के सम्बन्ध में महत्वपूर्ण अनुमान लगाये हैं। यदि देश में उत्पादन की वृद्धि के लिए बराबर प्रयत्न होता रहे तो देश की १९५०-५१ की राष्ट्रीय आय लगभग २१ वर्ष के भीतर अर्थात् १९७१-७२ तक दुगुनी हो जाने की सम्भावना है। प्रथम पंचवर्षीय योजना काल में देश की राष्ट्रीय आय में ११ प्रतिशत की वृद्धि का अनुमान लगाया गया था। परन्तु राष्ट्रीय आय के आँकड़ों से पता चलता है कि प्रथम पंचवर्षीय योजना के अन्त में देश की कुल राष्ट्रीय आय १०,८०० करोड़ हो गई थी जिससे ११ प्रतिशत के स्थान पर देश की राष्ट्रीय आय में १८ प्रतिशत की वास्तविक वृद्धि हुई। इसी प्रकार द्वितीय पंचवर्षीय योजना के पश्चात् देश की राष्ट्रीय आय में २५ प्रतिशत वृद्धि हो जाने का अनुमान योजना आयोग द्वारा लगाया गया है। अब तालिका में हम भारत की आगामी वर्षों में होने वाली राष्ट्रीय आय की प्रगति का चित्र प्रस्तुत करते हैं।

देश की राष्ट्रीय आय की प्रगति (१९५१—१९७६)[1]

काल	पंचवर्षीय योजना	राष्ट्रीय आय (करोड़ रु०)	जनसंख्या (करोड़)
१९५१-५६	प्रथम	१०८००	३८.४
१९५६-६१	दूसरी	१३४८०	४०.८
१९६१-६६	तीसरी	१७२६०	४३.४
१९६६-७१	चौथी	२१६८०	४६.५
१९७१-७६	पाँचवीं	२७२७०	५०.०

जनसंख्या सम्बन्धी उपरोक्त विवेचन से इस बात का आभास होता है कि अन्य राष्ट्रों की तुलना में भारत की आर्थिक स्थिति अभी सतोषजनक नहीं है। राष्ट्रीय आय में वृद्धि करने के लिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि देश के उत्पादन में निरन्तर प्रगति होती रहे, तभी देशवासियों के लिए पर्याप्त वस्तुएँ तथा सेवाएँ उपलब्ध हो सकती हैं।

प्रश्न

1. Write a short note on 'National Income of India' (*Agra, 1960, 1955*)

2. What do you understand by National Income? What is the National Income of India? (*Agra, 1957*)

3. Describe the methods of calculating National Dividend in India. Discuss the merits and demerits of each method. (*Punjab, 1955*)

---

1 Ghosh—*Indian Economy*—p. 110

अध्याय २५

आर्थिक आयोजन

(Economic Planning)

आर्थिक आयोजन का अर्थ

आयोजन का अर्थ है प्रतिस्पर्धी लक्ष्यों के साथ दुर्लभ साधनों का सजग सामञ्जस्य स्थापित करना। इसके अन्तर्गत, सामाजिक और आर्थिक लक्ष्य निर्धारित करने पड़ते हैं, और उन्हें प्राप्त करने के लिए उपलब्ध साधनों का अनुकूलतम वटन करके उन्हें अधिकतम वाञ्छनीय दिशाओं में प्रवीहित करना पड़ता है। 'नेशनल प्लानिंग कमीशन' के अनुसार प्रजातान्त्रिक प्रणाली के अन्तर्गत आयोजन का अर्थ "स्पष्टवादी विशेषज्ञों द्वारा राष्ट्र की प्रतिनिधिक संस्थाओं द्वारा निर्धारित उपभोग, उत्पादन, विनियोग, व्यापार एवं आय वितरण के प्राविधिक (technical) समन्वय को कहते हैं। इस प्रकार के आयोजन को न केवल आर्थिक एवं उच्चतर जीवन स्तर के दृष्टिकोण से देखना है, बल्कि इसके अन्तर्गत जीवन के सांस्कृतिक, [illegible]मिक तथा मानवीय पक्ष का भी समावेश होना चाहिए।"[1]

इस प्रकार आयोजन का अर्थ आर्थिक क्रियाओं का उद्देश्यपूर्ण निर्देशन है। उद्देश्य स्पष्ट होने चाहिए और निर्देश कुशल केन्द्रीय अधिकारी के द्वारा दिये जाने चाहिए।

संसार के प्रायः सभी विचारों के लोग आज इस तथ्य को स्वीकार करते हैं कि किसी भी देश की निर्धनता की समस्या और आर्थिक विकास की प्रगति को तीव्र करने के

---

1 Planning under democratic system may be defined as the technical co ordination by the disinterested experts of consumption, production, investment, trade and income distribution in accordance with social objectives set by bodies representative of the nation Such planning is not only to be considered from the point of view of economics and the raising of standard of living but must include cultural and spiritual values and the human side of life —*National Planning Commission*

लिए किसी न किसी रूप में आर्थिक आयोजन अपनाना अति आवश्यक है। क्योंकि आर्थिक आयोजन का मुख्य उद्देश्य उपलब्ध साधनों का तीव्र स्तर पर योजनाबद्ध उपयोग है, जिससे देश के उत्पादन, राष्ट्रीय आय, रोजगार तथा जनता के सामाजिक कल्याण में वृद्धि हो सके। आज से ४० वर्ष पूर्व 'आर्थिक आयोजन' कुछ आर्थिक विवेचकों के एक काल्पनिक स्वप्न के अतिरिक्त और कुछ न था। यहाँ तक कि सन् १९३० तक अनेक अर्थशास्त्री आयोजित अर्थ-व्यवस्था को एक हास्यास्पद वस्तु ही समझते थे। किन्तु द्वितीय महायुद्ध तक आर्थिक आयोजन लगभग सभी राष्ट्रों की आर्थिक नीति का एक आवश्यक अंग बन गया।

संसार में सोवियत रूस ही ऐसा देश था जिसने अपने आर्थिक विकास के लिए सर्वप्रथम 'आर्थिक आयोजन' का सहारा लिया। अप्रैल सन् १९१८ में बोल्शेविक रूस के प्रधान श्री लेनिन ने 'एकाडेमी ऑफ साइन्सेज' को रूस की सम्पूर्ण अर्थ-व्यवस्था तथा विशेषरूप से उद्योगों का पुनर्गठन करने के लिए एक योजना (plan) की रूपरेखा तैयार करने का कार्य सौंपा। लेनिन के इस प्रस्ताव के फलस्वरूप २१ फरवरी सन् १९२० में 'स्टेट कमेटी फॉर दी इलेक्ट्रीफिकेशन ऑफ रशा' (GOELRO) का निर्माण हुआ, जिसने दिसम्बर सन् १९२० में देश के २०० सर्वश्रेष्ठ वैज्ञानिकों एवं विशेषज्ञों की सहायता से २६,५०० मिलियन रूबल (रूसी मुद्रा) की लागत से एक योजना तैयार की। इस योजना का नाम Plan for the Electrification of the U. S S R. था। इस योजना के अनुसार रूस की 'समाजवादी अर्थ व्यवस्था' (Socialist Economy) की नींव पड़ी।

यह योजना पूर्णतया सफल रही। इसकी सफलता से प्रभावित होकर कॉमरेड स्टालिन ने देश (रूस) के अमसक्ट के सम्बन्ध में घोषित किया कि 'आयोजन के कार्य तथा महत्ता को कम करना भूल होगी।' और उन्होंने देश के भावी विकास के लिए तीन पंचवर्षीय योजनाएँ बनाईं। इन योजनाओं में क्रमशः ६४,६०० मिलियन १,९३,४०० मिलियन तथा १,९२,००० मिलियन रूबल व्यय करने का अनुमान लगाया गया था। सौभाग्यवश ये तीनों योजनाएँ पूर्णतया सफल रहीं और उनकी सफलता के फलस्वरूप रूस का सर्वाङ्गीण विकास हुआ, जैसा कि अग्र तालिका से स्पष्ट है—[1]

---

1 A Kursky, *The Planning of the National Economy of the U S S. R* —p 80

	इकाई (Unit)	१६१३	१६४०	१६४० के उत्पादन का १६१३ से अनु० (१६१३ = १)
(१) राष्ट्रीय आय	ह० मि० रूबल	२१·०	१२८·३	६·०
(२) सब उद्योगों का सकल (Gross) उत्पादन	”	१६·२	१३८ ५	८ ५
(३) उत्पादन के साधनों का उत्पादन	”	५·४	८४ ८	१५·५
(४) उपभोग की वस्तुओं का उत्पादन	”	१० ८	५३ ७	५·०
(५) कच्चा लोहा (Pig Iron)	मिलि० टन	४ २	१५ ०	३·६
(६) इस्पात (Steel)	”	४ २	१८ ३	४ ४
(७) कोयला	”	२६ ०	१६६·०	५ ७
(८) तेल	”	६·०	३१·०	३·४
(६) विद्युत शक्ति	ह० मि० कि०	१·६	४८ ३	२६ ०
(१०) मशीन निर्माण तथा धातु कार्य	ह० मि० रूबल	१ ५	५० २	३३ ०
(११) विक्रयार्थ अतिरेक (Surplus) अनाज	मिलियन टन	२१ ६	३८ ३	१ ८
(१२) रुई (Raw cotton)	”	०·७४	२ ७	३·६

उपरोक्त तीनों पंचवर्षीय योजनाओं का आधार लेनिन तथा स्टेलिन द्वारा अपनाया हुआ सिद्धान्त—देश का समाजवादी औद्योगीकरण—था।

प्रोफेसर मारिस डॉब ने ठीक ही कहा—इसमें संदेह है कि पहले कभी भी, *संसार के इतने विशाल भू-खण्ड पर, इस प्रकार के गहन परिवर्तन, इतने अल्प समय* में हुए हों जितना कि सोवियत रूस में हुआ।

रूस ने सिद्ध कर दिया कि (१) कोई भी देश विकास में इसलिए नहीं पिछड़ा कि वह गरीब था या यहाँ बचत और पूँजी निर्माण कम होता था। देश के पिछड़ने के कारण आर्थिक संगठन की कमजोरी और लापरवाही होती है। (२) कृषि-प्रधान देशों में औद्योगीकरण से खेती का उत्पादन श्रम के अभाव के कारण कम नहीं होता क्योंकि इन देशों के ग्रामीण क्षेत्र पर आवश्यकता से बहुत अधिक आबादी रहती है। (३) विदेशी पूँजी की अत्यधिक सहायता लिये बिना भी विकास हो सकता है (४) राष्ट्रीय अर्थ व्यवस्था का केन्द्रीय निर्देशन तथा संचालन, कम से कम समय में आर्थिक प्रगति सम्भव बना देगा। (५) ब्याज तथा लाभ बिना भी विशाल पूँजी तथा विनियोग किया जा सकता है। (६) *मूल्य निर्धारण पर लागत, माँग तथा पूर्ति का प्रभाव* हटाया जा सकता है। (७) औद्योगिक मंदी आवश्यक नहीं है।

अमेरिका की राष्ट्रीय प्रगति के जो आँकड़े हमें सुलभ हैं उनसे पता चलता है कि पिछले ७५ वर्षों में हर २० वर्ष बाद अमेरिका का राष्ट्रीय उत्पादन बढ़कर दुगुना

हो गया है। इस प्रकार सन् १८८० की तुलना में इस समय अमेरिका [redacted] राष्ट्रीय उत्पादन १३ गुना अधिक है। यह सब आर्थिक आयोजन की ही देन है।

प्रारम्भ में राष्ट्र आर्थिक आयोजन अपनाने में हिचकिचाते थे, क्योंकि इन योजनाओं से 'समाजवाद की गंध' (Socialist flavour) आती थी। परन्तु रूस की योजनाओं की आश्चर्यजनक सफलता एवं विश्वव्यापी आर्थिक मदी (economic depression) ने विभिन्न देशों को आर्थिक आयोजन अपनाने के लिए विवश कर दिया। वाडिया एवं जोशी के शब्दों में, 'सोवियत रूस की पंचवर्षीय योजनाओं की सफलताओं के उपरान्त आयोजन आर्थिक व्याधियों के लिए रामबाण औषधि समझी जाने लगी है। यहाँ तक कि पूँजीपति और व्यापारी वर्ग जो आयोजन के शत्रु और स्वतन्त्र व्यापार के पुजारी माने जाते हैं, वे भी आयोजन के पक्के अनुयायी बन गये हैं।' इस प्रकार अनियन्त्रित पूँजीवाद की आर्थिक कमजोरियाँ, युद्ध में अपनाया गया आर्थिक आयोजन, वर्तमान युद्धजनित भीषण बर्बादी, आर्थिक आयोजन पर अर्थशास्त्रियों की स्वीकृति, समस्त बड़े राष्ट्रों की आयोजन में बढ़ती हुई दिलचस्पी, आयोजन की ओर बढ़ती हुई दिलचस्पी के लिए उत्तरदायी हैं।

आज संसार के लगभग सभी राष्ट्र किसी न किसी प्रकार के आयोजन के पक्ष में हैं। अविकसित राष्ट्रों के लिए तो आर्थिक आयोजन 'जीवन संजीवनी' हो गया है।

भारतवर्ष में आर्थिक आयोजन

(Economic Planning in India)

यों तो भारतवर्ष में समय-समय पर कुछ महान् विभूतियों ने अपनी दूरदर्शिता एवं उदारता के कारण जनता एवं सरकार का ध्यान तत्कालीन भारतीय दरिद्रता, पिछड़ी हुई अवस्था एवं अन्य गम्भीर समस्याओं की ओर अपनी विदुषी-लेखनी द्वारा आकृष्ट किया है। यत्र-तत्र कुछ प्रयास भी किये गये। परन्तु स्वतन्त्रता की प्राप्ति तक ऐसे कोई ठोस कदम नहीं उठाये गये जिनको हम 'आर्थिक नियोजन' की संज्ञा दे सकें। इसके दो कारण रहे हैं—एक तो जनता की उदासीनता तथा दूसरे नियोजन से आने वाली 'समाजवादी-गंध' (Socialist flavour) जो कि तत्कालीन सरकार को बिल्कुल पसन्द न थी।

सर्वप्रथम देश के माननीय जस्टिस रानाडे ने सन् १८९२ में जनता से भारतीय राजनैतिक अर्थशास्त्र के ऐतिहासिक, वास्तविक एवं सापेक्षिक अध्ययन करने के लिए अनुरोध किया। इसके द्वारा देश के नेताओं एवं नागरिकों का ध्यान स्वतः भारत की तत्कालीन प्रमुख गम्भीर समस्याओं की ओर आकर्षित हुआ।

देश के वयोवृद्ध श्रद्धेय डा० एम० विश्वेश्वरैया, जो कि सुप्रसिद्ध इन्जीनियर, प्रशासक, राजनीतिज्ञ एवं उद्योगपति हैं, ने १९२० में 'भारत के लिए आयोजित अर्थ-

व्यवस्था' (Reconstructing India) नामक पुस्तक प्रकाशित की। उन्होंने अपनी पुस्तक में आर्थिक जीवन के क्रमबद्ध तथा योजनाबद्ध विकास की आवश्यकता पर बल दिया और समस्त भारत के आयोजित विकास के लिए एक वर्षीय कार्यक्रम प्रस्तुत किया।

इस प्रकार आयोजन के क्षेत्र में अग्रगामी अथवा अगुआ (pioneer) होने का श्रेय श्री विश्वेश्वरैया को ही है।

भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने सन् १९३८ में आदरणीय पंडित जवाहरलाल नेहरू की अध्यक्षता में एक 'राष्ट्रीय आयोजन समिति' (National Planning Committee) नियुक्त की थी। १९३९ से १९४५ तक युद्धजनित परिस्थितियों के कारण उसका कार्य प्रगति न कर सका। युद्ध की समाप्ति पर समिति ने इस विषय पर एक पुस्तकमाला प्रकाशित की।

युद्धोत्तर पुनर्निर्माण के लिए भारत सरकार ने १९४४ में एक 'योजना तथा विकास विभाग' स्थापित किया। उसी वर्ष प्रान्तीय सरकारों को भी युद्धोत्तर विकास की योजनाएँ तैयार करने के लिए कहा गया।

द्वितीय महायुद्ध काल में अनेक गैर सरकारी योजनाएँ भी तैयार की गईं, उनमें से प्रमुख ये थीं —

(१) बम्बई के अर्थशास्त्रियों एवं उद्योगपतियों द्वारा तैयार की गई 'बम्बई योजना' (Bombay Plan),

(२) श्री एम० एन० राय द्वारा प्रस्तुत 'लोक योजना' (People's Plan), तथा

(३) श्री श्रीमन्नारायण द्वारा तैयार की गई 'गांधीवादी योजना' (Gandhian Plan)।

परन्तु दुर्भाग्यवश ये योजनाएँ सफल न हो सकीं क्योंकि इनके पीछे कोई वैधानिक सत्ता नहीं थी।

सन् १९४७ में देश के स्वतन्त्र हो जाने के पश्चात् पुनः आर्थिक नियोजन की ओर ध्यान दिया गया। राजनैतिक स्वतन्त्रता प्राप्त कर लेने के पश्चात् आर्थिक स्वतन्त्रता प्राप्त करना भी आवश्यक हो गया, क्योंकि आर्थिक स्वतंत्रता के बिना राजनैतिक स्वतन्त्रता कोई महत्व नहीं रखती है। फलस्वरूप हमारी राष्ट्रीय सरकार ने देश की आर्थिक दशा सुधारने और देशवासियों का जीवनस्तर ऊँचा उठाने का बीड़ा उठाया। श्री श्रीमन्नारायण, सदस्य, प्लानिंग कमीशन, के शब्दों में 'भारत लोकतन्त्रीय व्यवस्था के भीतर आर्थिक आयोजन के महान् प्रयोग पर उतर पड़ा है। हमारे प्रयत्नों में तनिक भी ढिलाई होने से न सिर्फ हमारी आर्थिक प्रगति धीमी होगी बल्कि स्वयं लोकतन्त्र भी खतरे में पड़ जायगा।' पंडित नेहरू ने भी इस सम्बन्ध में कहा है कि 'इस समय अगर तनिक

भी देर की गयी तो उसका मतलब यह होगा कि बाद में चलकर और भी ज्यादा भार उठाने पड़ेंगे।'

फलस्वरूप मार्च सन् १६५० में देश के प्रधान मन्त्री पंडित जवाहरलाल नेहरू की अध्यक्षता में एक 'नेशनल प्लानिंग कमीशन' की स्थापना हुई, जिससे वह हमारे साधनों का लेखा जोखा तैयार करे, और ऐसी योजना बनाये कि अधिक से अधिक असरदार तथा सतुलित ढंग से उनका उपयोग किया जा सके।

जुलाई १६५१ में योजना का मसविदा 'अधिक-से अधिक सार्वजनिक आलोचना और विचार' के लिए प्रकाशित कर दिया गया। यह मसविदा केन्द्रीय मन्त्रालयों, राज्यों तथा जनमत के प्रतिनिधियों की सलाह से तैयार किया गया था। 'कमीशन' को इसके फलस्वरूप जो सुझाव प्राप्त हुए, उनकी रोशनी में मसविदे का सुधार किया गया। दिसम्बर १६५२ में भारतीय संसद के सामने प्रथम पंचवर्षीय योजना अपने अंतिम रूप में प्रस्तुत की गई, और उसे १६ दिसम्बर सन् १६५२ को संसद की स्वीकृति प्राप्त हुई। ११ दिसम्बर सन् १६५२ को प्रधान मन्त्री ने राष्ट्र के नाम एक सन्देश ब्राडकास्ट किया। उन्होंने कहा कि 'जनता के विभिन्न हिस्सों में अधिक से अधिक मतैक्य का यह प्रतिनिधित्व करती है। नवीन भारत के निर्माण के इस महान् प्रयास में हम सब साझीदार बनें।'

उद्देश्य

इस योजना का मुख्य उद्देश्य देश में विकास कार्य आरम्भ करना था, जिससे लोगों के रहन-सहन का स्तर ऊँचा उठाया जा सके और उन्हें उन्नत जीवन बिताने के लिए नये अवसर प्रदान किये जा सकें। योजना का उद्देश्य केवल संसाधनों का ही विकास करना नहीं, बल्कि मानवीय गुणों का विकास करना और लोगों की आवश्यकता तथा भावनाओं के अनुरूप एक समाज की रचना करना भी था।

सन् १६७७ तक प्रति व्यक्ति आय को दुगुना करना एक दीर्घकालीन उद्देश्य रखा गया है। प्रथम योजना काल (१६५१ ५६) में राष्ट्रीय आय को ६० अरब रुपये से बढ़ाकर १ खरब रुपये करने का लक्ष्य रखा गया। बचत की दर में वृद्धि करके १६५५ ५६ तक इसे ६३ प्रतिशत, १६६०-६१ तक ११ प्रतिशत तथा १६६७ ६८ तक २० प्रतिशत कर देने का विचार किया गया।

प्रथम पंचवर्षीय योजना

प्रथम योजना का उद्देश्य भविष्य में द्रुततर विकास की तैयारी करना था। सार्वजनिक क्षेत्र के विकास-कार्यक्रम में प्रस्तावित व्यय के लिये प्रारम्भ में २,०६६ करोड़ रुपये रखे गये थे जो बाद को बढ़ाकर २,३५६ करोड़ रुपये कर दिये गये।

प्रथम योजना काल में सिंचाई तथा विद्युत उत्पादन के साथ साथ कृषि के

विकास को सबसे अधिक प्राथमिकता दी गई। परिवहन (transport) तथा संचार-साधनों के विकास को भी प्राथमिकता मिली। औद्योगिक विकास निजी उद्योगपतियों की पहल तथा निजी संसाधनों पर छोड़ दिया गया।

व्यय

प्रथम पंचवर्षीय योजना काल में मुख्य मदों पर हुआ वास्तविक व्यय निम्न तालिका में दिया गया है :

मुख्य मदों पर वास्तविक व्यय (प्रथम योजना)

	वास्तविक व्यय (करोड़ रुपये)	कुल व्यय का प्रतिशत
कृषि तथा सामुदायिक विकास	२९९	१४.८
सिंचाई तथा विद्युत	५८५	२९.१
उद्योग और खनन	१००	५.०
परिवहन तथा संचार-साधन	५३२	२६.४
समाज सेवाएँ	४२३	२१.०
विविध	७४	३.७
योग	२०१३	१००.०

२०१३ करोड़ रुपये के आँकड़े जो उपर्युक्त तालिका में दिये गये हैं, पाँचवें वर्ष के लिए संशोधित प्रक्कलनों पर आधारित हैं। पुनर्विचार किये जाने के फलस्वरूप अब वास्तविक व्यय १९६० करोड़ रुपये होने का अनुमान लगाया गया है।

योजना के आर्थिक साधन

प्रथम योजना के अन्तर्गत व्यय किये गये १९६० करोड़ रुपये की व्यवस्था निम्न साधनों के द्वारा की गई थी :

(करोड़ रुपयों में)

साधन	धनराशि
(१) रेवेन्यू एकाउन्ट से प्राप्त किये गये साधन (रेलवे के अंशदान सहित)	७५२
(२) जनता से प्राप्त ऋण	२०५
(३) अल्प बचत तथा अशोध्य ऋण (Unfunded Debt)	३०४
(४) पूँजीगत लेखों पर अन्य विविध प्राप्तियाँ	९१
(५) बाह्य सहायता	१८८
(६) घाटे की व्यवस्था से प्राप्त साधन	४२०
योग	१,९६०

योजना के लक्ष्य एवं प्रगति

प्रथम योजना का मुख्य उद्देश्य एक ऐसी नींव तैयार करना था जिस पर एक प्रगतिशील तथा विविधतापूर्ण अर्थ-व्यवस्था का निर्माण किया जा सके। योजना के निर्माण के समय हमारे नवोदित स्वतन्त्रता प्राप्त राष्ट्र के सम्मुख अनेक महत्वपूर्ण समस्याएँ थीं जैसे खाद्य और कच्चे माल की कमी तथा मुद्रा-स्फीति का निरन्तर दबाव। ऐसी परिस्थितियों में स्वाभाविक था कि योजना का मूल उद्देश्य भविष्य में शीघ्र उन्नति के लिए भूमिका तैयार करना है। दीर्घकालीन आवश्यकताओं की पूर्ति करने के साथ यह भी ध्यान रखा गया कि सन्तुलित और व्यापक आर्थिक विकास की प्रवृत्तियों का प्रारम्भ हो।

हर्ष का विषय है कि प्रथम योजना को आशातीत सफलता प्राप्त हुई। प्रथम योजना के लघुकालीन तथा दीर्घकालीन दोनों ही प्रकार के उद्देश्यों की भरपूर पूर्ति हुई। देश के उत्पादन में काफी वृद्धि हुई तथा अर्थव्यवस्था सुदृढ़ हुई। मुद्रा स्फीति के प्रभाव लगभग समाप्त हो गये। योजना के अन्त में सामान्य मूल्य स्तर प्रारम्भ की अपेक्षा १५% कम था। राष्ट्रीय आय में १८%, कृषि उत्पादन में ३०%, विद्युत-शक्ति में ८४%, पूँजीगत वस्तुओं के उत्पादन में ७०%, औद्योगिक तथा उपभोगीय पदार्थों में ३४% तथा औद्योगिक उत्पादन में कुल मिला कर ३०% वृद्धि हुई। अनेक महत्वपूर्ण एव आधारभूत कारखाने खोले गये। कृषि तथा औद्योगिक उत्पादन दोनों ही योजना के निर्धारित लक्ष्यों से कहीं आगे निकल गये। विनियोग की दर में भी प्रगति हुई। योजना के प्रारम्भ में विनियोग की दर राष्ट्रीय आय की ५% थी जो कि योजना के अन्त तक ७% हो गई। अर्थ व्यवस्था के विभिन्न क्षेत्रों के लक्ष्य तथा उनकी प्राप्तियाँ द्वितीय योजना के साथ दी गई हैं।

द्वितीय पंचवर्षीय योजना

उद्देश्य

द्वितीय पंचवर्षीय योजना १५ मई, १९५६ को संसद में प्रस्तुत की गई। इसके मुख्य उद्देश्य हैं :—

(१) राष्ट्रीय आय में २५ प्रतिशत वृद्धि;
(२) विशेषकर मूलभूत (बुनियादी) तथा भारी उद्योगों के विकास के साथ द्रुतगति से औद्योगीकरण;
(३) रोजगार के अधिक अवसरों की सुविधा; तथा
(४) आय और धन में पाई जाने वाली असमानता में कमी तथा धन का समान वितरण।

व्यय तथा आवंटन

द्वितीय योजनाकाल में केन्द्रीय तथा राज्य सरकारों द्वारा विकास कार्यों पर ४८०० करोड़ रुपये व्यय करने का लक्ष्य रखा गया है, जब कि प्रथम योजना में लक्ष्य २३६५ करोड़ रुपये के व्यय [redacted] रखा गया था और वास्तविक व्यय १६६० करोड़ रुपये का हुआ। इसमें स्थानीय विकास कार्यों को कार्यान्वित करने में जनता द्वारा दिया गया योगदान सम्मिलित नहीं है। विकास के मुख्य मदों का व्यय-विभाजन निम्न तालिका में दिखाया गया है :

योजना के अन्तर्गत मुख्य विकास शीर्षकों के अनुसार व्यय विभाजन

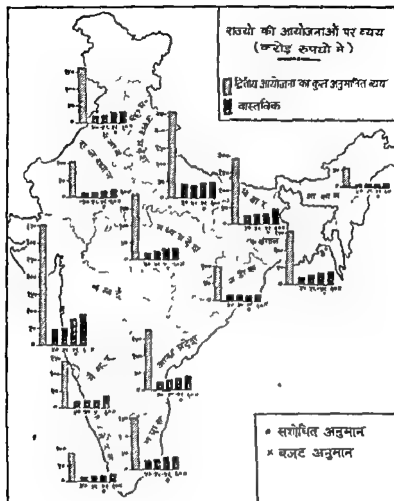
	प्रथम योजना		द्वितीय योजना		प्रथम योजना पर द्वितीय योजना की प्रतिशत वृद्धि
	कुल व्यवस्था (करोड़ रुपये)	प्रतिशत	कुल व्यवस्था (करोड़ रुपये)	प्रतिशत	
कृषि तथा सामुदायिक विकास	३५७	१५·१	५६८	११·८	५९·१
सिंचाई तथा विद्युत	६६१	२८·१	९१३	१९·०	३८ १
उद्योग तथा खनन	१७९	७ ६	८९०	१८·५	३९७ २
परिवहन तथा संचार साधन	५५७	२३·६	१३८५	२८·९	१४८·७
समाज सेवाएँ	५३३	२२·६	९४५	१९·७	७७·३
विविध	६९	३·०	९९	२·१	४३·५
योग	२,३५६	१००·०	४,८००	१००·०	

४,८०० करोड़ रुपये के कुल व्यय में से २,५५९ करोड़ रुपये केन्द्रीय सरकार तथा २,२४१ करोड़ रुपये राज्य सरकारें वहन करेंगी। कुल व्यय में से ३,८०० करोड़ रुपये का उपयोग विनियोग के लिए तथा १,००० करोड़ रुपये का उपयोग चालू विकास व्यय के लिए किया जायगा।

निजी क्षेत्र में विनियोग

द्वितीय योजनाकाल में निजी क्षेत्र में २,४०० करोड़ रुपये का विनियोग इस प्रकार होने की सम्भावना है :

	करोड़ रुपये
संगठित उद्योग तथा खनन	५७५
बागान, विद्युत तथा परिवहन (रेलों को छोड़कर)	१२५
निर्माण कार्य	१,०००
कृषि और ग्राम तथा छोटे पैमाने के उद्योग	३००
स्टॉक	४००
	२,४००



चित्र १२

सरकारी क्षेत्र के लिए वित्तीय साधन

योजना के अन्तर्गत इस सार्वजनिक क्षेत्रों में ४,८०० करोड़ रुपये व्यय किये जायेंगे, उनकी पूर्ति करने वाले वित्तीय साधन अगले पृष्ठ पर दिये गये हैं :—

द्वितीय योजना के वित्तीय साधन

(करोड़ रुपयों में)

वित्तीय साधन	धनराशि	धनराशि
चालू राजस्व की आय में से बचत	...	८००
१६५५-५६ के करों की दर पर	३५०	
नए करों से अतिरिक्त आय	४५०	
जनता से ऋण		१,२००
खुले बाजार से ऋण	७००	
अल्प बचतें	५००	
बजट के अन्य सूत्रों से आय		४००
रेलों से प्राप्त आय	१५०	
प्राविडेंट फंड तथा अन्य जमा खातों से	२५०	
विदेशी सहायता		८००
हीनार्थ अर्थ प्रबन्धन द्वारा		१,२००
कमी जो पूरी की जायगी		४००
योग		४,८००

योजना आयोग द्वारा पुनर्विचार (Reappraisal)

प्रथम तीन वर्षों में कुछ महत्वपूर्ण परिवर्तन होने के कारण योजना आयोग को द्वितीय पंचवर्षीय योजना में आवश्यक संशोधन करने पड़े हैं। योजना आयोग के पुनर्विचार के अनुसार वर्तमान योजना पर सार्वजनिक क्षेत्र में ८८० करोड़ रुपये और निजी क्षेत्र में ५७५ करोड़ रुपये व्यय करने का अनुमान लगाया गया है। खनिज विकास के लिए ११० करोड़ रुपये का प्राविधान किया गया है। सिंचाई तथा शक्ति के लिए ४२० करोड़ रुपये आवंटित किये गये हैं। यदि इस व्यय का आधा अर्थात् २१० करोड़ रुपये अनुमानतः शक्ति (power) के लिए मान लिया जाय तो द्वितीय योजना में उद्योग एवं शक्ति पर होने वाला कुल व्यय लगभग १,७७५ करोड़ रुपये (८८०+५७५+११०+२१०) होगा।

जहाँ तक उद्योगों का सम्बन्ध है, बड़े उद्योगों पर होने वाला सार्वजनिक व्यय सङ्गठित उद्योगों पर होने वाले निजी व्यय का अधिकांश भारी उद्योग के लिए निर्धारित है। द्वितीय योजना में सार्वजनिक और निजी क्षेत्र में औद्योगिक विकास पर होने वाले मूल (original) सकल व्यय—१०६५ करोड़ रुपये—का ८०% भारी उद्योगों और शेष २०% उपभोक्ता वस्तु उद्योगों पर होना है। अतः लोगों का कथन है कि इस

योजना में उपभोक्ता वस्तु उद्योगों की अपेक्षाकृत उपेक्षा की गई है। परन्तु वर्तमान स्थितियों को देखते हुए, यह स्वीकार करना पड़ेगा कि सन्तुलित भुगतान की समस्या के निराकरण के लिए उत्पादक वस्तु (producer goods) उद्योगों पर बल देना उचित है। साथ-ही साथ मुद्रास्फीतिजन्य (Inflationary) भयानक प्रभावों को दूर करने के लिए, उपभोक्ता वस्तुओं की बढ़ती हुई माँग को पूरा करने के लिए भी उचित व्यवस्था होनी चाहिए।

योजना के लक्ष्य एवं प्रगति

प्रथम पचवर्षीय योजना एक कृषि प्रधान योजना थी जब कि द्वितीय पचवर्षीय योजना एक उद्योग-प्रधान योजना है। यद्यपि द्वितीय योजना में औद्योगीकरण को केन्द्र बिन्दु माना गया है तब भी कृषि एव सामुदायिक विकास योजनाओं की उपेक्षा नहीं की गई है। प्रथम योजना का उद्देश्य देश के आर्थिक विकास के लिए नींव डालना था और द्वितीय योजना का उद्देश्य देश के आर्थिक विकास को आगे बढ़ाना है। द्वितीय योजना काल में कपड़े का प्रति व्यक्ति उपभोग १८ गज तक बढ़ा दिया जायगा तथा बिजली का उपभोग दुगना कर दिया जायगा। सिंचित क्षेत्र में ३१%, विद्युत शक्ति में १०३% तथा खाद्यान्न में १५% वृद्धि हो जायगी। समाजवादी समाज की व्यवस्था करने निर्धन तथा धनवान के अन्तर को कम किया जायगा, प्रादेशिक असमानताओं को कम करके विभिन्न क्षेत्रों का सतुलित विकास किया जायगा तथा राष्ट्र का सर्वाङ्गीय विकास किया जायगा। उत्पादन तथा विकास के प्रमुख लक्ष्य इस प्रकार निर्धारित किये गये हैं :

मद	प्रथम योजना (करोड़ रु० में)	प्रतिशत	द्वितीय योजना (करोड़ रुपये में)	प्रतिशत
१. कृषि और सामुदायिक विकास	३५७	१५·१	५६८	११·८
कृषि	२४१	१०·२	३४१	७·१
राष्ट्रीय विस्तार और सामुदायिक योजनाएँ	९०	३·८	२००	४·१
अन्य कार्य (ग्राम पचायत व स्थानीय विकास)	२६	१·१	२७	०·६
२. सिंचाई एव विद्युत	६६१	२८·१	९१३	१९·०
सिंचाई	३८४	१६·३	३८१	७·९
विद्युत	२६०	११·१	४२७	८·९
बाढ़ नियन्त्रण, अन्य योजनाएँ, जाँच-पड़ताल आदि	१७	०·७	१०५	२·२

३ उद्योग और खानें	१७६	७६	८९०	१८५
बड़े और मँझले उद्योग	१४८	६३	६१७	१२९
खनिज विकास	१	—	७३	१५
ग्राम तथा छोटे उद्योग	३०	१३	२००	४१
४ परिवहन एवं संचार	५५७	२४६	१,३८५	२८९
रेलवे	२६८	११४	९००	१८८
सड़कें	१३०	५५	२४६	५१
सड़क परिवहन	१३	०५	१७	०४
बन्दरगाहें	३४	१५	४५	०९
जहाजरानी	२६	११	४८	१०
अन्तर्देशीय जल परिवहन	—	—	३	०१
नागरिक वायु परिवहन	२४	१०	४३	०९
अन्य परिवहन	३	०१	७	०१
डाक तथा तार	५०	[illegible]	६३	१३
अन्य संचार	५	[illegible]	४	०१
प्रसारण	५	[illegible]	९	०२
५ समाज सेवाएँ	५५३	२२६	९४५	१९७
शिक्षा	१६४	७०	३०७	६४
स्वास्थ्य	१४०	५९	२७४	५७
आवास	४९	२१	[illegible]	[illegible]
पिछड़ी जातियाँ	[illegible]	१३	९१	१९
समाज कल्याण	५	०२	२९	०६
श्रम व श्रम कल्याण	७	०३	२९	०६
पुनः संस्थापन	[illegible]	०३	२९	०६
शिक्षितों की बेकारी सम्बन्धी योजनाएँ	—	—	५	०१
६ विविध	३९	३०	९९	२
योग	२३५६	१०००	४,८००	१०००

उपरोक्त लक्ष्यों को निर्धारित करने के कुछ समय पश्चात् तो यह अनुभव किया गया कि कृषि उत्पादन के लक्ष्य देश की बढ़ती हुई माँग को पूरा करने में असफल रहेंगे। अतः कृषि उत्पादन के लक्ष्य का संशोधन किया गया यद्यपि आर्थिक साधनों

का आवंटन पूर्ववत ही रहा। कृषि उत्पादन के संशोधित लक्ष्य तथा उनकी मूल लक्ष्यों पर प्रतिशत वृद्धि निम्न तालिका में दी गई है :

	उत्पादन का मूल लक्ष्य	दोहराये गये लक्ष्य	द्वितीय योजना में वृद्धि का प्रतिशत (मूल)	(दोहराये गये)
खाद्यान्न (लाख टन)	७५०	८०५	१५	२३ ८
रुई (लाख गाँठें)	५५	६५	३१	५४ ८
जूट (लाख गाँठें)	५०	५५	२५	३७ ५
गन्ना (गुड़ (लाख टन)	७१	७८	२२	३४'५
तिलहन (लाख टन)	७०	७६	२७	३८ २
अन्य फसलें	—	—	६	२२ ४
सभी वस्तुएँ	—	—	१७	२७'१

योजना की प्रगति

द्वितीय योजना के प्रथम चार वर्षों में कुल ३६६० करोड़ रुपये व्यय किये जाने का अनुमान है। विभिन्न प्रमुख विकास की मदों पर विभिन्न वर्षों में किये गये व्यय का अनुमान निम्न तालिका से होगा :

	१९५६ ५७	१९५७ ५८	(दोहराया हुआ अनुमान) १९५८ ५९	प्रथम चार वर्षों [redacted] योग (१९५६ ६०)
कृषि एवं सामुदायिक विकास	६७	८७	१२३	४१९
सिंचाई एवं विद्युत	१५५	१५८	१७१	६६६
लघु एवं ग्रामीण उद्योग	२८	३३	४१	१४६
उद्योग एवं खनिज पदार्थ	७५	१९४	२५७	७२५
यातायात एवं संदेश वाहन	२१६	२७०	२९४	१,०९२
सामाजिक सेवाएँ	८६	१०८	१५८	५६९
अन्य	१३	१३	२०	७३
योग	६४१	८६३	१,०६४	३,६६०

तृतीय पंचवर्षीय योजना

विकास की ओर हम काफी तेजी से आगे बढ़ रहे हैं। प्रथम और द्वितीय पंचवर्षीय योजनाओं के फलस्वरूप जनसंख्या के एक विशाल समुदाय, लगभग ४० करोड़ व्यक्तियों के जीवन में चुपचाप धीरे-धीरे बड़ा भारी परिवर्तन हो गया है। हमारे जीवन और विचार का क्रम भी बदल गया है। प्रथम पंचवर्षीय योजना एक कृषि-

प्रधान योजना थी, इसका उद्देश्य देश को कृषि उत्पादन में आत्मनिर्भर बनाना था। द्वितीय पञ्चवर्षीय योजना आगे आने वाली वृहत् योजनाओं का प्रारम्भ मात्र ही कही जा सकती है। और वास्तविकता तो यह है कि भारतीय गणराज्य के प्रथम दस वर्ष आयोजन की भूमिका (preamble) बनाने के थे। प्रगति चतुर्दिक हुई है। इन वर्षों से यह ज्ञात हुआ कि भारत किस द्रुत गति से पूर्व औद्योगिक युग से निकल कर औद्योगिक युग में प्रवेश कर रहा है। जब समस्त संसार की विचारधारा औद्योगीकरण के फलस्वरूप परिवर्तित होती जा रहा है और जब कि पश्चिम आज अणु युग नहीं स्पुतनिक युग की ओर अग्रसर हो रहा है, तब भारत किस प्रकार पीछे रह सकता है। इस समय देश के औद्योगीकरण की अत्यधिक आवश्यकता है। तृतीय पञ्चवर्षीय योजना जिसमें सरकारी और निजी क्षेत्रों में १०,२०० (६२०० + ४०००) करोड़ रुपये व्यय किये जायेंगे, के अन्तर्गत देश के औद्योगीकरण पर अत्यधिक बल दिया गया है।

तृतीय पञ्चवर्षीय योजना के उद्देश्य

(१) अगले ५ साल में राष्ट्रीय आय में वार्षिक ५ प्रतिशत से अधिक की वृद्धि करना और हिसाब से देश के विकास में रुपया लगाना जिससे आगे भी वृद्धि का यही क्रम जारी रहे।

(२) अनाज की पैदावार में आत्मनिर्भरता प्राप्त करना और कच्चे माल की उपज को इतना बढ़ाना कि उससे हमारे उद्योगों की जरूरतें भी पूरी हों और निर्यात भी हो।

(३) इस्पात, बिजली, तेल, ईंधन आदि बुनियादी उद्योगों को बढ़ाना और मशीन बनाने के कारखाने स्थापित करना जिससे १० वर्ष के अन्दर देश के औद्योगिक विकास के लिए आवश्यक मशीनें अपने देश में ही बनाई जा सकें।

(४) देश के जन या जनशक्ति का पूरा उपयोग करना और लोगों को अधिक रोजगार देना, तथा

(५) धन और आय की विषमता को घटाना और सम्पत्ति का अधिक न्यायोचित वितरण करना।

योजना में प्रस्तावित व्यय

ऊपर जिन लक्ष्यों का उल्लेख किया गया है, उनको पूरा करने के लिए तीसरी योजना की अवधि में १०,२०० करोड़ रुपये की कुल पूँजी लगाने का विचार है। इसमें से ६२०० करोड़ रु० सरकारी क्षेत्र में और ४००० करोड़ रुपये निजी क्षेत्र में लगाये जायेंगे। सरकारी क्षेत्र में कुल खर्च ७२५० करोड़ रुपये होगा। २०० करोड़ रुपये की राशि सरकारी क्षेत्र से निजी क्षेत्र में तबदील करने की सम्भावना है, जिससे निजी क्षेत्र में पूँजी का निर्माण हो सके। अग्रलिखित सारिणी में तीसरी योजना के कुल व्यय और पूँजी की दूसरी योजना से तुलना की गई है —

(करोड़ रुपये में)

योजना का व्यय		चालू व्यय	सरकारी क्षेत्र	निजी क्षेत्र	कुल पूँजी
दूसरी योजना	४,६००	९५०	३,६५०	३१००	६७,५ १
तीसरी योजना	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]

१—सरकारी क्षेत्र से जो २०० करोड़ रुपये निजी क्षेत्र में दिये जायँगे, वे इसमें शामिल नहीं हैं।

तीसरी योजना में उन पूँजी लगाई जायगी, जिन पर दूसरी योजना में लगाई गई है, परन्तु सरकारी क्षेत्र में कृषि, उद्योग, बिजली और कुछ सामाजिक सेवाओं पर अधिक जोर दिया जायगा। दूसरी और तीसरी योजना में सरकारी क्षेत्र में व्यय किस प्रकार बाँटा गया यह निम्नलिखित में दिया गया है :—

(करोड़ रुपये में)

	व्यय		प्रतिशत	
	दूसरी योजना	तीसरी योजना	दूसरी योजना	तीसरी योजना
(१) कृषि और छोटी सिंचाई योजनाएँ	३२०	६२५	६ ६	८ ६
(२) सामुदायिक विकास और सहकारिता	२१०	४००	४ ६	५ ५
(३) बड़ी और मध्यम सिंचाई योजनाएँ	४५०	६५०	९ ८	९ ०
(४) योग (१ २ ३)	९८०	१,६७५	२१ ३	२३ १
(५) बिजली	४१०	९२५	८ ९	१२ ८
(६) ग्राम और लघु उद्योग	१८०	२५०	३ ९	३ ४
(७) उद्योग और खनिज	८८०	१,५००	१९ १	२० ७
(८) परिवहन और संचार	१,१९०	१,४५०	२८ १	२० ०
(९) योग (५ ८)	२,७६०	४,१२५	६० ०	५६ ९

(१०) सामाजिक सेवाएँ	८६०	१,२५०	१८७	
(११) उत्पादन में रुकावट न आने देने के लिए जमा मान	—	२००	—	२८
(१२) कुल योग	४,६००	७,२५०	१०००	१०००

सरकारी क्षेत्र में खर्च किये जाने वाले कुल ७,२५० करोड़ रुपये में से ३६०० करोड़ रुपये केन्द्र और ३६५० करोड़ रुपये राज्य खर्च करेंगे। केन्द्र द्वारा राज्यों को २५०० करोड़ रुपये की सहायता देने का अनुमान है।

धन जुटाने की योजना

सरकारी क्षेत्र में तीसरी योजना में जो खर्च होगा, उसके लिए धन जुटाने की योजना निम्नलिखित सारिणी में दी गई है

(करोड़ रुपये में)

	दूसरी योजना	तीसरी योजना
(१) वर्तमान करों के आधार पर बचत राजस्व से बचने वाला धन	१००	३५०
(२) वर्तमान आधार पर रेलों से मिलने वाला धन	१५०*	१५०
(३) वर्तमान आधार पर सरकारी उद्योगों से मिलने वाला धन		४४०
(४) सार्वजनिक ऋण	८००	८५०
(५) अल्प बचत	३८०	५५०
(६) भविष्य निधि आदि से मिलने वाला धन	२१३	५१०
(७) अतिरिक्त कर और सरकारी उद्योगों के लाभ में से मिलने वाला धन	१,०००	१,६५०
(८) विदेशी सहायता जिसकी बजट में व्यवस्था की गई है	९८२	२२००
(९) घाटे की अर्थ-व्यवस्था	१,१७५	५००
योग	४,६००	७,२५०

*यात्रियों के किराये और माल भाड़े में हुई बढ़ती मिलाकर।

—तृतीय पंचवर्षीय योजना के स्मरणीय तथ्य—

* तीसरी योजना में देश के विकास में १०,२०० करोड़ रु० लगाये जायँगे।
* ६,२०० करोड़ रुपये सार्वजनिक क्षेत्र में और ४००० करोड़ रु० निजी क्षेत्र में।
* सार्वजनिक क्षेत्र की योजना की लागत ७,२५० करोड़ रुपये होगी।
* राष्ट्रीय आय में प्रति वर्ष ५ प्रतिशत की वृद्धि होगी।
* अनाज की पैदावार १० १०।। करोड़ टन कर दी जायगी।
* १ करोड़ टन इस्पात के ढोंक बनाने की कार्यक्षमता पैदा की जायगी।
* बिजली बनाने की क्षमता ४८ लाख किलोवाट से बढ़ा कर १ करोड़ १८ लाख किलोवाट कर दी जायगी।
* १ करोड़ ४५ लाख आदमियों के लिए नये काम की व्यवस्था की जायगी।
* देश के सब गाँवों में सामुदायिक विकास योजना और सहकारिता का काम चालू कर दिया जायगा।
* ६ वर्ष से ११ वर्ष तक के उम्र के बच्चों को निःशुल्क एवं अनिवार्य शिक्षा दी जायगी।
* सब गाँवों में पीने के पानी, रेल और मुख्य मार्ग तक सड़कें और पाठशाला भवन बनाये जायँगे, जो पंचायत और पुस्तकालय का भी काम देंगे।

प्रश्न

1. Write a brief essay on Economic Planning in India covering not more than four pages of your Answer book. (*Panjab, 1955*)
2. Give in brief the main features of the Second Five Year Plan for India. (*Agra, 1957*)

——

खण्ड ८

यातायात-साधन एवं समस्याएँ

१. रेल यातायात

२. सड़क यातायात

३ जल यातायात

४ वायु यातायात

अध्याय २६

भारत में यातायात

(Transport in India)

महत्व

यातायात तथा सवादवाहन के साधन किसी भी देश की सभ्यता के मापयन्त्र (barometer) होते हैं। वास्तव में देखा जाय तो यातायात के साधनों ने मानवीय विकास के इतिहास में इतना महत्वपूर्ण पार्ट अदा किया है कि इनके द्वारा हमारा सम्पूर्ण जीवन ही एकदम बदल गया है। दैनिक जीवन में इनका महत्व इतना अधिक बढ़ गया है कि आज हम यातायात विहीन जीवन की कल्पना एक क्षण के लिए भी नहीं कर सकते हैं। व्यापार व उद्योग धन्धे एकदम चौपट हो जायेंगे, दैनिक उपयोग की वस्तुएँ दुर्लभ हो जायेंगी, उच्च जीवन स्तर एक स्वप्न मात्र बन जायगा। आधुनिक सभ्य समाज पाशविक बन जायगा और अकर्मण्यता, अकुशलता, बेरोजगारी तथा दुर्लभता का साम्राज्य सर्वत्र छा जायगा। अत किपलिंग ने ठीक ही कहा है कि "यातायात ही सभ्यता है।" डा० अल्फ्रेड मार्शल ने तो यहाँ तक कहा है कि "यदि कृषि और उद्योग राष्ट्रीय आकार के शरीर एव अस्थियाँ हैं, तो सचार के साधन इनके स्नायु हैं।"

प्रो० सैलिगमैन के अनुसार वह देश समस्त सुख सुविधाओं से सम्पन्न है जिसकी विकास योजना में निम्न तीन बात सम्मिलित होती हैं —

(१) मनुष्य और सामग्री यातायात,

(२) बिजली का समस्त राज्य में फैलाना, तथा

(४) एक मनुष्य के विचार दूसरे मनुष्य तक पहुँचाना।

उपरोक्त तीनों प्रकार के उद्देश्य उसी समय पूरे हो सकते हैं जब कि देश में सभी प्रकार के यातायात के साधनों का पर्याप्त विकास हो।

मनुष्य सदैव से अपनी चतुर्दिक प्रगति के लिए प्रकृति के साथ जो सघर्ष करता रहा है उसी सघर्ष को हम मानव की आर्थिक उत्क्रान्ति कहते हैं। इस उत्क्रान्ति में यातायात साधनों का भाग अत्यन्त महत्वपूर्ण है क्योंकि इन साधनों के द्वारा ही मनुष्य दो प्राकृतिक स्थानों की दूरी कम करने में सफल हो सका है।

विशाल समतल मैदान यातायात की उन्नति को प्रभावित करते हैं और यातायात का प्रभाव मनुष्य के सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनैतिक तथा धार्मिक सभी पहलुओं पर पड़ता है। व्यापार एवं वाणिज्य पर यातायात का प्रभाव तो और भी महत्वपूर्ण होता है। डा० मार्शल ने तो यहां तक कहा है कि "हमारे युग का प्रधान लक्षण निर्माता उद्योगों की उन्नति नहीं बल्कि यातायात उद्योगों की उन्नति है।"

उद्‌गम

यातायात का उद्‌गम मनुष्य के विकास की भाँति अस्पष्ट है। इसका प्रारम्भिक इतिहास पौराणिक कथाओं (legends) से आच्छादित है। यातायात के प्रारम्भिक इतिहास तथा विकास का निर्देशन करने के लिए अभी तक कोई अधिकारपूर्ण संकेत प्राप्त नहीं हुआ। अतः इसके प्रारम्भिक विकास के सम्बन्ध में अनुमान ही लगाया जा सकता है। काल की गति के अनुसार यातायात के साधन भी सम्भवतः परिवर्तित होते रहे हैं। अति प्राचीन काल में मनुष्य स्वयं ही अपना सामान एक स्थान से दूसरे स्थान ले जाते थे। शारीरिक रचना के अनुसार मनुष्य और स्त्री में भार वाहन भी विभाजित था। स्त्री अपने सिर पर सामान लाद कर चलती थी और मनुष्य अपने हथियार लेकर चलता था।* आवागमन स्थल मार्ग अथवा पगडण्डियों पर ही होता था। शनैः शनैः बोझा ढोने वाले पशुओं को भी प्रयोग में लाया गया और सभ्यता एवं व्यापार की वृद्धि के साथ-साथ पहिए वाली गाड़ियों का प्रयोग भी किया जाने लगा। आवश्यकता आविष्कार की जननी होती है। तदनुसार भारी और मजबूत पहिएदार गाड़ियों को चलाने के लिए मजबूत और चौड़ी सड़कों के निर्माण की आवश्यकता पड़ी और पक्की सड़कें बनाई जाने लगीं।

सभ्यता और ज्ञान के विकास ने यातायात के साधनों को और परिमार्जित किया। यान्त्रिक यातायात के साधनों का प्रयोग किया जाने लगा। मोटर और रेलगाड़ियाँ दृष्टिगोचर होने लगीं। लागत, समय, दूरी तथा प्रकृति पर विजय प्राप्त करने के लिए जल और वायु यातायात का भी आविष्कार किया गया।

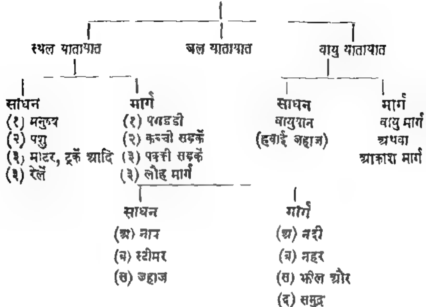
यातायात के प्रकार

(Kinds of Transportation)

मनुष्य यातायात से लेकर आधुनिक वायु यातायात के मध्य अनेक विभिन्न प्रकार के यातायात के साधन दृष्टिगोचर होते हैं। अग्रांकित चार्ट में इनका स्पष्ट चित्रण किया गया है :—

---

*R. J. Eaton, *The Elements of Transport*, p 4



इन विभिन्न यातायात के साधनों का उनकी महत्ता के अनुसार अध्ययन आगामी पृष्ठों में किया गया है।

भारत मे रेल यातायात का विकास

भारतवर्ष में रेलों के विकास का इतिहास बहुत ही रोचक है। अध्ययन की सुविधा के अनुसार इसको निम्न भागों में विभाजित किया जा सकता है:—

(अ) १९ वीं शताब्दी के अंत तक

(१) सन् १८३२ से १८४९ तक (विचार काल);

(२) सन् १८४९ से १८६९ तक (पुरानी गारंटी प्रथा का समय);

(३) सन् १८६९ से १८८१ तक (राज्य द्वारा रेलों के निर्माण का समय);

(४) सन् १८८१ से १९०० तक (नई गारंटी प्रथा का समय);

(ब) द्वितीय महायुद्ध के अंत तक

(५) सन् १९०० से १९१४ तक (प्रथम महायुद्ध के पूर्व का समय);

(६) सन् १९१४ से १९२० तक (प्रथम महायुद्ध काल);

(७) सन् १९२० से १९२५ तक (रेलों की उन्नति एवं नीति का नया युग);

(८) सन् १९२५ से १९३९ तक (आर्थिक मंदी का समय);

(९) सन् १९३९ से १९४५ तक (द्वितीय महायुद्ध काल);

(स) द्वितीय महायुद्ध के पश्चात्

(१०) सन् १९४५ से १९४७ तक (स्वतन्त्रता के पूर्व);

(११) सन् १९४७ से १९५१ तक (स्वतन्त्रता के पश्चात्);

(१२) सन् १९५१ से १९५६ तक (प्रथम पंचवर्षीय योजना),

(१३) सन् १९५६ से १९६१ तक (द्वितीय पंचवर्षीय योजना);

(१४) सन् १९६१ से १९६६ तक (तृतीय पंचवर्षीय योजना) ।

विचार काल (१८३२ १८४९ तक)

भारतवर्ष में रेल निर्माण करने का विचार सन् १८३२ में अंकुरित हुआ जब कि कावेरीपट्टन से लेकर करूर तक लगभग १५० मील लम्बी रेलवे लाइन बिछाने का विचार किया गया था । इसी वर्ष यह भी निश्चय किया गया कि एक रेलवे लाइन मद्रास से लेकर बैंगलोर तक बनाई जाय । इन योजनाओं के अतिरिक्त अनेक अन्य योजनाएँ रेल निर्माण के सम्बन्ध में बनाई गईं परन्तु अभाग्यवश सन् १८५३ तक ये योजनाएँ स्थल स्वप्न रूप में विचरण करती रहीं । सन् १८३२-१८५३ के काल को महोदय हॉरेस बेल (Horace Bell) ने 'रेल निर्माण का विचार काल' की संज्ञा प्रदान की है ।

पुरानी गारंटी प्रथा (१८४९ १८६९ तक)

७ मई सन् १८४३ को तत्कालीन भारतीय गवर्नर जनरल लार्ड डलहौजी ने भारत में रेलों के निर्माण की आवश्यकता पर अपनी स्वीकृति प्रदान की । रेलों के निर्माण के लिए E I R. तथा G. I P. रेलवे कम्पनियों से १७ अगस्त १८४९ को प्रारम्भिक समझौते किये गये और गारंटी प्रथा को स्वीकार किया गया । इस प्रथा की प्रमुख शर्तें निम्नलिखित थीं :—

(१) रेलवे लाइन तथा स्टेशन बनाने के लिए आवश्यक भूमि सरकार द्वारा मुफ्त दी जायगी ।

(२) समझौते की अवधि ९९ वर्ष होगी ।

(३) लगाई गई पूँजी पर ब्याज की दर ४½ से ५% तक होगी और इसकी गारंटी सरकार द्वारा दी जावेगी ।

(४) रेलवे लाइन तथा तत्सम्बन्धी कार्यों पर सरकार का पूरा नियन्त्रण रहेगा ।

(५) सरकार को यह अधिकार होगा कि २५ या ५० वर्ष के बाद उचित क्षति-पूर्ति देकर किसी रेलवे लाइन को खरीद सकती है ।

(६) कम्पनी को यह अधिकार होगा कि वह किसी भी समय सरकार को रेलवे वापस दे सकती है और अपनी सम्पूर्ण पूँजी वसूल कर सकती है ।

(७) अतिरेक लाभ का ½ भाग कम्पनी सरकार को देगी।

(८) विदेशी विनिमय की दर १ शिलिंग १० पेंस रहेगी।

गारंटी-प्रथा के अन्तर्गत किये गये निर्माण कार्य की कड़ी आलोचना की गई। धन का अत्यधिक अपव्यय किया गया क्योंकि रेलवे कम्पनियों को ब्याज की गारंटी मिल चुकी थी। स्वभावतः मितव्ययता की ओर कोई ध्यान न दिया गया। भारत सरकार को इस काल के अन्तर्गत रेलों से १२ करोड़ रुपये की आय हुई परन्तु ब्याज आदि के रूप में २५½ करोड़ रुपये देने पड़े। इतना अधिक ब्याज देने पर भी रेलवे कम्पनियों की कार्यक्षमता में कोई वृद्धि नहीं हुई।

इस अवधि में कुल ४२५५ मील रेलवे लाइन का निर्माण किया गया।

(३) सरकार द्वारा रेलों का निर्माण (१८६६-१८८१)

गारंटी प्रथा के दोषपूर्ण साबित हो जाने पर यह सोचा गया कि रेलों के निर्माण तथा संचालन का कार्य भारत सरकार अपने हाथ में लेगी। रेलों के बनाने के लिए ४ करोड़ रुपये वार्षिक व्यय करना निश्चय किया गया। इस काल में सरकार द्वारा निजी कम्पनियों की तुलना में कहीं नीची लागत पर रेल मार्गों का निर्माण किया गया। छोटी लाइन का प्रचलन भी इसी काल में प्रारम्भ हुआ। देश में समय-समय पर पड़ने वाले अकालों को रोकने के लिए तथा अफगानिस्तान से होने वाली लड़ाई में समर्थ होने के विचार से रेलों के निर्माण की गति तेज करना आवश्यक समझा गया। अतः पुनः सरकार को निजी कम्पनियों का सहयोग प्राप्त करना पड़ा। सन् १८८१-८२ में रेलों की कुल लम्बाई ६८७५ मील थी। इस काल में सरकार को रेल निर्माण में १५ करोड़ रुपये की हानि उठानी पड़ी।

(४) नई गारंटी प्रथा (१८८१-१९००)

इस काल को 'मिश्रित साहस का काल' भी कहते हैं। सरकार ने एक योजना बनाई जिसके अन्तर्गत सरकार ने केवल अनुत्पादक रेलों का निर्माण अपने हाथ में रखा और उत्पादक अथवा लाभदायक रेलों का निर्माण निजी कम्पनियों को सौंप दिया। नई गारंटी प्रथा की शर्तें सरकार के पक्ष में अधिक अनुकूल थीं। सन् १९०० में रेलों की कुल लम्बाई २४,७५२ मील थी।

(५) प्रथम महायुद्ध के पूर्व (१९००-१९१४)

प्रारम्भ से १९०० तक रेल उपक्रम सरकार के लिए एक घाटे का उपक्रम था। सन् १९०१ में रेलों के सचालन तथा प्रशासन की जाँच करने के लिए महोदय टामस राबर्टसन की अध्यक्षता में एक जांच समिति नियुक्त की गई। इस समिति ने अनेक सुझाव दिये जिसमें से केवल एक माना गया। इसके अनुसार सन् १९०५ में एक रेलवे बोर्ड की स्थापना की गई जिसको कि रेलों का सम्पूर्ण प्रशासन सौंप दिया गया।

सन् १९०७ ई० में सर जेम्स मैके की अध्यक्षता में एक और समिति नियुक्त की गई जिसके सुझाव के अनुसार सन् १९०८ में रेलवे बोर्ड का पुनर्संगठन किया गया और उसके अधिकार पहले से अधिक विस्तृत कर दिये गये।

सन् १९१४ १५ में रेलों की कुल लम्बाई ३४,६५६ मील हो गई और कुल लागत ४९५ ०६ करोड़ रुपयों तक पहुँच चुकी थी।

(६) प्रथम महायुद्ध काल (१९१४ १९२०)

सन् १९१४ में प्रथम विश्व युद्ध छिड़ जाने से रेलों के विस्तार को काफी क्षति पहुँची। एक ओर तो रेलों का निर्माण लगभग रुक गया और दूसरी ओर उन पर बहुत अधिक भार पड़ा। फलतः उनका अत्यधिक ह्रास हुआ और आयात की असुविधाएँ होने के कारण उनकी मरम्मत आदि भी ठीक से न हो सकी।

सन् १९२० तक रेलों की लम्बाई ३६,७३५ मील तक पहुँच गई थी और पूँजी-गत व्यय ५६६'३८ करोड़ रुपया हो गया था।

(७) युद्धोत्तर काल (१९२०-१९३५)

सन् १९२० में सर विलियम एकवर्थ की अध्यक्षता में एक जाँच समिति नियुक्त की गई। इस समिति ने कुछ महत्त्वपूर्ण सुझाव दिये, जैसे—

(१) भारतीय रेलों का प्रबन्ध सरकार द्वारा होना चाहिए।

(२) सरकार के सामान्य वित्त (General Finance) से रेल वित्त को अलग कर देना चाहिए।

(३) रेलों के किराये की नीति पर विचार करने के लिए रेलवे रेट्स ट्रायब्युनल स्थापित किया जाय।

(४) सलाहकार समितियों में जनता के प्रतिनिधि भी होने चाहिए।

(५) निजी कम्पनियों के ठेके, उनकी अवधि के समाप्त होते ही, समाप्त कर दिये जायँ।

(६) रेलवे कर्मचारियों में भारतीयों की संख्या अधिक से अधिक होनी चाहिए।

(७) रोलिंग स्टाक की मरम्मत और व्यवस्था के लिए संचित कोष और घिसावट कोष स्थापित किये जायँ।

उपरोक्त सिफारिशों को सरकार ने मान लिया और तदनुसार कार्य करना भी प्रारम्भ कर दिया। अधिकांश रेलों का प्रबन्ध सरकार ने अपने हाथ में ले लिया और सन् १९२४ में रेल वित्त को सामान्य वित्त से अलग कर दिया। सन् १९२५ में रेलों की लम्बाई ३८२७० मील और पूँजीगत लागत ७३३ ३७ करोड़ रुपया थी।

(८) आर्थिक मन्दी का समय (१६२५ से १६३८ तक)

इस काल में अनेक महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए। सन् १६२६ में दो समितियाँ क्रमशः सर आर्थर विन्सन तथा सर रोजन की अध्यक्षता में नियुक्त की गई। इन दोनों समितियों ने बड़े महत्वपूर्ण सुझाव प्रस्तुत किये जिनको सरकार ने अधिकांश में स्वीकार कर लिया। सन् १६२६-३० में रेलों की लम्बाई ४१,७२४ मील और पूँजीगत लागत ८५६.७५ करोड़ रुपये थी। सन् १६३० से आर्थिक मंदी का प्रकोप बढ़ा जिसने भारतीय रेलों पर बहुत बुरा प्रभाव डाला। रेलवे की आय वर्ष प्रति वर्ष घटती चली गई। बजट को सन्तुलित करने के लिए संचित कोष और ह्रास कोष से रुपया निकाला गया। रेलों ने सामान्य बजट को अपना अंश देना बन्द कर दिया। इस काल में ह्रास कोष से कुल ३१.१४ करोड़ रुपये निकाल कर व्यय किये गये और सामान्य कोष को दिया जाने वाला ३०.७४ करोड़ रुपया रेलवे पर उधार हो गया।

इस काल में १३०० मील लम्बी रेलवे लाइन बिछाई गई सन् १६३५ में भारत से बर्मा के अलग हो जाने से लगभग २००० मील लम्बा रेल मार्ग बर्मा में चला गया। सन् १६३६-४० में रेलों की लम्बाई ४१,१५६ मील और पूँजीगत लागत ८५२.५६ करोड़ रुपये थी।

(६) द्वितीय महायुद्ध काल (१६३६-१६४५ तक)

द्वितीय विश्व युद्ध काल में भारतीय रेलों को अनेक प्रकार के संकटों का सामना करना पड़ा। परन्तु इस काल में पिछले विश्वयुद्ध की अपेक्षा भारतीय रेलें अच्छी दशा में थीं। युद्ध छिड़ जाने के कारण रेलों पर ट्रैफिक अधिक बढ़ गया क्योंकि सैनिक तथा असैनिक दोनों ही प्रकार के यातायात में काफी वृद्धि हुई। रेलें इतना अधिक ट्रैफिक का भार उठाने में बिल्कुल असमर्थ थीं। ट्रैफिक बढ़ जाने से रेलों की आय में वृद्धि हुई, जिससे उन्होंने अपने पुराने ऋण चुका दिये और सामान्य वित्त में भी अपना अंश देना प्रारम्भ कर दिया। इस काल में रेलों की आय में १००% से भी अधिक वृद्धि हुई और रेलों ने सामान्य कोष को १५८ करोड़ रुपये की धनराशि दी।

(१०) स्वतन्त्रता के पूर्व (१६४५-१६४७ तक)

सन् १६४५ में युद्ध के समाप्त होते ही विदेशी व्यापार की परिस्थिति में परिवर्तन हुआ और रेलों को अपनी सम्पत्ति का नवीनीकरण करने का अवसर प्राप्त हुआ। सन् १६४६ में एक सुधारक कोष (Betterment Fund) की स्थापना की गई। अभी अधिक काल व्यतीत भी न हुआ था कि १५ अगस्त सन् १६४७ को भारत अपनी चिर दासता की बेड़ियों से मुक्त हुआ। स्वतन्त्रता के साथ ही साथ देश का विभाजन भी हो गया जिसने रेलवे के सम्मुख एक गम्भीर समस्या प्रस्तुत कर दी। विभाजन का रेलों पर क्या प्रभाव पड़ा इसका अध्ययन आगे किया गया है।

(११) स्वतन्त्रता के पश्चात् (१६४७-१६५१)

सन् १६४७ में देश का विभाजन हो जाने के कारण लाखों की संख्या में पाकिस्तानी क्षेत्रों से हिन्दू भारत की ओर और भारतीय क्षेत्र से लाखों मुसलमान पाकिस्तान चले गये। इस आवागमन का प्रभाव भारतीय रेलों पर बहुत पड़ा, और रेलों ने इसे बड़ी कुशलता से निभाया। देश के विभाजन के साथ साथ रेलों का भी विभाजन हुआ। इसके साथ साथ रोलिंग स्टाक तथा वर्कशापों आदि का भी बँटवारा हुआ। विभाजन के परिणामस्वरूप निम्न स्थिति हुई :—

देश	इंजन	सवारी के डिब्बे	माल के डिब्बे	रेलमार्ग (मील)
भारत	७,२४८	२०,१६६	२,१०,०६६	३०,०१७·१५
पाकिस्तान	१,३३६	४,२८०	४०,२२१	६६५७·८८

यही नहीं कर्मचारियों का भी आदान प्रदान हुआ। पाकिस्तान में काम करने वाले १,२६,००० रेलवे कर्मचारियों ने भारत आने की इच्छा प्रगट की परन्तु इनमें से केवल १, ८,००० कर्मचारी ही आ सके। भारतवर्ष से ८३,००० रेलवे कर्मचारी पाकिस्तान चले गये।

प्रथम पंचवर्षीय योजना (१६५१-१६५६)

प्रथम पंचवर्षीय योजना काल में रेलों के विकास के लिए ४०० करोड़ रुपये व्यय करने की व्यवस्था की गई। इस कुल धनराशि में से २५० करोड़ रुपये की धनराशि रेलमार्ग के पुनः स्थापन और विकास पर व्यय की जाने की व्यवस्था थी और १५० करोड़ रुपये रेलमार्ग प्रतिष्ठान तथा साजसज्जा के चालू अवमूल्यन के लिए रखे गये। युद्ध काल में उखाड़ी गई रेलों को पुनः बनाना था। इसके अतिरिक्त तृतीय श्रेणी के यात्रियों के अधिकतर आराम के लिए १५ करोड़ रुपये अलग रखे गये। नई लाइनों को डालने के लिए २० करोड़ रुपये सुरक्षित किये गये।

योजना काल में रेलों के पुनः संस्थापन तथा विस्तार पर ४२३ ७३ करोड़ रुपये व्यय किये गये।

द्वितीय पंचवर्षीय योजना (१६५६-१६६१)

द्वितीय योजना काल में सार्वजनिक क्षेत्र में कुल व्यय किये जाने वाले ४८०० करोड़ रुपयों में से ६०० करोड़ रुपये रेलों के निमित्त आवंटित किये गये हैं। १५० करोड़ रुपये रेलें स्वयं प्रदान करेंगी। इसके अतिरिक्त २२५ करोड़ रुपये रेलवे ह्रास कोष में दिये जायेंगे। २०५ करोड़ रुपये विशाखापटनम् बन्दरगाह को स्थानान्तरित कर

दिये गये हैं। शेष ११२१·५ करोड़ रुपये प्रमुख मदों पर इस प्रकार व्यय किये जायँगे :—

द्वितीय योजना में रेलों पर व्यय

मदें (Terms)	करोड़ रुपये
रोलिंग स्टाक	३८०
मालगोदामों सहित लाइनों की क्षमता का विस्तार	१८६
लाइनों की मरम्मत	१००
विद्युतीकरण	८०
नवीन निर्माण कार्य	६६
कारखाना, प्लाट तथा मशीनरी	६५
कर्मचारी कल्याण तथा उनके लिए आवास	५०
पुल निर्माण (गंगा पुल सहित)	३३
सिग्नलिंग तथा सुरक्षा कार्य	२५
यात्रियों को सुख सुविधाएँ	१५
रेलों का सड़क यातायात में भाग अन्य कार्य, स्टोर डिपोज इत्यादि	१२१ ५
योग	११२५ ५

योजना काल में ६ नये रेलवे वर्कशाप और एक छोटी लाइन के डिब्बे बनाने वाली फैक्टरी स्थापित की जायगी। 'चितरंजन लोकोमोटिव वर्कशाप' का विस्तार किया जायगा। इन कार्यों के लिए ६५ करोड़ रुपये खर्च किये जायँगे। चितरंजन लोको-मोटिव की उत्पादन शक्ति का लक्ष्य ३०० इंजन प्रति वर्ष और कोच बिल्डिंग फैक्टरी का लक्ष्य ३५० डिब्बे रखा गया है। टाटा इलेक्ट्रिक कम्पनी (TELCO) छोटी लाइन के १०० इंजन तैयार किया करेगी। योजना के अन्त तक सवारी गाड़ी के डिब्बों का उत्पादन १२६० से बढ़ कर १८०० प्रति वर्ष और मालगाड़ी के डिब्बों का उत्पादन १३५२६ से बढ़कर २५००० तक हो जाने की आशा है।

रेलों की वर्तमान अवस्था

भारतीय रेलवे वर्तमान समय में सबसे बड़ी राष्ट्रीय सम्पत्ति है। इस समय भारतीय रेलों की लम्बाई ३५०८१ मील है जो कि एशिया में सबसे अधिक है और संसार में इसका चौथा नम्बर है। सन् १९५६ में प्रति दिन भारतीय रेलों ने औसतन

४० लाख यात्रियों को तथा २ ७ लाख टन सामान को ढोया। सन् १९५८ ५९ के अत म रेलों में लगी हुई कुल पूँजी १२६३ करोड़ रुपये थी तथा कुल आय ३९२ करोड़ रुपये था। रेलों म लग हुए कर्मचारियों की सख्या ११,४२,९१८ थी और मजदूरी तथा वतन के रूप म बाँटी गई कुल धनराशि १८३ करोड़ रुपये थी।

रेलों व प्रारम्भ (१६ अप्रैल १८५३) से लेकर इस समय तक इनकी आशातीत प्रगात हुई है। भारताय रेलों का जीवन अभी एक शताब्दी से सानक ही अधिक है। परन्तु समय की अपेक्षा म प्रगति कहीं अधिक हुई है। निम्न आँकड़े इस कथन की पु ट करत हैं —[1]

भारतीय रैलो की प्रगति

लाख रुपयों म

वष	मील लाइन	लगी हुई पूँजी	कुल आय	चालू व्यय	शुद्ध आय
१८५३	२०	३८	० ९०	० ४१	० ४९
१८६३	२५०७	५३००	२२०	१३३	८७
१८७३	५६९७	९१७३	७२३	३७८	३४५
१८८३	१०४४७	१४८३१	१६३६	७९७	८४२
१८९३	१८१५९	२३३१८	२४०८	११३५	१२७३
१९०३	२६६५६	३४१११	३६०१	१७११	१८९०
१९१३ १४	३४६५६	४९५०९	६३५९	३२९३	३०६६
१९२३ २४	३८०"९	७१७९३	१०७८०	६८४५	३९३५
१९३३ ३४	४२९५३	८८४४[?]	९९५८	६९५४	३००४
[2]१९४३ ४४	४०५१२	८५८५४	१९९३२	११४११	८५२१
[3]१९४७ ४८	३३९८५	७४२५०	१८३६९	१६३९४	१९७५
१९५० ५१	३४०७९	८३८१८	२६४१२	२१४३९	५०२३
१९५५ ५६	३४७३६	९७५५०	३१७५१	२६१०७	५७३४
१९५८ ५९	,५०८१	१,३६,२८९	३९२३३	३२४५७	६७७६

रेलो का क्षेत्रिक सामूहीकरण
(Zonal Regrouping of Railways)

भारतवर्ष म रेलों के सामूहीकरण के हेतु समय समय पर विभिन्न समितियों द्वारा सुभाव प्रस्तुत किये गये थे। सन् १९२० २१ म एकवर्थ समिति ने यह सुभाव दिया था कि सम्पूर्ण भारतीय रेलों को तीन क्षेत्रों—पूर्वा, दक्षिणी और पश्चिमी—में

1 India 1960 p 349
2 Burma Railways separated in 1937
3 Following Partition on August 15, 1947

संगठित कर दिया जाय। इस प्रश्न पर सन् १९३६ में वेजवुड समिति ने भी विचार किया था। इस समिति ने भी सुझाव दिया कि समस्त रेलों को ८ समूहों में संगठित कर दिया जाय। स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् यह प्रश्न फिर उठाया गया और सन् १९४८-४९ में कुँजरू समिति को इस सम्बन्ध में अपने सुझाव देने के लिए नियुक्त किया गया। समिति ने अपनी रिपोर्ट में सरकार को यह सलाह दी कि देश के सम्मुख अनेक गम्भीर समस्याएँ होने के कारण रेलों के सामूहीकरण को आगामी पाँच वर्ष के लिए स्थगित कर दिया जाय। परन्तु यह सुझाव स्वीकार नहीं किया गया और जून १९५० में रेलवे बोर्ड ने ३४,००० मील लम्बी रेलों को ६ समूहों में संगठित करने की योजना तैयार की। कालान्तर में इस योजना में संशोधन किया गया और दो समूह और बनाये गये।

सामूहीकरण के सिद्धान्त

रेलों के सामूहीकरण के सम्बन्ध में निम्न तीन सिद्धान्तों को अपनाया गया है :—

(१) यथासम्भव प्रत्येक रेलवे प्रशासन एक सम्पूर्ण और सम्बद्ध क्षेत्र को यातायात सेवाएँ प्रदान करे।

(२) प्रत्येक क्षेत्र इतना बड़ा हो कि उसमें मुख्यालय (H. Q) स्थापित किया जा सके और वहाँ प्रशिक्षण, अनुसंधान और तान्त्रिक सुधारों के लिए उच्चतम सुविधाएँ उपलब्ध हों।

(३) सामूहीकरण इस प्रकार से किया जाय जिससे रेलवे सेवा और व्यवस्था में कम से कम विस्थापन हो और रेलवे सेवाओं की कार्यक्षमता में बाधा न पड़े।

उपरोक्त के अतिरिक्त यह भी ध्यान रखा गया है कि यथासम्भव प्रत्येक क्षेत्र की आर्थिक एवं औद्योगिक आवश्यकता भी पूरी हो सके।

भारतीय रेलो का वर्तमान सामूहीकरण

रेलवे क्षेत्र (Railway Zones)*

क्रम संख्या	क्षेत्र (Zone)	निर्माण की तिथि	जो रेलें शामिल हैं	मुख्य कार्यालय	३१-३-१९५७ को रेल पथ की लंबाई (मीलोंमे)
१.	दक्षिणी	१४ ४ १९५१	मद्रास एण्ड सदर्न मरहट्टा रेलवे, साउथ इण्डियन एण्ड मैसूर रेलवे	मद्रास	६,१००
२	केन्द्रीय	५ ११ १९५१	जी० आई० पी० रेलवे, निजाम स्टेट रेलवे, सिंदिया रलवे और धौलपुर रेलवे	बम्बई	५,२९६
३.	पश्चिमी	५-११ १९५१	बी० बी० एण्ड सी० आई० रेलवे, सौराष्ट्र कच्छ रेलवे	बम्बई	६,०१३
४	उत्तरी	१४ ४ १९५२	राजस्थान रेलवे तथा जयपुर रेलवे ईस्टर्न पंजाब रेलवे, जोधपुर बीकानेर रेलवे, और ई० आई० रेलवे ने तीन अपर डिवीजन	दिल्ली	६,३३९
५.	उत्तर पूर्वी	१४ ४-१९५२	अवध एण्ड तिरहुत रेलवे, असम रेलवे, और बी० बी० एण्ड सी० आई० रेलवे का फतेहगढ जिला	गोरखपुर	३,०६०
६.	उत्तर पूर्व सीमा (North East Frontier)	१५ १-१९५८		पाण्डु	१,७३८
७	पूर्वी	१ ८ १९५५	ईस्ट इण्डियन रेलवे (तीन अपर डिवीजनों को छोड़ कर)	कलकत्ता	२,२२१
८	दक्षिण पूर्वी	१ ८ १९५५	बंगाल नागपुर रेलवे	कलकत्ता	३,४२४

*Source —*India 1960*, p 330

(१) रेलें प्रति वर्ष रेलवे बजट में से सामान्य बजट को व्यापारिक रेलों पर लगी हुई पूँजी पर १% तथा निश्चित रकम चुकाने के पश्चात् जो आधिक्य (surplus) बचेगा उसका ⅔ भाग देंगी।

(२) सामरिक रेलों (strategic lines) पर हानि होने की दशा म उनम लगी हुई पूँजी पर ब्याज और हानि सरकार को मिलने वाली निश्चित रकम में से काट ली जाया करेगी।

(३) सरकार को उपरोक्त निश्चित रकम चुकाने के पश्चात् यदि कुछ आधिक्य शेष बचता है तो वह रक्षित कोष (reserve fund) में जमा कर दिया जायेगा। यदि यह रकम किसी वष ३ करोड़ रुपये से अधिक हो तो अधिक भाग का ⅓ भाग सरकार को दिया जायेगा और ⅔ भाग रक्षित कोष में जमा होगा।

(४) प्रति वष एक निश्चित रकम—रेलों में लगी हुई पूँजी क $\frac{1}{60}$ भाग क बराबर—ह्रास कोष (depreciation fund) में जमा की जायगी।

रेलवे समझौता (Convention) १९४९—सन् १९४९ म उपरोक्त समझौते की व्यापक रूप से परीक्षा की गई और इसके स्थान पर दिसम्बर १९४९ में एक सशोधित समझौता किया गया। इस समझौते की प्रमुख शर्तें निम्नलिखित थीं —

(१) रेल वित्त सामान्य वित्त से अलग ही रखा जाय और रेलों में लगी हुई पूँजी पर ४% लाभ का विश्वास दिलाया जाय।

(२) प्रतिवर्ष ह्रास कोष (depreciation fund) म कम से कम १५ करोड़ रुपया जमा किया जाय।

(३) एक 'रेलवे विकास कोष' (Railway Development Fund) स्थापित किया जाय। पूर्व स्थापित 'रेलवे सुधार कोष' (Railway Betterment Fund) को इस कोष (Development Fund) में इस शर्त पर मिला दिया जाय कि आगामी पाँच वर्षों में प्रति वष ३ करोड़ रुपया यात्रियों की सुख सुविधाओं पर अवश्य खर्च किया जायगा।

(४) 'रेलवे रक्षित कोष' (Railway Reserve Fund) का नाम बदल कर 'राजस्व रक्षित कोष' (Revenue Reserve Fund) रखा जाय और इसकी रकम का प्रयोग सरकार को वार्षिक निश्चित रकम चुकाने में तथा रेलवे बजट का घाटा पूरा करने में किया जाय।

सशोधित प्रस्ताव १९५४—उपरोक्त प्रस्ताव ३० मार्च १९५५ को समाप्त हो गया। एक दूसरा प्रस्ताव (१ अप्रैल १९५५ से ३१ मार्च १९६० तक के लिए) पास किया गया। इसकी मुख्य शर्तें निम्नांकित थीं —

(१) सामान्य वित्त को दिया जाने वाला अश (लगी हुई पूँजी पर) ४% पूर्ववत् दिया जाता रहेगा।

(२) ह्रास कोष में अब ४५ करोड़ रुपये वार्षिक जमा किये जायँगे।

(३) अलाभकर (unproductive) रेलों का निर्माण पूँजीगत व्यय में सम्मिलित किया जाय।

(४) 'रेलवे विकास कोष' में से प्रति वर्ष कम से कम ३ करोड़ रुपये यात्रियों की सुविधाओं के हेतु व्यय किये जायें।

(५) नवनिर्मित रेलों की लागत पूँजी पर ५ वर्ष तक लाभांश न लिया जाय। यह स्थगित धन राशि ५ वर्ष के पश्चात् प्रथम वर्ष से जोड़ कर चुकाई जायगी।

निम्नलिखित तालिका में सन् १९५५ ५६ से रेलों की वित्तीय स्थिति को बताया गया है*—

(करोड़ रुपयों में)

वर्ष	कुल आय	कुल व्यय	बचत	सामान्य वित्त को अंशदान
१९५५ ५६	३१६ २६	२५८ २२	५० ३४	३६ १२
१९५६ ५७	३५० ००	२८५·३६	२६ ६५	३७ ६६
१९५७ ५८	३६८ ५०	३०३ २८	११ ४३	४१ ७६
१९५८ ५९	३९० २१	३३० ८९	५९·३२	५० ३६
१९५९ ६०	४२२ ०३	३५१ ७७	६९ २६	५४ ५१
१९६०-६१ (बजट)	४६४ ५०	३८८ ८०	७५ ७०	५७ २७

प्रश्न

1 Write a short note on Indian Railways since 1945 (*Rajputana, 1951*)

2 Describe the importance and the present position of the Railways in India with reference to the need for rehabilitation and adequate equipment as stressed by the First Five Year Plan (*Patna, 1955*)

3 Examine the necessity and importance of Rail road Co ordination in India Discuss the working of State Transport in U P from the above point of view (*Agra*, 1955, *Punjab*, 1955)

4 'Road transport is becoming more popular and causing loss to railway revenues'

Comment on the above statement and give suggestions for rail road co ordination (*Agra*, 1960)

---

*Source —*India* 1960, p 351

अध्याय २७

सड़क यातायात

(Road Transport)

महत्व

एक अमरीकी सुप्रसिद्ध लेखक ने कहा है कि "यदि आप यह जानना चाहते हैं कि समाज की क्या अवस्था है, आप विश्वविद्यालयों तथा पुस्तकालयों में जाकर जान सकते हैं और कुछ धार्मिक स्थानों तथा गिरजाघरों में जाकर भी जाना जा सकता है परन्तु इतना ही ज्ञान वहाँ की सड़कों को देखकर प्राप्त किया जा सकता है।"[1] इस प्रकार सड़कों को किसी देश की आर्थिक व सांस्कृतिक प्रगति का मापदंड समझा जाता है। किसी देश की सड़कों की तुलना साधारणतया मनुष्य के शरीर की धमनियों से की जाती है। जिस प्रकार धमनियाँ मनुष्य के शरीर को स्वस्थ एवं चैतन्य रखती हैं उसी प्रकार सड़कें भी मनुष्य एवं वस्तुओं के यातायात के द्वारा देश की अर्थ व्यवस्था को स्वस्थ एवं चैतन्य रखती हैं। रस्किन ने तो यहाँ तक कहा है कि 'राष्ट्र की सम्पूर्ण सामाजिक एवं आर्थिक प्रगति अच्छी सड़कों के निर्माण में ही निहित है।[2]

सड़क यातायात का महत्व यातायात के अन्य साधनों की अपेक्षा कहीं अधिक है। सड़क यातायात का महत्व सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक तथा सामरिक सभी दृष्टिकोणों से सराहनीय है। यही कारण है कि आज संसार के प्रत्येक देश में 'सड़कें और अधिक सड़कें' (Roads & More Roads) का नारा लगाया जा रहा है।

भारत में सड़क यातायात का प्रादुर्भाव

भारत वर्ष में सड़कों का निर्माण ऐसे काल में भी होता था जो कि हमारी स्मरण शक्ति के परे है। मोहनजोदड़ो और हड़प्पा के उत्खनन से ज्ञात होता है कि

1. *If you wish to know whether society is stagnant, you may learn something by going into universities and libraries, something also by the work that is being done in cathedrels and churches, but quite as much by looking at the roads."—An American writer.*

2. "All social progress resolves itself into the making of good roads."—*Ruskin*

भारतवर्ष में ईसा से ५००० वर्ष पूर्व भी सड़कों का निर्माण बड़ी कुशलता से होता था। कौटिल्य अर्थशास्त्र में भी मौर्यकाल की विस्तृत सड़कों का उल्लेख मिलता है। ऋग्वेद में भी सड़कों के सम्बन्ध में सन्दर्भ मिलता है। उस समय सड़कों को महापथ के नाम से पुकारा जाता था। विदेशी यात्रियों, जिनमें से मेगस्थनीज और फाहियान उल्लेखनीय हैं, ने भी अपने संस्मरणों में लिखा है कि उनके भ्रमण के समय में भारत वर्ष में बहुत अच्छी सड़कें पाई जाती थीं।

मुगल शासकों के समय में भी भारतवर्ष में बड़ी बड़ी सड़कें बनाई गई। इन शासकों में मुहम्मद तुगलक, शेरशाह सूरी, अकबर तथा औरंगजेब प्रसिद्ध हैं। ब्रिटिश शासन काल में सड़कों की ओर विशेष ध्यान दिया गया, परन्तु उन्होंने भी मुस्लिम शासकों की भाँति केवल सामरिक एवं शासकीय महत्व की दृष्टि से ही सड़कों की ओर ध्यान दिया। इस काल में सड़कों के प्रारम्भिक निर्माण का श्रेय तत्कालीन गवर्नर जनरल लार्ड डलहौजी को प्राप्त है। सन् १९२७ में स्वर्गीय डा० एम० आर० जयकर की अध्यक्षता में एक 'सड़क विकास समिति' स्थापित की गई। इस समिति ने अपनी रिपोर्ट (१९२८) में सरकार को यह सुझाव दिया कि सड़क विकास का भार प्रान्तीय सरकार एवं स्थानीय संस्थाओं की आर्थिक शक्ति के परे है। केन्द्रीय सरकार को इसमें अपना योग देना चाहिए। समिति ने और भी अनेक महत्वपूर्ण सुझाव दिये। इन सुझावों के अनुसार सन् १९३० में केन्द्रीय सड़क संगठन तथा सन् १९३५ में यातायात सलाहकार काउन्सिल की स्थापना हुई।

सन् १९३४ में सरकार ने सड़कों सम्बन्धी उपलब्ध तात्रिक ज्ञान तथा अनुभव एकत्रित करने के लिए 'भारतीय सड़क कांग्रेस' नामक एक अर्ध सरकारी संस्था को स्थापित किया। इस संस्था में वे सब सड़क सम्बन्धी इन्जीनियर तथा ऐसे व्यक्ति जो सड़कों के निर्माण कार्य में रुचि रखते हैं, सदस्य बन सकते हैं। इस समय इस संस्था के सदस्यों की संख्या १२५० के लगभग है। इसने अनेक उपसमितियाँ नियुक्त की हैं जो सड़कों पर पुल बनाने, मिट्टी की शक्ति पर खोज करने और सड़कों की जाँच करने में सहायता करती है।

द्वितीय महायुद्ध ने सड़कों के महत्व को और अधिक बढ़ा दिया और फलतः सड़कों का विकास भी अच्छा हुआ। सामरिक दृष्टिकोण से सरहदों पर पुरानी सड़कों की मरम्मत और नई सड़कों के निर्माण पर अधिक जोर दिया गया।

नागपुर योजना

सन् १९४३ में देश के प्रमुख सड़क इन्जीनियरों का अधिवेशन नागपुर में बुलाया गया। इस अधिवेशन का उद्देश्य भावी सड़क विस्तार एवं विकास के साधनों तथा पद्धति के सम्बन्ध में योजना बनाना था। इस अधिवेशन में एक १० वर्षीय

स्तर पर २४६ करोड़ रुपये व्यय करने का आयोजन किया गया है। इसके अतिरिक्त २५ करोड़ रुपये केन्द्रीय सड़क कोष से अनुदान के रूप में लेकर व्यय किये जायँगे। केन्द्रीय सरकार द्वारा व्यय की जाने वाली धन राशि ८७५ करोड़ रुपये है। इसमें से योजना काल में ५५ करोड़ रुपये व्यय किये जायेंगे। राज्य सरकारों द्वारा सड़क योजना पर १६४ करोड़ रुपये व्यय किये जायँगे।

द्वितीय योजना से अब तक राष्ट्रीय सड़कें १२,६०० मील से बढ़ कर १३,८०० मील हो जायगी और पक्की सड़कें १,०७,००० मील से बढ़ कर १,२५,००० मील हो जायगी। राष्ट्रीय सड़कों में वृद्धि ७% होगी जब कि पक्की सड़कों में १७%।

नागपुर योजना के काल से लेकर द्वितीय पंचवर्षीय योजना के अन्त तक सड़कों का विकास इस प्रकार हुआ है* —

	पक्की सड़कें	कच्ची सड़कें
नागपुर योजना के लक्ष्य	१,२३,०००	२,०८,०००
अप्रैल १, १९५१	९८,०००	१,५१,०००
मार्च ३१, १९५६	१,२२,०००	१,९८,०००
मार्च ३१, १९५८	१,२३,६१०	१,२३,९९६
मार्च ३१, १९६१ (अनुमानित)	१,४४,०००	२,३५,०००

बीसवर्षीय योजना

द्वितीय योजना के पश्चात् भारतीय सड़कों के और अधिक विकास के लिए 'सड़क कांग्रेस' ने एक २० वर्षीय योजना बनाई है। इसके प्रमुख लक्ष्य निम्न लिखित हैं :—

(१) विकसित तथा कृषि क्षेत्र में कोई भी गाँव विकसित तथा पक्की सड़क से ४ मील की दूरी पर तथा कच्ची सड़क १½ मील की दूरी से अधिक दूर न हो।

(२) अर्ध विकसित क्षेत्र में कोई भी गाँव पक्की सड़क से ८ मील की दूरी पर तथा किसी अन्य सड़क से ३ मील की दूरी से अधिक न हो।

(३) एक अविकसित तथा अखेतिहर क्षेत्र में कोई भी गाँव पक्की सड़क से १२ मील की दूरी पर और किसी अन्य सड़क से ५ मील की दूरी से अधिक न हो।

इन लक्ष्यों के प्राप्त हो जाने पर देश में प्रति १०० वर्ग मील में औसत ५२

*India 1960, p 360

मील सड़क होगी जब कि वर्तमान समय में प्रति १०० वर्ग मील में २८ मील औसत सड़क है।

मोटर यातायात

भारतीय सड़क यातायात को दो भागों में विभाजित किया जाता है—एक तो शहरी यातायात और दूसरा ग्रामीण यातायात। शहरी यातायात के अन्तर्गत मोटर कार, ट्रक, बस, ट्राम, टेक्सी, मोटर, रिक्शा, साइकिल रिक्शा तथा साइकिल आदि आते हैं। इसके विपरीत ग्रामीण यातायात में बैलगाड़ी, इक्का, ठेला, ऊँट गाड़ी तथा घोड़ा गाड़ी आदि आते हैं। मोटर यातायात आज शहरी यातायात का एक सर्वप्रिय साधन बन गया है। अतः इसके विकास में एक विहगम दृष्टि डालना भी अनुचित न होगा।

मोटर यातायात का इतिहास अपेक्षाकृत नवीन है। लगभग ५० वर्ष पूर्व (सन् १९१३ तक) भारतवर्ष में केवल ४,००० मोटर गाड़ियाँ थीं। प्रथम महायुद्ध में देश की सुरक्षा के लिए विदेशों से एक बड़ी संख्या में मोटरगाड़ियाँ आयात की गईं। युद्ध की समाप्ति के पश्चात् ये गाड़ियाँ शहरी यातायात के रूप में प्रयोग में लाई जाने लगीं। सन् १९२९ ३० में *विश्वव्यापी मन्दी* के समय भारत में मोटर यातायात की वृद्धि तेजी से हुई। ट्रकों पर माल लाद कर एक स्थान से दूसरे स्थान तथा मोटरों द्वारा सवारियाँ एक शहर से दूसरे शहर ले जाई जाने लगीं। फलतः सन् १९३० के पश्चात् से मोटर और रेल यातायात में तीव्र प्रतिस्पर्धा होने लगी जिससे रेलों को बड़ी हानि हुई। इस प्रतिस्पर्धा को दूर करने के लिए देश में सन् १९३० में 'मोटरगाड़ी अधिनियम' पास किया गया।

सन् १९३८ में द्वितीय महायुद्ध भी प्रारम्भ हो गया। मोटर यातायात को विकास के लिए एक सुनहला अवसर मिला परन्तु आयात के प्रतिबन्धों के कारण तथा पेट्रोल की कमी के कारण आशातीत प्रगति न हो सकी। युद्ध समाप्त होते ही आयात नियन्त्रण ढीले हुए और मोटरगाड़ियों की संख्या पुनः बढ़ने लगी। सन् १९४८ में मोटर गाड़ियों की कुल संख्या २,७७,७३३ थीं।

स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् मोटर यातायात को एक और खुला रास्ता मिला। सड़कों में सुधार हो जाने के कारण तथा योजनाओं के प्रारम्भ हो जाने से मोटरों की संख्या दिन दूनी और रात चौगुनी बढ़ती चली गई। सन् १९५० से सन् १९५८ तक मोटरगाड़ियों की संख्या में जो वृद्धि हुई वह अगले पृष्ठ पर दी गई है।*

---

* *India* 1960, p 362

वर्ष	मोटरगाड़ियों की संख्या
१९४७	२,११,९४९
१९५१	३,०६,३१२
१९५६	४.२२,०४१
१९५७	४,५७,७२७
१९५८	४,९९,२७३

रेल-सड़क स्पर्धा एवं सामंजस्य

स्थल यातायात के दो प्रमुख साधनों—रेल और सड़क—में प्रतिस्पर्धा ने अपना घर कर लिया है जिसके कारण दोनों ही साधनों को हानि होती रही है। यह प्रतिस्पर्धा भारतवर्ष के लिए कोई अनूठी चीज़ नहीं है। संसार के अन्य सभ्य देशों जैसे इंगलैण्ड और अमेरिका में भी यह समस्या पाई जाती है।

भारतवर्ष में रेल और मोटर यातायात में प्रतिस्पर्धा का उदय प्रथम महायुद्ध के पश्चात् से होता है। सन् १९२० के पश्चात् से यह समस्या स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होती है। मोटर यातायात ने अपने किरायों को रेलों की अपेक्षा बहुत कम कर दिया है फलतः ट्रैफिक मोटरों की ओर आकर्षित हुआ, रेलों को हानि सहनी पड़ी। सन् १९२७ में डा० जयकर समिति के सुझाव के अनुसार एक सड़क विकास कोष स्थापित किया गया जिसका उद्देश्य पेट्रोल पर प्रति गैलन दो आना टैक्स लगाकर सड़क विकास के लिए धन संचित करना था। इससे सड़कों में सुधार हुआ।

सन् १९२९-३० में विश्वव्यापी मंदी के कारण मोटरों की सख्या में और भी अधिक वृद्धि हुई। मोटरों और ट्रकों की संख्या बढ़ जाने के कारण व्यापारियों को और भी सुविधाएँ प्राप्त हुईं। फलतः सवारियों और माल का ट्रैफिक इनकी ओर आकर्षित हुआ और रेलों को प्रति वर्ष २ करोड़ रुपये की हानि होने लगी। सन् १९३२ में रेल-मोटर प्रतिस्पर्धा की बढ़ती हुई समस्या का अध्ययन करने के लिए एक मिचेल कर्कनेस समिति नियुक्त की गई। इस समिति ने अपनी रिपोर्ट में अनेक सुझाव प्रस्तुत किये। जिनमें से केन्द्रीय सलाहकार संवादवाहन मंडल (Central Advisory Board of Communications) का स्थापित किया जाना मुख्य था।

इस मंडल का कार्य प्रतिस्पर्धा को दूर करने के लिए एक समन्वय की योजना तैयार करना था। अप्रैल सन् १९३३ में सरकार ने एक रेल-सड़क यातायात सम्मेलन आयोजित किया जिसमें रेलवे, सड़क यातायात और राज्यों के प्रतिनिधियों ने भाग लिया। सम्मेलन ने यातायात के सभी साधनों में समन्वय स्थापित करने का सुझाव

दिया। सन् १६३६ मे वेजउड समिति ने भी इस समस्या पर विचार किया और सुझाव दिया कि निजी मोटर चालकों को लाइसेंस दिये जाएँ, सरकारी (रेलों द्वारा) बसें चलाई जायँ। रेल यात्रियों को अधिक सुविधाएँ दी जायँ, भाड़ा कम किया जाय तथा रेलवे अधिकारियों को व्यापारियों से सीधा सम्पर्क स्थापित करना चाहिए।

सन् १६३६ में सड़क यातायात पर नियत्रण रखने के लिए मोटरगाड़ी अधिनियम पास किया गया। भारत मे मोटर यातायात को नियंत्रित करने में यह अधिनियम बहुत महत्वपूर्ण समझा जाता है। इस अधिनियम को और अधिक प्रशस्त बनाने के लिए सन् १६४६ और सन् १६५६ में सशोधन भी किये गये हैं। सन् १६४८ मे इस दूषित प्रतिस्पर्धा को दूर करने के लिए सरकार ने अपना अंतिम हथियार—राष्ट्रीयकरण भी अपनाया। इसके अनुसार देश में प्रतिस्पर्धा बहुत कम रह गई है। प्रतिस्पर्धा को और कम करने के लिए सरकार ने सन् १६५० म 'सड़क यातायात निगम अधिनियम' भी पास किया। इस अधिनियम के अन्तर्गत राज्यों म राज्य सरकारा, रेलों और निजी मोटर चालकों की साझेदारी से वैधानिक सड़क यातायात निगम (कारपोरेशन) बनाये जा रहे हैं। ये निगम इस प्रतिस्पर्धा को दूर कर सकेंगे ऐसी आशा की जाती है।

अप्रैल १६५६ को सड़क यातायात पुनर्गठन समिति जिसके अध्यक्ष श्री एम० आर० मसानी थे, ने अपनी रिपोर्ट में यह व्यक्त किया है कि भारत म सड़कों की अपेक्षा रेलों पर अब भी अधिक जोर दिया जाता है। समय समय पर सड़क यातायात पर प्रतिबन्ध ही प्रतिबन्ध लगाने का प्रयत्न किया गया है। परन्तु रेल और सड़क यातायात में वैज्ञानिक ढग से समन्वय स्थापित करने का कोई प्रयत्न नहीं किया गया। समिति ने सुझाव दिया है कि सड़क निर्माण को प्राथमिकता दी जाय, उसके लिए अधिक धन राशि स्वीकार की जाय, उन पर केवल एक ही टैक्स लगाया जाय तथा डीजल तेल के आयात के लिए विदेशी मुद्रा का प्रबन्ध किया जाय।

सडक यातायात का राष्ट्रीयकरण

रेल और सड़क यातायात में बढ़ती हुई प्रतिस्पर्धा को रोकने के लिए तथा प्रतिस्पर्धा के दुष्परिणामों को रोकने के लिए सड़क यातायात का राष्ट्रीयकरण एक रामबाण औषधि समझा गया। विभिन्न राज्यों जैसे बम्बई, उत्तर प्रदेश, दिल्ली तथा मद्रास आदि ने अपने राज्यों में सड़क यातायात का राष्ट्रीयकरण करके अन्य राज्यों के लिए पथ प्रदर्शक का कार्य किया। राष्ट्रीयकरण को जनता का एकमेव मत प्राप्त नहीं हुआ। राष्ट्रीयकरण के विपक्ष म भी लोगों ने काफी तर्क प्रस्तुत किये हैं। आइये, राष्ट्रीयकरण के पक्ष व विपक्ष मे दिये गये तर्कों को भी सक्षेप मे देख लिया जाय।

राष्ट्रीयकरण के पक्ष में तर्क

(१) राष्ट्रीयकरण के द्वारा यात्रियों को मोटर यातायात की सस्ती और कार्यक्षम सेवाएँ प्राप्त हुआ करेंगी।

(२) मोटर के किराए की दर समान एवं निश्चित होगी।

(३) मोटर यातायात से होने वाली आय सरकारी खजाने में जमा होगी।

(४) राष्ट्रीयकरण के फलस्वरूप देश के उन मार्गों में भी यातायात की सेवाएँ उपलब्ध हो सकेंगी जहाँ कि ट्रैफिक अपर्याप्त होता है।

(५) मोटर यातायात के निजी चालकों द्वारा की जाने वाली अनेक अवांछित क्रियाएँ बन्द हो जायँगी।

(६) सड़क निर्माण तथा उसका उपयोग एक ही सत्ता (सरकार) के हाथ में आ जायगा।

(७) कर्मचारियों की सेवाएँ निश्चित तथा स्थायी हो जायँगी।

राष्ट्रीयकरण के विपक्ष में तर्क

(१) प्रतिस्पर्धा के समाप्त हो जाने के कारण सड़क यातायात में उचित विकास न हो सकेगा।

(२) सरकार और कर्मचारियों के बीच सम्बन्ध बिगड़ जायँगे।

(३) निजी चालकों द्वारा जनता को दी जाने वाली अनेक सुविधाएँ जैसे बीच में मोटर रोक देना आदि समाप्त हो जायँगी।

(४) राष्ट्रीयकरण के फलस्वरूप सरकार को मोटर मालिकों को एक मोटी रकम क्षतिपूर्ति के रूप में देनी होगी।

(५) पूँजीगत व्यय बढ़ जायँगे।

(६) सरकार की आय में कमी हो जायगी।

(७) राष्ट्रीयकरण मोटर मालिकों के प्रति एक अन्याय होगा क्योंकि उनके खून पसीने से सींची गई रोजी सरकार द्वारा छीन ली जायगी।

(८) राष्ट्रीयकरण की अपेक्षा सड़क यातायात का नियमन अधिक श्रेयस्कर है।

उपरोक्त विरोधाभास होते हुए भी सरकार ने राष्ट्रीयकरण की नीति को ही अपनाने का निश्चय किया। सन् १९४८ में 'सड़क यातायात निगम अधिनियम' पास किया गया जिसके अनुसार राज्य सरकारों को सड़क यातायात पर नियन्त्रण रखने तथा उसे स्वयं सञ्चालित करने का अधिकार प्राप्त हो गया है। यहाँ यह बताना भी अनुचित न होगा कि प्रारम्भ में सड़क यातायात को राष्ट्रीयकृत करने का विचार नहीं था परन्तु परिस्थितिवश होकर सरकार को ऐसा करना पड़ा।

सरकार ने एक त्रिदलीय (Tripartite) योजना बनाई जिसके अनुसार राष्ट्रीयकरण से प्रभावित होने वाले तीनों पक्षों अर्थात केन्द्रीय सरकार, राज्य सरकार तथा निजी मोटर मालिकों की संयुक्त पूँजी कम्पनियाँ विभिन्न राज्यों में बनाने का विचार था। प्रस्तावित अंश पूँजी का ३०% से ३३% भाग केन्द्रीय सरकार द्वारा, ३०% से ३५% भाग राज्य सरकारों द्वारा तथा शेष भाग निजी मोटर मालिकों द्वारा दिया जाना था।

पहले तो इस योजना का सभी ने स्वागत किया परन्तु कालान्तर में मोटर मालिकों ने इस योजना में सम्मिलित होना उचित नहीं समझा। फलतः यह योजना असफल हो गई और केन्द्रीय सरकार को १६४८ मे 'सड़क यातायात निगम अधिनियम' पास करना पड़ा। इस समय भारत के अधिकाश राज्यों—असम, पश्चिमी बंगाल, बिहार, उड़ीसा, मद्रास, उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश, हिमाचल प्रदेश, मध्य भारत, पजाब, दिल्ली, बम्बई, राजस्थान, कच्छ, सौराष्ट्र, हैदराबाद, मैसूर, केरल आदि—मे सड़क यातायात का राष्ट्रीयकरण कर दिया है। विभिन्न राज्यों में प्रबन्ध व्यवस्था भिन्न भिन्न है।

प्रश्न

1. How far can the State help in the development of road transport in India? (*Agra, 1957*)
2. Write a short note on 'Indian Road Transport'. (*Agra, 1957*)



लम्बा, ६०० क्यूबिट चौड़ा तथा २० फैदम (१ फैदम=६') गहरा था और उसके तीन पाल थे। इससे यह सिद्ध होता है कि बौद्ध काल में जहाज निर्माण की कला का काफी विकास हुआ था।

मौर्य काल

यूनानी साहित्य में पाये गये कई उल्लेखों से यह स्पष्ट रूप से प्रकट होता है कि ३२५ ई० पूर्व के आसपास भी जहाज निर्माण भारत में एक प्रमुख उद्योग था। एरियन ने जहाज निर्माण केन्द्रों का, ३० पतवार वाले युद्ध पोतों का तथा यातायात नौकाओं का जिक्र किया है।

आंध्र में दूसरी तथा तीसरी शताब्दी ईसवी की जहाज अंकित मुद्राएँ पाई गई हैं। इन जहाजों का मस्तक उनके दाहिने हाथ का होता था, उनके सिरों पर एक गोलाकार होती थी। इसके नीचे उनके पतवार बाहर को निकले हुए होते थे, जो सीधे शहतीरों के आकार के होते थे और जिनके सिरों की चम्मचनुमा आकृति होती थी। जहाज का डेक सीधा होता था और उन पर दो गोलाकार चीजें होती था, जिनमें से दो मस्तूल निकले हुए होते थे—इनमें से प्रत्येक के ऊपरी भाग पर एक आड़ा शहतीर लगा होता था।

इसके पश्चात् साँची के स्तूप तथा अजन्ता की गुफाओं के युग में हम पाते हैं कि भारतीय जहाज और अधिक मजबूत, बड़े तथा टिकाऊ हो गये थे।

'युक्तिकल्पतरु' प्राचीन भारत की जहाज निर्माण कला पर एक प्रामाणिक तथा सम्पूर्ण अनन्य ग्रंथ है। यह ग्रन्थ हमें विभिन्न प्रकार के जहाजों के आकार, रूप तथा उनके उपयोगों के बारे में दिलचस्प बातें बताता है। आकार के दृष्टिकोण से दो प्रमुख प्रकार के जहाज हुआ करते थे—

(१) 'सामान्य' जो देश के अन्दरूनी यातायात के काम में लाये जाते थे, तथा

(२) 'विशेष' जो विदेशी यात्राओं के लिए थे।

पन्द्रहवीं शताब्दी में निकोलो कौंटी नामक इतालियन यात्री भारत में आया था। उसने कहा है कि भारतीय योरुप में बनने वाले तत्कालीन जहाजों से बड़े जहाज बनाते थे। मुगलों के काल में भी, देश के विभिन्न भागों में जहाज उद्योग ने बहुत उन्नति की। तत्कालीन साहित्य में उस काल में बंगाल में बनाये गये जहाजों का अत्यन्त मनोरंजक वर्णन है। सागौन, गम्भारी, रियाल, कायल आदि की लकड़ियों के मजबूत तख्तों को लोहे की मेखों से जोड़ कर जहाज में माल रखने की जगह बनाई जाती थी। इसके बाद धातु की चादरें तथा चटाई की किराड़ें लगाई जाती थीं। इसके बाद लकड़ी के तख्तों का 'डेक' बनाया जाता था और फिर मुख्य 'कबिन' एक अलंकृत प्रकोष्ट होता था जिसमें कौड़ियों की मालाओं तथा वन्दनवार की सजावट होती थी। मुगल चित्रकला में भी कई प्रकार के जहाजों के अनेक उदाहरण चित्रित हैं।

भारतीय जल यातायात को दो भागों में विभाजित किया जा सकता है :—

(१) आन्तरिक जल यातायात; और

(२) सामुद्रिक जल यातायात।

आन्तरिक जल यातायात को पुनश्च दो भागों में विभाजित किया जा सकता है :—

(अ) नदी यातायात; और

(ब) नहर यातायात।

नदी यातायात

(River Transport)

मैगस्थनीज ने अपने भ्रमण संस्मरण में लिखा है कि उसने भारतवर्ष में नाव के द्वारा भ्रमण किया था। १४वीं शताब्दी तक जल यातायात भारतवर्ष में अपनी चरम सीमा पर पहुँच चुका था। सर्वप्रथम सन् १८४२ में भारतवर्ष में स्टीमर चलाये गये जो कलकत्ता और आगरा के बीच चला करते थे। ऐतिहासिक प्रमाणों से ज्ञात होता है कि हमारे देश में नदी यातायात पूर्णरूपेण सन् १८५५ से आरम्भ हुआ।

भारतीय नदियों की दो विशेषताएँ हैं :—

(१) उत्तरी भारत की नदियाँ साल भर तक जलपूर्ण रहती हैं और अच्छे जल मार्ग के रूप में हैं।

(२) दक्षिण भारत की नदियाँ अच्छा जलमार्ग प्रदान नहीं करतीं, क्योंकि एक तो वे ऊँची नीची तथा पठारी भूमि पर बहती हैं, दूसरे बरसात के दिनों में उनमें बाढ़ आ जाती है और गर्मियों में वे सूख जाती हैं।

भारतवर्ष में वर्ष पर्यन्त जलपूर्ण जलमार्गों की कुल लम्बाई ४१,००० मील है जिसमें से नदियों की लम्बाई २६,००० मील और नहरों की लम्बाई २६,००० मील है। इसमें से जल यातायात के योग्य जलमार्ग की लम्बाई ५००० मील है। इसमें से प्रमुख जलमार्ग गंगा और ब्रह्मपुत्र तथा उनकी सहायक नदियाँ, गोदावरी और कृष्णा तथा उनकी नहरें, केरल राज्य, मद्रास और आन्ध्र राज्यों में बकिंघम नहर, उड़ीसा में पश्चिमी तटीय नहरें तथा महानदी नहरें हैं। इस समय १,५५७ मील लम्बी नदियाँ मशीन द्वारा चालित जहाजों के द्वारा तथा ३५८७ मील लम्बी नदियाँ बड़ी देशी नावों द्वारा जलमार्ग के रूप में प्रयुक्त की जा सकती है।*

उपरोक्त संक्षिप्त विवरण से स्पष्ट है कि भारत में आन्तरिक जल यातायात बड़ी पिछड़ी दशा में है। परन्तु यह समझना कि यह दशा सदैव से ऐसी ही रही है, एक

*India, 1960, p. 362.

बड़ी भारी भूल होगी। सन् १८७६-७७ में कलकत्ता में १८०००, हुगली में १,२५००० और पटना में ६०,००० सामान ले जाने वाली नावें (cargo boats) थीं। परन्तु सन् १८५३ से रेल यातायात का प्रादुर्भाव हो जाने के कारण आन्तरिक जल यातायात को बड़ी ठेस पहुँची। शनैः-शनैः जल यातायात का पतन होता चला गया। परन्तु हाँ, रेल-सड़क प्रतियोगिता की भाँति रेल और जल यातायात में कभी प्रतियोगिता नहीं हुई। इन दोनो के कार्यक्षेत्र अलग-अलग रहे हैं।

जल यातायात की प्रगति में बाधक दो मुख्य कारण थे—

(१) भारत में आन्तरिक जल यातायात भिन्न भिन्न राज्यों के अधीन रखा गया। अतः जल यातायात और जलमार्ग के लिए कोई एकसूत्रीय तथा समन्वित योजना न बनाई जा सकी।

(२) विदेशी सरकार ने अपने ध्यान को रेल-यातायात के विकास तक ही केन्द्रित रखा, क्योंकि इसमें उसका हित था। रेल और जल यातायात के समन्वय की ओर किंचित भी ध्यान नहीं दिया गया।

जल यातायात के विकास के लिए किये गये प्रयत्न

जल यातायात के विकास की ओर प्रयत्न विदेशी सरकार द्वारा द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् ही किये गये। क्योंकि युद्धकाल में यातायात (traffic) इतना अधिक बढ़ गया कि रेल यातायात और सड़क यातायात इसका वहन करने में असमर्थ थे। फलतः सरकार का ध्यान जल यातायात की ओर आकृष्ट हुआ। सन् १९४५ में जल यातायात को आयोजित ढंग पर विकसित करने के लिए एक 'केन्द्रीय जलमार्ग, सिंचाई और नौचालन आयोग' (Central Waterways, Irrigation and Navigation Commission) नियुक्त किया। सन् १९५० में भारतीय जलमार्गों के विकास के सम्बन्ध में सुझाव देने के लिए, 'इकोनॉमिक कमीशन फॉर एशिया एण्ड दी फार ईस्ट' (E. C. A. F. E.) की ओर से जल यातायात के विशेषज्ञ श्री ऑटो पॉपर (Otto Popper) भारत भेजे गये। इन्होंने जल यातायात के विकास के सम्बन्ध में अनेक महत्वपूर्ण सुझाव दिये।

नदियों में नौचालन की समस्या का अध्ययन करने के लिए पूना में एक 'नदी अनुसन्धान संस्था' भी स्थापित की गई है। गंगा और ब्रह्मपुत्र नदियों में जल यातायात को सस्ता बनाने के लिए इंगलैंड में प्रयोगात्मक जाँच जारी है।

अभी हाल ही में 'आन्तरिक जल यातायात समिति' (Inland Water (Transport Committee 1959) ने सरकार को अपनी रिपोर्ट दे दी है। इस रिपोर्ट में समिति ने सुझाव दिया है कि एक 'केन्द्रीय तान्त्रिक संगठन' एक 'प्रशिक्षण संस्था' नदी घाटी योजनाओं में नौचालन की सुविधाएँ तथा देशी नाव सहकारिताओं को प्रोत्साहन दिया जाय।

योजनाओं के अन्तर्गत

आन्तरिक जलमार्गों के विकास के लिए प्रथम पचवर्षीय योजना के अन्तर्गत 'गगा ब्रह्मपुत्र बोर्ड' स्थापित किया गया था। द्वितीय पचवर्षीय योजना में जलमार्गों के विकास के लिए ३ करोड़ रुपये का आयोजन किया गया है जिसमें से १ करोड़ १५ लाख रुपये बकिंघम नहर और ४३ लाख रुपये प'श्चमी तटीय नहरों के विकास पर खर्च किये जायेंगे।[1] तृतीय पचवर्षीय योजना में ५ करोड़ रुपये का प्राविधान किया गया है।

सामुद्रिक यातायात

(Marine Transport)

प्राचीन भारत में सामुद्रिक यातायात के गौरवपूर्ण इतिहास को हम पिछले पृष्ठों में देख चुके हैं। भारतीय लोग जहाज-निर्माण में इतने कुशल थे कि १८ वीं शताब्दी में ईस्ट इण्डिया कम्पनी के लिए भारतीय यार्ड में जहाज बनाये जाते थे। सन् १७३६ और सन् १८६३ के बीच अग्रेजों ने बम्बई में लगभग ३०० छोटे-बड़े जहाज बनवाये। १८वीं शताब्दी के अन्त तक १७,००० टन के ३५,००० जहाज बनाये गये। इसके बाद २० साल में २२७ जहाज बनाये गये जिनका कुल टनेज १,०५,६६३ था।[2]

भारतीय जहाजरानी उद्योग का पतन २०वीं शताब्दी से शुरू होता है। इसका प्रमुख कारण विदेशी सरकार की उपेक्षापूर्ण नीति थी। महात्मा गाधी के शब्दों में 'अंग्रेजी शिपिंग को उन्नति देने के लिए भारतीय शिपिंग को नष्ट हो जाना पड़ा।' प्रथम महायुद्ध छिड़ जाने से अधिक जहाजों की आवश्यकता प्रतीत हुई। फलतः विदेशी सरकार को जहाजरानी उद्योग के विकास की ओर ध्यान देना पड़ा। इस प्रकार अंग्रेजी सरकार ने लकड़ी के जहाजों के बनाने के लिए प्रेरणा दी।

द्वितीय महायुद्ध (१६३६-४५) काल में प्रत्येक देश को और अधिक जहाजों की आवश्यकता प्रतीत हुई। अमेरिका ने नार्वे, फ्रान्स और चीन को सहायता दी, इगलैंड ने भी अपने लिए अमेरिका में जहाज बनवाये। भारत के साथ एकदम उपेक्षा का व्यवहार किया गया। यही नहीं, सरकार ने रेल और समुद्री यातायात में समन्वय स्थापित करने का भी कोई प्रयास नहीं किया। परिणामस्वरूप रेल और सामुद्रिक यातायात के बीच प्रतिस्पर्धा बनी रही।

सामुद्रिक यातायात के विकास के लिए न तो भारतीय लोगों ने ही कोई प्रयत्न किया और न विदेशी सरकार ने ही कोई प्रोत्साहन दिया। इनके विपरीत जब कभी

---

1 *Second Five Year Plan*, p 487.

2 R. K. Mukerjee, *History of Indian Shipping*.

भारतीय कम्पनियों ने अपने जहाज चलाने का प्रयत्न किया तो उन्हें विदेशी कम्पनियों से कठोर प्रतियोगिता का सामना करना पड़ा। विदेशी कम्पनियाँ भारतीय कम्पनियों से दो प्रकार से अनार्थिक प्रतियोगिता करती थीं। प्रथम, भाड़ायुद्ध (Ratewar) करके और द्वितीय, विलम्बित कटौती प्रथा (Deferred Rebate System) अपना कर। भारतीय कम्पनियाँ विदेशी कम्पनियों की घातक प्रतिस्पर्धा का मुकाबला न कर सकीं और शनैः-शनैः उनका पतन होता गया।

सुधार के लिए प्रयत्न

भारतीय जहाजरानी उद्योग के विकास के लिए आवाज सर्वप्रथम सन् १६२२ में स्वर्गीय सर लल्लू भाई सामलदास ने उठाई थी। उन्होंने राज्यसभा में एक प्रस्ताव रखा था कि भारतीय कम्पनियों को अपना भाड़ा (rate) तय करने का अधिकार मिलना चाहिये। परन्तु कुछ न किया गया। जब सरकार पर बहुत असर डाला गया तब सरकार ने फरवरी सन् १६२३ में श्री हेडलम की अध्यक्षता में एक सामुद्रिक व्यापार समिति (Mercantile Marine Committee) नियुक्त की। इस समिति ने अनेक महत्वपूर्ण सुझाव दिये, परन्तु उन सुझावों में से केवल एक सुझाव, भारतीय लोगों को सिखाने का, स्वीकार किया गया और इस कार्य (प्रशिक्षण) के लिए सन् १६२७ में 'डफरिन" नियत किया गया।

सन् १६२८ में तटीय व्यापार को भारतीयों के लिए सुरक्षित कराने के उद्देश्य से श्री एस० एन० हाजी ने केन्द्रीय सभा में एक प्रस्ताव पेश किया। इस प्रस्ताव में यह माँग की गई थी कि शिपिंग कम्पनियों के प्रबन्ध में अधिकांश (७५%) प्रबन्धक भारतीय होने चाहिए। सरकार ने इस प्रस्ताव को एक 'सेलेक्ट कमेटी' को विचार करने के लिए दे दिया। सन् १६३७ में सर अब्दुल हलीम गजनवी ने केन्द्रीय सभा में एक और प्रस्ताव पेश किया, परन्तु उस पर भी कोई विचार नहीं किया गया।

सन् १६४१ में विशाखापट्टनम में एक शिपयार्ड बनाने के लिए सिंधिया स्टीम नेवीगेशन कम्पनी को प्रोत्साहन दिया गया। इसके पश्चात् सन् १६४५ में श्री सी० पी० रामास्वामी अय्यर की अध्यक्षता में Post-war Reconstruction Policy Sub Committeee नियुक्त की गई। इस समिति ने अपने महत्वपूर्ण सुझाव सन् १६४७ म प्रस्तुत किये। इन सुझावों को पूरा करने के लिए सरकार ने शिपिंग कारपोरेशन स्थापित किये हैं। जनवरी सन् १६५१ में एक 'भारतीय तटीय सम्मेलन' हुआ, जिसमें यह निश्चय किया गया कि अब तटीय व्यापार शत प्रतिशत भारतीय लोगों के हाथ में रहेगा।

प्रथम पंचवर्षीय योजना

सन् १६४७ में 'शिपिंग पालिसी समिति' ने आगामी पाँच या सात वर्षों में २० लाख टन जी० आर० टी० का लक्ष्य प्राप्त करने का सुझाव दिया था। प्रथम

पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत प्राप्त सफलता तथा द्वितीय पंचवर्षीय योजना के लक्ष्यों को निम्न तालिका में दिया जाता है :—

शिपिंग की सफलता

(ग्रौस रजिस्टर्ड टनों में)

जहाजों के प्रकार (Type of Vessels)	प्रथम योजना के पूर्व	प्रथम योजना के अन्त में	द्वितीय योजना के अन्त में
तटीय तथा निकटवर्ती	२,१७,२०२	३,१२,२०२	४,१९,२०२
सामुद्रिक (Overseas)	१,७३,५०५	२,८३,५०५	४,०८,५०५
ट्रैम्प (Tramps)	—		६०,०००
टैंकर (Tankers)	—	५,०००	१३,०००
सालवेज टग (Salvage Tugs)	—	—	१०००
योग	३,९०,७०७	६,००,७०७	९,०१,७०७

दिसम्बर १९५९ के अन्त में, ७.३६ लाख जी० आर० टी० की क्षमता के १५७ जहाज थे जिनमें से २.७८ लाख जी० आर० टी० की क्षमता के ८८ तटीय व्यापार के जहाज तथा ४.५८ लाख जी० आर० टी० की क्षमता के ६९ वैदेशिक व्यापार के जहाज थे।*

शिपिंग उद्योग के विकास के लिए प्रथम और द्वितीय योजनाओं में क्रमशः २६.३ करोड़ रुपये तथा ४५ करोड़ रुपये का आयोजन किया था। प्रथम योजना में १८.७१ करोड़ रुपये ही व्यय किये गये।

तृतीय योजना

८ अगस्त १९५९ को राष्ट्रीय शिपिंग मंडल ने सुझाव दिया कि तृतीय योजना के लिए १६,२८,००० टनेज का लक्ष्य निर्धारित किया जाए। शिपिंग मंडल ने यह भी प्रस्तावित किया है कि इस लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए १४२ करोड़ रुपये व्यय किए जायें।

प्रश्न

1. Discuss the importance of water transport in India. How can this type of transport be further developed and made more beneficial for the country? *(Agra, 1957)*

2. Explain the difficulties of Indian coastal shipping and show how they can be met? *(Agra, 1957)*

3. Write a short note on the shortage of sea-ports in India. *(Agra, 1960)*

---

*India 1960, p. 360

अध्याय २९

वायु यातायात

(Air Transport)

प्रारम्भिक इतिहास—भारत में वायु-यातायात दूसरे यातायात के साधनों की अपेक्षा एक नव निकसित व्यवस्था है। यहाँ वायु यातायात का प्रारम्भ सर्वप्रथम बम्बई के गवर्नर सर जार्ज लायड ने बम्बई और कराची के बीच वायु यातायात सेवा को शुरु आत करके किया था। इसी वर्ष सर्वप्रथम वायुयान द्वारा इलाहाबाद से नैनी जंकशन तक डाक भेजी गई किन्तु वायु-यातायात का वास्तविक विकास प्रथम महायुद्ध के बाद ही हो सका।

प्रथम महायुद्ध के पश्चात्—सन् १९२६ में एक वायु-यातायात बोर्ड की स्थापना की गई, जिसने देश में वायु यातायात के विकास के लिए हवाई अड्डों के बनवाने एवं नागरिक वायु उड्डयन विभाग (Civil Aviation Department) की स्थापना करने के सुझाव दिये। फलस्वरूप सन् १९२७ में एक नागरिक वायु-उड्डयन विभाग बना और सन् १९२८ में अनेक स्थानों पर वायुयान चालकों की शिक्षा के लिए फ्लाइंग क्लबों व हवाई जहाज उतारने के लिए 'हवाई अड्डों' की स्थापना की गई। ३० मार्च १९२९ को 'इम्पीरियल एअरवेज' के द्वारा लन्दन और कराची के बीच वायु यातायात का प्रारम्भ हुआ। सन् १९३० में यह मार्ग दिल्ली तक बढ़ा दिया गया तथा कराची व देहली के बीच डाक ले जाने के लिए एक समझौता किया गया जो १ वर्ष पश्चात् समाप्त हो गया। १९३१ में यह कार्य देहली के फ्लाइंग क्लब के सुपुर्द किया गया जिसने १ वर्ष तक इसे नियमित रूप से किया।

प्रथम भारतीय प्रयत्न—सन् १९३२ में टाटा सन्स लिमिटेड ने 'टाटा एअरवेज कम्पनी' की स्थापना की जिसने सप्ताह में एक बार कराची से मद्रास तक वायुयान द्वारा यात्रियों को लाने व ले जाने का कार्य प्रारम्भ किया। यह वायुयान बम्बई व अहमदाबाद में ठहरते थे। सन् १९३४ में टाटा के वायुयान हैदराबाद में भी रुकने लगे और सन् १९३५ में बम्बई त्रिवेन्द्रम व बम्बई दिल्ली मार्ग पर भी वायुयान चलने लगे। सन् १९३६ में टाटा एअरवेज ने अपने मार्ग को कोलम्बो तक बढ़ा लिया। भारत सरकार ने अपनी डाक भेजने का कार्य भी टाटा एअरवेज को दिया

जिसकी आय से इसकी स्थिति काफी दृढ़ हो गई और अपना कार्य सफलतापूर्वक करती रही।

सन् १९३३ में भारत सरकार, ब्रिटेन की सरकार व ब्रिटिश एअरवेज ने मिल कर एक नई कम्पनी 'इण्डिया ट्रान्स कान्टीनेन्टल लिमिटेड' की स्थापना की जिससे इंग्लैण्ड से कराची तक आने वाले जहाज रंगून तक जा सके और वहाँ से 'क्वेन्टास एम्पायर एअरवेज' द्वारा सिंगापुर होते हुए आस्ट्रेलिया जा सके।

सन् १९३३ में एक दूसरी कम्पनी 'इण्डियन नेशनल एअरवेज' की भी स्थापना हुई। इसका प्रधान कार्यालय दिल्ली में था। इसने कराची और लाहौर के बीच वायु-यातायात सेवा प्रदान करने का प्रबन्ध किया।

सन् १९३६ में एक तीसरी कम्पनी 'एअर सर्विसेज आफ इण्डिया' लिमिटेड की स्थापना हुई। इसने बम्बई काठियावाड़ मार्ग पर अपनी वायु यातायात सेवाएँ प्रदान कीं और शीघ्र ही काफी उन्नति कर भारत के वायु यातायात का ७०% भाग अपने अधिकार में कर लिया। किन्तु आर्थिक हानि व सरकार की सहायता के अभाव में सन् १९४० में इसे बन्द हो जाना पड़ा।

साम्राज्य हवाई डाक योजना १९३८ (Empire Air Mail Scheme, 1938)—सन् १९३८ में साम्राज्य हवाई डाक योजना प्रारम्भ की गई जिसके अन्तर्गत साम्राज्य के सभी देशों की डाक वायुयानों द्वारा भेजने का निश्चय किया गया। भारत की डाक इम्पीरियल एअरवेज द्वारा कराची में भारत सरकार को देने और भारतीय वायुयानों द्वारा इसके बाँटने का निश्चय किया गया। इस कार्य के लिए टाटा एअर-वेज लिमिटेड व इण्डियन नेशनल एअरवेज लिमिटेड के साथ १५ वर्ष के समझौते किये गये जिनकी शर्तें ये थीं—

(१) टाटा एअरवेज कराची-बम्बई मार्ग पर डाक ले जाने का कार्य करे जिसके लिए सरकार द्वारा १५ लाख रुपये देने का समझौता हुआ। टाटा कम्पनी ने इस धनराशि के बदले ५,००,००० लाख पौण्ड डाक ले जाने का आश्वासन दिया। इससे अधिक मात्रा में डाक ले जाने पर १ रुपये प्रति पौण्ड और देने को कहा गया।

(२) इण्डियन नेशनल एअरवेज को कराची से लाहौर तक डाक ले जाने का कार्य सौंपा गया जिसके लिए सरकार द्वारा उसे १,२०,००० पौण्ड डाक ले जाने पर ३.२५ लाख रुपये देने का समझौता था। इससे अतिरिक्त उक्त तादाद से अधिक डाक ढोने पर इसे भी १) प्रति पौण्ड अतिरिक्त शुल्क मिलने का समझौता था।

उक्त योजना से भारतीय वायु यातायात को प्रोत्साहन मिला। इसके अन्तर्गत टाटा एअर लाइन्स ने ४½ लाख रुपया प्रतिफल कमाया व इण्डियन नेशनल एअर वेज ने ३½ लाख रुपये प्रति वर्ष प्रतिफल कमाया।

द्वितीय युद्धकाल—युद्धकाल भारत में वायु यातायात विकास के लिए ... अवसर रहा। १९४२ में जापान के युद्ध में प्रविष्ट होने के कारण भारतीय वायु यातायात को सामरिक महत्व मिल गया। फलत: सरकार द्वारा यातायात कम्पनियों को अपने मार्ग विकसित करने के लिए प्रत्येक उपलब्ध व सम्भव सहायता दी गई। कुछ समय पश्चात् टाटा एअरवेज व इण्डियन नेशनल एअरवेज को युद्ध यातायात आदेशक (War Tran port Command) के अन्तर्गत कार्य करने के लिए बाध्य किया गया। कम्पनी के यात्री वायुयानों की पूरी सीटों का किराया, चाहे वे भरी हों अथवा खाली, सरकार द्वारा दिया जाता था। इस प्रकार युद्धकाल उक्त २ कम्पनियों के विकास के लिए स्वर्णिम अवसर रहा। इस काल तक इन कम्पनियों की आर्थिक दशा अधिक अच्छी हो गई थी, इन्हें पट्टे पर प्राप्त किये गये आधुनिक वायुयानों के संचालन का अधिक प्राविधिक ज्ञान हो चुका था एवं सरकारी क्षेत्र में इन्हें अच्छी ख्याति प्राप्त हो चुकी थी। टाटा एअरवेज व इण्डियन नेशनल एअरवेज के जहाज १६ मार्गों में चलते थे। १९४५ में यात्रियों की संख्या १९३८ की तुलना में ८ गुनी हो गई थी तथा ढोए गये माल की मात्रा दुगनी।

युद्धोपरान्त वायु यातायात नीति (Post war Policy)—युद्धोपरान्त वायु यातायात विकास योजना के रूप में सरकार ने वायु यातायात के विकास नियन्त्रण पर सुझाव देने के लिए एक समिति Post war Reconstruction Policy Sub Committee on Post and Aviation नियुक्त की जिसने वायु यातायात के विकास के लिए अपने सुझाव इस प्रकार प्रस्तुत किए—

(१) वायु यातायात सेवाओं के विकास व संचालन का कार्य निजी-व्यापारिक संस्थाओं द्वारा किया जाय।

(२) प्रत्येक कम्पनी कार्य प्रारम्भ करने के पूर्व अक्टूबर १९४६ में स्थापित हुई "Air Transport Licensing Board" नामक संस्था से लाइसेंस प्राप्त करे।

(३) भारत में सम्पूर्ण वायु मार्गों पर वायु यातायात सेवाओं का संचालन केवल चार कम्पनियों द्वारा किया जाय।

(४) कम्पनियाँ अपनी निजी पूँजी लगावें और हानि लाभ की स्वयं उत्तरदायी हों।

(५) कुछ विशेष परिस्थितियों में सरकार वायु यातायात की कम्पनियों को आर्थिक सहायता प्रदान करे।

(६) विशेष परिस्थितियों में सरकार वायु यातायात के संचालन में भाग ले एवं इस उद्देश्य के लिए कम्पनी के बोर्ड में अपना एक संचालक (Director) नियुक्त करे।

युद्ध के पश्चात् वायु यातायात का एकदम बड़ी तेजी से विकास हुआ। युद्ध की परिस्थितियों ने व्यापारिक साहस (commercial enterprise) में एक ओर ऐसे विश्वास को पैदा किया कि 'वायु यातायात' की कम्पनियाँ भारी लाभ कमा सकती हैं और दूसरी ओर 'डकोटा' आदि वायुयानों को सस्ते मूल्य पर बिक्री के लिए खुले बाजार में प्रस्तुत किया जिसके कारण अनेक नवीन वायु यातायात कम्पनियों की स्थापना हुई। १६४६ के अन्त तक वायु यातायात लाइसेंसिंग बोर्ड ११ कम्पनियों को आन्तरिक मार्गों पर अपनी सेवाओं का संचालन करने के लिए लाइसेंस दे चुका था।

भारत ने १६४८ में एअर इंडिया इन्टरनेशनल लिमिटेड की स्थापना के साथ अन्तर्राष्ट्रीय वायु यातायात में भाग लेना प्रारम्भ किया। इस कम्पनी के अन्तर्गत भारत सरकार व टाटा कम्पनी का संयुक्त स्वामित्व था। इसके बोर्ड में सरकार ने एक विशेष संचालक की नियुक्ति की थी जिसे यातायात नीति सम्बन्धी मामले में कुछ विशेष अधिकार प्राप्त थे। कम्पनी को आर्थिक सहायता के रूप में, सरकार ने प्रथम पाँच वर्षों तक होने वाली प्रत्येक आर्थिक हानि को पूरा करने का आश्वासन दिया था। पर हानि पूर्ति के लिए दी गई राशि का रूप ऋण ही था क्योंकि कम्पनी को अपने लाभ कमाने की स्थिति में ऐसी सम्पूर्ण राशि को लौटाने का दायित्व था। १० वर्षों तक पश्चिमी मार्गों पर कम्पनी को अपनी सेवाओं को संचालित करने का एकमात्र अधिकार था।

१६४८ से 'एअर इण्डिया इण्टरनेशनल' ने बम्बई और लन्दन के बीच अपनी वायु सेवा को सप्ताह में १ बार के क्रम से प्रारम्भ किया। इस सेवा के लिए कम्पनी अपने ४ सीटों वाले आधुनिकतम 'लाकहीड कांसटेलेशन' (Lockheed Constellation) वायुयान का प्रयोग करती थी। १६५० से इसी कम्पनी ने अपनी, पूर्वी अफ्रीका, बम्बई, अदन, नैरोबी वायु सेवाओं को भी महीने में २ बार के क्रम से प्रारम्भ किया।

१६४६ से, 'भारत एअरवेज लिमिटेड' ने अपने स्काईमास्टर जहाजों की सहायता से कलकत्ता, बैंकाक, हांगकांग, टोकियो के बीच वायुयान सेवा प्रारम्भ की। संकटमय राजनैतिक वातावरण के कारण काफी समय तक इस कम्पनी की वायु यातायात सेवा कलकत्ता और बैंकाक के बीच सप्ताह में एक बार तक ही चलती रही किन्तु बाद में यह सिंगापुर तक बढ़ा दी गई।

इस प्रकार हम देखते हैं कि देश को स्वतन्त्रता मिलने के बाद भी वायु यातायात की कम्पनियाँ बराबर प्रगति करती रहीं और उन्होंने अधिक से अधिक लाभ कमाया। इसी समय कलकत्ता व अगरतला के बीच वायु यातायात के लिए 'कलिंग

एअरवेज' की तथा अन्य मार्गों पर 'डालमिया जैन एअरवेज', 'जूपिटर एअरवेज' तथा 'एअर सर्विसेज आफ इण्डिया' की स्थापना हुई।

रात की वायु डाक योजना (Night Air Mail Service)—नागरिक उड्डयन (Civil Aviation) के इतिहास में हम दूसरा विकास का चरण १९४९ में 'रात की वायु डाक योजना' के संस्थापन के रूप में पाते हैं। इस योजना के अनुसार कलकत्ता, बम्बई, दिल्ली और मद्रास से एक एक जहाज रात में डाक लेकर चलते थे, और नागपुर में मिलते थे तथा आपस में डाक की अदला बदली करके सुबह तक अपने अपने स्थानों तक लौट आते थे। जनवरी १९४९ में सरकार ने 'रात की वायु डाक' ढोने का कार्य 'इण्डियन ओवरसीज एअर लाइन्स' को सौंपा, किन्तु ५ महीने के अन्दर ही यह आर्थिक हानि के कारण विघटित हो गई। इसके पश्चात् 'डेक्कन एअरवेज व इण्डियन नेशनल एअरवेज' को यह कार्य दिया गया, परन्तु वर्षा ऋतु के प्रारम्भ होने से जून सन् १९४९ में यह योजना समाप्त कर दी गई। वर्षा ऋतु के समाप्त होने पर पुनः यह कार्य प्रारम्भ किया गया और एक गैर सूचीबद्ध (Non-Schedule Operator) कम्पनी 'हिमालयन एवीएशन' को यह कार्य प्रारम्भ में अस्थाई लाइसेंस के अन्तर्गत अक्तूबर '४९ तक के लिए सौंपा गया किन्तु बाद में लाइसेंस की अवधि जनवरी १९५१ तक बढ़ा दी गई। इसके कारण दूसरी यातायात की कम्पनियों के बीच असन्तोष की भावना ने जन्म लिया और उन्होंने इसके विरोध में अपने विचार (Air Transport Enquiry Committee) के समक्ष रखे। कमेटी ने विरोध की वास्तविकताओं पर विचार करते हुए 'हिमालयन एवीएशन' के लाइसेंस को जनवरी १९५१ में खतम कर देने की सिफारिश की।

१९५१ में यह कार्य पुनः 'डेक्कन एअरवेज को सौंपा गया जो सन् १९५३ तक इस कार्य को सफलतापूर्वक करती रही। सन् १९५३ में वायु यातायात के राष्ट्रीयकरण से रात्रि-वायु डाक ले जाने का कार्य 'इण्डियन एअरलाइन्स कारपोरेशन' द्वारा किया जा रहा है जिसके चार जहाज बम्बई, कलकत्ता, मद्रास और दिल्ली से चलकर नागपुर में मिलते हैं और नागपुर से यह जहाज यात्रियों और डाक को लेकर वापस हो जाते हैं।

सन् १९५६ को समाप्त होने वाले वर्ष में इण्डियन एअरलाइन्स कारपोरेशन के वायुयानों ने रात्रि डाक वायु योजना के अन्तर्गत ४३४२६ यात्रियों, ३२३५७४५ पौण्ड सामान और ४२,९६९०६ पौण्ड डाक को ढोया। इस तरह औसतन दैनिक हिसाब ११९ यात्री, ८८६५ पौण्ड सामान और ११७५३ पौण्ड डाक रही। १९५८ में ४७९८१ यात्रियों ने यात्रा की थी, ३०,२२४२४ पौण्ड माल तथा ४०७४४४८ पौण्ड डाक ढोई गई थी और इस प्रकार इस वर्ष औसतन दैनिक हिसाब १३१ यात्री, ८२०७ पौण्ड सामान व ११९६३ पौण्ड डाक रही थी। इस प्रकार हम देखते हैं कि रात्रि डाक योजना के अन्तर्गत कार्य करने वाले वायुयानों से यात्रा करने वालों

की संख्या में बराबर कमी ही चलती रही है यद्यपि कारपोरेशन इसकी वृद्धि करने में सदैव प्रयत्नशील रहा है।*

वायु-यातायात जाँच समिति

स्थापना के पूर्व परिस्थितियाँ—युद्धोपरान्त भारत में वायु यातायात का विकास बहुत ही अनियमित रहा। एक ओर तो दिन पर दिन नई नई कम्पनियों की स्थापना हो रही थी और दूसरी ओर सीमित कार्यक्षेत्र में आपसी प्रतिस्पर्धा के कारण स्थापित कम्पनियों के लिए भी अपना अस्तित्व बनाये रखना कठिन हो रहा था। एअर ट्रान्सपोर्ट लाइसेंसिंग बोर्ड भी लाइसेंस देने के मामले में कोई सुनिश्चित नीति का पालन न कर रहा था, फलतः नवम्बर १९४९ में संचार मन्त्रालय ने वायु यातायात की दशा सुधारने के सुझाव देने के लिए एक कमेटी जस्टिस राजाध्यक्ष की अध्यक्षता में नियुक्त की।

कमेटी ने अपनी रिपोर्ट १५ सितम्बर १९५० को सरकार को प्रस्तुत करते हुए भारत में वायु-यातायात के ऊपर इस प्रकार वक्तव्य रखा कि "**देश में वायु यातायात उद्योग की आर्थिक दशा असन्तोषप्रद है और इसका मुख्य कारण यातायात कम्पनियों का आवश्यकता से अधिक होना है।**"

सुझाव—कमेटी ने वायु-यातायात के पुनर्संगठन व विकास के लिए अपने निम्नलिखित सुझाव प्रस्तुत किये :—

कम्पनियों का पुनर्संगठन व संख्या में कमी—कमेटी के मतानुसार देश में उपलब्ध वायु-यातायात की दृष्टि से केवल चार कम्पनियों की ही आवश्यकता थी जब कि उस समय १० सूचीबद्ध व ११ असूचीबद्ध कम्पनियाँ कार्य कर रही थीं। फलतः इसने सुझाव दिया कि सबको मिलाकर केवल चार कम्पनियाँ बनाई जायें, परन्तु एयर सर्विसेज़ आफ इण्डिया व डेक्कन एयरवेज़ को छोड़कर कोई कम्पनी स्वेच्छा से एकीकरण नहीं चाहती थी। इसके अतिरिक्त ६ कम्पनियों को १० वर्ष के लिए लाइसेन्स दिये गये थे और इसके पूर्व अपने कार्य समाप्त न करना चाहती थीं। फलतः केवल एक यही उपाय है कि गैर सूचीबद्ध कम्पनियों को समाप्त कर दिया जाय व उनके भाग ६ कम्पनियों को दे दिये जायें।

(२) **भाड़ा निर्धारण**—इस कमेटी ने वायु सेवाओं के संचालन व्ययों की भी जाँच की और यह सुझाव दिया कि यात्रियों के भाड़े इस प्रकार निर्धारित किये जायें कि कम्पनी को अपनी पूँजीगत स्थाई सम्पत्ति पर १०% लाभ प्राप्त हो सके। इस कमेटी ने भाड़े की श्रेणी इस प्रकार निर्धारित की :—

पहली श्रेणी में मुख्य मार्गों पर भाड़े की दर, ३½ आने से ४½ आने प्रति मील, दूसरी श्रेणी में कराची व लाहौर तक ३½ आने से ४½ आने प्रति मील तथा तीसरी

* "हिन्दुस्तान टाइम्स १९, मार्च १९६०।"

श्रेणी में रंगून, ढाका तथा चटगाँव, देहली, श्रीनगर, जम्मू, बम्बई तथा काठियावाड़ के मार्गों पर ४½ आने से ५½ आने प्रति मील रखने का सुझाव दिया गया।

माल का भाड़ा हर मार्ग पर यात्रियों के भाड़े से सम्बन्धित होने का सुझाव रखा गया और ऐसा भी प्रस्ताव रखा गया कि अधिक से अधिक प्रति पौण्ड माल पर किराया यात्रियों के किराये का ½ प्रतिशत हो।

डाक ले जाने का किराया साधारण माल के किराये से १२½% अधिक रखने का सुझाव रखा गया।

(३) सरकारी सहायता—समिति ने सुझाव दिया कि वायु यातायात की उन्नति के लिए सरकार द्वारा आर्थिक सहायता देने का प्रबन्ध होना चाहिए। परन्तु तत्कालीन "रिबेट प्रथा" जिसके अन्तर्गत पेट्रोल पर ६ आने प्रति गैलन की छूट दी जाती थी, को समिति ने आर्थिक सहायता का उचित रूप न समझा क्योंकि इसके अन्तर्गत एक तो हर एक कम्पनी को चाहे वह इसकी आवश्यकता में हो अथवा न हो, इसका लाभ मिलता था और दूसरे कम्पनियों को उनकी आवश्‌... ार सहायता न मिल पाती थी और यह विचार रखा कि कम्पनी विशेष को, उसके आय तथा खर्चों की जाँच कर सहायता इस प्रकार देना चाहिए कि पूँजीगत ... उसे ८ प्रतिशत लाभ हो सके जिसमें से ३½% आयकर व १½ प्रतिशत रिजर्व के लिए निकाल कर अंशधारियों को ३½% का लाभांश मिल सके।

वायु कम्पनियों को सहायता के रूप में दी जाने वाली धनराशि, ... द्वारा जाँच कर लेने पर प्रत्येक वर्ष के प्रारम्भ में ही निश्चित कर देना चाहिए ... प्रत्येक कम्पनी को यह ज्ञात हो सके कि उसको कितनी सहायता मिलेगी। इस सहायता की राशि को किसी भी हालत में घटाया बढ़ाया न जाय और और यदि कम्पनी को कोई बचत होती है तो उस पर कम्पनी का अधिकार रहे और यदि कोई हानि हो तो कम्पनी उसके लिए उत्तरदायी हो। समिति के विचार में ये सब उपाय कम्पनी विशेष को अपने खर्चों में मितव्ययिता लाने के लिए प्रयत्नशील करने की दिशा में आवश्यक कदम थे।

अन्य आर्थिक सहायता से समिति के विचार में वायु यातायात कम्पनियों को १ जनवरी १९५३ तक आत्मनिर्भर हो जाना चाहिए था और ऐसी दशा में इसके पश्चात् सरकारी सहायता को खतम करने का भी सुझाव था।

(४) **लाभ का वितरण**—कम्पनी के लाभों में से समिति के विचार में सर्वप्रथम कम्पनी की हानिपूर्ति की जाना था, फिर निश्चित प्रतिशत सचित कोष में हस्तान्तरित होना था और शेष में से लाभांश की व्यवस्था का किया जाना था, जो किसी भी हालत में ३½% से अधिक न हो। यदि लाभांश की रकम देने के पश्चात् कुछ धनराशि बचती है तो उसे एक विशेष निधि में हस्तान्तरित किया जाना चाहिए जो विकास तथा नवीनीकरण के काम में आ सके।

समिति के सुझावों के अनुसार कम्पनी अपने लाभ कमाने की अवस्था में भी उस समय तक ५% से अधिक लाभांश घोषित न कर सकती थी जब तक कि उसने १ जनवरी १९५३ के बाद सरकार से प्राप्त सहायता के बराबर धनराशि अपने विशेष संचित कोष में हस्तान्तरित न कर दी हो।

वायु यातायात का राष्ट्रीयकरण

सन् १९५३ में वायु यातायात का राष्ट्रीयकरण हो गया। १ अगस्त १९५३ को वायु निगम अधिनियम (
इसी महत्वपूर्ण वि
कम्पनियों को ,

योजनाओं के अन्तर्ग
प्रथम पंच
२३ ३७ करोड़ रुपया